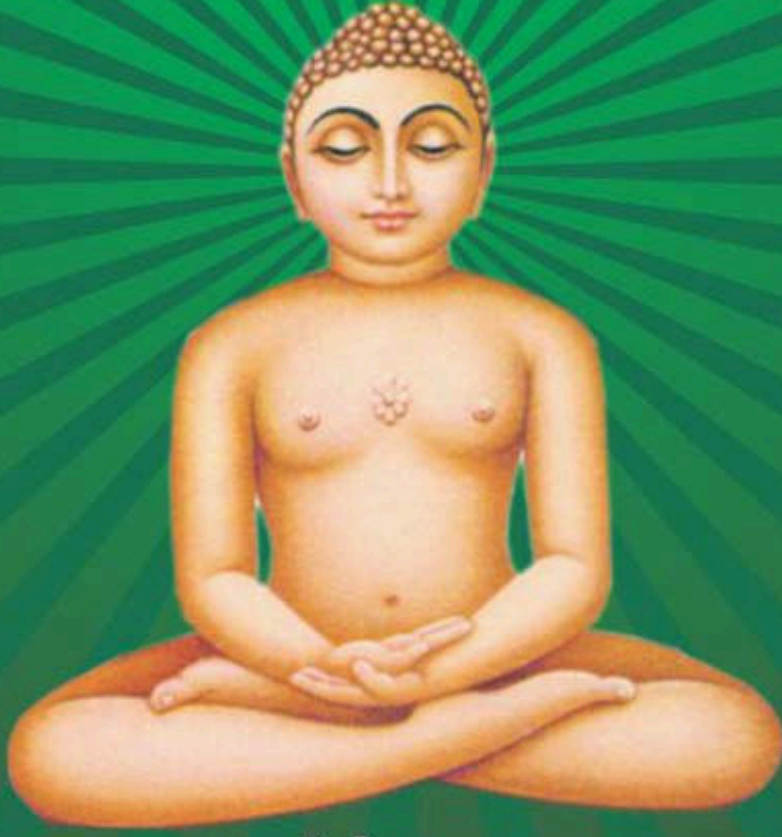


आचार्य भद्रबाहु एवं संघदास विरचित

निशीथ निर्युक्ति एवं भाष्य

(खण्ड-1)



निर्देशक
आचार्य तुलसी
आचार्य महाप्रज्ञ
आचार्य महाश्रमण

संपादक
डॉ. समणी कुसुमप्रज्ञा

अनुवादक
डॉ. साध्वी श्रुतयशा

आचार्य भद्रबाहु एवं संघदासगणि विरचित

निशीथ-निर्युक्ति एवं भाष्य

(खण्ड १)

निर्देशक
आचार्य तुलसी
आचार्य महाप्रज्ञ
आचार्य महाश्रमण

संपादक
डॉ. समणी कुसुमप्रज्ञा

अनुवादक
डॉ. साध्वी श्रुतयशा

जैन विश्व भारती,
लाडनू - ३४१३०६ (राज.)

प्रकाशक : जैन विश्व भारती,
पोस्ट : लाडनू ३४१३०६
जिला : नागौर (राज.)
फोन नं. : (०१५८१) २२२०८०/२२४६७१
ई-मेल : Jainvishvabharati a yahoo. com

© जैन विश्व भारती, लाडनू

I S B N. No. 978-81-7195-284-7

संस्करण : २०१५

पृष्ठ : २१०००

मूल्य : प्रति सेट/३०००

मुद्रक : पायोराईट प्रिन्ट मीडिया प्रा. लि., उदयपुर फोन : ०२९४-२४१८४८२

Niśîtha Niryukti and Bhâṣya
of
Âcârya Bhadrabâhu and Saṁghadâsagaṇî
(Volume-I)

Preceptors

Âcârya Tulsî
Âcârya Mahâprajña
Âcârya Mahâśramaṇa

Editor

Dr. Samaṇî Kusum Prajñâ

Translator

Dr. Sâdhvî Śrutayaśâ

Jain Vishva Bharati,
Ladnun - 341306 {Raj.}

Publisher : Jain Vishva Bharati
Ladnun- 341306 (Raj.)
Ph : (01461) 222060/228691
E. Mal. : Jainvishvabharati a yahoo. com

© Jain Vishva Bharati, Ladnuun

I S B N No. 978-81-7195-284-7

Edition : 2015

Page : 2100

Price : 3000

Printer : Payorite Print Media, Private limited Udaipur Ph : 0294-241442

समर्पण

पुट्टो वि पण्णापुरिसो सुदक्खो,
आणापहाणो जणि जस्स निच्चं।
सच्चप्पओगे पवरासयस्स,
भिक्खुस्स तस्स प्पणिहाणपुव्वं ॥

जिसका प्रज्ञापुरुष पुष्ट पट्ट,
होकर भी आगमप्रधान था।
सत्ययोग में प्रवर चित्त था,
उसी भिक्षु को विमल भाव से॥

विलोडियं आगमदुद्धमेव,
लद्धं सुलद्धं णवणीयमच्छं।
सज्झाय-सज्झाणरयस्स निच्चं,
जयस्स तस्स प्पणिहाणपुव्वं ॥

जिसने आगम दोहन कर-कर,
पाया प्रवर प्रचुर नवनीत।
श्रुत सद्धान लीन चिर चिन्तन,
जयाचार्य को विमल भाव से॥

पवाहिया जेण सुयस्स धारा,
गणे समत्थे मम माणसे वि।
जो हेउभूओ स्स पवायणस्स,
कालुस्स तस्स प्पणिहाणपुव्वं ॥

जिसने श्रुत की धार बहाई,
सकल संघ में, मेरे मन में।
हेतुभूत श्रुत-सम्पादन में,
कालुगणी को विमल भाव से॥

मंगल सन्देश

भारत के पास प्राच्य विद्याओं की एक सम्पदा है। उसी का एक अंग है—जैन वाङ्मय। परमपूज्य गुरुदेव श्री तुलसी के वाचनाप्रमुखत्व एवं परमपूज्य आचार्यश्री महाप्रज्ञ के प्रधानसम्पादकत्व में जैन आगमों का सम्पादन हुआ। जैन वाङ्मय के अन्तर्गत आगम व्याख्या-साहित्य का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है।

प्रायश्चित्त की दृष्टि से निसीहज्झयणं एक मार्गदर्शक आगम है। निशीथ निर्युक्ति एवं भाष्य में निसीहज्झयणं की विस्तृत व्याख्या प्राप्त होती है। इसका सम्पादन विदुषी समणी कुसुमप्रज्ञाजी ने किया है। हिन्दी अनुवाद का कार्य विदुषी डॉ. साध्वी श्रुतयशाजी ने किया है। ये दोनों लम्बे काल से प्राच्य साहित्य के साथ जुड़ी हुई हैं। जैन वाङ्मय को जनभोग्य बनाने में इनकी सेवा प्रशंस्य है।

मुझे आत्मतोष है कि एक अच्छा ग्रन्थ सानुवाद सामने आ रहा है। प्राकृत भाषा को न जानने वाले लोग भी इस ग्रंथ का रसास्वादन कर सकेंगे। सम्पादन एवं अनुवाद करने वाली समणी और साध्वी का श्रम सार्थक बने, शुभाशंसा।

फारविसगंज
१७ जुलाई २०१५

आचार्य महाश्रमण

प्रकाशकीय

जैन आगम-साहित्य में छेदसूत्रों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। तेरापंथ धर्मसंघ में छेदसूत्र के रूप में चार ग्रंथ मान्य हैं—दशाश्रुतस्कंध, निशीथ, बृहत्कल्प और व्यवहार। छेदसूत्रों में निशीथ का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस ग्रंथ पर विशाल व्याख्या-साहित्य उपलब्ध है। व्याख्या-साहित्य में निर्युक्ति और भाष्य का उल्लेखनीय स्थान है। भाष्य साहित्य में निशीथ भाष्य सबसे विशालकाय ग्रंथ है। ऐतिहासिक, सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्य इसमें गुम्फित हैं। भारतीय संस्कृति की अमूल्य धरोहर के रूप में इस ग्रंथ का महत्त्व आंका जा सकता है।

सन् १९५५ महाराष्ट्र में आचार्य तुलसी ने आगम-संपादन का कार्य हाथ में लेने का संकल्प व्यक्त किया। उज्जैन चातुर्मास में उन्होंने मुनि नथमलजी (आचार्य महाप्रज्ञ) एवं कुछ संतों के साथ इस महायज्ञ को प्रारम्भ कर दिया। वह महायज्ञ आज भी अनवरत चल रहा है। यह इतिहास की विलक्षण घटना है कि आचार्य तुलसी ने महिला समाज को भी आगम-कार्य के साथ जोड़ा। समणी कुसुमप्रज्ञाजी लगभग ३६ साल से आगम-कार्य के साथ जुड़ी हुई हैं। इस दौरान अनेक विशालकाय ग्रंथ संपादित होकर सामने आ गए हैं। डॉ. साध्वी श्रुतयशाजी भी वर्षों से पूज्यवरों के चरणों में आगम का कार्य कर रही हैं।

आगम ग्रंथों एवं उसके व्याख्या-साहित्य का हस्तलिखित प्रतियों से संपादन और अनुवाद करना कितना दुरूह और श्रमसाध्य कार्य है, यह वे व्यक्ति जान सकते हैं, जिन्होंने इस दिशा में कुछ कार्य किया हो। बिना धैर्य और बौद्धिक क्षमता के यह कार्य संपन्न नहीं हो सकता। प्राच्य विद्या को संरक्षित और संपोषित करने के लिए यह प्रयत्न अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। आचार्य महाश्रमणजी की प्रेरणा से डॉ. समणी कुसुमप्रज्ञाजी ने इसके संपादन का दुरूह कार्य किया एवं डॉ. साध्वी श्रुतयशाजी ने इस रहस्यमय एवं क्लिष्ट ग्रंथ का अनुवाद किया।

दूध और पानी की भांति एक साथ मिले हुए दो ग्रंथों को पृथक् करना अत्यन्त कठिन कार्य था, लेकिन गुरु कृपा से यह कार्य संपन्न हो सका है। नारी जाति द्वारा संपादित और अनूदित इस ग्रंथ को पूज्यवरों का बड़ा अवदान माना जा सकता है। इस ग्रंथ की भूमिका और ११ परिशिष्ट भी विद्वानों के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

जैन विश्व भारती इस ग्रंथ को प्रकाशित करते हुए आह्लाद का अनुभव कर रही है। यह ग्रंथ विद्वानों के समक्ष पहुंचकर चिंतन-मनन और शोध का केन्द्र बनेगा, ऐसा विश्वास है। अंत में मैं आचार्यश्री महाश्रमणजी के चरणों में श्रद्धा व्यक्त करते हुए आशा व्यक्त करता हूँ कि जैन विश्व भारती द्वारा और भी अनेक महत्त्वपूर्ण आगम और उसके व्याख्या ग्रंथ प्रकाशित होकर विद्वद्वर्ग के समक्ष पहुंचते रहेंगे।

दिनांक : ०३-०८-२०१५

धरमचंद लूंकड़

अध्यक्ष

जैन विश्व भारती

संकेतिका

अचि—अभिधान चिंतामणि नाममाला ।

अनुद्धा—अनुयोगद्वार ।

अभि राजे—अभिधान राजेन्द्र कोश ।

अर्धमा—अर्धमागधी शब्दकोश ।

अल्प—अल्पपरिचित सैद्धान्तिक शब्दकोश ।

आचू—आचारांग चूर्ण ।

आचूला—आचारचूला ।

आटी—आचारांग टीका ।

आनि—आचारांग निर्युक्ति ।

आनिटी—आचारांग निर्युक्ति टीका ।

आटे—संस्कृत हिंदी शब्दकोश ।

आयारो—आयारो तह आयारचूला ।

आव—आवश्यक ।

आवचू—आवश्यक चूर्ण ।

आवनि—आवश्यकनिर्युक्ति ।

आवभा—आवश्यकभाष्य ।

आवमटी—आवश्यक मलयगिरीया टीका ।

आवहाटी—आवश्यक हारिभद्रीया टीका ।

उत्त—उत्तराध्ययन ।

उत्तर—उत्तराध्ययन ।

उनि—उत्तराध्ययन निर्युक्ति ।

उशांटी—उत्तराध्ययन शान्त्याचार्य टीका ।

ऋषि—ऋषिभाषित, इसिभासियाइं ।

एको—एकार्थक कोश ।

ओनि—ओघनिर्युक्ति ।

ओनिटी—ओघनिर्युक्ति टीका ।

ओनिभा—ओघनिर्युक्ति भाष्य ।

कल्प—कल्पसूत्र ।

कषाय—कषायपाहुड ।

चू—चूर्ण ।

गोजी—गोम्मटसार (जीवकाण्ड) ।

गोजीटी—गोम्मटसार जीवकाण्ड टीका ।

छेद—छेदपिण्ड ।

जी—जीतकल्प ।

जीचू—जीतकल्प चूर्ण ।

जीभा—जीतकल्प भाष्य ।

जैन—जैनधर्म ।

जैन आगम—जैन आगम-साहित्य में भारतीय समाज ।

जैसाबूइ—जैन साहित्य का बृहद् इतिहास ।

जैसिको—जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश ।

त—तत्त्वार्थसूत्र ।

तवा—तत्त्वार्थवार्तिक ।

दर्शन—दर्शन और चिंतन ।

दशअचू—दशवैकालिक अगस्त्यसिंह चूर्ण ।

दशजिचू—दशवैकालिक जिनदास चूर्ण ।

दशनि—दशवैकालिक निर्युक्ति ।

दशहाटी—दशवैकालिक हारिभद्रीया टीका ।

दश्रुचू—दशाश्रुतस्कन्ध चूर्ण ।

दश्रुनि—दशाश्रुतस्कन्ध निर्युक्ति ।
 देशको—देशीशब्द कोश ।
 दसवे—दसवेआलियं ।
 नंदी—नंदी ।
 नंदीचू—नंदीचूर्ण ।
 नि—निशीथ ।
 निको—निरुक्त कोश ।
 निचू—निशीथ चूर्ण ।
 निनि—निशीथ निर्युक्ति ।
 निभा—निशीथ भाष्य ।
 निसू—निशीथ सूत्र ।
 पंकचू—पंचकल्प चूर्ण ।
 पंकभा—पंचकल्पभाष्य ।
 पंव—पंचवस्तु ।
 पाइय—पाइयसदमहण्णवो ।
 पिनि—पिण्डनिर्युक्ति ।
 पिनिटी—पिण्डनिर्युक्ति टीका ।
 पिनिभा—पिण्डनिर्युक्ति भाष्य ।
 पिनिवृ—पिण्डनिर्युक्ति वृत्ति ।
 पिंप्रटी—पिण्डविशुद्धिप्रकरण टीका ।
 प्रज्ञा—प्रज्ञापना ।
 प्रसा—प्रवचनसारोद्धार ।
 प्रसाटी—प्रवचनसारोद्धार टीका ।
 प्राकृत साहित्य—प्राकृत साहित्य का इतिहास ।
 बृपी—बृहत्कल्पभाष्य पीठिका ।

बृपीटी—बृहत्कल्पभाष्य पीठिका टीका ।
 बृभा—बृहत्कल्पभाष्य ।
 बृभावृ—बृहत्कल्पभाष्य वृत्ति ।
 बृभाटी—बृहत्कल्पभाष्य टीका ।
 बृहिको—बृहद्हिंदी कोश ।
 भआ—भगवती आराधना ।
 भग—भगवई ।
 भिआको—श्रीभिक्षुआगमविषयकोश ।
 मटी—मलयगिरि टीका ।
 मूला—मूलाचार ।
 विभा—विशेषावश्यकभाष्य ।
 विशे—विशेषणवती ।
 व्य—व्यवहार सूत्र ।
 व्यभा—व्यवहारभाष्य ।
 विनय—विनयपिटक ।
 वृ—वृत्ति ।
 शब्द—शब्दकल्पद्रुम ।
 षट्—षट्खण्डागम ।
 सम—समवाओ ।
 सामा—सामाचारी शतक ।
 स्था—स्थानांग ।
 स्थाटी—स्थानांग टीका ।
 सूत्र—सूत्रकृतांग ।
 हरि—हरिवंशपुराण ।

ग्रंथानुक्रम

मंगल संदेश	७	निर्युक्ति एवं भाष्य का पृथक्करण :	
प्रकाशकीय	८	कुछ कसौटियां।	४१
संकेतिका	९	निशीथ निर्युक्ति एवं भाष्य का वैशिष्ट्य।	५०
छेदसूत्र	१३	अन्य ग्रंथों का प्रभाव।	५३
छेदसूत्रों का महत्त्व।	१३	व्याख्या ग्रंथ	५४
छेदसूत्रों का नामकरण।	१४	* निशीथ चूर्णि एवं उसके कर्ता।	५४
छेदसूत्रों का कर्तृत्व।	१६	* सुबोधा व्याख्या।	५६
छेदसूत्रों की संख्या।	१७	* स्तबक।	५६
छेदसूत्र किस अनुयोग में ?	१९	* निशीथ हुंडी।	५६
छेदसूत्रों के अध्येता/अधिकारी।	२०	* निशीथ जोड़।	५६
साध्वियों को छेदसूत्रों की वाचना।	२१	सम्पादन एवं अनुवाद का इतिहास।	५६
छेदसूत्रों का विषय।	२१	निशीथ-निर्युक्ति एवं भाष्य की संख्या	५७
निशीथ का महत्त्व।	२२	पाठ-सम्पादन की प्रक्रिया।	५८
निशीथ का कर्तृत्व।	२३	प्रति-परिचय।	५९
निशीथ के पर्याय।	२६	कृतज्ञता-ज्ञापन।	६०
निशीथ का आचारांग से पार्थक्य।	२८	(मूलपाठ एवं अनुवाद)	
निशीथ की विषयवस्तु।	३०	गाथाओं की विषय-सूची	१-५८
निर्युक्तिकार	३१	निशीथ-निर्युक्ति एवं भाष्य	६१-१६५६
भाष्य	३३	परिशिष्ट	
भाष्यकार	३५	* पदानुक्रम	१६५८
भाष्य का रचनाकाल।	३७	* कथाएं	१६६६

* प्रयुक्त देशी शब्द	१७६०
* सूक्तियां	१८०८
* एकार्थक	१८११
* निरुक्त	१८१७
* परिभाषाएं	१८२३
* दो शब्दों में अर्थ-भेद	१८५७
* विविध विद्याएं	१८७४
* विशेषनामानुक्रम	१८७७
* प्रयुक्त ग्रंथ सूची	१९२९

सम्पादकीय

छेदसूत्र

छेदसूत्र रहस्यसूत्र हैं। योनिप्राभृत आदि ग्रंथों की भांति इनकी वाचना हरेक किसी को नहीं दी जाती थी। पूर्वो से निर्यूद्ध होने के कारण छेदसूत्रों का आगम-साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है। यद्यपि आगमों में प्रकीर्ण रूप से साध्वाचार का वर्णन मिलता है, लेकिन समय के अन्तराल में विधि-निषेध परक ग्रंथों की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी। द्रव्य, क्षेत्र आदि की दृष्टि से आचार विषयक परिवर्तन भी आने लगे। सामान्य विधान को उत्सर्ग तथा परिस्थितिवश वैकल्पिक नियम को अपवाद मार्ग कहा गया। छेदसूत्र साधु-जीवन का संविधान तथा स्खलना होने पर दंड और प्रायश्चित्त प्रस्तुत करते हैं, इसलिए इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। छेदसूत्रों के व्याख्याकारों ने अनेक अपवाद-मार्गों का उल्लेख किया है। ऐसा क्यों हुआ, यह आज खोज का विषय है।

छेदसूत्रों में सामान्यतया साधु-जीवन के नियम प्रस्तुत हैं। व्यवहार में इन्हें दंड संहिता और अध्यात्म की भाषा में इन्हें प्रायश्चित्त सूत्र कहा जा सकता है। जैसे छेदसूत्रों में करणीय और अकरणीय आचार का वर्णन है, वैसे बौद्ध परम्परा में आचार और प्रायश्चित्त सम्बन्धी वर्णन विनय पिटक तथा वैदिक परम्परा में श्रोत्रसूत्र और स्मृतिग्रंथों में मिलता है।

छेदसूत्रों का महत्त्व

छेदसूत्रों को प्रवचन-रहस्य कहा गया है।^१ इसे हर कोई नहीं पढ़ सकता था। विशेष योग्यता वाला साधु ही इसका वाचन कर सकता था। अपात्र या अनधिकारी को वाचना देने वाला प्रायश्चित्त का भागी होता था।^२ योग्य पात्र को वाचना न देने पर आचार्य प्रायश्चित्त के भागी होते थे।^३ व्यवहारभाष्य में सूत्र और अर्थ के संदर्भ में छेदसूत्रों के अर्थ को बलवत्तर माना है। इसका कारण बताते हुए भाष्यकार कहते हैं कि चारित्र में स्खलना होने पर या दोष लगने पर छेदसूत्रों के आधार पर शुद्धि होती है अतः पूर्वगत को छोड़कर अर्थ की दृष्टि से अन्य आगमों की अपेक्षा छेदसूत्र अधिक बलवान् हैं।^४ निशीथभाष्य में छेदसूत्रों को

१. निभा ६३४८, चू ४ पृ. २६१ ; पवयणरहस्यं अववादपदं ४. व्यभा १८२९ ;

सर्वं वा छेदसुत्तं।

जम्हा उ होति सोधी, छेदसुयत्थेण खलितचरणस्स।

२. नि १९/२०।

तम्हा छेदसुयत्थो, बलवं मोत्तूण पुव्वगतं।

३. नि १९/२१।

उत्तमश्रुत कहा गया है। इसकी व्याख्या में चूर्णिकार कहते हैं कि इनमें प्रायश्चित्त-विधि का वर्णन है। प्रायश्चित्त से चारित्र की विशोधि होती है, इसलिए छेदसूत्र उत्तमश्रुत हैं।^१ कल्प^२ और प्रकल्प—निशीथ सूत्र के ज्ञाता^३ तथा बृहत्कल्प और व्यवहार-निर्युक्ति के अर्थतः ज्ञाता श्रुतव्यवहारी कहलाते थे। उन्हें ही आलोचना देने का अधिकार था।^४ दिग्म्बर परम्परा में भी छेदसूत्रों के ज्ञाता को आलोचना देने का अधिकारी बताया गया है।^५ इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि छेदसूत्र और उसके व्याख्या-साहित्य का महत्त्वपूर्ण स्थान था। पंचकल्पभाष्य के अनुसार छेदसूत्रों की वाचना केवल परिणामक शिष्य को दी जाती थी। अतिपरिणामक और अपरिणामक को नहीं।^६ अपरिणामक आदि शिष्यों को छेदसूत्रों की वाचना देने से वे वैसे ही नष्ट हो जाते हैं, जैसे मिट्टी के कच्चे घड़े अथवा खट्टे रस युक्त घड़े में दूध नष्ट हो जाता है।^७

छेदसूत्रों का नामकरण

आचार्य भद्रबाहु ने जब इन ग्रंथों का निर्युहण किया, तब तक छेदसूत्र जैसा विभाग प्रचलित नहीं था। बाद में विशेष महत्त्व देने के लिए इनको एक नवीन वर्गीकरण के अन्तर्गत समाविष्ट कर दिया गया। नंदीसूत्र में जहां विभिन्न आगमों का वर्णन है, वहां 'छेदसूत्र' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। वहां व्यवहार, बृहत्कल्प आदि ग्रंथों को कालिकसूत्र के अन्तर्गत रखा है। छेदसूत्र का सबसे प्राचीन उल्लेख आवश्यक निर्युक्ति में मिलता है।^८ उसके बाद विशेषावश्यकभाष्य^९, निशीथभाष्य^{१०} आदि ग्रंथों में प्रचुर रूप से छेदसूत्र शब्द का प्रयोग हुआ है। छेदसूत्र के नामकरण के बारे में निम्न विकल्पों को प्रस्तुत किया जा सकता है—

* शूब्रिंग के अनुसार प्रायश्चित्त के दस भेदों में 'छेद' और 'मूल' के आधार पर आगमों का वर्गीकरण 'छेद' और 'मूल' के रूप में प्रसिद्ध हो गया।^{११} इस अनुमान की कसौटी पर छेदसूत्र तो विषय-वस्तु की दृष्टि से खरे उतरते हैं। लेकिन वर्तमान में उपलब्ध मूलसूत्रों की 'मूल' प्रायश्चित्त से कोई संगति नहीं बैठती।

-
- | | |
|--|---|
| १. निभा ६३०५ ; छेदसुतमुत्तमसुतं...चू ४ पृ. २५३; छेदसुयं कम्हा उत्तमसुतं भण्णति?—जम्हा एत्थ सपायच्छित्तो विधी भण्णति, जम्हा य तेण च्चरणविसुद्धीकरेति, तम्हा तं उत्तमसुतं। | ५. भआ ६२१। |
| २. चू ४ पृ. ३०४ ; कप्पो त्ति दसा-कप्प-ववहारा—'कल्प' शब्द से चूर्णिकार ने दशाश्रुत, बृहत्कल्प और व्यवहार—इन तीनों ग्रंथों का ग्रहण किया है। | ६. पंकभा १२२३ ; णाऊणं छेदसुतं, परिणामगे होति दातव्वं। |
| ३. निभा ६५१५, व्यभा ३२०। | ७. व्यभा ४१००, ४१०१। |
| ४. व्यभा ४४३२-३५, जीभा ५६१-६४। | ८. आवनि ४८१ ;
जं च महाकप्पसुतं, जाणि य सेसाणि छेदसुत्ताणि। |
| | ९. विभा २२९५। |
| | १०. निभा ६०६८ ; छेदसुतणिसीहादी.....। |
| | ११. कल्पसूत्र, भूमिका, पृ. ८। |

* सामायिक चारित्र स्वल्पकालिक है अतः प्रायश्चित्त का संबंध छेदोपस्थापनीय चारित्र से अधिक है। छेदसूत्र उस चारित्र संबंधी प्रायश्चित्त का विधान करते हैं, संभवतः इसीलिए इनका नाम 'छेदसूत्र' पड़ा होगा।

* दिगंबर ग्रंथ 'छेदपिंड' में प्रायश्चित्त के आठ पर्यायवाची नाम हैं। उनमें एक नाम 'छेद' है।^१ श्वेताम्बर परम्परा में प्रायश्चित्त के दस भेदों में सातवां प्रायश्चित्त 'छेद' है। अंतिम तीन प्रायश्चित्त साधुवेश से मुक्त होकर वहन किए जाते हैं, लेकिन श्रमण पर्याय में होने वाला अंतिम प्रायश्चित्त 'छेद' है। स्खलना होने पर जो चारित्र के छेद—काटने का विधान करते हैं, वे ग्रंथ छेदसूत्र हैं।

* आवश्यक की मलयगिरि टीका में सामाचारी प्रकरण में छेदसूत्रों के लिए 'पदविभाग सामाचारी' शब्द का प्रयोग मिलता है।^२ पदविभाग और छेद—ये दोनों शब्द एक ही अर्थ के द्योतक हैं।

* छेदसूत्रों में सभी सूत्र स्वतंत्र हैं। एक सूत्र का दूसरे सूत्र के साथ विशेष संबंध नहीं है तथा व्याख्या भी छेद या विभाग की दृष्टि से की गई है, इसलिए भी इनको छेदसूत्र कहा जा सकता है।

दशाश्रुत, निशीथ, व्यवहार और कल्प—ये चारों प्रत्याख्यान पूर्व से उद्धृत हैं अर्थात् छिन्न हैं अतः आचार्य तुलसी और आचार्य महाप्रज्ञ का मतव्य है कि संभव है इसी कारण इस आगम वर्ग को छेदसूत्र की संज्ञा दी गई हो।

नामकरण के बारे में आचार्य तुलसी ने एक नई कल्पना प्रस्तुत की है—“छेदसूत्र को उत्तमश्रुत माना है। 'उत्तमश्रुत' शब्द पर विचार करते समय एक कल्पना होती है कि जिसे हम 'छेयसुत' मानते हैं, वह कहीं 'छेकश्रुत' तो नहीं है? छेकश्रुत अर्थात् कल्याण श्रुत या उत्तम श्रुत। दशाश्रुतस्कंध को छेदसूत्र का मुख्य ग्रंथ माना गया है। इससे 'छेयसुत' का 'छेकश्रुत' होना अस्वाभाविक नहीं लगता। दशवैकालिक में 'जं छेयं तं समायेर'^३ पद प्राप्त है। इससे 'छेय' शब्द के 'छेक' होने की पुष्टि होती है।”^४

* जिससे नियमों में बाधा न आती हो तथा निर्मलता की वृद्धि होती हो, उसे छेद कहते हैं।^५ पंचवस्तु की टीका में हरिभद्र द्वारा किए गए इस अर्थ के आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि जो ग्रंथ निर्मलता एवं पवित्रता के वाहक हैं, वे छेदसूत्र हैं।

१. छेदपिंड गाथा ३ ;

पायच्छित्तं छेदो, मलहरणं पावणासणं सोही।

पुण्ण-पवित्तं पावणमिदि पायच्छित्तणामाईं ॥

२. आवनि ४३६; मटी प. ३४१ पदविभागसामाचारी छेदसूत्राणि।

३. दश ४/२३/११।

४. निसीहज्झयणं, भूमिका, पृ. १४।

५. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भा. २ पृ. ३०६।

उपाध्याय अमरमुनि ने भी छेद के सम्बन्ध में अपनी कल्पना प्रस्तुत की है कि जीवन से असंयम के अंश को काटकर अलग कर देना, साधनाकाल में दोषजन्य अशुद्धता के मल को धोकर साफ कर देना अथवा जो शास्त्र भूलों से बचने के लिए पहले सावधान करते हैं तथा भूलों के परिमार्जन हेतु यथावसर उचित निर्देश देते हैं, वे छेदशास्त्र कहलाते हैं।^१

वर्तमान में उपलब्ध चार छेदसूत्रों का नामकरण भी सार्थक हुआ है। आयारदशा में साधु-जीवन के आचार की विविध अवस्थाओं का वर्णन है। यह दस अध्ययनों में निबद्ध है अतः इसका एक नाम 'दशाश्रुतस्कंध' भी है। कल्प का अर्थ है—आचार। जिसमें विस्तृत रूप में साधु के विधि-निषेध सूचक आचार का वर्णन है, वह 'बृहत्कल्प' है। बृहत्कल्प नाम की सार्थकता का विस्तृत विवेचन आचार्य मलयगिरि ने बृहत्कल्प भाष्य की पीठिका में किया है।^२ व्यवहार प्रायश्चित्त सूत्र है। पांच व्यवहारों का मुख्य वर्णन होने के कारण इसका नाम 'व्यवहार' रखा गया है। निशीथ के अन्वर्थ के बारे में हम आगे चर्चा करेंगे।

छेदसूत्रों का कर्तृत्व

दशाश्रुतस्कंध, बृहत्कल्प, व्यवहार और निशीथ—इन चार छेदसूत्रों का निर्यूहण प्रत्याख्यानपूर्व की तृतीय आचार वस्तु से हुआ, ऐसा व्याख्या-साहित्य में अनेक स्थलों पर उल्लेख मिलता है।^३

दशाश्रुत, कल्प और व्यवहार का निर्यूहण आचार्य भद्रबाहु ने किया, यह अनेक स्थानों पर निर्दिष्ट हैं,^४ लेकिन निशीथ के बारे में विद्वानों में मतभेद है। निशीथ सूत्र के कर्तृत्व के सम्बन्ध में हम आगे चर्चा करेंगे।

भाष्यकार के अनुसार नवां पूर्व आकाश की भांति विशाल था।^५ उसकी स्मृति रखने हेतु बार-बार परावर्तन की अपेक्षा रहती थी। जब भद्रबाहु ने धृति, संहनन, वीर्य, शारीरिक बल, सत्त्व, श्रद्धा, उत्साह

१. निशीथभाष्य पीठिका, संपादकीय पृ. २।

२. बृभापी पृ. ४।

३. (क) व्यभा ४१७३;

सर्वं पि य पच्छित्तं, पच्चक्खाणस्स ततियवत्थुमि।

ततो च्विय निज्जूढं, पकप्प-कप्पो य ववहारो।।

(ख) पंकभा २३; आयारदसा-कप्पो, ववहारो नवमपुव्वणीसंदो।

(ग) आनि ३११;

आयारपकप्पो पुण, पच्चक्खाणस्स तइयवत्थुओ।

आयारनामधेज्जा, वीसइमा पाहुडच्छेया।।

(घ) व्यभा ४३५ ;

निसीध नवमा पुव्वा, पच्चक्खाणस्स ततियवत्थुओ।

आयारनामधेज्जा, वीसतिमे पाहुडच्छेदा।।

४. (क) दश्रुनि १, पंकभा १ ;

वंदामि भद्दबाहुं, पाईणं चरिमसगलसुयनाणिं।

सुत्तस्स कारगमिसिं, दसासु कप्पे य ववहारे।।

(ख) पंकभा १२;

तो सुत्तकारगो खलु, स भवति दस-कप्प-ववहारे।

५. व्यभा १७३८ ; सागरसरिसं नवमं, अतिसयनयभंगगुविलता।

और पराक्रम की क्षीणता देखी तो चारित्र की विशुद्धि एवं उसकी रक्षा के लिए दशाश्रुतस्कंध, कल्प और व्यवहार का निर्यूहण किया।^१ चूर्णिकार ने भी इसी बात पर बल देते हुए कहा कि आचार्य भद्रबाहु ने आहार, उपधि, कीर्ति या प्रशंसा के लिए इन ग्रंथों का निर्यूहण नहीं किया।^२

निर्यूहण का एक और प्रयोजन बताते हुए पंचकल्प भाष्यकार कहते हैं कि चरणकरणानुयोग के व्यवच्छेद से चारित्र का व्यवच्छेद हो जाता है अतः चरणकरणानुयोग के अव्यवच्छेद और चारित्र की सुरक्षा के उद्देश्य से आचार्य भद्रबाहु ने इन ग्रंथों का निर्यूहण किया।^३

पंचकल्पभाष्यकार ने निर्यूहण के उद्देश्य को एक रूपक के माध्यम से समझाते हुए कहा—“जैसे सुगंधित फूलों से युक्त कल्पवृक्ष पर चढ़कर फूल इकट्ठे करने में कुछ लोग अक्षम होते हैं, उन लोगों पर अनुकम्पा करके कोई समर्थ व्यक्ति उस पर चढ़कर अक्षम लोगों को भी वे फूल दे देता है, वैसे ही चतुर्दशपूर्व रूप कल्पवृक्ष पर चढ़कर आचार्य भद्रबाहु ने अनुकम्पावश छेदसूत्रों का संग्रथन किया।^४ डॉ. हर्मन जेकोबी और शूब्रिंग ने छेदसूत्रों का समय ईसा पूर्व चौथी शताब्दी का अंत तथा तीसरी शताब्दी का प्रारम्भ माना है।

छेदसूत्रों की संख्या

छेदसूत्रों की संख्या के बारे में विद्वानों में मतभेद है। जीतकल्प चूर्णि में छेदसूत्रों के रूप में निम्न ग्रंथों का उल्लेख हुआ है—कल्प, व्यवहार, कल्पिकाकल्पिक, क्षुल्लकल्प, महाकल्प, निशीथ आदि।^५ आदि शब्द से यहां संभवतः दशाश्रुतस्कंध ग्रंथ का संकेत होना चाहिए। कल्पिकाकल्पिक, महाकल्प एवं क्षुल्लकल्प आदि ग्रंथ आज अनुपलब्ध हैं। आवश्यक निर्युक्ति में महाकल्पश्रुत^६ का उल्लेख मिलता है।^७ संभव है तब तक इस ग्रंथ का अस्तित्व था। समयसुंदरगणी ने सामाचारी शतक में छेदसूत्रों के रूप में छह ग्रंथों के नामों का उल्लेख किया है—दशाश्रुत, बृहत्कल्प, व्यवहार, निशीथ, जीतकल्प और महानिशीथ।^८

१. पंकभा २६-२९।

२. दश्रुचू पृ. ३।

३. पंकभा ४२।

४. पंकभा ४३-४६।

५. जीचू पृ. १ ; कल्प-व्यवहार-कल्पिकाकल्पिक-क्षुल्लकल्प-महाकल्पसुय-निशीहाइएसु छेदसुत्तेसु अइवित्थरेण पच्छित्तं भणियं।

६. निशीथ भाष्य के अनुसार महाकल्पश्रुत के ज्ञानार्थ शिष्य अन्य गण की उपसम्पदा लेते थे। किसी गण की यह मर्यादा होती थी कि जो यावज्जीवन उस आचार्य

का शिष्यत्व स्वीकार करेगा, उसे महाकल्पश्रुत की वाचना दी जाएगी। वहां उपसंपद्यमान शिष्य आचार्य को कह सकता है कि वाचना दें या न दें, यह उनकी इच्छा है, लेकिन यह जिनाज्ञा नहीं है कि यावज्जीवन शिष्यत्व स्वीकार करने वाले को ही श्रुत दिया जाए। (निभा ५६९६, चू ४ पृ. ९६)

७. आवनि ४८१, विभा २२९५ ;

जं च महाकल्पसुतं, जाणि य सेसाणि छेदसुत्ताणि।

८. सामाचारी शतक, आगमाधिकार।

पं. कैलाशचंद्र शास्त्री ने जीतकल्प के स्थान पर पंचकल्प को छेदसूत्रों के अन्तर्गत माना है।^१ वर्तमान में पंचकल्प अनुपलब्ध है। जैन ग्रंथावली के अनुसार १७ वीं शती के पूर्वार्द्ध तक इसका अस्तित्व था। किन्तु निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता कि इसका लोप कब हुआ? पंचकल्पभाष्य की विषयवस्तु देखकर ऐसा लगता है कि किसी समय में पंचकल्प की गणना छेदसूत्रों में रही होगी। हीरालाल कापड़िया के अनुसार पंचकल्प का लोप होने के बाद जीतकल्प की परिगणना छेदसूत्रों में होने लगी।^२ कुछ आचार्यों का कहना है कि पंचकल्प कभी बृहत्कल्पभाष्य का ही एक अंश था, पर बाद में इसको अलग कर दिया गया, जैसे ओघनिर्युक्ति और पिण्डनिर्युक्ति को।^३

विंटरनित्स के अनुसार छेदसूत्रों के प्रणयन का क्रम इस प्रकार है—कल्प, व्यवहार, निशीथ, पिंडनिर्युक्ति, ओघनिर्युक्ति, महानिशीथ।^४ विंटरनित्स ने छेदसूत्रों में जीतकल्प का समोवश नहीं किया। जीतकल्प की रचना नंदी के बाद हुई अतः उसमें जीतकल्प का उल्लेख नहीं मिलता। पिंडनिर्युक्ति तथा ओघनिर्युक्ति साधु के नियमों का वर्णन करती है इसीलिए संभवतः विंटरनित्स ने इन दोनों को छेदसूत्रों के अन्तर्गत माना है।

दिगम्बर साहित्य में कल्प, व्यवहार और निशीथ—इन तीन ग्रंथों का ही उल्लेख मिलता है, जिनका समावेश अंगबाह्य में किया गया है।^५ धवला^६ में वर्णित कल्प, व्यवहार और निशीथ के अर्थाधिकार वर्तमान में उपलब्ध कल्प, व्यवहार एवं निशीथ से बहुत साम्य रखते हैं अतः संभव है भद्रबाहु द्वारा निर्युद्ध ये ग्रंथ दोनों परम्पराओं में समान रूप से मान्य थे। जीतकल्प, पंचकल्प और महानिशीथ का उल्लेख दिगम्बर-साहित्य में नहीं मिलता। महानिशीथ की मूल प्रति को दीमक खा गई अतः वह आज मूल रूप में उपलब्ध नहीं है। महानिशीथ के तृतीय अध्ययन के अनुसार आचार्य हरिभद्रसूरि ने महानिशीथ का पुनरुद्धार किया था।

समवाओ में दशाश्रुत को छेदसूत्र में प्रथम स्थान दिया है।^७ चूर्णिकार ने छेदसूत्रों में दशाश्रुतस्कन्ध को प्रमुख रूप से स्वीकार किया है।^८ इसको प्रमुखता देने का संभवतः यही कारण रहा होगा कि इसमें मुनि के लिए आचरणीय एवं अनाचरणीय तथ्यों का क्रमबद्ध वर्णन है। शेष तीन छेदसूत्र इसी के उपजीवी हैं।

१. जैन पृ. २५९।

२. A History of the Jain Canonical Literature of the Jains. p. 37।

३. वही पृ. ३७।

४. A History.....p. 464)।

५. गोजी ३६८ ;

कल्प-व्यवहार-कप्पाकप्पिय-महकप्पियं च पुंडरियं।
महपुंडरीय-णिसिहियमिदि चोद्दसमंगबाहिरयं।।

६. षट्धवला भा. १ पृ. ९७-९९।

७. सम २६/१।

८. दश्रुचू पृ. २; इमं पुण छेदसुत्तपमुहसुत्तं।

विंटरनिस्स के अनुसार व्यवहार बृहत्कल्प का पूरक है। बृहत्कल्प में प्रायश्चित्त-योग्य कार्यों का निर्देश है तथा व्यवहार उसकी प्रयोग भूमि है। अर्थात् उसमें प्रायश्चित्त निर्दिष्ट हैं। उनके अनुसार निशीथ की रचना अर्वाचीन है। उसका बहुत बड़ा भाग व्यवहार से तथा कुछ भाग प्रथम और द्वितीय चूला से लिया गया है।^१

पंचकल्पभाष्य के अनुसार कुछ आचार्य दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प एवं व्यवहार—इन तीनों को एक श्रुतस्कंध ही मानते हैं तथा कुछ आचार्य दशाश्रुतस्कन्ध को एक तथा कल्प और व्यवहार को दूसरे श्रुतस्कंध के रूप में स्वीकृत करते हैं।^२ तेरापंथ में छेदसूत्रों के रूप में चार ग्रंथों की गणना होती है—१. दशाश्रुत २. बृहत्कल्प ३. व्यवहार ४. और निशीथ।

छेदसूत्र किस अनुयोग में ?

अनुयोग विशिष्ट व्याख्या-पद्धति है। आर्यरक्षित से पूर्व अपृथक्त्वानुयोग प्रचलित था। उसमें प्रत्येक आगम के सूत्रों की व्याख्या चरणकरण, धर्म, गणित तथा द्रव्य की दृष्टि से की जाती थी। वह प्रत्येक के लिए सुगम नहीं होती थी। आर्यरक्षित ने इस जटिलता और स्मृतिबल की क्षीणता को देखकर पृथक्त्वानुयोग का प्रवर्तन कर दिया। उन्होंने विषयगत वर्गीकरण के आधार पर आगमों को चार अनुयोगों में बांटा—१. चरणकरणानुयोग, २. धर्मकथानुयोग, ३. गणितानुयोग, ४. द्रव्यानुयोग।

ओघनिर्युक्ति भाष्य में उल्लेख है कि चारों ही अनुयोग अपने-अपने विषय में बलवान् हैं, लेकिन चरणकरणानुयोग इन चारों में महर्धिक है, क्योंकि शेष तीन अनुयोग भी चारित्र की सुरक्षा एवं उसकी प्रतिपत्ति के हेतु बनते हैं।^३

आचार प्रधान होने के कारण छेदसूत्रों का समावेश चरणकरणानुयोग में किया गया। इस संदर्भ में निशीथ चूर्ण में शिष्य आचार्य से प्रश्न पूछता है कि आचारांग की पंचमचूला होने के कारण निशीथ का समावेश अंग में है। वह चरणकरणानुयोग के अन्तर्गत है, लेकिन छेदसूत्र अंगबाह्य हैं, वे किस अनुयोग के अन्तर्गत होंगे? भाष्यकार ने छेदसूत्रों को चरणकरणानुयोग के अन्तर्गत रखा है।^४

१. A History.....p. 446।

२. पंकभा २५ ;

दसकप्पव्ववहारा, एगसुतक्खंध केइ इच्छंति।

केई व दसा एक्कं, कप्पव्ववहारा बीयं तु॥

३. ओनिभा ६, ७ ;

सविसय बलवत्तं पुण, जुज्जति तह वि य महिद्धियं चरणं।

चारित्तरक्खणट्ठा, जेणितरे तिन्नि अणुयोगा॥

चरणपडिवत्तिहेतुं, धम्मकहा काल दिक्खमादीया।

दविए दंसणसुद्धी, दंसणसुद्धस्स चरणं तु॥

४. आवनि ४८१, निभा ६३११, चू ४ पृ. २५४।

छेदसूत्रों के अध्येता/अधिकारी

निशीथभाष्य में छेदसूत्रों की वाचना देने योग्य व्यक्ति की योग्यता पर विमर्श किया गया है। वहां स्पष्ट उल्लेख है कि तेरह प्रकार के व्यक्तियों को छेदसूत्र की वाचना नहीं देनी चाहिए—

१. तित्तिणिक—गुरु द्वारा उपालम्भ देने पर तनतनाहट करने वाला।
२. चंचलचित्त—आगमों का पल्लवग्राही ज्ञाता, इधर-उधर से आलापकों को ग्रहण करने वाला।
३. गाणंगणिक—छह माह की अवधि से पूर्व एक गण से दूसरे गण में जाने वाला।
४. दुर्बलचारित्र—धृति और शक्ति से रहित होने के कारण अपवादों की प्रतिसेवना करने वाला।
५. आचार्य परिभाषी—आचार्य का पराभव करने वाला।
६. वामावर्त—गुरु की आज्ञा के विपरीत आचरण करने वाला।
७. पिशुन—दूसरों के दोषों को प्रकट करके प्रीति को समाप्त करने वाला।
८. आदिअदृष्टभाव—आवश्यक से सूत्रकृतांग पर्यन्त अभिधेय को नहीं जानने वाला।
९. कृतसामाचारीक—दोनों प्रकार की सामाचारी को जानकर भी उसका आचरण नहीं करने वाला।
१०. तरुणधर्मा—अवधि से पूर्व छेदसूत्रों का अध्ययन करने वाला। तीन वर्ष से पूर्व निशीथ का तथा पांच वर्ष से पूर्व अन्य तीन छेदसूत्रों का अध्ययन करने वाला।
११. गर्वित—थोड़ा अध्ययन करके गर्व से अविनीत आचरण करने वाला।
१२. प्रकीर्णक—छेदसूत्रों के रहस्यपूर्ण अर्थ को सुनकर उसे अपरिणत आदि शिष्यों को बताने वाला।
१३. निह्वी—जिससे ज्ञान प्राप्त किया, उसके नाम का गोपन करने वाला।^१

निशीथभाष्य के अनुसार जो भिक्षु सूत्रोक्त अपवाद पदों के रहस्य को आजीवन धारण नहीं करता, उन्हें अगीतार्थ साधुओं को बता देता है, एक अपवाद की निश्रा में अन्य अनेक अपवादों का सेवन करता है, ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि के योगों में प्रवृत्त नहीं होता, ऐसे शिष्य को निशीथ की वाचना नहीं देनी चाहिए। इसके विपरीत जीवन भर रहस्य को पचाने वाला, निष्पक्ष, पांच समितियों से समित तथा अशठभाव से चारित्र का पालन करने वाला भिक्षु निशीथ की वाचना के योग्य होता है।^२

परिणामक शिष्य ही छेदसूत्र की वाचना के लिए अधिकृत होता है, क्योंकि वह द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि की सापेक्षता के आधार पर उत्सर्ग और अपवाद मार्ग का वर्तन करता है। अपरिणामक और अतिपरिणामक शिष्य को निशीथ आदि छेदसूत्रों की वाचना नहीं दी जाती।

१. बुभा ७६२, ७६३ टी पृ. २३९-४७, निभा ६३१९-४८ चू पृ. २५५-६०।

२. निभा ६८१८, ६८१९, चू ४ पृ. ४१०।

साध्वियों को छेदसूत्र की वाचना

आर्यरक्षित अन्तिम आगमव्यवहारी थे। आगमव्यवहारी अपने ज्ञानबल से जान लेते थे कि इस संयती को छेदसूत्र की वाचना देने में दोषापत्ति नहीं है तो वे उसे छेदसूत्रों की वाचना देते थे। आर्यरक्षित के बाद आगमव्यवहारी नहीं रहे। साध्वियों की मनःस्थिति को स्पष्ट रूप से जानने का कोई अतिशायी ज्ञान नहीं रहा। तब स्थविरों ने सोचा कि छेदसूत्र के अध्ययन से साध्वियां संयम से च्युत न हो जाएं, इस दृष्टि से उनको वाचना देना बंद कर दिया।^१

प्रश्न उपस्थित हुआ कि फिर साध्वियां शोध कैसे कर पाएंगी? इसके उत्तर में ग्रंथकार कहते हैं—आचार्य आर्यरक्षित के समय तक साध्वियां साध्वियों से प्रायश्चित्त ग्रहण करती थीं और प्रायश्चित्तदात्री साध्वियों के अभाव में श्रमणों के पास भी आलोचना कर प्रायश्चित्त ग्रहण करती थीं। इसी प्रकार श्रमण भी स्वपक्ष अर्थात् श्रमणों से अथवा परपक्ष श्रमणियों के पास आलोचना कर प्रायश्चित्त ग्रहण करते थे। आर्यरक्षित के पश्चात् श्रमणियां श्रमणों के पास ही आलोचना करने लगीं। आर्यरक्षित के समय में भी यह परम्परा थी कि यदि साध्वियों को मूलगुण संबंधी दोषों की आलोचना करनी होती तो वे स्वयं साध्वियों के पास ही उनकी आलोचना करतीं। योग्य साध्वी के अभाव में छेदग्रंथधर स्थविर के पास आलोचना करती थीं।^२

छेदसूत्रों का विषय

छेदसूत्र दोष एवं उसके प्रायश्चित्त का विधान करते हैं। विशेष परिस्थिति में साधु को क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए, यह बात छेदसूत्रों में बताई गई है। छेदसूत्रों के विषयों को मुख्यतः चार भागों में विभाजित किया जा सकता है—१. उत्सर्ग मार्ग २. अपवाद मार्ग ३. दोषसेवन ४. प्रायश्चित्त-विधान।

जिन नियमों का पालन साधु-साध्वियों के लिए विहित हो, उनका पालन उत्सर्ग मार्ग है। विशेष परिस्थिति में सामान्य विधि के अतिरिक्त विधि का प्रयोग करना अपवाद मार्ग है। यह दो प्रकार का होता है—१. सदोष विधान २. निर्दोष विधान। कल्पिका प्रतिसेवना निर्दोष तथा दर्पिका प्रतिसेवना सदोष है। उत्सर्ग और अपवाद मार्ग का भंग करके अनाचार का सेवन करना दोष-सेवन है तथा उसकी शुद्धि के लिए प्रयत्न करना, गुरु से दंड लेना प्रायश्चित्त विधान है।

१. व्यभा २३६५ ; तो जाव अज्जरक्खित, आगमववहारतो वियाणेत्ता।

न भविस्सति दोसो ती, तो वायंती उ छेदसुत्तं।।

२. व्यभा २३६६-६९।

छेदसूत्रों में जहां 'कप्पइ' शब्द का प्रयोग है, वे विधिसूत्र हैं तथा जहां 'णो कप्पइ' का उल्लेख है, वे निषेधसूत्र हैं। जिन सूत्रों में कप्पइ और णो कप्पइ—दोनों का प्रयोग है, वे विधि-निषेध सूत्र हैं तथा जिनमें कप्पइ, णो कप्पइ दोनों का प्रयोग नहीं है, वे विधान सूत्र हैं।

निशीथ का महत्त्व

छेदसूत्रों में निशीथ का महत्त्वपूर्ण स्थान है। व्यवहारभाष्य और निशीथभाष्य में इसके महत्त्व को प्रकट करने वाले अनेक तथ्य प्राप्त होते हैं। निशीथ की वाचना तीन वर्ष पर्याय वाले गंभीर साधु को दी जाती थी।^१ आयु की दृष्टि से १६ वर्ष का साधु निशीथ का अध्ययन कर सकता था।^२ आचार्य, उपाध्याय पद की योग्यता के लिए भी कम से कम निशीथ का ज्ञाता होना अनिवार्य था।^३ निशीथ का महत्त्व इस बात से जाना जा सकता है कि आचारप्रकल्प का अध्ययन किए बिना कोई भी साधु बहुश्रुत नहीं कहलाता था।^४ निशीथ का ज्ञाता हुए बिना कोई भी साधु-साध्वी अपने सम्बन्धियों के घर भिक्षार्थ नहीं जा सकता। निशीथ चूर्ण में आचारप्रकल्प—निशीथ सीखने की प्रेरणा अनेक स्थलों पर मिलती है। निशीथ चूर्णकार कहते हैं कि आचारप्रकल्प को सूत्र और अर्थ सहित गुरु के पास सीखना चाहिए। गुरु की अनुपस्थिति में अपने गण के किसी साधु से वाचना लेनी चाहिए, यह भी संभव न हो तो सांभोजिक साधुओं से इसका अध्ययन करना चाहिए। इसके अभाव में अन्य सांभोजिक साधुओं से तथा इसके अभाव में लिंगस्थ साधु से इसका अध्ययन करना चाहिए।^५

निशीथ का उच्छेद करने वालों के लिए दंड की व्यवस्था थी तथा निशीथधर के लिए विशेष रूप से अपवादमार्ग की छूट थी।^६

निशीथ सीखने के बाद यदि कोई तरुण साधु या साध्वी प्रमादवश उसे भूल जाती है तो उसे आचार्य, प्रवर्तिनी आदि कोई पद नहीं दिया जाता। मलयवती, मगधसेना आदि कथा-साहित्य, ज्योतिष, निमित्त-विद्या आदि के कारण भी आचारप्रकल्प की विस्मृति हो जाती थी। यह प्रमाद से होने वाली विस्मृति थी। यदि किसी शारीरिक रोग से, सेवा में नियुक्त होने से या दुर्भिक्ष आदि के कारण निशीथ विस्मृत हो जाता तो उसे पुनः याद करने पर आचार्य या प्रवर्तिनी आदि पद दिया जा सकता था।^७ क्योंकि यह दर्प या प्रमाद से होने वाली विस्मृति नहीं थी।

१. व्य १०/२५।

२. व्य १०/२३।

३. व्य ३/३, १०।

४. निचू ४ पृ. ७३ ; जेणं आयापगणो ण ज्ञातितो, एस अबहुस्सुतो।

५. निभा ६१५६, चू ४ पृ. २२०।

६. व्य ५/१५-१८।

७. व्य ५/१५, १६, व्यभा २३१४-२८।

स्थविर साधु यदि निशीथ को विस्मृत कर दे तो वह सोते-बैठते किसी भी अवस्था में उसकी पुनः स्मृति कर सकता था।^१ स्वतंत्र रूप से अग्रगण्य के रूप में विहार करने के लिए भी निशीथ का ज्ञाता होना आवश्यक है।^२

निशीथ भाष्य में स्पष्ट उल्लेख है कि उद्घात, अनुद्घात, मासिक, चातुर्मासिक आदि प्रायश्चित्त पूर्वगत में थे, वे आचारप्रकल्प में निर्यूढ हुए।^३ निशीथ का सूत्रधर और अर्थधर होने पर ही कोई साधु दूसरे साधु को प्रायश्चित्त देने का अधिकारी हो सकता है। यदि साधु निशीथ का अर्थधर है तो वह भी प्रायश्चित्त दे सकता है।^४ आगमव्यवहारी की भांति कल्प और प्रकल्प—निशीथ का ज्ञाता भी प्रायश्चित्त देने का अधिकारी होता था।^५

सामान्यतः एक द्वार वाली या अनेक द्वार वाली बस्ति में अगीतार्थ साधु नहीं ठहर सकते, लेकिन उनमें यदि कोई आचारप्रकल्पधर है तो दोनों प्रकार की बस्तियों में ठहरा जा सकता है।^६

निशीथ की गोपनीयता, रहस्यमयता और महत्ता का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि अनधिकारी और अपात्र को निशीथ का ज्ञान देने वाला दीर्घ संसार में भ्रमण करता है तथा पात्र को निशीथ का ज्ञान देने वाला संसार का विच्छेद करके आराधक बन जाता है।^७

निशीथ का कर्तृत्व

निशीथ के कर्तृत्व के बारे में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। उपाध्याय अमरमुनि एवं पंडित दलसुखभाई मालवणिया विशाखगणी को निशीथ के कर्ता के रूप में स्वीकार करते हैं। इस संदर्भ में उनका एक हेतु यह है कि ग्रंथ के अंत में तीन प्रशस्ति गाथाओं में उल्लेख मिलता है कि महान् यशधर महत्तर और धर्मधुरीण आचार्य विशाखगणी ने निशीथ को लिखा।^८ इस संदर्भ में विचारणीय प्रश्न यह है कि श्वेताम्बर आचार्य पट्टावलि में विशाखाचार्य का कहीं नाम नहीं मिलता, लेकिन दिगम्बर परम्परा में आचार्य

१. व्य ५/१८ ;कप्पइ तेसिं सन्निसण्णाण वा संतुयट्टाण वा उत्ताणयाण वा पासिल्लयाण वा आयापकप्पं नामं अज्झयणं दोच्चं पि तच्चं पि पडिच्छित्तए वा पडिसारेत्तए वा ।

२. व्यभा १९५७ ।

३. निभा ६७९१ ;

उद्घातमणुग्घाता, मास-चउम्मासिगा उ पच्छित्ता ।
पुव्वगते च्चिय एते, णिज्जूढा जे पकप्पम्मि ।।

४. निभा ६७९०, ६७९२, निचू ४ पृ. ४०३ ; इमं पकप्पज्झयणं चोद्दसपुव्वीहिं णिबद्धं, तं जो गणपरियट्ठी सुतत्थे धरेति, सो वि सोधिकरो भवति । अहवा चोद्दसपुव्वेहितो णिज्जूहिओ

एस पकप्पो निबद्धो तद्धारी सोऽधिकारीत्यर्थः ।

५. निभा ६५८३, चू ४ पृ. ३३१ ।

६. व्य ६/४, ५ ।

७. निभा ६८१८, ६८१९ ।

८. निचू ४ पृ. ३९५ ;

दंसणचरित्तजुओ जुत्तो गुत्तीसु सज्जणहिएसु ।
नामेण विसाहगणी, महत्तरओ गुणाण मंजूसा ।।
कित्तीकंतिपिणद्धो, जसपत्तो पडहो तिसागरनिरुद्धो ।
पुणरुत्तं भमइ महिं, ससिच्च गगणं गुणं तस्स ।।
तस्स लिहियं निसीहं, धम्मधुराधरणपवरपुज्जस्स ।
आरोगं धारणिज्जं, सिस्सपसिस्सोवभोज्जं च ।।

भद्रबाहु के बाद विशाखगणी का नाम मिलता है। यहां 'लिहियं' शब्द संशय पैदा करता है, क्योंकि किसी रचना के लिए कयं, निज्जूढं, निबद्धं आदि शब्दों के प्रयोग तो मिलते हैं, लेकिन 'लिहियं' शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। आचार्य भद्रबाहु के अनंतर पट्टधर होने के कारण संभव है विशाखगणी ने इसकी प्रतिलिपि की हो और उनके किसी शिष्य ने प्रशस्ति के रूप में ये गाथाएं लिख दी हों।

विशाखगणी को निशीथ के कर्ता के रूप में स्वीकार नहीं करने का एक कारण यह है कि विशाखगणी ११ अंगधारी और कुछ पूर्वों के धारक थे, जबकि निशीथ चतुर्दश पूर्वधर द्वारा निर्यूढ है, ऐसा उल्लेख मिलता है।^१ ऐसा अधिक संभव लगता है कि किसी समय ये तीनों गाथाएं प्रति की पुष्पिका में लिपिकर्ता के लिए प्रशस्ति रूप में लिखी हुई थीं, बाद में इन्हें निशीथ के साथ जोड़ दिया गया। प्रकाशित निशीथ में मूल पाठ के अंत में ये प्रशस्ति गाथाएं नहीं मिलती हैं। ये गाथाएं चूर्ण में लिखी हुई हैं। चिंतन का विषय यह भी है कि कोई भी रचनाकार अपने लिए प्रशस्ति श्लोक नहीं लिख सकता। यदि ये गाथाएं भाष्यकार या चूर्णिकार के समक्ष होतीं तो वे अवश्य इस संदर्भ में कुछ कहते।

मालवणियाजी के अनुसार निशीथ की रचना श्वेताम्बर दिगम्बर के भेद से पहले हो चुकी थी। इसका कारण बताते हुए वे कहते हैं कि निशीथ दोनों परम्पराओं में मान्य है अतः भद्रबाहु प्रथम के समय तक वीरनिर्वाण के १५० वर्ष के भीतर इसकी रचना हो जानी चाहिए। हमारे अभिमत से भी यह बात औचित्यपूर्ण है, क्योंकि व्यवहार सूत्र के निर्यूहणकर्ता आचार्य भद्रबाहु थे। उन्होंने अनेक स्थलों पर आयापकप्प—निशीथ का उल्लेख किया है।^२ इससे स्पष्ट है कि उनके सामने निशीथ का अस्तित्व था। अतः निशीथ व्यवहार से भी पुराना होना चाहिए। आवश्यक^३ में भी 'अट्टावीसतिविहे आयापकप्पे' का उल्लेख मिलता है अतः आवश्यक से भी निशीथ प्राचीन होना चाहिए। इस तर्क के आधार पर भी निशीथ को विशाखगणी कृत नहीं माना जा सकता।

दशाश्रुतस्कंध निर्युक्ति और पंचकल्पभाष्य की प्रथम गाथा में दशाश्रुत, कल्प और व्यवहार—इन तीनों ग्रंथों के कर्ता के रूप में चतुर्दशपूर्वी आचार्य भद्रबाहु को नमस्कार किया गया है। यहां 'कप्प' शब्द से संभव है बृहत्कल्प, पंचकल्प और निशीथ—इन तीनों का निर्देश किया हो, क्योंकि पंचकल्प के चूर्णिकार ने स्पष्ट रूप से निशीथ को भी भद्रबाहु प्रथम द्वारा निर्यूढ माना है।^४

१. (क) निभा ६६७४ ;

चोद्दसपुव्विनिबद्धो, गणपरियट्ठी पकप्पधरो।

(ख) व्यभा ४३५ ;

निसीध नवमा पुव्वा, पच्चक्खाणस्स ततियवत्थूओ।

आयापनामधेज्जा, वीसतिमे पाहुडच्छेदा।।

२. व्य. ३/१०, ५/१५-१८, १०/२३-२५।

३. आव. ४/८।

४. पंचचू पृ. २ ; तेण भगवया आयापकप्पो-दसा-कप्प-

ववहारा य नवमपुव्वनीसंदभूता णिज्जूढा।

आचारांग निर्युक्ति^१ में निर्युक्तिकार कहते हैं—

थेरेहिऽणुगहट्टा, सीसहियं होउ पागडत्थं च ।

आयाराओ अत्थो, आयारगोसु पविभत्तो ॥

अर्थात् स्थविरों ने शिष्यहित के लिए आचार (आचारांग प्रथम श्रुतस्कंध) से आचाराग्र—चूलाओं में प्रविभक्त कर दिया। पंडित दलसुखभाई ने यहां 'आयार' शब्द के दो अर्थ किए हैं—आचारांग और प्रत्याख्यानपूर्व की आचारवस्तु। प्रथम चार चूलाएं तो आचारांग से संकलित की गई हैं। निर्युक्तिकार ने स्पष्ट कहा है कि द्वितीय श्रुतस्कंध में प्रथम श्रुतस्कंध के उक्त का विस्तार तथा अनुक्त का प्रतिपादन हुआ है, इसलिए इसका नाम आचाराग्र है। प्रथम चार चूलाएं आचारांग के किस-किस अध्ययन से उद्धृत हैं, निर्युक्तिकार ने यह उल्लेख किया है।^२ पांचवीं चूला आचारप्रकल्प—निशीथ प्रत्याख्यानपूर्व की तृतीय आचारवस्तु के बीसवें प्राभृत से उद्धृत है, यह संकेत दिया है।^३

निर्युक्तिकार द्वारा प्रयुक्त 'थेरेहिं' शब्द का आचारांग चूर्णिकार ने गणधर अर्थ किया है*, लेकिन आचार्य शीलांक ने स्थविर शब्द का अर्थ चतुर्दशपूर्वी किया है।^४

पंडित दलसुखभाई ने इस प्रश्न को उठाया है कि जब निर्युक्तिकार ने निशीथ को स्थविरकृत स्वीकार किया है तो चूर्णिकार ने इसे गणधरकृत क्यों माना? इसका समाधान देते हुए वे कहते हैं कि प्रामाणिकता और महत्त्व स्थापित करने की दृष्टि से तथा गणधरकृत का अधिक महत्त्व होने से चूर्णिकार ने इसका सम्बन्ध गणधर के साथ जोड़ दिया। आचारांग के अन्तर्गत होने से निशीथ अंग के अन्तर्गत समाविष्ट हो गया। संभव है इसलिए यह गणधर कृत माना जाने लगा। अन्य अंगबाह्य ग्रंथों को भी आचार्यों ने गणधरप्रणीत कहना शुरू कर दिया।

निर्युक्तिकार ने 'थेरेहिं' बहुवचन का प्रयोग किया है। इसके दो फलित हो सकते हैं—

* ग्रंथकार ने सम्मान में बहुवचन का प्रयोग किया।

* अथवा अनेक स्थविरों के द्वारा इसकी रचना की गई। संभावना की जा सकती है कि प्रथम चार चूलाओं का निर्युहण किसी अन्य स्थविर ने किया तथा निशीथ का निर्युहण आचार्य भद्रबाहु ने किया।

१. आनि ३०७।

२. आनि ३०८-१०।

३. आनि ३११; आयारपकप्पो पुण, पच्चक्खाणस्स तइयवत्थूओ।
आयारनामधेज्जा, वीसइमा पाहुडच्छेया ॥

४. आचू पृ. ३२६ ; थेरा—गणधरा।

५. आनिटी पृ. २१३ ;

स्थविरैः श्रुतवृद्धैश्चतुर्दशपूर्वविधिर्नियूढानीति।

चूर्णिकार के एक अन्य उल्लेख के अनुसार निशीथ सूत्र के कर्ता अर्थ की दृष्टि से तीर्थकर हैं और शब्द अर्थात् सूत्र की दृष्टि से गणधर हैं।^१ चूर्णिकार के इस उल्लेख से भी स्पष्ट है कि निशीथ सूत्र के कर्ता गणधर हैं। इसका कारण संभवतः यह रहा होगा कि इसका समावेश अंग में था।

विंटरनिट्स ने निशीथ को अर्वाचीन माना है तथा इसे संकलित रचना के रूप में स्वीकृत किया है। डॉ. जगदीशचन्द्र जैन का मतव्य है कि अपने मौलिक रूप में सिर्फ प्रथम श्रुतस्कंध ही था, लेकिन भद्रबाहु स्वामी ने निर्युक्ति लिखते समय बाद वाला भाग द्वितीय श्रुतस्कंध बढ़ा दिया।^२

निशीथ के पर्याय

भाष्यकार ने निशीथ के एकार्थकों का उल्लेख किया है—“आचार, अग्र, प्रकल्प, चूलिका और निशीथ। इसमें आचार का वर्णन है अतः आचार नाम अन्वर्थक है। यह आचारांग की पांचवीं चूला है अतः औपचारिक रूप से अग्र नाम निशीथ का वाचक हो गया। प्रत्याख्यान पूर्व की तृतीय आचार वस्तु से प्रस्तुत आगम की प्रकल्पना की गई अतः प्रकल्प नाम है।^३ आचार शब्द सामान्यतः आचारांग के प्रथम श्रुतस्कंध के लिए प्रयुक्त होता है। प्रकल्प नाम निशीथ के लिए प्रयुक्त होता है। चूर्णिकार ने भी मंगलाचरण की तीसरी गाथा में ‘पकप्प’ शब्द का प्रयोग किया है।^४ केवल अग्र या चूलिका का प्रयोग निशीथ के लिए कहीं नहीं मिलता। यहां यह संभावना अधिक सटीक लगती है कि आचार शब्द के साथ अग्र, प्रकल्प और चूलिका जुड़कर आचाराग्र, आचारप्रकल्प और आचारचूलिका—ये तीन नाम निशीथ के वाचक बन गए। निशीथ का एक नाम निसीहज्झयण भी मिलता है।

आचारांग निर्युक्ति और नंदी में इसके लिए निसीह—निशीथ शब्द का प्रयोग हुआ है। भाष्यकार ने निशीथ का अर्थ अंधकार—अप्रकाश किया है।^५ आचार्य हेमचन्द्र ने अभिधान चिंतामणि नाममाला में निशीथ का अर्थ अर्धरात्रि किया है।^६ भाष्यानुसारिणी में भी निशीथ का अर्थ अप्रकाश किया है।^७ यहां निशीथ का अर्थ अप्रकाश या अर्धरात्रि अधिक उपयुक्त है। चूर्णिकार ने भी इसी अभिमत की पुष्टि की है।^८

१. चू १ पृ. ४ ; गिसीहचूलज्झयणस्स तित्थगराणं अत्थस्स अत्तागमे। गणहराणं सुत्तस्स अत्तागमे। गणहराणं अत्थस्स अणंतरागमे, गणहरसिस्साणं सुत्तस्स अणंतरागमे, अत्थस्स परंपरागमे।

२. प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ. ४५।

३. निचू १ पृ. ३० ; प्रकर्षाद् वा कल्पनं प्रकल्पः, नवमपूर्वात् तृतीयवस्तुनः आचारप्राभृतात्।

४. निचू १ पृ. १ ; एवं कयप्पणामो, पकप्पणामस्स विवरणं वण्णे।

५. निभा ६९ ; जं हेति अप्पगासं, तं तु निसीहं ति लोगतो सिद्धं।

६. अचि २/५९ ; निशीथस्त्वर्धरात्रो।

७. तत्त्वार्थ भाष्यानुसारिणी टी. पृ. ९० ; निशीथं अप्रकाशं सूत्रार्थाभ्याम्।

८. निचू १ पृ. ३४ ; अप्पगासवयणस्स णिण्णयत्थे गिसीहं ति। लोगे वि सिद्धं गिसीहं अप्पगासं। न केवलं लोकसिद्धमप्पगासं गिसीहं, जं अप्पगासधम्मं अन्नं तं पि गिसीहं जहा लोइया रहस्ससुत्ता विज्जा-मंता जोगा य अपरिणयाणं ण पगासिज्जंति।

अपवाद बहुल, गोप्य और अप्रकाश्य ग्रंथ होने के कारण इसकी वाचना आधी रात को दी जाती थी, जिससे अतिपरिणामक और अपरिणामक शिष्य इसे न सुन सकें अतः इसका निशीथ नाम सार्थक प्रतीत होता है। व्यवहार में भी इसका यही नाम अधिक प्रचलित है।

भावनशीथ के प्रसंग में भाष्यकार ने निरुक्त करते हुए कहा है—अर्थात् जिससे अष्टविध कर्म रूप मैल नीचे बैठ जाता है, वह निशीथ है।^१ व्याख्याकारों ने द्रव्यनिशीथ में काचक फल का उदाहरण देते हुए कहा है कि काचक फल के कारण पानी में जो गंदगी नीचे बैठ जाती है, वह द्रव्य निशीथ है।^२ इस सारे प्रसंग में निशीथ का एक अर्थ यह होना चाहिए कि जिस ग्रंथ के अध्ययन से आत्मा का मल विशुद्ध होता है, कर्म मल नीचे बैठ जाता है, वह निशीथ है। वैसे भी निर् उपसर्ग सहित सद् धातु से निशीथ शब्द निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ यह हो सकता है कि जो शास्त्र पाप का छेदन करता है, वह निशीथ है।

दिगम्बर ग्रंथों में निशीथ के निसीहिय, निषिधक, णिसीहिय आदि नाम मिलते हैं।^३ गोम्मटसार में णिसिहिय शब्द प्राप्त होता है। इसके टीकाकार ने इसका अर्थ निषिद्धिका किया है। जिसका अर्थ है—प्रमाद दोष का निषेध करने वाला।^४ अपने मत की पुष्टि में उन्होंने दश सामाचारियों में दूसरी नैषेधिकी सामाचारी के लिए प्रयुक्त 'निसीहिया' शब्द का उल्लेख किया है। आचार्य तुलसी ने निसीहिया के निषेध परक अर्थ की संगति इस प्रकार की है—'इसे अनधिकारी को पढ़ाना निषिद्ध है, जनाकुल स्थान में इसका वाचन निषिद्ध है। निषिद्धिका अर्थात् स्वाध्याय-भूमि में ही पठनीय है।^५ धवला टीकाकार ने बहुविध प्रायश्चित्त का वर्णन करने वाले ग्रंथ को निषिद्धिका कहा है।^६

हरिवंश पुराण में निशीथ के लिए निषद्यक शब्द का प्रयोग हुआ है।^७ प्रस्तुत ग्रंथ निसीहिया—निषद्या भूमि अर्थात् स्वाध्याय-भूमि में ही पढ़ा जाता था तथा इसका अध्ययन करते समय निषद्या की व्यवस्था की जाती थी।^८ इस दृष्टि से इसका निषद्यक नाम भी संगत हो जाता है। पश्चिमी विद्वान् बेवर ने इसका निषेध अर्थ मान्य किया है।^९ गहराई से विचार करने पर निशीथ का निषेध अर्थ संगत प्रतीत नहीं

१. निभा ७०; अट्टविधकम्मपंको, णिसीयते जेण तं निसीहं ति ।

२. निभा ६८, चू १ पृ. ३३; कतको णाम रुक्खो तस्स फलं तं कलुसोदगे पक्खिप्पइ, तओ कलुसं हेट्ठा ठायति ।

३. कषाय भा.-१ पृ. २३, १३७, षट् भा.-१ पृ. ९७ ।

४. गोजीटी पृ. ३६८ ;

निषेधनं प्रमाददोषनिराकरणं निषिद्धिः संज्ञायां कप्रत्यये निषिद्धिका प्रायश्चित्तशास्त्रमित्यर्थः, तच्च प्रमाददोष-विशुद्ध्यर्थं बहुप्रकारं प्रायश्चित्तं वर्णयति ।

५. निसीहज्झयणं, भूमिका पृ. १८ ।

६. षट्धवला भा.-१ पृ. ९९;

णिसीहियं बहुविहपायच्छित्तविहाणवण्णणं कुणइ ।

७. हरि १०/१३८ ;

निषद्यकारख्यमाख्याति, प्रायश्चित्तविधिपरम् ।

अंगबाह्यश्रुतस्यायं, व्यापारः प्रतिपादितः ।।

८. निभा ६७८९ ।

९. इंडियन एंटीक्वेरी भा.- २१ पृ. २७ ।

होता, क्योंकि इस ग्रंथ में दोष-सेवन करने पर प्रायश्चित्त का विधान करना है, न कि निषेधपरक बातों का वर्णन है। यह अनधिकारी के सम्मुख गोप्य और अप्रकाश्य है तथा रात्रि या एकान्त में पठनीय है—इन सब दृष्टियों से णिसीह का निशीथ अर्थ अधिक संगत है। पंडित दलसुखभाई मालवणिया ने अनेक तर्कों से यह स्पष्ट किया है कि 'निसीह' शब्द का सम्बन्ध निषेध से नहीं होना चाहिए। उनके अनुसार निशीथ में एक भी सूत्र ऐसा नहीं, जो निषेधपरक हो।^१ चूर्णिकार ने भी कहीं निषेधपरक व्याख्या नहीं की है।

निशीथ का आचारांग से पार्थक्य

नंदी में कालिक सूत्रों के वर्गीकरण में ३० ग्रंथों के नाम हैं, उसमें पांचवां नाम निशीथ का है।^२ नंदी में आचारांग के पच्चीस अध्ययनों का ही उल्लेख मिलता है।^३ समवायांग में भी यही उल्लेख है कि चूलिका सहित आचारांग के पच्चीस अध्ययन हैं।^४ समवायांग में एक अन्य स्थल पर आचारांग, सूत्रकृतांग और स्थानांग के अध्ययनों की संख्या ५७ हैं, वहां भी आचारांग के पच्चीस अध्ययन ही परिगणित हैं।^५ इन उल्लेखों से यह अनुमान किया जा सकता है कि नंदीकार के समय तक निशीथ आचारांग की चूला के रूप में प्रसिद्ध नहीं रहा।

निशीथ आचारांग की पांचवीं चूला और छब्बीसवें अध्ययन के रूप में प्रसिद्ध था, इसका सबसे प्राचीन उल्लेख आचारांग निर्युक्ति में मिलता है।^६ निशीथ निर्युक्ति अथवा भाष्य की प्रथम गाथा में भी 'हवइ य सपंचचूलो' का उल्लेख है अर्थात् आचारांग पांच चूलाओं से युक्त है। निर्युक्तिकार जहां आचारांग के पद-परिमाण का उल्लेख करते हैं, वहां उन्होंने स्पष्ट कहा है कि प्रारम्भिक नौ अध्ययनों का १८ हजार पद-परिमाण है, जब उसके साथ चार चूलाएं जुड़ीं तो उसका परिमाण बहु हो गया तथा पांचवीं चूला निशीथ को जोड़ने से उसका परिमाण बहुतर हो गया।^७ इन सब उल्लेखों से स्पष्ट है कि निशीथ आचारांग की पांचवीं चूला के रूप में प्रसिद्ध था। निशीथ चूर्ण में इसे आचारांग की पांचवीं चूला, पूर्वानुपूर्वी क्रम से आचारांग का छब्बीसवां अध्ययन तथा पश्चानुपूर्वी से इसे प्रथम स्थान दिया है।^८ पांचवीं चूला होने के

१. निचू १ भूमिका, पृ. ८, १३।

२. नंदी ७८ ; से किं तं कालियं ? कालियं अणेगविहं पणत्तं तं जहा—उत्तरञ्जयणाइं दसाओ कप्पो ववहारो निसीहं.....।

३. नंदी ८१ ; पणवीसं अञ्जयणा।

४. सम २५/५ ; आयारस्स णं भगवओ सचूलियागस्स पणवीसं अञ्जयणा पणत्ता।

५. सम ५७/१ ; तिण्हं गणिपिडगाणं आयारचूलियावज्जाणं

सत्तावण्णं अञ्जयणा पणत्ता, तं जहा—आयारे सूयगडे ठाणे।

६. आनि ३६६ ;

आयारस्स भगवतो, चउत्थचूलाइ एस निज्जुत्ती। पंचमचूलनिसीहं, तस्स य उवरिं भणीहामि।।

७. निभा १।

८. निचू १ पृ. ४।

कारण इसका समावेश अंग में हो गया।^१

निशीथ को आचारांग की पांचवीं चूला केवल श्वेताम्बर परम्परा को मान्य थी। दिगम्बर परम्परा में यह अंगबाह्य ग्रंथ में समाविष्ट है।^२ निशीथ की पांचवीं चूला के रूप में निशीथ को प्रतिष्ठित करने का सबसे बड़ा कारण संभवतः यह रहा होगा कि इसे विशेष महत्त्व देने के लिए तथा आगम प्रामाण्य के रूप में स्थापित करने के लिए अंग के अन्तर्गत रखा गया। निशीथ को आचारांग की पांचवीं चूला में जोड़ने का चूर्णिकार ने भी एक हेतु प्रस्तुत किया है कि जिन-जिन पदों का आचारचूला में निषेध है, उनका निशीथ में प्रायश्चित्त वर्णित है। आचारचूला प्रतिषेध सूत्र है और प्रस्तुत आगम प्रायश्चित्त सूत्र है अतः विषय साम्य की दृष्टि से इसे आचारांग के साथ जोड़ा गया। पुनः इसको आचारांग से पृथक् करने के संभवतः ये कारण रहे होंगे—

* निशीथ आकार में बृहद् था। इसके बीस उद्देशक थे अतः इसे स्वतंत्र ग्रंथ के रूप में स्थापित कर दिया गया।

* निशीथ का स्वतंत्र महत्त्व स्थापित करने के लिए बहुश्रुत आचार्यों ने इसको आचारांग के परिशिष्ट के रूप में न रखकर उससे पृथक् कर दिया।

आचार्य तुलसी के अनुसार जब आगमों का छेद, मूल आदि वर्गीकरण किया गया, तब प्रतिपाद्य की समानता के आधार पर आगमों का विभाजन किया गया। प्रायश्चित्त सूत्र होने के कारण निशीथ छेदसूत्रों के साथ जुड़ गया।

* यह ग्रंथ रहस्यमय है, गुप्त रखने योग्य है और अपवाद मार्ग से परिपूर्ण है, कोई अनधिकारी इसे न पढ़ ले, इसलिए इसके अध्ययन को मर्यादित करने के लिए इसे आचारांग से पृथक् कर दिया गया।

* एक हेतु यह भी हो सकता है कि दशा, कल्प और व्यवहार—ये तीनों प्रत्याख्यान पूर्व की तृतीय आचारवस्तु से उद्धृत हैं। निशीथ भी प्रत्याख्यान पूर्व की तृतीय आचारवस्तु से उद्धृत है अतः इसे भी छेदसूत्रों में समाविष्ट कर दिया गया।

* आचारांग से निशीथ के पृथक्करण का एक हेतु दलसुखभाई मालवणिया के अनुसार यह भी है कि पहले शैक्ष साधु को उपस्थापना से पूर्व आचारांग का शस्त्रपरिज्ञा अध्ययन तथा आचारांग के पिंडैषणा के कुछ अंश पढाए जाते थे, लेकिन दशवैकालिक के निर्यूहण के पश्चात् दशवैकालिक का अध्ययन

१. निचू ४ पृ. २५४ ; कालियसुयं आयारादिएक्कारसअंगा, छेयसुयज्जयणा ते....।

तत्थ पकप्पो आयारागतो। जे पुण अंगबाहिरा

२. षट्खंड भा. १ पृ. ९७, कषायपा भा. १ पृ. २३, १३७।

कराया जाने लगा। निशीथ की वाचना के लिए नियम था कि तीन वर्ष का दीक्षा पर्याय वाला साधु ही इसे पढ़ सकता था अतः संभव है इसे आचारांग से अलग कर दिया गया।

छेदसूत्रों में सम्मिलित करने के बाद भी आचारांग की पांचवीं चूला के रूप में इसकी प्रसिद्धि रही। निशीथ चूर्णिकार ने कहीं-कहीं इसका उल्लेख किया है।^१

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि निशीथ की रचना के कुछ समय बाद इसका महत्त्व स्थापित करने के लिए इसे आचारांग की पांचवीं चूला के रूप में जोड़ दिया गया और बाद में इसको छेदसूत्र में समाविष्ट कर दिया गया, लेकिन आज यह कहना कठिन है कि निर्युहण के कितने समय बाद यह आचारांग की चूला के साथ जोड़ा गया तथा कब किसके द्वारा छेदसूत्र के रूप में प्रतिष्ठित हुआ?

निशीथ की विषयवस्तु

निशीथ सूत्र के २० उद्देशक हैं। उन्नीस उद्देशकों में प्रायश्चित्त सम्बन्धी दोष एवं तत्सम्बन्धी प्रायश्चित्तों का वर्णन है। अंतिम बीसवें उद्देशक में प्रायश्चित्त देने की विधि का उल्लेख है। ठाणं सूत्र में आचारप्रकल्प के पांच विकल्प हैं—मासिक उद्घातिक, मासिक अनुद्घातिक, चातुर्मासिक उद्घातिक, चातुर्मासिक अनुद्घातिक और आरोग्यपणा—इन पांच विकल्पों को आचारप्रकल्प कहा है।^१ निशीथ के उद्देशकों का विभाजन इन्हीं के आधार पर हुआ है। भाष्यकार के अनुसार 'आयारो और आचारचूला' में उपदिष्ट क्रिया का अतिक्रमण करने पर जो प्रायश्चित्त प्राप्त होता है, उसका वर्णन निशीथ में है।^२

इसके प्रथम १९ उद्देशकों में अकरणीय कार्यों और उनके प्रायश्चित्तों का विधान है तथा बीसवें उद्देशक में प्रायश्चित्त देने की प्रक्रिया का वर्णन है। प्रथम उद्देशक में मासिक अनुद्घातिक, दूसरे से पांचवें उद्देशक में मासिक उद्घातिक, छठे से ग्यारहवें उद्देशक में चातुर्मासिक अनुद्घातिक तथा बारहवें से उन्नीसवें उद्देशक में चातुर्मासिक उद्घातिक प्रायश्चित्त योग्य कार्यों का प्रज्ञापन है।

निशीथ के उन्नीस उद्देशकों के प्रत्येक सूत्र में प्रयुक्त 'सातिज्जति' शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसका अर्थ करवाना और अनुमोदन करना—दोनों हो सकते हैं। निशीथ सूत्रकार का स्पष्ट निर्देश है कि स्वयं दोष सेवन करने का जितना प्रायश्चित्त है, उतना ही करवाने और अनुमोदन करने का है। यह मनोविज्ञान समुदाय की आचार-विशुद्धि को भी बनाए रखता है। इसके बीसवें उद्देशक की रचना शैली कुछ भिन्न है। इस ग्रंथ में कुल प्रायश्चित्त स्थान १९५२ हैं। इस ग्रंथ का परिमाण २३७५ अनुष्टुप श्लोक प्रमाण तथा अक्षर परिमाण ७६०२१ है।

१. (क) निचू १ पृ. ४; पुव्वाणुपुव्वीए इच्चेयं
निशीहचूलज्जयणं छब्बीसइमं।
(ख) निचू ४ पृ. २५४ ; तत्थ पकप्पो आयारगतो।

२. स्थानांग ५/१४८।

३. निचू १ पृ. ३।

निर्युक्तिकार

जैन आगमों के व्याख्या ग्रंथों में निर्युक्ति सबसे प्राचीन पद्यबद्ध रचना है। सूत्र के साथ अर्थ का निर्णय जिसके द्वारा होता है, वह निर्युक्ति है।^१ निर्युक्ति का महत्त्व इस बात से समझा जा सकता है कि भाष्यकार ने कालिकश्रुत और कालिकश्रुत की निर्युक्ति के लिए पुस्तक पंचक रखने की अनुज्ञा दी है।^२

निर्युक्तिकार के रूप में आचार्य भद्रबाहु का नाम प्रसिद्ध है, लेकिन निर्युक्तिकार भद्रबाहु प्रथम हैं या द्वितीय, इसमें मतैक्य नहीं है। आवश्यक निर्युक्ति खण्ड २ में विस्तार से इस संदर्भ में चर्चा की जाएगी। आवश्यक निर्युक्ति में भद्रबाहु ने १० ग्रंथों पर निर्युक्तियां लिखने की प्रतिज्ञा की है। उसमें निशीथ निर्युक्ति, पिण्डनिर्युक्ति, ओघनिर्युक्ति और पंचकल्पनिर्युक्ति का उल्लेख नहीं है। डॉ. घाटगे ने निशीथ निर्युक्ति को आचारांग निर्युक्ति का पूरक माना है। हमारे अभिमत से जब निशीथ का छेदसूत्र के रूप में स्वतंत्र अस्तित्व है तो निशीथ निर्युक्ति भी आचारांग की पूरक नहीं होनी चाहिए। आचारांग की पूरक न होने का एक कारण यह भी है कि आचारांग निर्युक्ति और निशीथ निर्युक्ति की रचना शैली में काफी अंतर है। यद्यपि आचारांग निर्युक्ति के अंत में निर्युक्तिकार ने उल्लेख किया है कि आचारांग की चौथी चूला की निर्युक्ति कह दी, अब निशीथचूला की निर्युक्ति आगे कहूंगा।^३ निशीथ निर्युक्ति की पहली गाथा अथवा निशीथभाष्य की प्रथम गाथा से भी स्पष्ट आभास होता है कि ग्रंथकार किसी नए ग्रंथ की निर्युक्ति प्रारम्भ कर रहे हैं। डॉ. घाटगे ने पिण्डनिर्युक्ति और ओघनिर्युक्ति को क्रमशः दशवैकालिक और आवश्यकनिर्युक्ति की पूरक माना है। हमारे अभिमत से ये पूरक न होकर स्वतंत्र रूप से लिखी गई निर्युक्तियां हैं। पिण्डनिर्युक्ति और ओघनिर्युक्ति आचार्य भद्रबाहु की रचनाएं हैं। इसका एक प्रबल प्रमाण यह दिया जा सकता है कि 'कोल्लइरे वत्थव्वो' पिण्डनिर्युक्ति १९९ की गाथा है। यह गाथा निशीथभाष्य ४५१३ में भी है। वहां निशीथ चूर्णिकार ने इस गाथा के लिए 'इमा भद्रबाहुकया निज्जुत्तिगाहा' का उल्लेख किया है। इसी प्रकार पिण्डनिर्युक्ति १४८ के लिए भी निभा ४६१५ में 'एसा भद्रबाहुकया गाहा' का उल्लेख है। इन दोनों उद्धरणों से स्पष्ट है कि पिण्डनिर्युक्ति आदि की रचना आचार्य भद्रबाहु ने की।

पंचकल्प का लोप हो गया या वर्तमान में जो पंचकल्प भाष्य मिलता है, उसमें उसका समावेश हो गया, यह खोज का विषय है। हमारे अभिमत से पंचकल्प का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रहा। छेदसूत्रों की निर्युक्तियों की भांति पंचकल्पसूत्र भाष्य के साथ मिल गया। पंचकल्प के भाष्यकार जिन गाथाओं की

१. आवमटी प. १०० ; सूत्रार्थयोः परस्परं नियोजनं संबन्धनं
निर्युक्तिः ।

२. निभा ४१४१ ।

३. आनि ३६६ ।

व्याख्या कर रहे हैं, वे गाथाएं भाषा-शैली की दृष्टि से निर्युक्ति की न होकर मूल पंचकल्प की प्रतीत होती हैं।

निर्युक्तिकार के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। विंटरनिट्स, हीरालाल कापड़िया आदि विद्वानों ने चतुर्दशपूर्वधर भद्रबाहु को ही निर्युक्तिकार के रूप में स्वीकृत किया है। उनके मत से द्वितीय भद्रबाहु को निर्युक्तिकार मानना असंगत है। मुनि पुण्यविजयजी ने बृहत्कल्पभाष्य के छठे भाग में अनेक प्रमाणों के आधार पर द्वितीय भद्रबाहु को निर्युक्तिकार के रूप में सिद्ध किया है। हमने भद्रबाहु प्रथम को निर्युक्तियों के प्रारम्भकर्ता के रूप में स्वीकार किया है। भद्रबाहु द्वितीय ने निर्युक्तियों को व्यवस्थित और परिवर्धित किया, यह भी स्वीकृत किया है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण है कि दशवैकालिक एवं आवश्यक आदि की निर्युक्तियों में चूर्ण एवं टीका की गाथा-संख्या में काफी अंतर है। चूर्ण में कम गाथाओं की व्याख्या है, टीका में अधिक गाथाएं व्याख्यात हैं। निर्युक्तिपंचक के सम्पादन में गाथाओं का समालोचनात्मक विमर्श पादटिप्पण में किया है कि कितनी गाथाएं बाद में जोड़ी गई हैं। आचार्य भद्रबाहु के अतिरिक्त गोविंद आचार्यकृत गोविंदनिर्युक्ति का उल्लेख भी मिलता है।

भद्रबाहु प्रथम ने निर्युक्तिगाथाएं लिखीं, इसकी सिद्धि में निशीथभाष्य के कुछ प्रसंग प्रस्तुत किए जा सकते हैं। निशीथभाष्य २०६ की उत्थानिका में उल्लेख है—“**अस्य सिद्धसेनाचार्यो व्याख्यां करोति।**” इस उल्लेख से स्पष्ट है कि भद्रबाहुप्रथम कृत २०५ वीं चिरंतन गाथा में आए ‘सागणिय द्वार’ की व्याख्या आचार्य सिद्धसेन कर रहे हैं। पुनः दो गाथाएं (निभा २०७, २०८) भद्रबाहु द्वितीय कृत व्याख्यान गाथाएं हैं। गा. २०९ की उत्थानिका में चूर्णिकार स्पष्ट उल्लेख करते हैं—“एतेषां सिद्धसेनाचार्यो व्याख्यां करोति।” वे तीन गाथाओं में इसकी व्याख्या करते हैं। इन उल्लेखों से स्पष्ट प्रतिध्वनित होता है कि भद्रबाहु प्रथम की गाथा पर भद्रबाहु द्वितीय और आचार्य सिद्धसेन—ये दोनों व्याख्या कर रहे हैं।

निशीथभाष्य और बृहत्कल्पभाष्य की चूर्ण और टीका से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि भद्रबाहु प्रथम ने निर्युक्ति के रूप में कुछ पुरातनी और चिरंतन गाथाएं लिखी थीं, जिनकी भद्रबाहु द्वितीय और आचार्य सिद्धसेन ने व्याख्या की। उदाहरणार्थ गाथा ३२४ के लिए चूर्णिकार कहते हैं कि ‘**एसा चिरंतणगाहा, एयाए चिरंतणगाहाए इमा भद्रबाहुसामिकता चेव वक्खाणगाहा**’ इस उल्लेख से स्पष्ट है कि भद्रबाहु प्रथम कृत गाथा की व्याख्या भद्रबाहु द्वितीय कर रहे हैं। इसी २४९ और २५० वीं गाथा की उत्थानिका (चू १ पृ. ८८) भी द्रष्टव्य है।

कहीं-कहीं ऐसा भी है कि निशीथ चूर्ण जिसे भद्रबाहुकृत कहती है, उस गाथा के लिए बृहत्कल्प भाष्य के टीकाकार मलयगिरि ने पुरातन गाथा का उल्लेख किया है। निभा ७७६ वाली गाथा बृभा ३६६४ में

पुरातनी गाथा है। इससे स्पष्ट है कि पुरातनी गाथाएं भद्रबाहु प्रथम द्वारा लिखी गई हैं। यह चिंतन का प्रारम्भिक बिंदु है, अभी इस विषय में और अधिक गहन शोध की अपेक्षा है।

भद्रबाहु द्वितीय ने भी निर्युक्तिगाथाओं को व्यवस्थित और परिवर्धित किया, इस बात की पुष्टि निशीथ भाष्य के निम्न प्रसंग से हो सकती है—५४०-४४—ये पांच व्याख्यान गाथाएं आचार्य सिद्धसेन की हैं। गा. ५४५ की उत्थानिका में चूर्णिकार कहते हैं—“**पासवणादिपडिबद्धासु सिद्धसेनायरिण जा जयणा भणिया, तं चेव संखेवओ भद्रबाहु भण्णति।**” इस उल्लेख से स्पष्ट है आचार्य सिद्धसेन कृत गाथाओं की संक्षिप्त व्याख्या आचार्य भद्रबाहु कर रहे हैं। इस गाथा के लिए बृभाटी में भी यही उल्लेख है—“**या भाष्यकृता सविस्तरं यतना प्रोक्ता, तामेव निर्युक्तिकृदेकगाथया संगृह्याह।**”^१ इस प्रसंग से स्पष्ट है कि ये भद्रबाहु द्वितीय होने चाहिए। भद्रबाहु प्रथम आचार्य सिद्धसेन की व्याख्या नहीं कर सकते। आचार्य भद्रबाहु की गाथा पर आचार्य सिद्धसेन की व्याख्या के तो और भी अनेक प्रसंग चूर्ण एवं टीका में मिलते हैं।

भाष्य

मूल ग्रंथ के हार्द को समझने के लिए उस पर व्याख्या ग्रंथ लिखने का क्रम प्राचीनकाल से चला आ रहा है। आगमों के व्याख्या-साहित्य में भाष्य का दूसरा स्थान है। व्यवहार भाष्य^२ में भाष्यकार ने अपनी व्याख्या को ‘भाष्य’ नाम से संबोधित किया है। निर्युक्ति की रचना अत्यन्त संक्षिप्त शैली में है। उसमें केवल पारिभाषिक शब्दों पर ही विवेचन या चर्चा मिलती है, किन्तु भाष्य में मूल आगम तथा निर्युक्ति दोनों की विस्तृत व्याख्या की गयी है। निर्युक्ति-साहित्य की भांति भाष्य भी प्राकृत भाषा में निबद्ध पद्यबद्ध रचना है। मूलसूत्र और निर्युक्ति के गूढ़ अर्थ को बिना भाष्य और टीका के समझना कठिन है। निर्युक्ति संक्षिप्त शैली में तथा भाष्य विस्तृत शैली में लिखे गए हैं।

वैदिक परम्परा में भाष्य लगभग गद्य में लिखे गए, लेकिन जैन परम्परा में भाष्य प्रायः पद्यबद्ध मिलते हैं। मूलसूत्र एवं निर्युक्ति गाथा में छिपे अर्थ-बाहुल्य को अभिव्यक्ति देने का श्रेय सर्वप्रथम भाष्यकारों को है। जिस प्रकार निर्युक्ति के रूप में मुख्यतः १० निर्युक्तियों के नाम मिलते हैं, वैसे ही भाष्य भी १० ग्रंथों पर लिखे गए, ऐसा उल्लेख मिलता है। वे ग्रंथ ये हैं—

१. आवश्यक, २. दशवैकालिक, ३. उत्तराध्ययन, ४. बृहत्कल्प, ५. पंचकल्प, ६. व्यवहार, ७. निशीथ, ८. जीतकल्प, ९. ओघनिर्युक्ति, १०. पिंडनिर्युक्ति।

इनमें आवश्यक सूत्र पर तीन भाष्यों का उल्लेख मिलता है—१. मूलभाष्य २. भाष्य

१. बृभा २६११, टी पृ. ७३४।

२. व्यभा ४६९३।

३. विशेषावश्यक भाष्य^१ मूलभाष्य एवं भाष्य की अनेक गाथाएं विशेषावश्यक भाष्य में मिलती हैं। इसी प्रकार बृहत्कल्प पर भी दो भाष्य लिखे गए—लघुभाष्य एवं बृहद्भाष्य। वर्तमान में छह खंडों में प्रकाशित बृहत्कल्पभाष्य लघुभाष्य है। अहमदाबाद के लालभाई दलपतभाई विद्या मंदिर में भाई रूपेन्द्र पगारिया बृहत्कल्प बृहद्भाष्य के सम्पादन का कार्य कर रहे हैं। उसका एक खण्ड चूर्ण सहित प्रकाशित हो गया है। मुनि पुण्यविजयजी के अनुसार व्यवहार और निशीथ पर भी बृहद्भाष्य लिखे गए, पर आज वे अनुपलब्ध हैं। इनमें बृहत्कल्प, व्यवहार एवं निशीथ तीन ग्रंथों के भाष्य गाथा-परिमाण में बृहद् हैं। जीतकल्प, विशेषावश्यक एवं पंचकल्प के भाष्य परिमाण में मध्यम, ओघनिर्युक्ति पर लिखा गया भाष्य ग्रंथाग्र में अल्प तथा पिण्डनिर्युक्ति, दशवैकालिक एवं उत्तराध्ययन—इन तीन ग्रंथों के भाष्य ग्रंथाग्र में अल्पतम हैं।

यह भी अनुसंधान का विषय है कि तीन छेदसूत्रों पर बृहद्भाष्य लिखे गए, फिर दशाश्रुतस्कंध जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रंथ पर भाष्य क्यों नहीं लिखा गया, जबकि नियुक्तियां चारों छेदसूत्रों पर मिलती हैं। संभव है इस ग्रंथ पर भी भाष्य लिखा गया हो, पर आज वह उपलब्ध नहीं है। उपलब्ध भाष्यों की गाथा-संख्या इस प्रकार है—

१. बृहत्कल्पभाष्य	६४९०	५. पंचकल्पभाष्य	२६६० ^४
२. निशीथ भाष्य	६८१९ ^२	६. जीतकल्प भाष्य	२६०८ ^५
३. व्यवहार भाष्य	४६९४	७. ओघनिर्युक्तिभाष्य	३२२
४. विशेषावश्यक भाष्य	४३२९ ^३	८. दशवैकालिक भाष्य	८२ ^६
● मूल भाष्य	२५३	९. उत्तराध्ययन भाष्य	३४ ^७
		१०. पिंडनिर्युक्तिभाष्य	३७ ^८

१. विशेषावश्यक भाष्य पूरे आवश्यक सूत्र पर न होकर केवल सामायिक आवश्यक की व्याख्या प्रस्तुत करता है।
२. प्रकाशित निशीथ भाष्य में ६७०३ गाथाएं हैं, लेकिन प्रकाशमान इस ग्रंथ में निशीथ भाष्य की संख्या ६८१९ हैं।
३. विशेषावश्यक भाष्य के हर व्याख्या ग्रंथ में गाथा-संख्या में काफी अंतर है। प्रस्तुत संख्या दलसुखभाई मालवणियाजी द्वारा सम्पादित विशेषावश्यक भाष्य की है।
४. मुद्रित पंचभा में २६६४ गाथाएं हैं, लेकिन हमारे द्वारा सम्पादित पंचभा में २६६० गाथाएं हैं।
५. प्रकाशित जीतकल्प भाष्य में २६०६ गाथाएं हैं, लेकिन जैन विश्व भारती द्वारा प्रकाशित जीतकल्पभाष्य में २६०८ गाथाएं मिलती हैं।
६. प्रकाशित दशवैकालिक हारिभद्रीय टीका में भाष्य की ८३ गाथाएं हैं, लेकिन जैन विश्व भारती द्वारा प्रकाशित निर्युक्ति पंचक में भाष्य और निर्युक्ति की गाथाओं का समालोचनात्मक पृथक्करण हुआ है। वहां दशवैकालिक भाष्य की ८२ गाथाएं सिद्ध की हैं। वहां और भी कुछ गाथाओं के भाष्यगत होने के तर्क प्रस्तुत किए हैं।
७. निर्युक्ति पंचक में इसके अतिरिक्त कुछ और गाथाओं को भी सतर्क और सटिप्पण भाष्यगाथा सिद्ध किया गया है।
८. मलयगिरि की टीका सहित प्रकाशित पिण्डनिर्युक्ति में १५ क्रमांक के बाद २५ का क्रमांक है अतः भाष्य गाथाएं ४७ न होकर ३७ ही हैं। जैन विश्व भारती द्वारा प्रकाशित पिण्डनिर्युक्ति में अनेक निर्युक्तिगाथाओं के भाष्यगाथा होने के तर्क प्रस्तुत किए हैं।

उपर्युक्त दस भाष्यों में निशीथ एवं जीतकल्प को संकलन प्रधान भाष्य कहा जा सकता है, क्योंकि इसमें अन्य भाष्यों एवं निर्युक्तियों की गाथाएं ही अधिक संक्रान्त हुई हैं। जीतकल्प भाष्य में तो जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण स्पष्ट लिखते हैं—कल्प, व्यवहार और निशीथ उदधि के समान विशाल हैं, अतः उन श्रुतरत्नों के बिन्दुरूप या नवनीत रूप सार यहां प्रस्तुत किया जा रहा है।^१ उनके इस कथन से स्पष्ट है कि जिनभद्रगणि के समक्ष तीनों छेदसूत्रों के भाष्य थे। 'उदधि सदृश' विशेषण मूल सूत्रों के लिए प्रयुक्त नहीं हो सकता, क्योंकि वे आकार में इतने बड़े नहीं हैं, लेकिन भाष्य विस्तार से लिखे गए हैं।

जिन ग्रंथों पर निर्युक्तियां नहीं हैं, वे भाष्य मूल सूत्र की व्याख्या ही करते हैं, जैसे—जीतकल्प भाष्य आदि। कुछ भाष्य निर्युक्तियों पर भी लिखे गए हैं, जैसे—ओघनिर्युक्ति भाष्य, विशेषावश्यक भाष्य आदि।

भाष्यकार

भाष्यकार के रूप में मुख्यतः दो नाम प्रसिद्ध हैं—१. जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण, २. संघदासगणि। मुनिश्री पुण्यविजयजी ने चार भाष्यकारों की कल्पना की हैं—१. जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण, २. संघदासगणि, ३. व्यवहारभाष्य के कर्ता तथा ४. बृहत्कल्पभाष्य आदि के कर्ता।

विशेषावश्यक भाष्य और जीतकल्पभाष्य के कर्ता के रूप में जिनभद्रगणि का नाम सर्वसम्मत है, लेकिन बृहत्कल्प, व्यवहार आदि भाष्यों के कर्ता के बारे में सभी का मतैक्य नहीं है। प्राचीन काल में लेखक बिना नामोल्लेख के कृतियां लिख देते थे। कालान्तर में यह निर्णय करना कठिन हो जाता था कि वास्तव में मूल लेखक कौन थे? कहीं-कहीं एक ही नाम के दो या तीन आचार्य या लेखक होने से भी सही निर्णय करना कठिन हो जाता था।

बृहत्कल्पभाष्य की पीठिका^२ में मलयगिरि ने भाष्यकार का नामोल्लेख न कर केवल 'सुखग्रहणधारणाय भाष्यकारो भाष्यं कृतवान्' इतना-सा उल्लेख मात्र किया है। निशीथ चूर्ण एवं व्यवहार की टीका के आदि और अंत में भी भाष्यकार के नाम के बारे में कोई संकेत नहीं मिलता।

निशीथ भाष्य की चूर्ण और बृहत्कल्प भाष्य की टीका के अनेक उद्धरणों के आधार पर मुनि पुण्यविजयजी बृहत्कल्प, निशीथ भाष्य और व्यवहारभाष्य—इन तीनों के भाष्यकार के रूप में संघदासगणि

१. जीभा २६०७ ;

कप्पव्ववहारणं, उदधिसरिच्छाण तह णिसीहस्स ।

सुतरतणबिंदुणवणीतभूतसारेस णातव्वो ॥

२. बृपीटी पृ. २।

को स्वीकार करते हैं। उनके अभिमत से संघदासगणि नाम के दो आचार्य हुए हैं—प्रथम संघदासगणि, जो 'वाचकपद' से विभूषित थे, उन्होंने वसुदेवहिंडी के प्रथम खण्ड की रचना की। द्वितीय संघदासगणि उनके बाद हुए, जिन्होंने बृहत्कल्प लघुभाष्य की रचना की।^१

आचार्य संघदासगणि बृहत्कल्पभाष्य के कर्ता हैं, इसकी पुष्टि में सबसे बड़ा प्रमाण आचार्य क्षेमकीर्ति का निम्न उद्धरण है—

कल्पेऽनल्पमनर्घं प्रतिपदमर्पयति योऽर्थनिकुरम्बम् ।

श्रीसंघदासगणये, चिन्तामणये नमस्तस्मै ॥

अस्य च स्वल्पग्रंथमहार्थतया दुःखबोधतया च सकल-त्रिलोकीसुभगङ्करणक्षमाश्रमणनाम-धेयाभिधेयैः श्रीसंघदासगणिपूज्यैः प्रतिपदप्रकटितसर्वज्ञाज्ञाविराधनासमुद्भूतप्रभूतप्रत्यपायजालं निपुणचरण-करणपरिपालनोपायगोचरविचारवाचालं सर्वथा दूषणकरणेनाप्यदूष्यं भाष्यं विरचयांचक्रे ।

इस उल्लेख के संदर्भ में मुनि पुण्यविजयजी का मत संगत लगता है कि बृहत्कल्प के भाष्यकार आचार्य संघदासगणि होने चाहिए। यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि बृहत्कल्प भाष्य एवं व्यवहार भाष्य के कर्ता एक ही हैं, क्योंकि बृहत्कल्प भाष्य की प्रथम गाथा में स्पष्ट निर्देश है कि 'कप्यव्वहाराणं, वक्खाणविहिं पवक्खामि।' संकल्प के अनुसार उन्होंने बृहत्कल्पभाष्य की रचना पहले की और व्यवहारभाष्य की रचना बाद में की। टीकाकार ने इस गाथा के लिए 'सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तिभणितमिदम्' का उल्लेख किया है। चूर्णिकार ने इस गाथा के लिए 'आयरिओ भासं काउकामो आदावेव गाथासूत्रमाह' का उल्लेख किया है। यहां प्राचीनता की दृष्टि से चूर्णिकार का मत सम्यक् लगता है। चूर्णिकार के मत की प्रासंगिकता का एक हेतु यह भी है कि व्यवहारभाष्य के अंत में भी 'कप्यव्वहाराणं भासं.....' का उल्लेख मिलता है। अतः यह गाथा भाष्यकार की होनी चाहिए, जिसमें उन्होंने प्रतिज्ञा की है कि मैं कल्प और व्यवहार की व्याख्यान-विधि प्रस्तुत करूंगा। 'वक्खाणविधि' शब्द भी भाष्य की ओर ही संकेत करता है, क्योंकि निर्युक्ति अत्यन्त संक्षिप्त शैली में लिखी गयी रचना है। उसके लिए 'वक्खाणविहि' शब्द का प्रयोग नहीं होना चाहिए अतः यह निर्युक्ति की गाथा नहीं, भाष्य की गाथा होनी चाहिए।

पंडित दलसुखभाई मालवणिया ने निशीथ पीठिका की भूमिका में अनेक हेतुओं से यह सिद्ध किया है कि निशीथ भाष्य के कर्ता सिद्धसेन होने चाहिए। उन्होंने यह भी संभावना व्यक्त की है कि बृहत्कल्प भाष्य के कर्ता भी सिद्धसेन हैं।^२ अपने मत की पुष्टि के लिए वे कहते हैं कि अनेक स्थलों पर

१. बृभा भा. ६, भूमिका, पृ. ४१-४४।

२. निचू १, भूमिका, पृ. २९, ३०।

निशीथ चूर्ण में जिस गाथा के लिए 'सिद्धसेणायरियो वक्खाणं करेति' का उल्लेख है, वही गाथा बृहत्कल्प भाष्य में 'भाष्यकारो व्याख्यानयति' के संकेतपूर्वक है। अतः निशीथ, बृहत्कल्प एवं व्यवहार तीनों के भाष्यकर्ता सिद्धसेन हैं। इस एक तर्क के आधार पर सिद्धसेन को भाष्यकर्ता मानना संगत नहीं लगता, क्योंकि चूर्णिकार ने ग्रंथ के प्रारंभ और अंतिम प्रशस्ति में कहीं भी सिद्धसेन का उल्लेख नहीं किया है। यदि सिद्धसेन भाष्यकर्ता होते तो अवश्य ही चूर्णिकार प्रारंभ में या ग्रंथ के अंत में उनका नामोल्लेख अवश्य करते। यदि आचार्य सिद्धसेन भाष्यकार होते तो कुछ स्थानों पर ही यह उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं रहती कि आचार्य सिद्धसेन क्षमाश्रमण इस गाथा की व्याख्या कर रहे हैं। चूंकि उन्होंने कुछ-कुछ विशेष गाथाओं की व्याख्या की है अतः वहां-वहां चूर्णिकार ने आचार्य सिद्धसेन द्वारा की गई व्याख्या का संकेत कर दिया है। किसी भी ग्रंथ में कहीं भी बीच में ग्रंथकार के नाम का प्रायः उल्लेख नहीं मिलता।

इस संबंध में हमारे विचार से निशीथभाष्य संकलित रचना होनी चाहिए, जिसकी संकलना आचार्य संघदास ने की। अनेक स्थलों पर निशीथ निर्युक्ति की गाथाओं को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने व्याख्यान-गाथाएं भी लिखीं। विषय की स्पष्टता के लिए भाष्यकार ने व्यवहारभाष्य, बृहत्कल्पभाष्य, ओघनिर्युक्ति, पिण्डनिर्युक्ति, आवश्यक निर्युक्ति आदि की अनेक गाथाएं शब्दशः उद्धृत की हैं। अतः निशीथभाष्य मौलिक रचना न होकर संकलित रचना ही प्रतीत होती है। यदि इसमें से अन्य ग्रंथों की गाथाओं को निकाल दिया जाए तो मूल गाथाओं की संख्या बहुत कम रहेगी। दस प्रतिशत भाग भी मौलिक ग्रंथ के रूप में अवशिष्ट नहीं रहेगा। सम्बन्ध गाथाओं को निकालने के बाद तो मूल भाष्य की संख्या और कम हो जाएगी। पंडित दलसुखभाई मालवणिया भी इस तथ्य को स्वीकार करते हुए कहते हैं—'निशीथ भाष्य के विषय में कहा जा सकता है कि इन समग्र गाथाओं की रचना किसी एक आचार्य ने नहीं की। परम्परा से प्राप्त गाथाओं का भी यथास्थान भाष्यकार ने उपयोग किया है और अपनी ओर से नवीन गाथाएं बनाकर जोड़ी हैं।'^१

भाष्य का रचनाकाल

भाष्यकार संघदासगणि का समय विवादास्पद है। अभी तक इस दिशा में विद्वानों ने विशेष ऊहापोह नहीं किया है। संघदासगणि आचार्य जिनभद्र से पूर्ववर्ती हैं—इस मत की पुष्टि में अनेक हेतु प्रस्तुत किए जा सकते हैं—

१. निचू १, भूमिका, पृ. ४०-४६।

जिनभद्रगणि के विशेषणवती ग्रंथ में निम्न गाथा मिलती है—

सीहो चव सुदाढो, जं रायगिहम्मि कविलबडुओ त्ति।
सीसइ ववहारे गोयमोवसमिओ स णिक्खंतो^१ ॥

व्यवहार भाष्य में इसकी संवादी गाथा इस प्रकार मिलती है—

सीहो तिविट्ठ निहतो, भमिउं रायगिह कविलबडुग त्ति।
जिणवीरकहणमणुवसम गोतमोवसम दिक्खा यं^२ ॥

विशेषणवती में प्रयुक्त 'ववहारे' शब्द निश्चित रूप से व्यवहारभाष्य के लिए प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि मूलसूत्र में इस कथा का कोई उल्लेख नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य जिनभद्रगणि के समक्ष व्यवहारभाष्य था।

विशेषावश्यकभाष्य की रचना व्यवहारभाष्य के पश्चात् हुई, इसका एक प्रबल हेतु यह है कि बृहत्कल्प एवं व्यवहारभाष्य के कर्ता के समक्ष यदि विशेषावश्यक भाष्य होता तो वे अवश्य विशेषावश्यकभाष्य की गाथाओं को अपने ग्रंथ में सम्मिलित करते, क्योंकि वह एक आकर ग्रंथ है, जिसमें अनेक विषयों का सांगोपांग वर्णन हुआ है। व्यवहारभाष्य की 'मणपरमोधिपुलाए' गाथा विशेषावश्यकभाष्य (२५९३) में मिलती है। यह व्यवहारभाष्य (४५२७) की गाथा है और विशेषावश्यकभाष्य के कर्ता ने उसे उद्धृत की है, ऐसा प्रसंग से स्पष्ट प्रतीत होता है। अतः व्यवहारभाष्य विशेषावश्यकभाष्य से पूर्व की रचना है, ऐसा मानने में कोई आपत्ति नहीं लगती।

व्यवहारभाष्य के कर्ता जिनभद्र से पूर्व हुए, इसका एक प्रबल हेतु यह भी है कि जीतकल्प चूर्णि में स्पष्ट उल्लेख है कि कल्प, व्यवहार, निशीथ आदि में प्रायश्चित्त का इतने विस्तार से निरूपण है कि पढ़ने वाले का मति-विपर्यास हो जाता है। शिष्यों की प्रार्थना पर जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने संक्षेप में प्रायश्चित्तों का वर्णन करने हेतु जीतकल्प की रचना की।^३ कल्प, व्यवहार शब्द से मूलसूत्र से तात्पर्य न होकर उसके भाष्य की ओर संकेत होना चाहिए, क्योंकि मूल ग्रंथ परिमाण में इतने बृहद् नहीं हैं। दूसरी बात व्यवहारभाष्य की प्रायश्चित्त संबंधी अनेक गाथाएं जीतकल्प में अक्षरशः उद्धृत हैं। जैसे—

जीतकल्प	व्यभा
१८	११०
२२	११४
१९	१११

१. विशे. ३४।

२. व्यभा २६३८।

३. जीचू पृ. १, २।

निशीथभाष्य जिनभद्रगणि से पूर्व संकलित हो चुका था, इसका एक प्रमाण यह है कि निशीथभाष्य में प्रमाद-प्रतिसेवना के संदर्भ में निद्रा का विस्तृत वर्णन मिलता है। स्त्यानर्द्धि निद्रा के उदाहरण के रूप में निशीथभाष्य (१३५) में 'पोग्गल मोयग दंते' गाथा मिलती है। यह गाथा विशेषावश्यकभाष्य (२३५) में भी है। लेकिन वहां स्पष्ट प्रतीत हो रहा है कि व्यञ्जनावग्रह के प्रसंग में विशेषावश्यक भाष्यकार ने यह गाथा निशीथभाष्य से उद्धृत की है। विशेषावश्यकभाष्य में यह गाथा प्रक्षिप्त-सी लगती है।

पंडित दलसुख भाई मालवणिया ने जिनभद्रगणि का समय छठीं-सातवीं शताब्दी सिद्ध किया है अतः भाष्यकार संघदासगणि का समय पांचवीं-छठी शताब्दी होना चाहिए।

भाष्य ग्रंथों का रचनाकाल चौथी से छठी शताब्दी तक ही होना चाहिए। यदि भाष्य का रचनाकाल सातवीं शताब्दी माना जाए तो आगे के व्याख्या-ग्रंथों के काल-निर्धारण में अनेक विसंगतियां उत्पन्न हो सकती हैं। प्राचीन काल में आज की भांति मुद्रण की व्यवस्था नहीं थी अतः किसी भी हस्तलिखित ग्रंथ को प्रसिद्ध होने में कम से कम एक शताब्दी का समय तो लग ही जाता था। सातवीं शताब्दी में भाष्य लिखे गए और आठवीं में हरिभद्र ने टीकाएं लिखीं, फिर चूर्ण के समय में अन्तराल बहुत कम रहता है।

निर्युक्ति प्रारम्भ कर्ता के रूप में हमने चतुर्दशपूर्वी प्रथम भद्रबाहु को स्वीकार किया है, जिनका समय वीर-निर्वाण की दूसरी शताब्दी है। भद्रबाहु द्वितीय ने उनको व्यवस्थित रूप दिया। भाष्य का समय विक्रम की चौथी-पांचवीं, चूर्ण का सातवीं तथा टीका का आठवीं से तेरहवीं शताब्दी तक का समय तर्क-सम्मत एवं संगत लगता है।

निशीथ, बृहत्कल्प एवं व्यवहार—इन तीन छेदसूत्रों के भाष्य के रचनाक्रम के बारे में पंडित दलसुखभाई मालवणिया का अभिमत है कि सबसे पहले बृहत्कल्प भाष्य रचा गया, उसके बाद निशीथ भाष्य तथा अंत में व्यवहार भाष्य की रचना हुई, लेकिन हमारे अभिमत से निशीथ भाष्य की रचना या संकलना सबसे बाद में हुई है। भाष्यकार ने व्यवहार से पूर्व बृहत्कल्प की रचना की, यह बात उनकी प्रतिज्ञा से स्पष्ट है—कप्पव्ववहाराणं, वक्खाणविहिं पवक्खामि। इसके अतिरिक्त व्यवहार भाष्य में अनेक स्थलों पर 'पुव्वुत्तो', 'वुत्तो', 'जह कप्पे', 'वण्णिया कप्पे' आदि का उल्लेख मिलता है। व्यवहार भाष्य की निम्न गाथाओं में बृहत्कल्प की ओर संकेत है। इनमें कुछ उद्धरण बृहत्कल्प एवं कुछ उद्धरण बृहत्कल्प भाष्य की ओर संकेत करते हैं—

११७२, १२२६, १३३९, १७३७, १८३३, १९३३, २१७३, २२७९, २५०९, २५२३, २६६२, २८०५, २८०६, २८१७, २९२७, २९८३, ३०६२, ३२४७, ३३१३, ३३५०, ३८९६, ४२३१, ४३१४ आदि। व्यवहारभाष्य की २७४ वीं गाथा में जहा पुव्वं का उल्लेख है। वही गाथा निशीथभाष्य ६४७२ में है। वहां 'जहा कप्पे' का

उल्लेख है। इन दोनों संकेतों से स्पष्ट है कि बृहत्कल्पभाष्य की रचना सबसे पहले हुई। निशीथभाष्य के बीसवें उद्देशक की प्रायः भाष्य गाथाएं व्यवहारभाष्य से उद्धृत हैं। व्यवहारभाष्य में वे गाथाएं विषयानुरूप और प्रासंगिक हैं, लेकिन निशीथभाष्य में भाष्यकार ने उद्धृत की हैं, ऐसा प्रतीत होता है अतः यह कहना समीचीन होगा कि निशीथभाष्य की संकलना सबसे बाद में हुई।

यह निश्चित है कि आगमों पर लिखे गए व्याख्या ग्रंथों का क्रम इस प्रकार रहा है—निर्युक्ति, भाष्य, चूर्ण एवं टीका। लेकिन अलग-अलग ग्रंथों के व्याख्या ग्रंथों को लिखने में इस क्रम में व्यत्यय भी हुआ है। उदाहरण के लिए पंचकल्प भाष्य की निम्न गाथा को प्रस्तुत किया जा सकता है—

परिजुण्णेषा भणिता, सुविणे देवीएँ पुष्फचूलाए।

नरगाण दंसणेणं, पव्वज्जाऽऽवस्सए वुत्ता ॥^१

पुष्पचूला की कथा विशेषावश्यक भाष्य में नहीं है, किन्तु आवश्यक चूर्ण में है। इससे सिद्ध होता है कि पंचकल्प भाष्यकार के समक्ष आवश्यकचूर्ण थी।

इसी प्रकार जीतकल्प की चूर्ण के बाद उसका भाष्य रचा गया, क्योंकि चूर्ण केवल जीतकल्प की गाथाओं की ही व्याख्या करती है। उसमें न भाष्य का उल्लेख है और न उसकी गाथाओं की व्याख्या है। यदि चूर्णकार के समक्ष भाष्यगाथाएं होतीं तो वे अवश्य उनकी व्याख्या करते। चूर्णकार ने व्यवहार भाष्य की अनेक गाथाओं को भी उद्धृत किया है।

प्रसंगवश निशीथभाष्य ५४५ की उत्थानिका का उल्लेख भी विद्वानों को इस दिशा में सोचने के लिए प्रेरित करता है। वहां स्पष्ट उल्लेख है कि “**सिद्धसेणायरिण जा जयणा भणिया, तं चेष संखेवओ भद्रबाहु भण्णति**” इस उद्धरण से स्पष्ट है कि यहां द्वितीय भद्रबाहु की ओर संकेत है। प्रथम भद्रबाहु तो सिद्धसेन की रचना की व्याख्या नहीं कर सकते, क्योंकि वे उनसे बहुत प्राचीन हैं। बृहत्कल्प भाष्य (२६११) में भी इस गाथा के पूर्व टीकाकार उल्लेख करते हैं कि “**या भाष्यकृता सविस्तरं यतना प्रोक्ता, तामेव निर्युक्तिकृदेकगाथया संगृह्याह।**” इसके आधार पर यह संभावना की जा सकती है कि सिद्धसेन द्वितीय भद्रबाहु से पूर्व पांचवीं शती के उत्तरार्ध में हो गए थे। द्वितीय भद्रबाहु के समक्ष निर्युक्तियां तथा उन पर लिखे गए कुछ भाष्य भी थे।

मुनि पुण्यविजयजी ने दशवैकालिक की अगस्त्यसिंह चूर्ण को दशवैकालिक भाष्य से पूर्व की रचना माना है तथा उसके कुछ हेतु भी प्रस्तुत किए हैं।

भाषा की दृष्टि से भी भाष्य रचना की प्राचीनता सिद्ध होती है। अपभ्रंश की प्रवृत्ति लगभग छठी

१. पंकभा ६०९।

शताब्दी से प्रारंभ होती है, लेकिन भाष्य में अपभ्रंश के प्रयोग ढूंढने पर भी नहीं मिलते। इसके अतिरिक्त महाराष्ट्री का प्रभाव भी कम परिलक्षित होता है।

भाष्य में वर्णित विषयवस्तु, मुद्राएं, घटना प्रसंग एवं सांस्कृतिक तथ्य भी इसके रचनाकाल को चौथी-पांचवीं शताब्दी से पूर्व या आगे का सिद्ध नहीं करते। अतः भाष्यकार का समय विक्रम की चौथी-पांचवीं शताब्दी होना चाहिए।

निर्युक्ति एवं भाष्य का पृथक्करण : कुछ कसौटियां

आचार्य भद्रबाहु ने १० निर्युक्तियां लिखने की प्रतिज्ञा की। उनमें ऋषिभाषित एवं सूर्यप्रज्ञप्ति पर लिखी गई निर्युक्तियां आज अनुपलब्ध हैं। बाकी की आठ निर्युक्तियों में आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, सूत्रकृतांग एवं दशाश्रुतस्कंध की निर्युक्तियां तो स्वतंत्र ग्रंथ के रूप में मिलती हैं, किन्तु बृहत्कल्प, व्यवहार और निशीथ—इन तीन छेदसूत्रों पर लिखी गई निर्युक्तियां वर्तमान में भाष्यों के साथ प्राप्त होती हैं। भाष्यकार ने निर्युक्ति को अपने ग्रंथ का अंग बना लिया अतः भाष्य और निर्युक्ति को पृथक् करना अत्यन्त कठिन और श्रमसाध्य कार्य है। यद्यपि चूर्णिकार एवं टीकाकार ने कई स्थलों पर निर्युक्ति-गाथा का संकेत किया है, लेकिन चिन्तन का विषय यह है कि सभी स्थानों पर व्याख्याकारों ने निर्युक्ति का संकेत क्यों नहीं किया? एक प्रश्न यह भी उपस्थित होता है कि जब आगम ग्रंथ लिपिबद्ध हुए, तब तक इन भाष्यमिश्रित निर्युक्तियों का स्वतंत्र अस्तित्व था या नहीं? आवश्यक निर्युक्ति पर भी भाष्य^१ लिखा गया, लेकिन आज आवश्यक निर्युक्ति का स्वतंत्र अस्तित्व मिलता है। आगमों पर सर्वप्रथम व्याख्या निर्युक्ति है। अतः यह तो निश्चित है कि किसी समय इन तीनों छेदसूत्रों की निर्युक्तियां अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखती होंगी। इसका एक प्रबल प्रमाण यह है कि व्यवहारभाष्य में स्पष्ट उल्लेख है कि जो कल्प और व्यवहार की निर्युक्ति को जानता है, वह प्रायश्चित्त देने का अधिकारी है।^२ वहां भाष्य का उल्लेख नहीं है। कालान्तर में भाष्य के साथ सम्मिश्रण होने के बाद निर्युक्ति के पृथक् अस्तित्व को जानना कठिन हो गया, क्योंकि दोनों की भाषा एवं प्रतिपादन शैली में बहुत समानता है।

टीकाकार के समय तक इन तीनों ग्रंथों की निर्युक्तियों की स्वतंत्र सत्ता नहीं रही, इसका प्रबल साक्ष्य है—बृहत्कल्प की मलयगिरिकृत टीका। बृहत्कल्प की पीठिका में आचार्य मलयगिरि ने स्पष्ट रूप से कहा है कि सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्ति एवं भाष्य दोनों मिलकर एक ग्रंथ हो गए हैं।^३

चूर्णिकार ने सभी स्थलों पर निर्युक्ति-गाथा का संकेत नहीं किया है अतः उनके समक्ष निर्युक्तियों

१. विशेषावश्यक भाष्य।

३. बृभाटी पृ. २ ; सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तिभाष्यं चैको ग्रंथो जातः।

२. जीभा ५६३, व्यभा ४४३५।

का स्वतंत्र अस्तित्व था या नहीं, यह खोज का विषय है। फिर भी अनेक स्थलों पर निशीथ चूर्ण में 'एत्थ निज्जुत्तीगाहा' 'एसा भद्वाहुसामिकता गाहा' आदि का उल्लेख मिलता है। ऐसा अधिक संभव लगता है कि चूर्णकार के समक्ष कुछ ऐसे कंठस्थपाठी श्रमणों की परम्परा थी, जिनको इन छेदग्रंथों की निर्युक्तियां स्वतंत्र रूप से याद थीं। उसी आधार पर उन्होंने अनेक स्थलों पर निर्युक्तिगाथा का संकेत किया है। कालान्तर में यह परम्परा लुप्त हो गई।

एक ही छंद और भाषा-शैली में लिखे हुए सम्मिश्रित दो ग्रंथों को अलग-अलग करना अत्यन्त कठिन एवं श्रमसाध्य कार्य है, पर हमने निर्युक्तिगाथाओं को पृथक् करने का प्रारम्भिक प्रयास किया है। यह दावा नहीं किया जा सकता कि सभी निर्युक्ति-गाथाओं का पृथक्करण ठीक ही हुआ है। पृथक्करण के इस क्रम में कुछ निर्युक्तिगाथाएं छूट सकती हैं तथा कुछ भाष्य की गाथाएं निर्युक्ति में शामिल भी हो सकती हैं। फिर भी यह विश्वास अवश्य है कि श्रम और समय साध्य पृथक्करण का यह प्रयास भविष्य में अनुसंधित्सुओं के लिए मार्गदीप अवश्य बनेगा।

व्यवहारभाष्य की निर्युक्ति और भाष्य के पृथक्करण में लगने वाले श्रम और समय को देखते हुए निशीथ निर्युक्ति को अलग करने की इच्छा कम थी, लेकिन उस समय गुरुदेव तुलसी की प्रसन्नता और प्रोत्साहन भरे शब्दों ने भीतर अमित उत्साह का संचार कर दिया और निशीथ निर्युक्ति को पृथक् करने का कार्य भी हो गया। इस कार्य में बहुश्रुत परिषद् के सदस्य आगम मनीषी मुनिश्री दुलहराजजी स्वामी का भी मार्गदर्शन और सहयोग मिला है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में भाष्य और निर्युक्ति-गाथाएं साथ-साथ प्रकाशित हैं। निर्युक्ति गाथा की पहचान के लिए हमने उसका क्रमांक भाष्य गाथा के अन्त में (नि.) लिखकर किया है। दोनों को सर्वथा पृथक् करना उचित नहीं लगा, क्योंकि भाष्यकार मुख्यतः निर्युक्ति-गाथाओं की ही व्याख्या करते हैं। भाष्यकार ने निर्युक्ति को अपने ग्रंथ का अंग बना लिया है अतः दोनों को सर्वथा अलग करने से संधित्सु को विषय की असंबद्धता पग-पग पर खलती रहती।

भाष्य से निर्युक्ति गाथाओं के पृथक्करण के लिए हमने कुछ कसौटियां निर्धारित की हैं, वे इस प्रकार हैं—

१. जहां कहीं भी 'एसा भद्वाहुसामिकता गाहा' का उल्लेख है, उसे निर्युक्ति-गाथा माना है।
२. जहां कहीं भी व्याख्याकार ने किसी गाथा के लिए 'इदाणिं निज्जुत्ती' 'इमा सुत्तफासिया' अथवा 'अधुना निर्युक्तिविस्तरः' का उल्लेख किया है, उनको स्पष्ट रूप से निर्युक्ति-गाथा के रूप में स्वीकार किया है। इस विषय में बृहत्कल्प की टीका में अनेक स्थलों पर विरोधाभास भी मिलता है। वहां

एक ही गाथा किसी प्रति में निर्युक्ति, किसी में द्वारगाथा, किसी में संग्रहगाथा तथा किसी में भाष्यगाथा के रूप में है। मुनि पुण्यविजयजी ने छठे भाग में इन विभेदों का एक चार्ट प्रस्तुत किया है। यह खोज का विषय है कि बृहत्कल्प एवं व्यवहार की टीका में ही यह विभेद क्यों मिलता है, निशीथ में क्यों नहीं? इस प्रश्न के समाधान में यह अनुमान किया जा सकता है कि प्राचीनता की दृष्टि से चूर्ण अधिक प्राचीन है अतः संभव है कि चूर्ण के समय तक इतना भेद न हुआ हो। ऐसी विवादास्पद गाथाओं को भी हमने निर्युक्तिगाथा में सम्मिलित किया है।

३. कहीं-कहीं चूर्णकार ने 'इमो सुत्तफासो, इमो सुत्तथो' का उल्लेख भी किया है। सुत्तफासो या सुत्तथो शब्द निर्युक्ति की ओर संकेत करता है या भाष्य की ओर, यह प्रश्नचिह्न है। जहां चूर्णकार ने 'इमो सुत्तथो' का उल्लेख किया है, वहां संभव है कि वे गाथाएं भाष्य की हों, जैसे १६५४-५९ तक की गाथाओं में ६ सूत्रों में आए शब्दों की व्याख्या है। निर्युक्तिकार सामान्यतः इतना विस्तार नहीं करते। ये भाष्य की गाथाएं होनी चाहिए। वैसे भी यदि ये निर्युक्ति की गाथाएं होतीं तो चूर्णकार 'इमा सुत्तफासिया' का उल्लेख करते अतः निभा १६६० केवल यही गाथा निर्युक्ति की होनी चाहिए। इस संदर्भ में और अधिक गहन चिंतन की अपेक्षा है।

४. निशीथ चूर्ण एवं बृहत्कल्प भाष्य की टीका में अनेक स्थलों पर 'एसा पुरातना गाहा' का उल्लेख मिलता है। ये गाथाएं भद्रबाहु प्रथम की होनी चाहिए, जिनका उपयोग स्वयं भद्रबाहु द्वितीय ने निर्युक्ति में किया है। अनेक स्थलों पर निशीथ चूर्णकार ने जिस गाथा को भद्रबाहुस्वामिकृत कहा है, उसी गाथा को बृहत्कल्प की टीका में मलयगिरि ने पुरातनगाथा कहा है। जैसे निभा ७७६ की गाथा का निशीथ चूर्ण में 'भद्रबाहुकृत' का उल्लेख है। उसी गाथा को बृहत्कल्प ३६६४ में टीकाकार ने 'पुरातना गाथा' के रूप में स्वीकार किया है। निभा ५२७ वीं गाथा बृभा २५९२ में 'एषा पुरातना गाथा' उल्लेख के साथ है। यद्यपि निशीथ चूर्ण ने इस गाथा के लिए कोई संकेत नहीं है, लेकिन विषय की दृष्टि से यह निभा ५२० वीं गाथा से संबद्ध है, जिसे हमने निर्युक्तिगाथा माना है। ऐसे उद्धरणों से स्पष्ट है कि पुरातनी उल्लेख वाली गाथाएं भद्रबाहुकृत हैं। हमने इन गाथाओं को निर्युक्ति गाथा के रूप में स्वीकार किया है। इसी प्रकार गा. १३०२ भी द्रष्टव्य है।

५. चिरंतन गाथा भद्रबाहु प्रथम की प्रतीत होती है, क्योंकि निशीथ चूर्णकार ने गा. ३२४वीं गाथा को चिरंतन गाथा कहा है तथा ३२५ वीं गाथा के प्रारम्भ में कहा है—'एयाए चिरंतणगाहाए इमा भद्रबाहुसामिकता चव वक्खाणगाहा' इस उद्धरण से स्पष्ट है कि चिरंतनगाथा भद्रबाहु प्रथम की है तथा उस पर द्वितीय भद्रबाहु ने व्याख्यानगाथा लिखी है। इन गाथाओं के निर्युक्तिगत होने का एक प्रमाण

यह है निभा ३८२वीं गाथा चिरंतन गाथा है। ३८३ की गाथा के प्रारंभ में चूर्णिकार लिखते हैं—‘**इणमेवार्थं भाष्यकारो व्याख्यानयति**’ इस उद्धरण से स्पष्ट है कि चिरंतन गाथा निर्युक्ति की होनी चाहिए। इसी प्रकार निभा २४९ गा. भी द्रष्टव्य है।

६. आवश्यक, दशवैकालिक आदि निर्युक्तियों की सैकड़ों गाथाएं इन तीनों ग्रंथों के भाष्यों में मिलती हैं। इसमें कहीं-कहीं तो स्वयं निर्युक्तिकार ने प्रसंगवश अन्य निर्युक्तियों की प्रसिद्ध गाथाओं को निशीथ आदि की निर्युक्तियों में प्रयोग किया है। लेकिन अनेक स्थानों पर निर्युक्ति की गाथाओं का भाष्यकार ने भी अपने भाष्य को समृद्ध बनाने में उपयोग किया है। निशीथ भाष्य में भिक्षा के दोष के प्रसंग में पिण्डनिर्युक्ति की अनेक गाथाएं अक्षरशः उद्धृत हैं। ये गाथाएं भाष्यकार द्वारा उद्धृत की गई प्रतीत होती हैं। इसी प्रकार व्यवहार भाष्य में टीकाकार स्पष्ट कहते हैं— ‘अथ भाष्यविस्तरः’ लेकिन गाथाएं सारी आवश्यकनिर्युक्ति के अस्वाध्याय प्रकरण की हैं। ये गाथाएं निशीथभाष्य एवं व्यवहारभाष्य दोनों में उद्धृत हैं, लेकिन इन गाथाओं में पाठभेद बहुत हैं।

यह खोज का विषय है कि इतना पाठान्तर लिपिकर्ताओं द्वारा हुआ अथवा वाचनाभेद से हुआ? कंठस्थ परम्परा के कारण हुआ या स्वयं निर्युक्तिकार, भाष्यकार द्वारा प्रसंगानुसार किया गया? अनेक स्थलों पर यह स्पष्ट नहीं है कि स्वयं निर्युक्तिकार ने इन निर्युक्तियों का उपयोग किया है अथवा भाष्यकार ने उन्हें उद्धृत किया है, किंतु जहां भी अन्य निर्युक्तियों की गाथाएं हैं, उनका हमने तुलनात्मक दृष्टि से पादटिप्पण में तत्सम्बन्धी ग्रंथ के संदर्भ का उल्लेख कर दिया है।

७. निशीथभाष्य में अनेक गाथाएं पुनरुक्त हुई हैं। वहां चूर्णिकार ने गाथाओं की व्याख्या न करके स्पष्ट संकेत किया है कि सर्वा निर्युक्तिः पूर्ववत्, शेषं सनिर्युक्तिकं पूर्ववत्। इस आधार पर हमने निर्युक्ति गाथाओं को भी पुनरुक्त कर दिया है। यह भी संभव है कि ये गाथाएं भाष्यकार ने पुनरुक्त की हों, लेकिन हमने उनको निर्युक्ति-गाथाओं में रखा है।

८. द्वारगाथा तथा संग्रहगाथाओं के बारे में भी स्पष्ट नहीं कहा जा सकता है कि ये निर्युक्ति की गाथाएं हैं या भाष्य की, क्योंकि भाष्यकार भी विषय को स्पष्ट करने के लिए द्वारगाथा लिखकर उसकी व्याख्या करते हैं। अधिकांश द्वारगाथाएं एवं संग्रहगाथाएं निर्युक्ति की हैं, ऐसा व्याख्याकारों की व्याख्या से प्रतीत होता है। पंडित दलसुखभाई मालवणिया ने द्वारगाथाओं को निर्युक्ति गाथा माना है। द्वारगाथा एवं संग्रहगाथा को निर्युक्ति मानने का एक कारण यह भी है कि बृहत्कल्प की टीका में जिस गाथा के लिए संग्रहगाथा का उल्लेख है, वही गाथा व्यवहार की टीका में निर्युक्ति के रूप में संकेतित है। कहीं-कहीं संग्रहगाथा की भाष्यकार द्वारा व्याख्या का उल्लेख भी मिलता है, जैसे बृभा १६११। इसकी व्याख्या आगे

भाष्यकार कर रहे हैं।

९. कहीं-कहीं प्रतिद्वार की व्याख्या भी निर्युक्तिकार करते हैं। 'णेगेसु पिता पुता' १२९० इस प्रतिद्वार की व्याख्या निर्युक्तिकार ने पांच गाथाओं में की है। इसके बीच में भाष्य-गाथाएं भी हैं। इसके द्वारों की व्याख्या वाली गाथाएं निर्युक्ति की हैं, इसका एक संवादी प्रमाण बृभा में मिल गया। बृभा ३५६८ की गाथा के लिए टीकाकार मलयगिरि ने निर्युक्तिगाथा का संकेत किया है। निशीथ चूर्णि में भी इस गाथा के लिए 'एसा पुरातणा दारत्थगाहा' का उल्लेख है, अतः प्रतिद्वार की व्याख्या करने वाली यह गाथा निर्युक्ति की होनी चाहिए। ऐसा तर्क संगत नहीं लगता कि निर्युक्तिकार एक द्वार की व्याख्या करे और शेष द्वारों को छोड़ दे अतः इस प्रमाण के आधार पर छहों प्रतिद्वारों की व्याख्या करने वाली गाथाओं को निर्युक्तिगाथा के क्रम में रखा है।

१०. निर्युक्तियों की यह विशेषता है कि सभी निर्युक्तियां एक ही शैली में रचित नहीं हैं। किन्तु एक ही ग्रंथ की निर्युक्ति की भाषा, शैली एवं वर्णन-पद्धति में बहुत समानता है। जैसे उत्तराध्ययन निर्युक्ति में हर अध्ययन के प्रारंभ में तीन गाथाएं सभी अध्ययनों में लगभग समान हैं। वैसे ही निशीथ निर्युक्ति में अधिकांशतः हर सूत्र में प्रायश्चित्त स्वरूप 'सो आणाअणवत्थं, मिच्छत्तविराधणं पावे,' 'सो पावति आणमादीणि' आदि एक जैसी गाथाएं आई हैं। इन गाथाओं को अनेक स्थलों पर चूर्णिकार ने निर्युक्ति के रूप में संकेतित किया है। चूर्णिकार के उल्लेख एवं एक ही रचना शैली के आधार पर ऐसी गाथाओं को निर्युक्ति में सम्मिलित किया गया है। पूर्वापर संबंध में भी 'आणमादीणि', 'आणाअणवत्थं' उल्लेख वाली गाथाएं निर्युक्ति की प्रतीत होती हैं। बृहत्कल्प एवं व्यवहार की टीका में भी अनेक स्थलों पर ऐसी गाथाएं निर्युक्ति के संकेतपूर्वक मिलती हैं—जैसे व्यभा १०५४ की गाथा में टीकाकार मलयगिरि ने 'निर्युक्तिविस्तरः' का उल्लेख किया है। ऐसी गाथाओं को निर्युक्ति-गाथा मानने का एक कारण यह भी है कि निर्युक्ति के समय तक केवल आज्ञा का भंग, मिथ्यात्व आदि का भय ही साधक के लिए सबसे बड़ा प्रायश्चित्त था। अन्य प्रायश्चित्तों का प्रचलन उस समय तक कम था, ऐसा संभव लगता है।

११. निर्युक्तिकार की विशेषता है कि वे किसी भी विषय को स्पष्ट करने के लिए संक्षेप में कथा या दृष्टान्त का उल्लेख करते हैं। जहां भी संक्षेप में कथा का संकेत आया है और बाद में उसी कथा का विस्तार भाष्यकार ने किया है तो उस संक्षिप्त कथा का संकेत देने वाली गाथा को हमने निर्युक्तिगत माना है। ऐसी गाथाओं को निर्युक्तिगत मानने का एक कारण यह है कि अनेक स्थलों पर संक्षिप्त कथा-संकेत वाली गाथा के बाद टीकाकार ने 'अथ एनामेव गाथां भाष्यकारः विवृणोति' का उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट है कि कथा का संकेत करने वाली पूर्व की गाथा निर्युक्ति की है। अनेक स्थलों पर टीकाकार ने निर्युक्ति

आदि का कुछ संकेत नहीं दिया है तो भी ऐसी गाथाओं को हमने निर्युक्तिगत ही माना है।

१२. अनेक स्थलों पर बृहत्कल्प में जिस गाथा को टीकाकार ने निर्युक्तिगत माना है, वही गाथा निशीथ भाष्य में है, पर वहां निर्युक्ति का संकेत नहीं है। उस गाथा की अगली गाथा के पूर्व में चूर्णिकार कहते हैं—‘इमा वक्खाण गाहा’ इससे स्पष्ट है कि ‘वक्खाण गाहा’ से पूर्व वाली गाथा निर्युक्ति की गाथा होनी चाहिए, क्योंकि भाष्यकार निर्युक्ति की ही व्याख्या करते हैं। यह चिन्तनीय बिंदु है कि प्रत्येक व्याख्यान-गाथा से पूर्व की गाथा को निर्युक्ति की माना जाए या नहीं? क्योंकि ऐसे प्रसंग अनेक स्थलों पर मिलते हैं। इसी प्रकार ‘इमा विभासा’ ‘इमा वक्खा’ तथा ‘इदानीं एनामेव गाथां व्याख्यानयति’ आदि संकेत से पूर्व वाली गाथाएं निर्युक्ति की होनी चाहिए। निशीथभाष्य में ‘इमा भद्वाहुकया गाहा, एतीए इमा दो वक्खाणगाहातो’ (४५२६) उल्लेख से स्पष्ट है कि निर्युक्ति पर भाष्यकार व्याख्यान गाथा लिखते हैं।

१३. कहीं-कहीं व्याख्याकार ने ‘भाष्यविस्तरः’, ‘अथ भाष्यम्’ आदि का उल्लेख किया है। वे गाथाएं यदि स्पष्ट रूप से निर्युक्ति की प्रतीत होती हैं तो पादटिप्पण पूर्वक हमने उन गाथाओं को निर्युक्ति के क्रमांक में जोड़ दिया है। जैसे व्यभा १९८३ के आगे टीकाकार ने ‘अत्र भाष्यप्रपंचः’ का उल्लेख किया है, पर यह निर्युक्ति की होनी चाहिए। इसी प्रकार व्यभा बहिअंतो (२५२२) गाथा के प्रारंभ में टीकाकार ने ‘भाष्यविस्तरः’ का उल्लेख किया है, पर यह निर्युक्तिगाथा होनी चाहिए। इसका एक सशक्त प्रमाण यह है कि २५२४ वीं गाथा में २५२२ वीं गाथा का प्रथम चरण पुनरुक्त हुआ है। कोई भी लेखक स्वयं अपनी रचना में इतनी पुनरुक्ति नहीं करता, पर व्याख्याकार अपने से पूर्ववर्ती आचार्य की रचना की व्याख्या करें तो वे पुनरावृत्ति कर सकते हैं।

१४. स्वतंत्र रूप से मिलने वाली निर्युक्तियों की भाषा-शैली से स्पष्ट है कि निक्षेपपरक गाथाएं लिखना निर्युक्तिकार का अपना निजी वैशिष्ट्य है। मूल सूत्र में आए शब्द का निर्युक्तिकार निक्षेप के द्वारा अर्थ-निर्धारण करते हैं। यद्यपि भाष्यकार भी निक्षेपपरक गाथाएं लिखते हैं, लेकिन अधिकांश निक्षेपपरक गाथाएं निर्युक्ति की हैं अतः निर्युक्तिविस्तरः, निर्युक्तिकृद् आदि का उल्लेख न होने पर भी निक्षेपपरक गाथाओं को हमने प्रायः निर्युक्तिगाथा माना है। विशेषावश्यक भाष्य में स्पष्ट लिखा है कि निर्युक्ति का उद्देश्य नाम आदि का निक्षेप करना है, शेष अर्थ का विचार करना नहीं।

ग्रंथकर्ता द्वारा मूल निक्षेप का उल्लेख करने के बाद द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि की व्याख्या निर्युक्तिकार एवं भाष्यकार दोनों की हो सकती है। अनेक स्थलों पर स्वयं निर्युक्तिकार भी द्रव्य, क्षेत्र आदि की व्याख्या करते हैं, जैसे—दशवैकलिक निर्युक्ति में द्रव्यमंगल, भावमंगल आदि।

भाष्य निर्युक्ति की व्याख्या है, अतः संभव है कि कहीं-कहीं द्रव्य, क्षेत्र आदि की विस्तृत व्याख्या भाष्यकार ने भी की हो। जैसे व्यवहारभाष्य में टीकाकार कहते हैं—‘**व्यासार्थं तु भाष्यकृद् विवक्षुः इच्छानिक्षेपमाह**’—इस उल्लेख से स्पष्ट है कि यहां भाष्यकार ने निक्षेप योजना की है।

१५. मूल सूत्र में आए शब्द के एकार्थक और निरुक्त लिखना निर्युक्तिकार का भाषागत वैशिष्ट्य है। यदि प्रारम्भिक गाथाओं में सूत्रगत शब्द के एकार्थक अथवा निरुक्त हैं तथा विषय की क्रमबद्धता है तो हमने उन गाथाओं को निर्युक्तिगाथा के क्रम में रखा है, जैसे—निभा ८८८।

१६. एक सूत्र की दूसरे सूत्र के साथ तथा एक उद्देशक की दूसरे उद्देशक के साथ संबंध द्योतित करने वाली गाथाएं निर्युक्तिकार की हैं? भाष्यकार की हैं? व्याख्याकारों की हैं? अथवा अन्य किसी आचार्य की? इसका निर्णय करना अत्यन्त जटिल है, क्योंकि इस संबंध में अनेक विप्रतिपत्तियां हैं—

- व्यभा में प्रथम उद्देशक के सूत्रों में संबंध गाथाएं नहीं हैं, इससे स्पष्ट है कि ये बाद में जोड़ी गयी हैं।

- कहीं-कहीं उत्थानिका में भद्रबाहु सूत्र-संबंध की गाथा लिखते हैं, ऐसा उल्लेख मिलता है।

- कहीं-कहीं सम्बन्ध गाथा के पूर्व ‘**व्यासार्थं तु भाष्यकृद् विवक्षुः प्रथमतः पूर्वसूत्रेण सह संबंधमाह**’ का उल्लेख मिलता है। ये तीनों उल्लेख विमर्शनीय हैं।

अधिकांश स्थलों पर सूत्र-संबंध की गाथा के बारे में व्याख्याकारों ने कोई जानकारी न देकर तुरंत बाद ‘**अथ भाष्यम्**’ ‘**अथ निर्युक्तिविस्तरः**’ या ‘**इमा निज्जुत्ती**’ का उल्लेख किया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि सूत्र संबंध की गाथाएं संभवतः व्याख्याकारों ने बनाई हैं। इसका एक सशक्त प्रमाण यह है कि निशीथ, बृहत्कल्प एवं व्यवहार की सैकड़ों गाथाएं आपस में संवादी हैं। पर सूत्र-संबंध की गाथाएं आपस में नहीं मिलतीं। केवल बृहत्कल्प एवं व्यवहार की कुछ गाथाएं समान हैं, क्योंकि इन दोनों भाष्यों के कर्ता एक ही हैं। ऐसा संभव लगता है कि भाष्यकार अथवा व्याख्याकार ने एक सूत्र से दूसरे सूत्र के साथ संबंध जोड़ने का प्रयत्न किया है। भाषा-शैली की दृष्टि से भी ये गाथाएं निर्युक्ति की प्रतीत नहीं होतीं, क्योंकि निर्युक्ति की शैली अत्यन्त संक्षिप्त है। निर्युक्तिकार किसी भी विषय का इतना विस्तृत वर्णन नहीं करते। यदि संबंध-सूत्र की गाथाओं को छेदसूत्रों की निर्युक्तियों के साथ जोड़ दिया जाए तो इनका कलेवर बहुत बड़ा हो जाएगा, क्योंकि कहीं-कहीं संबंध-सूत्र के रूप में दो या तीन गाथाएं भी एक साथ मिलती हैं। अतः हमने एक उद्देशक से दूसरे उद्देशक की सम्बन्धगाथा को निर्युक्तिगाथा के रूप में स्वीकार नहीं किया है, लेकिन चौथे उद्देशक से पांचवें उद्देशक के साथ सम्बन्ध जोड़ने वाली गाथा के लिए चूर्णिकार ने स्पष्ट उल्लेख किया है—**इदानीं उद्देशकस्स उद्देशकेन सह संबंधं वक्तुकामो आचार्य भद्रबाहुस्वामी**

निर्युक्तिगाथामाह। चूर्णिकार के निर्देश के अनुसार २०१४ गाथा को निर्युक्तिगाथा माना है।

१७. निशीथ चूर्ण में अनेक स्थलों पर 'अधुना निर्युक्तिविस्तरः' का उल्लेख है, लेकिन वहां एक ही गाथा निर्युक्ति की है, जैसे निभा १११४ की आगे की गाथाओं के लिए 'तिणिण वक्खाणगाहाओ' का उल्लेख है। यहां विस्तरः शब्द का अर्थ व्याख्या होनी चाहिए। इसी प्रकार आणमादीणि वाली सारी गाथाएं निर्युक्ति की हों, यह भी संभव नहीं लगता।

१८. व्यवहार और बृहत्कल्प की टीका में अनेक स्थलों पर 'अधुना निर्युक्तिभाष्यविस्तरः' अथवा 'अधुना भाष्यनिर्युक्तिविस्तरः' का उल्लेख मिलता है। वहां यह निर्णय करना कठिन हो गया कि पहले निर्युक्तिगाथा है या भाष्यगाथा? क्योंकि अनेक स्थलों पर विषमपदों की व्याख्या पहले भाष्यकार भी करते हैं, जैसे—व्यभा (१४७८, १४७९)। जहां 'निर्युक्तिभाष्यविस्तरः' का उल्लेख है, वहां हमने पहले निर्युक्ति की गाथा का चयन किया है और कहां तक निर्युक्ति-गाथाएं हैं, इसका निर्णय अनुमान प्रमाण, व्याख्या के पूर्वापरत्व तथा विषय की क्रमबद्धता के आधार पर किया है। जहां 'भाष्यनिर्युक्तिविस्तरः' का उल्लेख है, वहां हमने पहले भाष्य और फिर निर्युक्ति-गाथा को स्वीकार किया है। जैसे व्यभा में २०३२ वीं गाथा के प्रारंभ में 'भाष्यनिर्युक्तिविस्तरः' का उल्लेख है, लेकिन निर्युक्ति की गाथा २०३८ से है। पुव्वद्धस्स इमा दो भासगाहाओ—इस उल्लेख से भी स्पष्ट है कि पूर्व की गाथा निर्युक्ति की है। ऐसे उल्लेख वाली गाथाओं को भी हमने निर्युक्तिगाथाओं के क्रम में स्वीकृत किया है।

१९. निशीथ भाष्य संकलन प्रधान भाष्य है। व्यवहार और बृहत्कल्पभाष्य की अनेक गाथाएं इसमें उद्धृत हैं। निशीथ के बीसवें उद्देशक में भक्तपरिज्ञा के चालीस द्वारों वाली गाथाएं (६३९४ से ६७८० तक की गाथाएं व्यभा (१८७-६२३) से उद्धृत हैं। बीसवें उद्देशक के भाष्य से निर्युक्ति का पृथक्करण करते समय मन में विकल्प उठा कि ये गाथाएं भाष्यकार ने उद्धृत की हैं अतः इनमें से निर्युक्ति का पृथक्करण किया जाए या नहीं? लेकिन कहीं-कहीं चूर्ण में 'इमा णिज्जुत्ती' आदि का उल्लेख है अतः हमने इनकी निर्युक्तिगाथाओं का भी पृथक्करण कर दिया है। भले ही वे व्यवहारनिर्युक्ति की गाथाएं हैं। निभा में इस प्रसंग की केवल एक निर्युक्ति गाथा है—गा ३९२२। पिण्डनिर्युक्ति की भिक्षादोष सम्बन्धी गाथाओं को निर्युक्ति में इसलिए सम्मिलित नहीं किया, क्योंकि वहां निशीथ निर्युक्तिकार ने प्रत्येक दोष की नई निर्युक्ति-गाथाएं लिखी हैं।

२०. निर्युक्तिगाथाएं प्रायः अध्ययन एवं उद्देशक के तत्काल बाद आती हैं, जैसे—निशीथ की निर्युक्ति-गाथाएं, लेकिन भाष्यमिश्रित निर्युक्तियों में कहीं-कहीं ऐसा क्रम नहीं भी मिलता। इस बारे में ऐसा अधिक संभव लगता है कि विषय की संबद्धता की दृष्टि से स्वयं भाष्यकार ने गाथाओं को आगे-पीछे कर

दिया हो। अनेक स्थलों पर भाष्यकार ने निर्युक्तिगाथा पर अपनी टिप्पणी भी दी है तथा निर्युक्ति से भाष्यगाथा की क्रमबद्धता को जोड़ने का प्रयत्न भी किया है। जैसे—‘सुत्ते अत्थे……’ व्यभा की यह सातवीं गाथा निर्युक्ति की है। इसमें भाव व्यवहार के एकार्थक दिए गए हैं। पर इनमें जीत व्यवहार के एकार्थकों की प्रमुखता है। आठवीं गाथा भाष्य की है। इसमें भाष्यकार ने सातवीं गाथा से संबंध जोड़ने का प्रयत्न किया है। यदि सातवीं गाथा को निर्युक्ति की नहीं मानें तो नौवीं गाथा में पुनः जीत व्यवहार के एकार्थक दिए गए हैं। एक ही ग्रंथकर्ता ऐसी पुनरुक्ति नहीं करते। इसी प्रकार व्यभा ५२ में भी भाष्यकार ने संबंध जोड़ने का प्रयत्न किया है। गाथा ५२ में ‘पच्छित्तं वा इमं दसहा’ का उल्लेख है तथा ५३ वीं गाथा निर्युक्ति की है, जिसमें १० प्रकार के प्रायश्चित्तों का उल्लेख है। व्यभा २०८६ में भाष्यकार स्पष्ट कहते हैं—‘निज्जुत्ती सुत्तफासेसा।’ इस कथन से स्पष्ट है कि क्रमबद्धता को जोड़ने का प्रयत्न भाष्यकार भी करते हैं।

२१. अनेक स्थलों पर आचार्य भद्रबाहु व्याख्यान-गाथा लिख रहे हैं। उस पर आचार्य सिद्धसेन व्याख्या कर रहे हैं। वहां स्पष्ट है कि भद्रबाहु प्रथम की गाथा पर भद्रबाहु द्वितीय व्याख्या कर रहे हैं और उनकी व्याख्या आचार्य सिद्धसेन कर रहे हैं। उदाहरणार्थ निभा २९२ की उत्थानिका में चूर्णिकार का उल्लेख है—**भद्रबाहुसामिकता वक्खाणगाहा।** २९३ गाथा की उत्थानिका में चूर्णिकार का उल्लेख है—**‘पुव्वद्धस्स पुण सिद्धसेनायरिओ वक्खाणं करेति।’** अर्थात् २९२वीं गाथा के पूर्वाद्ध की आचार्य सिद्धसेन व्याख्या कर रहे हैं। दोनों ही आचार्य व्याख्यान-गाथा लिख रहे हैं अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि भद्रबाहु द्वितीय अपने से पूर्ववर्ती भद्रबाहु प्रथम की गाथा पर व्याख्या लिख रहे हैं। इस संदर्भ में अभी और अधिक गहन शोध की अपेक्षा है, लेकिन यह विचार सत्य के निकट प्रतीत होता है।

२२. भाष्य से निर्युक्ति को पृथक् करने में सबसे बड़े मार्गदर्शक रहे हैं—निशीथ चूर्णिकार जिनदासगणी, व्यवहारभाष्य के टीकाकार मलयगिरि और बृहत्कल्प भाष्य के टीकाकार आचार्य मलयगिरि और क्षेमकीर्ति। टीकाकार ने गाथा की व्याख्या के क्रम को जोड़ने का बहुत सुंदर प्रयत्न किया है। इससे यह ज्ञात हो जाता है कि किस गाथा के किस अंश की कितनी गाथाओं में व्याख्या की गयी है। टीकाकार की व्याख्या के बिना निर्युक्ति को भाष्य से पृथक् करना अत्यन्त दुरूह कार्य था। अनेक स्थलों पर सैकड़ों गाथाओं के बाद भी पूर्ववर्ती द्वारगाथा की व्याख्या चल रही है, उसका भी टीकाकार ने संकेत कर दिया है, जैसे—व्यभा ३५१।

हमने बृहत्कल्प, निशीथ और व्यवहार—इन तीन ग्रंथों के भाष्यों से निर्युक्तियों का पृथक्करण जिन बिन्दुओं के आधार पर किया है, उसकी संक्षिप्त कसौटियां यहां प्रस्तुत की हैं। संक्षेप में कहा जा

सकता है कि अन्यान्य स्वतंत्र निर्युक्तियों का गहन अध्ययन तथा गाथा के पौर्वापर्य का समीचीन ज्ञान कर हमने निर्युक्ति-गाथाओं का पृथक्करण किया है। पर दावा नहीं किया जा सकता कि यह वर्गीकरण बिल्कुल सही ही हुआ है। यह प्रथम प्रयास है, अंतिम प्रयत्न नहीं है। पंचकल्प से निर्युक्तिगाथा का पृथक्करण करना अत्यन्त सरल कार्य है, क्योंकि उसमें स्पष्ट रूप से पता चलता है कि अमुक गाथा की व्याख्या भाष्यकार कर रहे हैं। यदि ऐसा नहीं होता तो बिना टीका के इसकी निर्युक्तिगाथाओं को पृथक् करना अत्यन्त कठिन होता। इसकी चूर्ण में भी चूर्णिकार ने 'इमा णिज्जुत्ती' आदि कोई संकेत नहीं किया है।

भाष्य से निर्युक्ति के पृथक्करण के कार्य को देखकर पंडित दलसुखभाई मालवणिया ने अपनी टिप्पणी व्यक्त करते हुए आचार्य तुलसी के पास पत्र द्वारा एक संवाद प्रेषित किया—“आपकी प्रेरणा से समणी कुसुमप्रज्ञाजी ने बृहत्कल्प, निशीथ और व्यवहार सूत्र से निर्युक्ति के पृथक्करण का कार्य बड़े परिश्रम से किया है। इस दिशा में जैन परम्परा में यह प्रथम प्रयास है, फिर भी यथार्थ तक पहुंचने का पूरा प्रयत्न किया गया है। कठिन परिश्रम के बिना यह संभव नहीं कि निर्युक्तियों का पृथक्करण हो सके। पिछले दो हजार वर्षों में ऐसा प्रयत्न नहीं हुआ, अतएव मैं इस प्राथमिक प्रयत्न की प्रशंसा एवं अनुमोदन करता हूँ।”

निशीथ निर्युक्ति एवं भाष्य का वैशिष्ट्य

भाष्यों की परम्परा में निशीथ भाष्य सबसे बृहत्काय भाष्य है। जैन विश्वभारती द्वारा सम्पादित निशीथ भाष्य में ६८१९ गाथाएं हैं। भाष्य का प्रारम्भ आचारांग के परिचय एवं उसके पद-परिमाण से हुआ है। आचार के निक्षेप करते हुए भाष्यकार ने द्रव्य और भाव आचार का स्वरूप स्पष्ट किया है। आचार के वर्णन के प्रसंग में ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपःआचार और वीर्याचार के आठ-आठ अतिचारों और उनसे सम्बन्धित कुछ कथाओं का संकेत भी किया है। आचार-वर्णन के पश्चात् अग्र, प्रकल्प और चूला के निक्षेपों की व्याख्या की गई है। निशीथ शब्द का वास्तविक अर्थ बताते हुए ग्रंथकार ने संक्षेप में निशीथ की विषयवस्तु का उल्लेख किया है। भाष्यकार ने प्रतिसेवक, प्रतिसेवना और प्रतिसेवितव्य की विस्तृत व्याख्या की है। पुरुष के आधार पर प्रतिसेवकों का गंभीर विवेचन हुआ है तथा दर्पिका और कल्पिका प्रतिसेवना के अतिरिक्त अनाभोग तथा सहसाकरण प्रतिसेवना आदि का वर्णन भी किया गया है। कषाय प्रतिसेवना का विस्तार तत्कालीन विविध मनोवृत्तियों को प्रकट करने वाला है। निद्रा प्रतिसेवना के अन्तर्गत पंचविध निद्रा एवं स्त्यानर्द्धि निद्रा के पांच उदाहरण मनोविज्ञान के साथ तुलनीय हैं। ग्रंथकार ने षड्जीवनिकाय की दर्पिका और कल्पिका प्रतिसेवना की व्याख्या करते हुए तत्सम्बन्धी प्रायश्चित्तों का उल्लेख भी किया

है। ग्रंथकार ने दर्पिका प्रतिसेवना के दश, कल्पिका प्रतिसेवना के चौबीस तथा मिश्र प्रतिसेवना के दस भेदों की विस्तृत व्याख्या की है।

भाष्य में भारत के विविध राजाओं और उनकी परम्परा का भी प्रसंगवश उल्लेख हुआ है। राजा गर्दभिल्ल, आचार्य कालक और चाणक्य से सम्बन्धित कथाएं ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। भाष्य में प्रसंगवश आयुर्वेद, स्वास्थ्य और चिकित्सा सम्बन्धी जानकारियां भी प्राप्त होती हैं। तत्कालीन खान-पान, रहन-सहन, वेशभूषा आदि का वर्णन भी सभ्यता और संस्कृति की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। ग्रंथ में आए विविध वाद्य आज शोध की नई सामग्री प्रस्तुत करते हैं। संभोज (संभोग) के भेद-प्रभेद उस समय की सामुदायिक चेतना के महत्त्व को प्रकट करने वाले हैं। भिक्षा के आधाकर्म आदि विविध दोषों की सर्वांगीण जानकारी प्रस्तुत ग्रंथ में मिलती है। भाष्यकार ने रात्रिभोजन से सम्बन्धित पूर्वपक्ष और उसका खण्डन बहुत विस्तार से किया है। यह वर्णन वैज्ञानिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

अधिकरण—कलह के प्रकार, उसकी उत्पत्ति के कारण, कलह करने के दोष, कलह के समय आचार्य का दायित्व एवं कलह-उपशांति की प्रेरणा आदि का सुंदर विवेचन भाष्य में है। परिहारतप स्वीकार करने की विधि एवं उसकी चर्या का विस्तृत विवेचन इसमें प्राप्त होता है। ग्लान साधु की परिचर्या और उसकी वैद्य-चिकित्सा के संदर्भ में प्रस्तुत किए गए अनेक प्रसंग आयुर्वेद की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

पर्युषणा काल में करणीय साधु की चर्या, पर्युषणा में कषाय की उपशांति के प्रसंग में अत्वंकारी भट्टा आदि की कथाएं तथा पर्युषणा में तप आदि का विस्तृत वर्णन ग्रंथकार ने किया है। सार्थ के पांच प्रकार एवं विविध यानों का उल्लेख भी उस समय के भौतिक विकास को प्रकट करने वाला है। दीक्षा के अयोग्य व्यक्तियों के संदर्भ में नपुंसक के भेद-प्रभेद एवं उनके लक्षणों का वर्णन अनेक नए रहस्यों को प्रकट करने वाला है। इस एक विषय पर स्वतंत्र शोध-प्रबंध लिखा जा सकता है।

भारत के केदार, प्रयाग आदि कुछ तीर्थ जो आज भी प्रसिद्ध हैं, उनका उल्लेख सांस्कृतिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। पुष्कर तीर्थ आदि की उत्पत्ति की कथा इतिहासकारों के समक्ष शोध की नई सामग्री प्रस्तुत करती है।

विविध शिल्प तत्कालीन आजीविका के विविध साधनों को प्रकट करते हैं। उस समय भृतक कितने प्रकार के होते थे तथा उनके वेतन का क्रम कैसे रहता था, यह वर्णन भी प्रसंगवश इस ग्रंथ में मिलता है।

भक्तपरिज्ञान अनशन और उसके २७ द्वारों की व्याख्या, इंगिनी एवं पादोपगमन मरण आदि का

वर्णन भी भाष्यकार ने विस्तार से किया है। भारत की पांच महानदियों के नाम और उनको पार करने की अहिंसक विधि का वर्णन इस ग्रंथ में मिलता है। स्वप्न के पांच प्रकार एवं उनकी व्याख्या मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्रमाणोपेत मनुष्य के लक्षण एवं शरीर के शुभ लक्षण वर्तमान के शरीरशास्त्रियों एवं ज्योतिष् विद्या की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

भिक्षा के धात्रीपिण्ड, दूतीपिण्ड आदि दश दोषों का भी विस्तृत विवेचन इसमें मिलता है। यह सारा प्रकरण भाष्यकार ने पिण्डनिर्युक्ति से लिया है। आराधक-विराधक, सुलभबोधि-दुर्लभबोधि की चर्चा भी भाष्यकार ने की है। राजा सम्प्रति ने किस प्रकार अनार्य देशों को साधुओं के विहार योग्य बनाया, यह वर्णन ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

अट्टारहवें उद्देशक के भाष्य में नौका द्वारा जल में गमन करने के दोष, नौका के प्रकार, नौका सम्बन्धी विविध उपकरण आदि का विस्तृत वर्णन है। तत्कालीन इंद्रमह, स्कन्धमह आदि महोत्सव उस समय की संस्कृति को प्रकट करने वाले हैं।

ग्रंथकार ने अस्वाध्यायी के विविध प्रकारों का विस्तृत विवेचन किया है। यह वर्णन वैदिक साहित्य में वर्णित अनध्याय से तुलनीय है। वाचना के अयोग्य या अपात्र को वाचना देने के दोषों का वर्णन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

अंतिम उद्देशक में आलोचना करने की विधि, आलोचना के गुण तथा आलोचनार्ह की विशेषताओं का विशद विवेचन है। भाष्य में आगम आदि पांच व्यवहार एवं उनके व्यवहारी का भी वर्णन किया गया है। यह सारा वर्णन भाष्यकार ने व्यवहारभाष्य से उद्धृत किया है। भाष्यकार ने निशीथकल्प के चार प्रकारों का विस्तृत वर्णन किया है, वे इस प्रकार हैं—

१. **श्रद्धान निशीथकल्प**—जिस प्रसंग में जैसा वर्णन है, उस पर उसी रूप में श्रद्धा करना।

२. **आचरण निशीथकल्प**—सूत्र में निबद्ध उत्सर्ग आदि विधियों का यथाविधि आचरण करना। ग्रंथकार के अनुसार जो उत्सर्ग-विधि में अपवाद का समाचरण करता है, वह नियमतः विराधक होता है। जो अपवादस्थान को प्राप्त कर उत्सर्ग का समाचरण करता है, उसकी भजना है।

३. **ग्रहण निशीथकल्प**—श्रुतदाता के प्रति विनय, भक्ति रखकर सूत्र और अर्थ को ग्रहण करना। कृताञ्जलि होकर प्रणत मुद्रा में सूत्र और अर्थ को ग्रहण करना तथा सूत्रार्थ ग्रहण के पश्चात् गुरु को नमस्कार करना, यह ग्रहण निशीथकल्प है।

४. **शोधि निशीथकल्प**—आप्तपुरुषों के पास अपराध की शोधि करना। वर्तमान में केवलजिन, मनःपर्यवजिन, अवधिजिन आदि का अभाव होने पर भी चौदह पूर्वों से निर्यूढ निशीथ में शोधि वर्णित है

अतः प्रकल्पधर गणप्रवर्तक वर्तमान में शोधिकल्प हैं।

ग्रंथकार ने प्रकल्पधर के तीन प्रकार बताए हैं—सूत्रधर, अर्थधर और तदुभयधर। इसमें सूत्रधर को छोड़कर शेष दो गच्छपरियट्टण (गच्छ का प्रवर्तन) कर सकते हैं। प्रायश्चित्त के लाभ, प्रकल्प के अर्थाधिकार आदि का वर्णन भी ज्ञानवर्धक है। अंत में भाष्यकार ने प्रकल्प अध्ययन की वाचना के योग्य और अयोग्य की कसौटियां प्रस्तुत की हैं। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि यह भाष्य अनेक विषयों को अपने भीतर समेटे हुए ज्ञान का अक्षय भण्डार है।

भाष्यकार ने अनेक ऐतिहासिक एवं लोक कथाओं का प्रयोग किया है। उनका विस्तार चूर्णि में है। शोधार्थियों के लिए उन कथाओं का अनुवाद परिशिष्ट संख्या-२ में किया गया है।

भाष्य में अनेक महत्त्वपूर्ण देशी शब्दों का प्रयोग हुआ है, उनका संकलन परिशिष्ट संख्या-३ में किया गया है।

साहित्यिक दृष्टि से अनेक मार्मिक सूक्तियों का भी प्रयोग हुआ है। उनका संकलन भी परिशिष्ट संख्या-४ में किया गया है।

भाष्यकार ने प्रसंगवश अनेक एकार्थकों का प्रयोग किया है। इसमें अनेक ऐसे नए शब्दों के एकार्थक हैं, जो किसी कोश में प्राप्त नहीं होते। उन सबका संकलन परिशिष्ट संख्या-५ में किया गया है।

भाष्य और चूर्णि में अनेक निरुक्तों का प्रयोग हुआ है। उनका संकलन परिशिष्ट संख्या-६ में किया गया है।

चूर्णि एवं भाष्य में अनेक शब्दों की परिभाषाएं हैं, उनका संकलन भी परिशिष्ट संख्या-७ में कर दिया गया है।

भाष्यकार और चूर्णिकार ने अनेक स्थलों पर दो शब्दों के अर्थभेद को स्पष्ट किया है, यह भाषाविज्ञान की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, जैसे-औषध-भेषज, मंत्र और विद्या आदि। इन सबका संकलन परिशिष्ट संख्या-८ में किया गया है।

तत्कालीन विविध विद्याओं का संकलन परिशिष्ट संख्या-९ में किया गया है।

शोधार्थियों की सुविधा के लिए विशेषनामानुक्रम परिशिष्ट में निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णि में आए विशेष शब्दों का संदर्भ सहित उल्लेख किया है। उनका संकलन परिशिष्ट संख्या-१० में किया गया है।

अन्य ग्रंथों का प्रभाव

प्राचीन काल में ग्रंथकार बिना किसी उल्लेख के अन्य ग्रंथों की गाथाओं को अपने ग्रंथ का अंग बना लेते थे। इसे साहित्यिक चोरी नहीं माना जाता था। निशीथभाष्यकार ने भी खुले हृदय से अन्य ग्रंथों की

गाथाओं को अपने ग्रंथ का अंग बना लिया है। यदि व्यवहारभाष्य, बृहत्कल्पभाष्य, आवश्यक निर्युक्ति, पिण्डनिर्युक्ति और ओघनिर्युक्ति आदि की गाथाएं निशीथ भाष्य से निकाल दी जाएं तो सम्बन्ध गाथा के अतिरिक्त बहुत कम गाथाएं भाष्यकार की रहेंगी। अनेक स्थलों पर तो भाष्यकार ने 'जहा कप्पे' का उल्लेख किया है, जो बृहत्कल्प भाष्य की ओर इंगित करता है। बीसवें उद्देशक की प्रारम्भिक सैकड़ों गाथाएं व्यवहारभाष्य के प्रथम उद्देशक की हैं। संकलन प्रधान होने पर भी भाष्य-साहित्य में इसका महत्वपूर्ण स्थान है। जिनदासगणि महत्तर ने इस पर इतनी बृहत्काय चूर्णि लिख दी, यह भी इसके वैशिष्ट्य को प्रकट करने वाला है।

व्याख्या ग्रंथ

निशीथ पर अनेक व्याख्या ग्रंथ हैं, लेकिन बिना भाष्य और चूर्णि के निशीथ के रहस्य को समझना अत्यन्त कठिन है। व्याख्याकारों ने एक-एक शब्द की विस्तृत व्याख्या की और साथ ही तत्कालीन सभ्यता और संस्कृति के अनेक महत्वपूर्ण तथ्यों को इसमें समाविष्ट कर दिया। आज उनको पढ़कर आश्चर्य होता है कि इतना विशाल वाङ्मय नहीं होता तो साधु-आचार और भारतीय संस्कृति की अनेक चीजें लुप्त हो जातीं। भाष्य और चूर्णि के संदर्भ में वासुदेवशरण अग्रवाल का निम्न वक्तव्य अत्यन्त मार्मिक और उल्लेखनीय है—“जैन व्याख्या-साहित्य भाष्य और चूर्णि साहित्य को पढ़े बिना भारतीय संस्कृति को पूर्णतया समझना संभव नहीं है।” निशीथ पर लिखे गए व्याख्या ग्रंथों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

निशीथ चूर्णि एवं उसके कर्ता

आगमों की तीसरी व्याख्या चूर्णि है। चूर्णिकार के रूप में मुख्य रूप से जिनदासगणि महत्तर का नाम प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त दशवैकालिक पर स्थविर अगस्त्यसिंह की चूर्णि भी मिलती है। जिनदासगणी ने १० चूर्णियां लिखीं, उनमें सबसे बृहत्काय और समृद्ध चूर्णि निशीथ की है। यह संस्कृत प्राकृत भाषा में गद्य में लिखी गई है। चूर्णिकार ने मंगलाचरण की प्रारम्भिक गाथाओं में अपनी चूर्णि को विशेष चूर्णि के नाम से अभिहित किया है, साथ ही यह उल्लेख किया है कि पूर्वाचार्य द्वारा व्याख्या की गई है, फिर भी मैं विशेष व्याख्या करना चाहता हूँ।^१ उन्होंने प्रायः उद्देशकों के अंत में 'विसेसनिसीहचुण्णीए' का उल्लेख किया है। मंगलाचरण के रूप में दी गई तीसरी गाथा के इस उत्तरार्ध से दो फलित निकलते हैं—

* चूर्णिकार के समक्ष एक चूर्णि और थी।

* चूर्णिकार व्याख्या के रूप में भाष्य का संकेत दे रहे हों और उसी की वे विशेष व्याख्या कर रहे

१. निचू १ पृ. १ ; पुव्वायरियकयं चिय, अहं पि तं चैव उ विसेसा।

हों। यहां दूसरा विकल्प ही अधिक संगत लगता है, क्योंकि निशीथ की अन्य चूर्ण के रूप में अभी तक भण्डार आदि में कोई संकेत नहीं मिलता।

पंडित दलसुखभाई मालवणिया के अनुसार जिस प्रकार जिनभद्रगणी का भाष्य आवश्यक की विशेष बातों का विवरण करता है, फलतः यह विशेषावश्यक भाष्य है, उसी प्रकार निशीथ भाष्य की विशेष बातों का विवरण करने वाली प्रस्तुत चूर्ण भी विशेष चूर्ण है।^१ इस चूर्ण से पूर्व भी अन्य व्याख्या लिखी जा चुकी थी, लेकिन इसमें कुछ विशेष बातों का समावेश है। अन्य आचार्य कृत विवरण की सूचना स्वयं चूर्णकार ने चूर्ण के प्रारम्भ में तीसरी गाथा में दी है—‘पुव्वायरियकयं चिय अहं पि तं चेव उ विसेसा।’

इस चूर्ण का यह वैशिष्ट्य है कि इसमें मूलसूत्र, निर्युक्ति और भाष्य की गाथाओं की विस्तृत व्याख्या की गई है। प्रसंगवश इसमें सभ्यता, संस्कृति, राजनीति, आयुर्वेद आदि से संबंधित अनेक महत्त्वपूर्ण बातों का समावेश भी है। अनेक विद्याओं, तत्कालीन महत्त्वपूर्ण ग्रंथों आदि के उल्लेख चूर्णकार के बाहुश्रुत्य को प्रकट करने वाले हैं। भौगोलिक दृष्टि से भी चूर्णकार ने भारत के अनेक नगरों और जनपदों का उल्लेख किया है। निशीथ चूर्ण को भारतीय संस्कृति या ज्ञान का अक्षय कोश कहा जा सकता है।

पीठिका में चूर्णकार ने पञ्जुणखमासमण को ‘अत्थदायि’ विशेषण के साथ नमस्कार किया है। १३ वें उद्देशक के अंत में चूर्णकार ने सांकेतिक भाषा में अपने पिता का नाम सूचित किया है। १५ वें उद्देशक के अंत में माता के नाम का संकेत दिया है। वर्तमान में उस सांकेतिक भाषा से सही नाम को खोजना कठिन है। १६ वें उद्देशक के अंत में उन्होंने अपने सात भाइयों के नामों का उल्लेख किया है, जिसमें मध्यम अर्थात् चौथे नम्बर पर स्वयं चूर्णकार थे। २० वें उद्देशक की समाप्ति पर अपनी विद्वत्ता को प्रदर्शित करते हुए चूर्णकार ने अपने जिनदास नाम को प्रकट किया है। वे दो गाथाएं इस प्रकार हैं—

ति चउ पण अट्टमवग्गे, ति पणग ति तिग अक्खरा व ते तेसिं।

पढम-ततिएहि ति-दुसरजुएहि णामं कयं जस्स।।

गुरुदिण्णं च गणित्तं, महत्तरत्तं च तस्स तुट्ठेहिं।

तेण कएसा चुण्णी, विसेसनामा निसीहस्स^२।।

नंदी चूर्ण में उसके निर्माण का काल शक संवत् ५९८ उल्लिखित है। इस उल्लेख के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उनका समय विक्रम की आठवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध होना चाहिए। चूर्ण का पद-परिमाण लगभग २८ हजार पद-परिमाण से कुछ अधिक है।

१. निचू १, पृ. १।

२. चू ४ पृ. ४११।

सुबोधा व्याख्या

यह बीसवें उद्देशक की चूर्ण में आए दुर्गम पदों की व्याख्या है। इसके कर्ता श्रीचंद्रसूरि हैं। मुद्रित निशीथचूर्ण के अंत में यह प्रकाशित है। इसकी भाषा संस्कृत गद्य है। इसकी प्रशस्ति में कर्ता ने अपना परिचय और रचना-काल का निर्देश किया है।

स्तबक

यह निशीथ की सरल एवं संक्षिप्त व्याख्या है। इसके कर्ता का नामोल्लेख नहीं है, लेकिन आचार्य महाश्रमण के अनुसार इसके कर्ता धर्मसी मुनि होने चाहिए। इसकी भाषा गुजराती और राजस्थानी मिश्रित है। राजस्थानी भाषा में इसे टब्बा कहा जाता है। यह बहुत संक्षिप्त व्याख्या है।

निशीथ हुंडी

यह चतुर्थ आचार्य जयाचार्य द्वारा रचित है। हुंडी में निशीथ का संक्षिप्त सारांश है। यह राजस्थानी भाषा में गद्य में रचित है।

निशीथ जोड़

यह भी जयाचार्य कृत है। इसमें निशीथ का भावानुवाद है। यह जोड़ गीतिका बद्ध है। इसकी भाषा राजस्थानी है। इसकी पद्य संख्या ४०३ है। इसकी रचना वि. सं. १८८८ में की गई।

सम्पादन एवं अनुवाद का इतिहास

पूज्य गुरुदेव तुलसी ने नारी-विकास के अनेक आयाम खोले। उनमें एक क्रांतिकार कदम था— महिला समाज को आगम-कार्य के साथ जोड़ना। आचार्य तुलसी ने आचार्य महाप्रज्ञजी को निर्देश दिया— “तुम्हारी सन्निधि में कुछ साध्वियों को आगम का कार्य करवाओ, जिससे वे आगम-कार्य में निपुणता हासिल कर सकें।” मुख्य नियोजिका साध्वी विश्रुतविभाजी, साध्वी श्रुतयशाजी, साध्वी मुदितयशाजी एवं साध्वी शुभ्रयशाजी ने वर्षों तक आचार्य महाप्रज्ञजी की पावन सन्निधि और उनके निर्देशन में आगम का कार्य किया। वर्तमान में ये साध्वियां आचार्य महाश्रमणजी के निर्देशन में आगम-कार्य कर रही हैं।

मैं अपना सौभाग्य समझती हूँ कि मुमुक्षु अवस्था से ही मुझे आगम कोश के कार्य के साथ जोड़ दिया गया। तब से अब तक यह यात्रा कभी धीमी गति से तो कभी तीव्र गति से अनवरत चल रही है। आचार्य तुलसी ने सन् १९६७ में बीदासर में अपनी भावना व्यक्त करते हुए कहा था—‘मैं तो उस दिन का स्वप्न देखता हूँ, जब साध्वियों द्वारा लिखी गई टीकाएं या भाष्य सामने आएँ। जिस दिन वे इस रूप में सामने आएंगी, मैं अपने कार्य का एक अंग पूर्ण समझूंगा।’ पूज्य गुरुदेव तुलसी का वह स्वप्न पूर्णतया सार्थक नहीं हुआ, लेकिन निर्युक्ति और भाष्य का बृहत्काय ग्रंथ समणी और साध्वी द्वारा सम्पादित

और अनूदित होकर उनके परम्पर पट्टधर के करकमलों में विदेश की धरती पर समर्पित हो रहा है।

सन् १९८९ तक निर्युक्तियों, निशीथभाष्य और व्यवहारभाष्य के सम्पादन का कार्य हो चुका था। उस समय पंडित दलसुखभाई मालवणिया और पूना के डॉ. कलघटगेजी का आग्रह रहा कि व्यवहारभाष्य का प्रकाशन पहले हो तो शोधकर्ताओं को अधिक सुविधा रहेगी, क्योंकि व्यवहारभाष्य की कोई शुद्ध प्रति अभी तक प्रकाशित नहीं हुई है। पूज्यवरों का यह निर्देश रहा कि व्यवहारभाष्य का कार्य पहले सम्पादित किया जाए। सन् १९९६ में व्यवहारभाष्य प्रकाशित होकर पूज्य चरणों में समर्पित हुआ। पूज्य गुरुदेव तुलसी के महाप्रयाण के पश्चात् मुख्य नियोजिका साध्वी विश्रुतविभाजी के निवेदन पर आचार्य महाप्रज्ञजी ने डॉ. साध्वी श्रुतयशाजी को निशीथभाष्य का अनुवाद करने का निर्देश दिया। चूंकि वे निशीथ मूल पर आचार्य महाप्रज्ञजी की सन्निधि में कार्य कर रहीं थीं अतः उनके लिए इस कठिन ग्रंथ का अनुवाद करना सरल हो गया। साध्वी श्रुतयशाजी की संस्कृत और प्राकृत भाषा में अच्छी पकड़ है। उन्होंने गहन अध्यवसाय से इस दुर्गम ग्रंथ का अनुवाद करके इसे सरल बना दिया है। विद्वानों को इस अनुवाद में कहीं-कहीं क्लिष्टता महसूस हो सकती है, लेकिन ऐसा सलक्ष्य किया गया है, क्योंकि इस रहस्यमय ग्रंथ के अनेक स्थल ऐसे हैं, जो आम जनता के लिए या अपरिणामक शिष्य के लिए प्रकाशनीय नहीं हैं। इसके अनुवाद हेतु साध्वीश्री को जितना धन्यवाद दिया जाए, उतना कम है। निशीथ चूर्ण में आई कथाओं का अनुवाद भी साध्वीश्री के द्वारा किया गया है। कहीं-कहीं चूर्ण में अत्यन्त संक्षिप्त शैली में कथा का वर्णन है, लेकिन उसका अनुवाद सटीक हुआ है। कुछ परिशिष्ट भी साध्वीश्री श्रुतयशाजी ने तैयार किए हैं। कथा परिशिष्ट के लेखन में साध्वी दर्शनविभाजी का महत्त्वपूर्ण सहयोग रहा है।

निशीथ-निर्युक्ति एवं भाष्य-संख्या

निशीथ-निर्युक्ति का आज स्वतंत्र अस्तित्व नहीं मिलता, लेकिन पंडित दलसुखभाई की प्रेरणा तथा पूज्यवरों के आशीर्वाद से निर्युक्ति और भाष्य के पृथक्करण का कार्य सम्पन्न हुआ। पृथक्करण के प्रयास में १२४२ गाथाएं निर्युक्ति की संभावित हैं। इस निर्युक्ति की रचना शैली अन्य निर्युक्तियों से भिन्न है। निर्युक्तिकार सूत्रगत शब्दों की व्याख्या करते हैं और अंत में दोष के लिए आज्ञाभंग, अनवस्था दोष आदि का संकेत करते हैं।

निशीथ की दूसरी व्याख्या है—भाष्य। उपाध्याय अमरमुनि और कमलमुनि द्वारा सम्पादित मुद्रित निशीथभाष्य में ६७०३ भाष्य गाथाएं हैं। हस्तप्रतियों द्वारा प्रकाशमान इस ग्रंथ में भाष्य की संख्या ६८१९ हैं। हस्तप्रतियों में जहां भी गाथाएं पुनरावृत्त हुई हैं, चूर्ण में जहां भी 'सनिर्युक्तिं पूर्ववत्, सर्वा गाथा पूर्ववत्', 'सभाष्यं पूर्ववत्' का उल्लेख है अथवा जहां भी गाथाओं के संकेत मात्र हैं, उनकी पूर्ति हमने पहली वाली

गाथाओं से की है, इसी कारण गाथा-संख्या में इतना अंतर आ गया है। शोधार्थियों को किसी भी गाथा की चूर्ण खोजने में दुविधा न हो, इसलिए हमने गाथाओं के सामने मुद्रित भाष्य की संख्या भी लगा दी है तथा जिन गाथाओं को हमने अपनी कसौटियों के आधार पर निर्युक्ति गाथा माना है, उनके सामने भी नि के आगे संख्या लगा दी है। इस क्रम से भाष्य की संख्या भी क्रमबद्ध रह गई तथा निर्युक्ति का पृथक् अस्तित्व भी हो गया। इस क्षेत्र में भविष्य में काम करने वाले शोधार्थियों से अपेक्षा है कि यदि उनके चिंतन में कोई नया चिंतन सामने आए अथवा निर्युक्ति की गाथा-संख्या में कुछ अंतर परिलक्षित हो तो कुछ नई दिशाओं का उद्घाटन हो सकेगा।

पाठ-संपादन की प्रक्रिया

शोध कार्यों में हस्तप्रतियों से पाठ-संपादन का कार्य महत्वपूर्ण होते हुए भी अत्यन्त जटिल, नीरस और श्रमसाध्य है। पाठ-निर्धारण का अर्थ इतना ही नहीं है कि प्राचीन प्रतियों के विभिन्न पाठों में एक पाठ को मुख्य मानकर अन्य पाठों को पाठान्तर के रूप में दे दिया जाए। पाठ-निर्धारण में अनेक दृष्टियों से सूक्ष्मता से विचार किया जाता है। पाश्चात्य विद्वानों ने पाठानुसंधान के कार्य को चार भागों में विभक्त किया है—१. सामग्री-संकलन २. पाठ-चयन ३. पाठ-सुधार ४. उच्चतर आलोचना। प्रस्तुत ग्रंथ के संपादन में चारों बातों का ध्यान रखा गया है। पाठ-संपादन में हमारे समक्ष निम्न आधार मुख्य रहे हैं—

- मुद्रित निशीथ भाष्य।
- उसकी हस्तलिखित प्रतियां।
- निशीथ चूर्ण।
- निशीथ भाष्य की अनेक गाथाएं, जो पिण्डनिर्युक्ति, व्यवहारभाष्य, जीतकल्पभाष्य और बृहत्कल्पभाष्य में मिलती हैं।

पाठ-सम्पादन एवं पाठ-चयन में हमने प्रायः प्रतियों के पाठ को प्रमुखता दी है, लेकिन किसी एक प्रति को ही पाठ-चयन का आधार नहीं बनाया है और न ही बहुमत के आधार पर पाठ का निश्चय किया है। अर्थ-मीमांसा का औचित्य, उस गाथा पर अन्य ग्रंथों की टीकाएं और पौर्वापर्य के आधार पर जो पाठ संगत लगा, उसे मूल पाठ के अन्तर्गत रखा है। पाठ-सम्पादन के कुछ मुख्य बिन्दुओं को यहां प्रस्तुत किया जा रहा है—

- कहीं-कहीं किसी प्रति में कोई शब्द, चरण या गाथा नहीं है, उसका पादटिप्पण में × के चिह्न से निर्देश कर दिया है। जहां पाठान्तर एक से अधिक शब्दों पर या एक चरण में है, उसे ' ' चिह्न से दर्शाया है।
- प्राचीनता की दृष्टि से जहां कहीं मूल व्यञ्जनयुक्त पाठ मिला, उसे मूल में स्वीकृत किया है, लेकिन पाठ

न मिलने पर यकार श्रुति वाले पाठ को भी स्वीकृत किया है। जैसे तित्थगर – तित्थयर। तकारश्रुति वाले पाठ को हमने प्राथमिकता नहीं दी है, जैसे—बितितो, कणतो, विणतो आदि।

- लिपिकार की भूल से जहां पाठभेद हुआ है, उन पाठान्तरों का प्रायः उल्लेख नहीं किया है, लेकिन जहां उस शब्द से अन्य अर्थ निकलने की संभावना थी, उन पाठान्तरों का उल्लेख किया गया है।
- पाश्चात्य विद्वान् ल्यूमन ने दशवैकालिक एवं एल्फसडोर्फ ने उत्तराध्ययन का छंद की दृष्टि से अनेक स्थलों पर पाठ-संशोधन एवं पाठ-विमर्श किया है। छंद तकनीक को उन्होंने उपकरण के रूप में काम लिया। जेकोबी ने छंद के आधार पर गाथा की प्राचीनता और अर्वाचीनता का निर्धारण किया है। उनके अनुसार आर्याछंद में निबद्ध गाथाएं बाद की तथा वेद छंदों में प्रयुक्त गाथाएं प्राचीन हैं। निशीथ निर्युक्ति एवं उनके भाष्य के सम्पादन में भी अनेक पाठ छंद के आधार पर निर्धारित किए हैं, जैसे मुद्रित भाष्य (३७१८) में 'वेदुक्कडयाए' पाठ है, लेकिन छंद की दृष्टि से 'वेदुक्कडाए' पाठ ठीक है (भा. ३८३९)। गाथा में यदि आर्या के अतिरिक्त छंद का प्रयोग हुआ है तो उसका पादटिप्पण में उल्लेख कर दिया गया है।
- अनेक स्थलों पर पादटिप्पण में हमने शब्द की विशेष व्याख्या के लिए चूर्ण का उद्धरण दिया है तथा कहीं-कहीं बृहत्कल्पभाष्य की टीका आदि के उद्धरण भी दिए हैं, जैसे 'गिरियज्ञ' की स्पष्ट व्याख्या निशीथ चूर्ण में नहीं मिलती। हमने उसकी परिभाषा बृभाटी से ली है—गिरियज्ञो नाम कोंकणादिदेशेषु साध्याहकालभावी प्रकरणविशेषः।

सन् १९८९ तक निशीथ भाष्य का केवल दो प्रतियों से सम्पादन किया था, लेकिन बाद में पाटण से दो प्रतियां और मिल गईं अतः उन प्रतियों से पाठ मिलाने से भी अनेक स्थलों पर जहां सही पाठ का निर्णय करने में कठिनाई हो रही थी, वहां सुगमता हो गई।

प्रति परिचय

बृहत्काय ग्रंथ होने के कारण निशीथभाष्य की ताड़पत्रीय प्रति नहीं मिली। अतः पन्द्रहवीं-सोलहवीं शती में लिखी गई कागज की हस्तप्रतियों के आधार पर ही पाठ-सम्पादन किया है। सम्पादन में प्रयुक्त हस्तप्रतियों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

(दे) यह प्रति देला का उपाश्रय अहमदाबाद से प्राप्त है। इसकी क्रमांक संख्या १०२८६ है। पत्र संख्या १५० है। प्रत्येक पत्र में लगभग १५ पंक्तियां हैं। प्रति साफ-सुथरी एवं स्पष्ट है। अक्षरों की लिखावट भी सुंदर है। प्रति के अंत में “इति निशीथभाष्यउद्देशकः विंशतितमः समाप्तः ॥ इति निशीथभाष्यं समाप्तं ॥” ग्रंथाग्र ८४००। शुभं भवतु। संवत् १४७१ वर्षे माघसुदि पंचमी तिथि शुक्रवारे लिखितं ॥

कल्याणमस्तु ॥ श्री ॥ का उल्लेख है। इसके बाद संस्कृत भाषा में २३ प्रशस्ति श्लोक हैं। पाठ-सम्पादन में यह प्रति अत्यन्त उपयोगी रही।

(पा) यह प्रति श्री हेमचन्द्राचार्य ज्ञानमंदिर पाटण से प्राप्त है। इसकी क्रमांक संख्या १४८७३ है। प्रति के प्रथम पृष्ठ पर समवसरण में विराजित भगवान् का सुंदर रंगीन चित्र है। इसमें १५५ पत्र हैं। १५५वां पत्र पीछे से खाली है। प्रत्येक पत्र में १५ पंक्तियां लिखी हुई हैं। यह भी साफ-सुथरी प्रति है। अंतिम पत्र फटा हुआ है। अक्षरों की लिखावट सुंदर और स्पष्ट है। इसके अंत में “इति निशीथभाष्यउद्देशकः विंशतितमः। निशीथभाष्यं समाप्तं।” प्रति का लेखन समय वि. सं. १५३८ है। इसके अंत में लगभग दो पेज में पत्तनदेशवासी भीमसिंह ने प्रशस्तिकाव्य लिखा है।

(भ) यह प्रति भंडारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट पूना से प्राप्त है। इसकी क्रमांक संख्या ११८८ है। इसमें पत्र संख्या १०५ हैं। यह जीर्ण-शीर्ण प्रति है। प्रत्येक पत्र में १७ लाईनें हैं। लम्बाई में यह अन्य प्रतियों से अधिक लम्बी है। इसके अक्षर साफ-सुथरे और स्पष्ट हैं। प्रति के अंत में नमो सुयदेवयाए भयवतीए ॥ निशीथभाष्यं समाप्तं ॥ ग्रंथाग्र ८४०० ॥ शुभं भवतु। संवत् १६५५ मिते। श्री शुभ तिथि-वेला-काले कार्तिक सुदि त्रयोदशी श्रीबुधवारवासरे लिखितं’ का उल्लेख है।

(क) यह प्रति ‘दे’ प्रति से साम्य रखती है। यह भी श्रीहेमन्द्राचार्य ज्ञानमंदिर पाटण से प्राप्त है। यह खंडित प्रति थी। इसमें पूरा निशीथ भाष्य नहीं था अतः कुछ अंशों का पाठ इससे मिलाया गया है।

(मु) अमरमुनि द्वारा सम्पादित निशीथ भाष्य के पाठान्तर।

(चू) प्रकाशित निशीथ चूर्ण के पाठान्तर।

कृतज्ञता-ज्ञापन

गणाधिपति गुरुदेव तुलसी ने महिलावर्ग को आगम-कार्य के साथ जोड़ा। उनके प्रति कृतज्ञता-ज्ञापित करने के लिए शब्दकोश के सारे शब्द बौने हैं। आचार्य महाप्रज्ञ ने साध्वी एवं समणी समाज को आगम-सम्पादन और उसके अनुवाद का मार्गदर्शन दिया, साध्वी समाज उनसे बहुत उपकृत है। आचार्य महाश्रमण की प्रेरणा, प्रोत्साहन, आशीर्वाद, प्रसन्नदृष्टि और शक्ति-संप्रेषण से ही यह गुरुतर कार्य सुगम और सम्पन्न हो सका है, इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है। उनका नाम ही हमारे लिए मंत्राक्षर है। आगम कार्य की सम्पन्नता का सारा श्रेय पूज्य चरणों में समर्पित है।

भाष्य-साहित्य में निशीथ भाष्य सबसे विशाल भाष्य है। आचार्य तुलसी की प्रबल इच्छा थी कि

निशीथ भाष्य उनके जीवनकाल में ही अच्छी तरह सम्पादित होकर विद्वानों के हाथों में पहुंचे, लेकिन उनकी यह इच्छा उनके परम्पर पट्टधर के समक्ष पूरी हो रही है।

महाश्रमणी साध्वीप्रमुखा कनकप्रभाजी का आशीर्वाद, निश्चल वात्सल्य और प्रेरणा सदैव कर्मरत रखकर प्रगतिपथ पर आगे बढ़ने के लिए प्रोत्साहित करती रहती है। भविष्य में भी उनका यह अनुग्रह मिलता रहे, यह आकांक्षा है। मुख्य नियोजिका साध्वी विश्रुतविभाजी ने आचार्य महाश्रमणजी के निर्देशानुसार भाष्य के सम्पूर्ण अनुवाद की वीक्षा करके अनुगृहीत किया। कार्य के प्रति उनका प्रमोदभाव उत्साह का संचार करने वाला है।

आगम मनीषी मुनिश्री दुलहराजजी ने निष्कामभाव से आगम कार्य में आगे बढ़ने के लिए साध्वियों और समणियों का मार्गदर्शन किया। अस्वास्थ्य के बावजूद उन्होंने इस भाष्य की गाथाओं के अनुवाद का निरीक्षण करके अनेक स्थलों पर सुझाव देकर मार्गदर्शन दिया। निर्युक्ति और भाष्य के पृथक्करण में भी उन्होंने अपने बहुमूल्य समय का नियोजन किया। आदरणीया नियोजिका समणी ऋजुप्रज्ञाजी का व्यवस्थागत सहयोग भी कार्य-सम्पूति में मूल्यार्ह रहा है। जैन विश्व भारती के अध्यक्ष धर्मचंदजी लूंकड आदि पदाधिकारियों के उदार सहयोग को भी विस्मृत नहीं किया जा सकता।

इस ग्रंथ के कम्पोजिंग में मोहन जाट तथा सेटिंग और करेक्शन में कुसुम सुराना का सहयोग भी स्मरणीय है। प्रीति बैद ने निशीथ भाष्य की हस्तलिखित प्रति से पाठान्तर लेने में सहयोग किया।

अन्ततः प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सभी के सहयोग को याद करना मात्र उपचार होगा। भविष्य में भी इसी प्रकार सबका सहयोग मिलता रहेगा। भावी श्रुत्रयात्रा के प्रति दृढ़ आस्था व्यक्त करते हुए संघ और संघपति के प्रति अंतहीन प्रणतियां.....।

प्रो. समणी कुसुमप्रज्ञा

सुवति य अजगरभूतो,
सुतं पि से णासती अमतभूतं ।
होहिति गोणब्भूतो,
सुतम्मि णट्टे अमतभूते ॥

ॐ जयसी जयभि जयतु जयम जयशा नमः
निशीथ भाष्य की विषय-सूची

१. आचारांग का परिचय ।
- २, ३. निशीथ के एकार्थक ।
४. आचार और अंग आदि के निक्षेपों का संकेत ।
५. आचार के चार निक्षेप ।
६. द्रव्य आचार का स्वरूप ।
७. भाव आचार के प्रकार ।
८. ज्ञानाचार के भेद ।
९. काल आचार का स्वरूप, अकाल में स्वाध्याय का प्रायश्चित्त ।
- १०, ११. स्वाध्याय आदि में काल और अकाल का महत्त्व ।
१२. अकाल में स्वाध्याय के उदाहरण ।
१३. ज्ञानविनय का स्वरूप एवं हरिकेश का दृष्टान्त ।
१४. बहुमान का स्वरूप एवं दृष्टान्त ।
१५. उपधान का स्वरूप एवं दृष्टान्त ।
१६. अनिह्वन का दृष्टान्त एवं प्रायश्चित्त ।
- १७, १८. व्यञ्जन का निरुक्त तथा उससे संबंधित प्रायश्चित्त ।
१९. अर्थ से संबंधित प्रायश्चित्त ।
- २०, २१. तदुभय के अन्यथाकरण के उदाहरण तथा प्रायश्चित्त ।
२२. अर्थ का महत्त्व तथा अर्थधारक का प्रामाण्य ।
२३. दर्शनाचार के आठ भेद ।
- २४, २५. शंका, कांक्षा और विचिकित्सा का स्वरूप एवं प्रायश्चित्त ।
२६. अमूढदृष्टि का स्वरूप ।

२७. उपबृंहण का स्वरूप।
२८. स्थिरीकरण का स्वरूप।
- २९, ३०. साधर्मिक वात्सल्य का वर्णन।
३१. प्रभावना का निरुक्त।
३२. अमूढदृष्टि आदि के दृष्टान्त।
३३. आठ प्रकार के प्रवचन-प्रभावक।
३४. दृष्टिमोह आदि के प्रायश्चित्त।
३५. अष्टविध चारित्राचार।
- ३६-३८. समिति और गुप्ति का स्वरूप एवं भेद।
३९. समिति और गुप्ति में अयतना होने पर दोष एवं प्रायश्चित्त।
- ४०, ४१. तप आचार का स्वरूप।
४२. वीर्याचार का स्वरूप।
- ४३-४५. ज्ञान आदि आचार में पराक्रम का निर्देश तथा ज्ञान का महत्त्व।
- ४६, ४७. वीर्य के प्रकार।
- ४८-५८. अग्र शब्द के निक्षेप एवं उनकी व्याख्या।
- ५९-६२. प्रकल्प शब्द के निक्षेप एवं उनकी व्याख्या।
- ६३-६६. चूला शब्द के निक्षेप एवं उनकी व्याख्या।
- ६७-६९. निशीथ शब्द के निक्षेप एवं उनकी व्याख्या।
७०. निशीथ का निरुक्त।
७१. निशीथ की संक्षिप्त विषय-वस्तु।
७२. प्रायश्चित्त का विधान किसके लिए?
७३. प्रतिसेवक, प्रतिसेवना और प्रतिसेव्य की प्ररूपणा का संकल्प।
७४. प्रतिसेवना के भेद।
७५. ज्ञानी और ज्ञान का अन्योन्य सम्बन्ध।

७६. प्रतिसेवक, प्रतिसेवना और प्रतिसेव्य का स्वरूप।
७७. पुरुष के भेद।
- ७८-८४. संहनन और धृति के आधार पर पुरुषों की चतुर्भगी।
८५. संहनन तथा धृति की प्राप्ति में कर्म का प्रभाव।
८६. चतुर्भगी के अंतिम भंग वाले पुरुष सर्वथा अयोग्य नहीं।
८७. स्त्री और नपुंसक कल्पस्थित नहीं हो सकते।
- ८८-९१. प्रतिसेवना के भेद-प्रभेद।
९२. प्रमत्त हिंसक तथा अप्रमत्त अहिंसक।
९३. प्रतिसेवना के क्रम के सम्बन्ध में विमर्श।
९४. दर्पिका और कल्पिका प्रतिसेवना का क्रम।
९५. प्रतिसेवना के दो प्रकार।
९६. अनाभोग प्रतिसेवना का स्वरूप।
९७. सहसाकरण प्रतिसेवना का स्वरूप।
९८. ईर्या समिति और सहसाकार।
९९. लिंग, लिंगी, कुलिंगी की परिभाषा।
- १००-०२. अप्रमत्त मुनि के द्वारा भी ईर्या आदि में सहसाकार प्रतिसेवना।
१०३. समित साधु के प्राणि-विराधना होने पर भी कर्मबंध नहीं।
१०४. प्रमाद के प्रकार तथा कषाय के निक्षेप।
- १०५-१६. कषाय प्रतिसेवना के ग्यारह प्रकार एवं उनके प्रायश्चित्त।
११७. षड्जीवनिकाय के संघट्टन आदि के प्रायश्चित्त।
- ११८-३०. विकथा की व्याख्या एवं उनके प्रायश्चित्त।
१३१. मद्यप्रमाद का प्रायश्चित्त एवं उसके दोष।
१३२. इन्द्रिय प्रतिसेवना के प्रायश्चित्त।
१३३. निद्रा के प्रकार एवं उनका स्वरूप।

१३४. निद्रा प्रतिसेवना के प्रायश्चित्त ।
- १३५-४०. स्त्यानद्धि निद्रा के पाँच उदाहरण ।
१४१. स्त्यानद्धि निद्रा वाले का बल ।
१४२. स्त्यानद्धि निद्रा वाले का लिंग-हरण ।
१४३. दर्प और कल्प प्रतिसेवना के स्वस्थान की अपेक्षा भेद ।
१४४. प्रतिसेवना के भेद-प्रभेद ।
१४५. पृथ्वीकाय आदि की प्रतिसेवना में स्वस्थान प्रायश्चित्त ।
- १४६-६१. पृथ्वीकाय की दर्पिका प्रतिसेवना के दस भेद एवं उनके विशेष प्रायश्चित्त ।
- १६२-७६. पृथ्वीकाय की कल्पिका प्रतिसेवना के नव द्वार एवं उनकी व्याख्या ।
- १७७-८७. अप्काय की दर्पिका प्रतिसेवना के दस द्वार एवं उनके प्रायश्चित्त ।
- १८८-२०४. अप्काय की कल्पिका प्रतिसेवना के नौ द्वार एवं उनकी व्याख्या ।
- २०५-१९. तेजस्काय की दर्पिका प्रतिसेवना के नौ द्वार एवं उनकी व्याख्या ।
- २२०-३४. तेजस्काय की कल्पिका प्रतिसेवना के द्वार एवं उनकी व्याख्या ।
- २३५-४३. वायुकाय की दर्पिका प्रतिसेवना, उसके बीस भेद एवं प्रायश्चित्त ।
- २४४-४७. वायुकाय की कल्पिका प्रतिसेवना के द्वार एवं उनकी व्याख्या ।
- २४८-५२. वनस्पतिकाय की दर्पिका प्रतिसेवना एवं उनके प्रायश्चित्त ।
- २५३-५७. वनस्पतिकाय की कल्पिका प्रतिसेवना के द्वार एवं उनकी व्याख्या ।
- २५८-८९. त्रसकाय की दर्पिका प्रतिसेवना के द्वार एवं उनकी व्याख्या ।
२९०. मृषावाद के प्रकार एवं उसके निक्षेप ।
२९१. द्रव्य आदि मृषावाद का वर्णन ।
- २९२-९६. भाव मृषावाद में क्रोध, मान आदि के उदाहरण ।
२९७. लोकोत्तर भाव मृषावाद के भेद ।
- २९८-१६. लोकोत्तर सूक्ष्म मृषावाद के उदाहरण एवं उनके प्रायश्चित्त ।
३१७. सूक्ष्म एवं बादर मृषावाद के लक्षण ।

- ३१८, ३१९. बादर मृषावाद का स्पष्टीकरण।
३२०. मृषावाद संबंधी प्रायश्चित्त।
- ३२१-२३. मृषावाद संबंधी कल्पिका प्रतिसेवना के द्वार एवं उनकी व्याख्या।
३२४. अदत्तादान के भेद एवं उनके निक्षेप।
- ३२५-२७. द्रव्य अदत्तादान आदि की व्याख्या।
- ३२८, ३२९. क्रोध आदि कषाय के द्वारा होने वाला अदत्तादान।
३३०. लोकोत्तर स्तैन्य के भेद।
- ३३१-४१. लोकोत्तर स्तैन्य संबंधी विविध द्वार, उनकी व्याख्या एवं तत्संबंधी प्रायश्चित्त।
- ३४२-५१. अदत्तादान संबंधी कल्पिका प्रतिसेवना के द्वार एवं उनकी व्याख्या।
३५२. मैथुन के भेद एवं उसके निक्षेप।
- ३५३-५९. द्रव्य मैथुन आदि की व्याख्या।
३६०. मैथुन सम्बन्धी अठारह भेदों का प्रायश्चित्त।
३६१. दिव्य आदि मैथुन के भेद-प्रभेद।
३६२. मैथुन सेवन के प्रकार।
३६३. दर्पिका और कल्पिका प्रतिसेवना में अंतर।
३६४. मैथुन-सेवन में अपवाद नहीं।
३६५. प्रायश्चित्त में हानि-वृद्धि का कारण।
३६६. गीतार्थ यतनापूर्वक दोष सेवन करने पर भी शुद्ध।
३६७. यतनापूर्वक प्रतिसेवना में अल्पतर प्रायश्चित्त।
- ३६८-७१. राजाभियोग से अब्रह्म की परिस्थिति : मानसिक स्थितियां एवं उसके प्रायश्चित्त।
- ३७२-७५. दुर्भिक्ष में मैथुन सम्बन्धी अपवाद एवं प्रायश्चित्त।
३७६. मैथुन की इच्छा उत्पन्न होने के तीन कारण।
- ३७७-७९. परिग्रह के भेद एवं उसके निक्षेपों की व्याख्या।
- ३८०-८५. लोकोत्तर परिग्रह के भेद, उनकी व्याख्या एवं तत्संबंधी प्रायश्चित्त।

३८६. क्षेत्र-परिग्रह की व्याख्या एवं प्रायश्चित्त ।
३८७. काल-परिग्रह की व्याख्या एवं प्रायश्चित्त ।
- ३८८-९०. भावपरिग्रह की व्याख्या एवं प्रायश्चित्त ।
- ३९१-९१. परिग्रह संबंधी कल्पिका प्रतिसेवना के द्वार एवं उनकी व्याख्या ।
४१२. रात्रिभोजन संबंधी दर्पिका प्रतिसेवना ।
- ४१३-१८. रात्रिभोजन के दोष ।
- ४१९-५५. रात्रिभोजन कल्पिका प्रतिसेवना के द्वार एवं उनकी व्याख्या ।
- ४५६, ४५७. पिण्ड आदि की अष्टविध निर्युक्ति ।
- ४५८, ४५९. कल्पिका प्रतिसेवना के कारण ।
४६०. अनुज्ञात होने पर भी कल्पिका प्रतिसेवना का प्रयोग न करने पर आज्ञाभंग नहीं ।
- ४६१, ४६२. कल्पिका प्रतिसेवना के स्थान ।
- ४६३-७६. दर्पिका प्रतिसेवना के दस भेद एवं उनकी व्याख्या ।
- ४७७-८३. मिश्र प्रतिसेवना के दस भेद एवं उनकी व्याख्या ।
- ४८४-९२. कल्पिका प्रतिसेवना के चौबीस भेद एवं उनकी व्याख्या ।
४९३. आगाढ कारण में प्रतिसेवना करने पर भी शुद्ध ।
- ४९४, ४९५. पीठिका की वाचना के अयोग्य कौन ?
४९६. अयोग्य को वाचना देने पर दुर्लभबोधित्व ।
४९७. हस्तकर्म का निरुक्त ।
४९८. भिक्षु शब्द का निक्षेप ।
४९९. हस्त शब्द का निक्षेप ।
५००. कर्म शब्द के निक्षेप ।
५०१. हस्तकर्म के दो भेद ।
- ५०२-१३. छेदन-भेदन आदि असंक्लिष्ट हस्तकर्म और उनका प्रायश्चित्त ।
५१४. संक्लिष्ट हस्तकर्म के द्विविध भेद ।

- ५१५, ५१६. सनिमित्त हस्तकर्म उत्पत्ति के तीन कारण एवं उनकी व्याख्या ।
- ५१७-३२. शब्द से कामोत्पत्ति एवं उसकी व्याख्या ।
- ५३३, ५३४. रूप-प्रतिबद्ध शय्या में कामोत्पत्ति ।
- ५३५, ५३६. शब्द-प्रतिबद्ध शय्या के दोष ।
- ५३७-४३. भावप्रतिबद्ध शय्या के दोष एवं शय्या सम्बन्धी अपवाद ।
५४४. स्त्रियों के प्रकार ।
५४५. भावप्रतिबद्ध शय्या की यतना ।
- ५४६-४९. शब्दप्रतिबद्ध शय्या की यतना ।
- ५५०-६४. उपाश्रय के प्रकार एवं यतना ।
- ५६५-६७. विषयोत्पादक शब्द-श्रवण विषयक यतना ।
५६८. काम-क्रिया देखने से मोहोत्पत्ति ।
५६९. भुक्त-भोग की स्मृति से कामोत्पत्ति ।
५७०. दृष्टि-दोष से उत्पन्न मोह में यतना ।
५७१. कर्मोदय से होने वाली कामोत्पत्ति ।
५७२. प्रणीत आहार से कामोत्पत्ति ।
५७३. उपचित शरीर से कामोत्पत्ति ।
५७४. मोहोदय होने पर की जाने वाली यतना ।
- ५७५-७७. यतना करने पर भी उपशमित नहीं होने का दृष्टान्त एवं उपनय ।
- ५७८-९१. हस्तकर्म करने एवं करवाने पर प्राप्त विविध प्रायश्चित्त ।
५९२. अंगादान का स्वरूप ।
५९३. शरीर के आठ अंगों के नाम ।
५९४. उपांगों के नाम ।
- ५९५-६००. अंगादान का संचालन, संबाधन आदि सात पद, उनके दृष्टान्त एवं अपवाद ।
६०१. अचित्त स्रोत के प्रकार ।

६०२. द्विविध अचित्त-देह ।
 ६०३. त्रिविध प्रतिमा ।
 ६०४. युग-नालिका आदि इतर स्रोत ।
 ६०५. शुक्र विसर्जित करने पर प्रायश्चित्त ।
 ६०६, ६०७. अचित्त स्रोत में अंगादान प्रविष्ट करने पर प्रायश्चित्त ।
 ६०८, ६०९. अन्यतर स्रोत में प्रविष्ट करने पर दोष ।
 ६१०-१३. अपवादपद एवं उसकी व्याख्या ।
 ६१४-१६. सचित्त प्रतिष्ठित गंध के प्रकार एवं उनको सूंघने के दोष ।
 ६१७, ६१८. सूंघने के अपवाद एवं विधि ।
 ६१९-२४. सोपान-मार्ग विषयक दोष ।
 ६२५-२९. सोपान-मार्ग या सेतु विषयक अपवाद ।
 ६३०-३२. दकवीणिका के प्रकार एवं उनकी व्याख्या ।
 ६३३. गृहस्थ से नाली बनवाने में दोष ।
 ६३४. दकवीणिका के एकार्थक तथा उसका निरुक्त ।
 ६३५. नाली बनवाने के दोष ।
 ६३६. नाली बनाने के अपवाद ।
 ६३७-३९. गृहस्थ से नाली बनवाने के अपवाद ।
 ६४०. छींका के भेद ।
 ६४१. स्थावर निष्पन्न छींके के भेद ।
 ६४२. छींका करवाने के दोष ।
 ६४३-४५. कारण उपस्थित होने पर छींका बनवाने के अपवाद ।
 ६४६. छींके के ढक्कन के प्रकार ।
 ६४७-५१. छींका बनाने का अपवाद ।
 ६५२. चिलिमिली के प्रकार ।

६५३. सूत्रमयी चिलिमिली का प्रमाण ।
६५४. रज्जुमयी चिलिमिली का प्रमाण ।
६५५. दंडमयी चिलिमिली का प्रमाण ।
- ६५६-५९. चिलिमिली रखने के प्रयोजन ।
६६०. पूर्वकृत चिलिमिली न मिलने पर स्वयं बनाने का विधान ।
- ६६१, ६६२. दूसरों से चिलिमिली बनवाने के अपवाद ।
६६३. सूई आदि का उत्तरकरण करवाने के दोष ।
६६४. बिना लोहे की सूई आदि रखने का विधान ।
६६५. उत्तरकरण की व्याख्या ।
६६६. निष्प्रतिकर्म सूई की याचना ।
- ६६७, ६६८. सूई आदि के उत्तरकरण का अपवाद ।
- ६६९-७१. बिना प्रयोजन प्रातिहारिक सूई रखने के दोष एवं प्रायश्चित्त ।
- ६७२, ६७३. वस्त्र सीने के लिए लाई सूई से पात्र सीने में दोष ।
- ६७४, ६७५. स्वयं के लिए सिलाई हेतु लाई गई सूई दूसरे को देने पर दोष ।
६७६. अविधिपूर्वक सूई देने के दोष ।
- ६७७-७९. सूई लेने की विधि एवं अपवादपद ।
- ६८०-९३. कैची, नखकर्तनी आदि के उपयोग, पुनः देने का विवेक तथा अपवादपद ।
६९४. पात्र के त्रिविध भेद ।
६९५. परिकर्म की दृष्टि से उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य पात्र ।
६९६. सपरिकर्म और अल्पपरिकर्म की व्याख्या ।
- ६९७-७०१/२. यथाकृत पात्र का स्वरूप एवं प्रमाण ।
७०२. सुलक्षण पात्र के गुण ।
- ७०३-०७. पात्र का परिघट्टन आदि गृहस्थ से करवाने के दोष एवं अपवाद पद ।
७०८. दंड, विदंड, यष्टि आदि के त्रिविध भेद ।

७०९. दंड आदि का प्रमाण ।
- ७१०, ७११. दंड आदि के त्रिविध भेदों की व्याख्या ।
७१२. यष्टि आदि रखने के प्रयोजन ।
- ७१३-१८. यष्टि आदि का परिकर्म करवाने के दोष तथा उसके अपवादपद ।
७१९. पादलेखनिका का प्रमाण ।
७२०. पादलेखनिका के त्रिविधभेद ।
७२१. सपरिकर्म और अपरिकर्म पादलेखनिका ।
७२२. यथाकृत पादलेखनिका का स्वरूप ।
- ७२३-२६. पादलेखनिका का परिकर्म करने तथा करवाने के दोष एवं अपवाद ।
- ७२७-२९. सूई के भेद, उसका प्रमाण एवं प्रयोजन ।
७३०. यथाकृत सूई का स्वरूप
- ७३१-३४. सूई बनवाने के दोष तथा अपवाद ।
७३५. पात्र के संधान की दो विधियाँ ।
- ७३६-४५. पात्र-संधान के दोष तथा अपवाद ।
७४६. पात्र के विधिपूर्वक और अविधिपूर्वक ।
७४७. स्वस्तिक बंध के दो प्रकार ।
- ७४८-६३. अविधि से पात्र पर बंध लगाने पर दोष तथा अपवाद ।
- ७६४, ७६५. अपलक्षण बंध अथवा एक से अधिक पात्र-बंध करने के दोष ।
- ७६६-६९. अपलक्षण पात्र के दोष एवं उनके प्रभाव ।
७७२. मार्गणा करने पर भी लक्षणयुक्त पात्र न मिलने पर विधि ।
- ७७३-७६. वस्त्र के जांगिक आदि पांच भेद एवं उनकी व्याख्या ।
७७७. वस्त्र ग्रहण की विधि ।
- ७७८, ७७९. वस्त्र-परिभोग की विधि तथा अविधि का प्रायश्चित्त ।
७८०. क्षौमवस्त्र को ऊपर न पहनने का कारण ।

७८१. बहुपरिकर्म वस्त्र की पहचान ।
७८२. अल्पपरिकर्म वस्त्र की पहचान ।
७८३. यथाकृत वस्त्र की पहचान ।
७८४. एक वस्त्र में पैबंद लगाने के दो प्रकार ।
- ७८५-७८९. पैबंद लगाने के दोष एवं अपवादपद ।
७९०. तीन से अधिक पैबंद लगाने पर आज्ञा-भंग आदि दोष ।
- ७९१-७९४. पैबंद लगाने के अपवाद पद ।
७९५. पंचविध वस्त्र की द्विविध सिलाई ।
७९६. अविधिपूर्वक सिलाई के सात तथा विधिपूर्वक सिलाई के दो भेद ।
- ७९७-८०१. अविधि से वस्त्र सीने से दोष तथा उसके अपवाद ।
८०२. पंचविध वस्त्र में गांठ लगाने के दोष ।
- ८०३, ८०४. वस्त्र ग्रहण की विधि एवं उसके अपवाद ।
- ८०५-०९. तीन से अधिक पैबंद लगाने पर आज्ञा-भंग आदि दोष तथा उसके अपवाद ।
- ८१३, ८१४. अपलक्षण वस्त्र के दोष ।
८१५. लक्षणरहित उपधि से ज्ञान, दर्शन और चारित्र का हनन ।
८१६. लक्षणहीन तीन वस्त्र ग्रहण करने पर अन्य वस्त्र की मार्गणा करने का विधान ।
- ८१७, ८१८. यथाकृत, अल्प परिकर्म आदि वस्त्र की काल विषयक मार्गणा ।
- ८१९-२४. चिकित्सा के निमित्त गृहधूम को गृहस्थ से उतरवाने के दोष एवं उसके अपवाद ।
८२५. पूतिकर्म के प्रकार ।
८२६. सूक्ष्मपूति का स्वरूप ।
- ८२७-३२. बादरपूति के प्रकार एवं उनकी व्याख्या ।
- ८३३-३६. पूतिदोष के अपवाद ।
- ८३७-३९. प्रथम और द्वितीय उद्देशक की सम्बन्ध-गाथा ।
- ८४०-४७. पादप्रोज्छन के भेद-प्रभेद एवं उनकी व्याख्या ।

- ८४८-५०. दारुदण्डयुक्त पादप्रोज्छन रखने के दोष ।
८५१. पादप्रोज्छन का प्रमाण ।
८५२. दारुदण्डयुक्त पादप्रोज्छन स्वयं करने के दोष तथा उसके अपवाद ।
८५३. काष्ठदण्ड युक्त पादप्रोज्छन ग्रहण करने के अपवाद ।
- ८५४, ८५५. पूर्वकृत पादप्रोज्छन न मिलने पर स्वयं बनाना अनुज्ञात ।
- ८५६-८५८. काष्ठदण्ड युक्त पादप्रोज्छन धारण, वितरण आदि में समान विधि ।
- ८५९-६५. काष्ठदण्ड युक्त पादप्रोज्छन के दोष एवं गवेषणा आदि की विधि ।
८६६. पादप्रोज्छन को सुखाने के दोष ।
- ८६७-७१. पादप्रोज्छन सुखाने के अपवाद, गीले होने के कारण एवं गीले हो जाने पर सुखाने में यतना ।
- ८७२-७५. अचित्त गंध सूंघने के दोष एवं तत्संबंधी अपवाद ।
- ८७६-८१. पदमार्ग, संक्रम आदि के प्रकार एवं स्वयं उनके निर्माण के दोष ।
- ८८२, ८८३. पदमार्ग आदि बनाने वाले साधु की अर्हता एवं उनकी उत्तरकालीन विधि ।
- ८८४-९०. पानी की नाली के निर्माण सम्बन्धी विधि, दोष एवं अपवाद ।
- ८९१-९७. छींके के प्रकार, निर्माण के दोष, अपवाद एवं बनाने की विधि ।
८९८. वस्त्र-दशा का परिकर्म ।
- ८९९-९०१. चिलिमिली के प्रकार, प्रयोजन एवं स्वयं निर्माण सम्बन्धी विधि ।
- ९०२-९०५. सूई, कैंची आदि के स्वयं परिष्कार सम्बन्धी दोष एवं अपवाद ।
- ९०६-१२. लघुस्वक कठोर वचन के निरुक्त तथा उनकी व्याख्या ।
९१३. क्षेत्रसंबंधी परुष वचन की व्याख्या ।
- ९१४, ९१५. कालसंबंधी परुष वचन की व्याख्या एवं उसका प्रायश्चित्त ।
९१६. भाव लघुस्वक कठोर वचन की व्याख्या ।
- ९१७-२६. कठोर वचन उत्पत्ति के पाँच स्थान, उनकी व्याख्या तथा तत्संबंधी प्रायश्चित्त ।
९२७. लघुस्वक कठोर वचन बोलने के दोष ।

१२८. कठोर वचन बोलने के अपवाद।
१२९. लघुस्वक मृषा के भेद।
- १३०-३२. द्रव्यसंबंधी लघुस्वक मृषा की व्याख्या।
१३३. क्षेत्रसंबंधी लघुस्वक मृषा की व्याख्या।
- १३४, १३५. कालसंबंधी लघुस्वक मृषा की व्याख्या।
- १३६, १३७. भावसंबंधी लघुस्वक मृषा की व्याख्या।
१३८. लघुस्वक मृषावाद के दोष।
१३९. लघुस्वक मृषावाद के अपवाद।
- १४०-४२. लघुस्वक अदत्त के भेद तथा उनकी व्याख्या।
१४३. लघुस्वक अदत्त ग्रहण करने के दोष।
- १४४-४८. लघुस्वक अदत्त को ग्रहण करने के अपवाद।
१४९. उत्क्षालन के भेद-प्रभेद।
- १५०-५३. आचीर्ण और अनाचीर्ण उच्छोलना स्नान।
- १५४-६४. उत्क्षालन के विविध सांयोगिक विकल्प और उनका प्रायश्चित्त।
१६५. स्नान के दोष।
१६६. स्नान के अपवाद।
- १६७-७०. चर्म के चार भेद एवं उनकी व्याख्या।
- १७१-७६. खल्लक आदि चर्ममय जूते रखने के प्रायश्चित्त।
१७७. सकल कृत्स्न चर्म को ग्रहण करने के दोष।
- १७८-८३. कृत्स्न चर्म रखने के छह दोष एवं उनकी व्याख्या।
- १८४-८८. कृत्स्न चर्म रखने के अपवाद एवं उनकी व्याख्या।
१८९. वर्ण-कृत्स्न चर्म को ग्रहण करने का क्रम।
- १९०-९२. सकल, प्रमाण, बंध आदि कृत्स्न ग्रहण करने की विधि।
१९३. कृत्स्न चर्म से संबंधित प्रायश्चित्त।

- १९४-१९. अठारह खण्डों वाले चर्मग्रहण विषयक आक्षेप और समाधान ।
१०००. अनेक खंडों वाले चर्म को ग्रहण करने के दोष ।
१००१. चर्म के बंधन, दोष एवं प्रायश्चित्त ।
१००२. कृत्स्नवस्त्र के द्रव्य आदि चार भेद ।
१००३. सकलकृत्स्न वस्त्र की व्याख्या ।
१००४. प्रमाणकृत्स्न वस्त्र की व्याख्या ।
१००५. क्षेत्रकृत्स्न वस्त्र की व्याख्या ।
१००६. कालकृत्स्न वस्त्र की व्याख्या ।
१००७. भावकृत्स्न वस्त्र के भेद-प्रभेद ।
- १००८-१०. द्रव्यकृत्स्न वस्त्र आदि के प्रायश्चित्त ।
१०११. मूल्यकृत्स्न वस्त्र के प्रकार ।
- १०१२, १०१३. क्षेत्र के आधार पर मूल्य ।
- १०१४-१९. वस्त्र के मूल्य के आधार पर प्रायश्चित्त ।
- १०२०-२२. द्रव्य और भाववस्त्र में भेद ।
१०२३. सूत्र का सम्बन्ध कौन से कृत्स्न से ।
- १०२४-२७. सकलकृत्स्न एवं प्रमाणकृत्स्न वस्त्र रखने के दोष ।
१०२८. कृत्स्न वस्त्र रखने के अपवाद ।
१०२९. पात्र के विविध भेद ।
१०३०. परिकर्म की दृष्टि से उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य पात्र ।
१०३१. सपरिकर्म और अल्पपरिकर्म पात्र की व्याख्या ।
- १०३२-३६. यथाकृत पात्र का स्वरूप एवं प्रमाण ।
१०३७. अच्छे पात्र के गुण ।
- १०३८-४२. पात्र के परिघट्टन आदि स्वयं करने के दोष एवं उसके अपवाद ।
१०४३. दंड-विदंड यष्टि आदि के भेद ।

१०४४. दंड आदि का प्रमाण ।
१०४५. सपरिकर्म और अल्पपरिकर्म दण्ड की व्याख्या ।
१०४६. प्रमाणयुक्त तथा यथाकृत यष्टि आदि का स्वरूप ।
१०४७. यष्टि आदि रखने के प्रयोजन ।
- १०४८-५२. स्वयं यष्टि आदि का परिकर्म करने के दोष तथा उसके अपवाद ।
- १०५३-५८. पादलेखनिका का स्वरूप, परिमाण एवं प्रकार ।
- १०५९-६१. पादलेखनिका के परिष्कार के दोष एवं अपवाद ।
- १०६२-६४. सूई के भेद, उसका प्रमाण एवं प्रयोजन ।
१०६५. यथाकृत और प्रमाणयुक्त सूई का स्वरूप ।
- १०६६-६९. स्वयं सूई के उत्तरकरण करने के दोष एवं उसके अपवाद ।
- १०७०, १०७१. स्वजन के प्रकार ।
- १०७२-७७. स्वजन के द्वारा पात्र-गवेषणा के दोष एवं अपवाद ।
- १०७८, १०७९. स्वजन द्वारा पात्र-गवेषणा की विधि ।
- १०८०-८८. अन्यजन द्वारा पात्र-गवेषणा के दोष, अपवाद एवं गवेषणा-विधि ।
१०८९. वर शब्द की अर्थमीमांसा ।
- १०९०-९५. अर्चित द्वारा गवेषित पात्र-धारण के दोष एवं उसके अपवाद ।
१०९६. बलवान् कौन ?
- १०९७-११०२. बलवान् द्वारा गवेषित पात्र को धारण करने के दोष एवं उसके अपवाद ।
११०३. 'लवगवेषित' पद की व्याख्या ।
११०४. दानफल के प्रकार ।
११०५. लोकोत्तरिक दानफल ।
११०६. साधु से प्रीति करने वाले पुरुष का महत्त्व ।
- ११०७-१२. लवगवेषित पात्र ग्रहण करने के दोष एवं अपवाद ।
- १११३-२१.. नित्याग्र पिण्ड का स्वरूप एवं उसके प्रकार ।

- ११२२-२४. नित्याग्र पिण्ड-ग्रहण के दोष एवं तत्संबंधी अन्य विधियां।
११२५. नित्यवास के द्रव्य, क्षेत्र आदि चार प्रकार।
- ११२६, ११२७. द्रव्य और क्षेत्र नित्यवास की चतुर्भंगी।
- ११२८, ११२९. द्रव्यनित्यवास का स्वरूप।
१०३०. क्षेत्रनित्यवास का स्वरूप।
११३१. कालनित्यवास का स्वरूप।
- ११३२, ११३३. भावनित्यवास का स्वरूप।
- ११३४-३९. नित्यवास से संबंधित प्रायश्चित्त एवं उसके अपवाद।
- ११४०-५४. संस्तव के भेद-प्रभेद।
- ११५५-५७. भावसंस्तव का स्वरूप।
- ११५८-६०. स्वजनसंस्तव के दोष।
- ११६१, ११६२. वचनसंस्तव का स्वरूप।
- ११६३, ११६४. पश्चात्संस्तव का स्वरूप।
११६५. संस्तव का प्रायश्चित्त।
- ११६६, ११६७. संस्तव के अपवाद।
११६८. निर्ग्रन्थों के समान निर्ग्रन्थी की वक्तव्यता।
११६९. समाण, वसमाण, दूइज्जमाण कौन ?
- ११७०-७५. निष्कारण ग्रामानुगाम परिव्रजन और उसके दोष।
- ११७६-८१. परिव्रजन के कारण।
- ११८२, ११८३. सकारण परिव्रजन अनुज्ञात।
- ११८४-८७. परिव्रजन से संस्तव।
- ११८८-९१. अकाल भिक्षार्थ प्रवेश के दोष
११९२. अकाल भिक्षार्थ प्रवेश में यतना।
११९३. अकाल भिक्षार्थ प्रवेश के अपवाद।

११९४. अकाल भिक्षार्थ प्रवेश की विधि ।
- ११९५-०४. अन्यतीर्थिक आदि के साथ भिक्षार्थ प्रवेश का निषेध, दोष एवं अपवाद ।
- १२०५-१०. अन्यतीर्थिक आदि के साथ शौच आदि के लिए निषेध, दोष, यतना एवं अपवाद ।
- १२११-१८. अन्यतीर्थिक आदि के साथ विहार का निषेध, दोष, एवं अपवाद ।
- १२१९-२२. कसैला जल और उसके परिष्ठापन के दोष ।
- १२२३, १२२४. अच्छे जल का उपयोग ।
- १२२५, १२२६. कसैले जल को परिष्ठापन के कारण ।
- १२२७, १२२८. मनोज्ञ, अमनोज्ञ भोजन का स्वरूप ।
- १२२९-३३. मनोज्ञ भोजन परिष्ठापन के दोष ।
१२३४. अमनोज्ञ-मनोज्ञ आहार में समता ।
- १२३५, १२३६. आहार-परिष्ठापन के अपवाद ।
१२३७. मनोज्ञ आहार क्या ?
- १२३८-४६. आहार अधिक होने के कारण एवं उसको परिष्ठापित करने के दोष ।
- १२४७-५२. सांभोजिक साधुओं को आमन्त्रित करने के लाभ, न करने के दोष और अपवाद ।
- १२५३, १२५४. शय्यातर सम्बन्धी द्वारगाथाएं ।
- १२५५-५८. शय्यातर और उसके एकार्थक नाम की व्याख्या ।
- १२५९-६५. शय्यातर कौन और कब ?
- १२६६-६९. शय्यातर पिण्ड की विस्तृत व्याख्या ।
- १२७०-७२. शय्यातर कब नहीं ?
१२७३. किसका शय्यातर परिहार्य ?
- १२७४-८३. शय्यातरपिण्ड के दोष ।
- १२८४-८८. शय्यातरपिण्ड ग्रहण के अपवाद ।
१२८९. शय्यातरपिण्ड ग्रहण में यतना ।
- १२९०-९२. अनेक शय्यातर विषक-विधि ।

- १२९३-९८. शय्यातर-अनुज्ञा किससे ?
- १२९९-१३१९. शय्यातरपिण्ड ग्रहण विषयक विकल्प ।
- १३२०-२४. शय्यातर को पूछे बिना तथा गवेषणा किए बिना भिक्षार्थ जाने के दोष और अपवाद ।
- १३२५-३१. शय्यातरनिश्रा से आहार-ग्रहण का निषेध, दोष और उसके अपवाद ।
- १३३२-३५. शय्या-संस्तारक और उनके भेद ।
- १३३६-३९. ऋतुबद्ध काल में शय्या-संस्तारक ग्रहण के दोष और सूत्रविधान के हेतु ।
- १३४०-४४. ऋतुबद्धकाल में शय्या-संस्तारक ग्रहण करने के कारण ।
- १३४५-५२. शय्या-संस्तारक-ग्रहणविषयक विधियां, कहां, कब ?
- १३५३-५८. शय्या-संस्तारक को कालातिक्रम कर रखने का निषेध, दोष, अपवाद और एतद्विषयक यतना ।
- १३५९, १३६०. वर्षावास में शय्यासंस्तारक की अनिवार्यता ।
- १३६१-१३९०. शय्या-संस्तारक सम्बन्धी द्वार गाथाओं की व्याख्या ।
- १३९१-९५. शय्या-संस्तारक का परिभोग, प्रतिलेखन, कालातिक्रमण के दोष और उसके अपवाद ।
- १३९६-१४०१. वर्षा में भीगते हुए शय्या-संस्तारक सम्बन्धी विधि, दोष एवं अपवाद ।
- १४०२-१३. बिना अनुमति शय्या-संस्तारक के स्थानान्तरण का निषेध, अविधि के दोष, दन्तपुर का दृष्टान्त एवं अपवाद ।
- १४१४-१९. शय्या-संस्तारक प्रत्यर्पित किए बिना विहार के दोष ।
- १४२०, १४२१. संस्तारक ग्रहण एवं प्रत्यर्पण की विधि ।
- १४२२-२४. प्रत्यर्पण-विधि के अपवाद ।
- १४२५-२८. शय्या-संस्तारक के अतिक्रमण के दोष, एतद्विषयक विधि एवं अपवाद ।
- १४२९, १४३०. शय्या-संस्तारक खोने का प्रायश्चित्त ।
- १४३१-४०. शून्य वसति के दोष ।
- १४४१-५४. बाल, ग्लान अथवा अव्यक्त वसतिपाल के दोष ।
- १४५५-६८. वसतिपाल का स्वरूप एवं वसति-सुरक्षा के उपाय ।

- १४६९-९९. शय्या-संस्तारक खोने के कारण एवं खोजने की विधियां ।
- १५००, १५०१. खोए हुए शय्या-संस्तारक को न खोजने के कारण ।
- १५०२-३६. उपधि के प्रकार, गणनाप्रमाण एवं जघन्य आदि भेद ।
- १५३७-४३. प्रतिलेखना, प्रस्फोटना और प्रमार्जना विषयक विधि ।
- १५४४-४७. प्रतिलेखना काल ।
- १५४८-५०. प्रतिलेखना के दोष एवं उसके प्रायश्चित्त ।
- १५५१, १५५२. निर्दोष प्रतिलेखना के गुण ।
१५५३. हीनातिरिक्त प्रतिलेखना की व्याख्या ।
- १५५४-५७. उत्क्रम से अथवा प्रतिलेखना न करने पर प्रायश्चित्त ।
१५५८. द्वितीय और तृतीय उद्देशक की सम्बन्ध गाथा ।
१५५९. धर्मशाला आदि में अशन आदि अवभाषण के दोष ।
१५६०. आगन्त्रागार आदि का निरुक्त ।
- १५६१-६७. अस्थान में आहार अवभाषण के दोष, उसके अपवाद एवं यतना ।
१५६८. एकत्व-बहुत्व में समान विधि ।
- १५६९-७७. कुतूहल से समागत लोगों से अस्थान में अशन आदि के अवभाषण के दोष, एतद्विषयक अपवाद एवं यतना ।
- १५७८-८४. अनुवर्तन आदि की व्याख्या, एक बार प्रतिषिद्ध आहार आदि को पुनः ग्रहण करने के दोष, अपवाद एवं यतना ।
- १५८५-८७. प्रतिषिद्ध कुल में प्रवेश करने पर आज्ञाभंग आदि दोष ।
- १५८८-९०. प्रतिषिद्ध कुल में प्रवेश के अपवाद ।
१५९१. संखडी के दो प्रकार ।
- १५९२-९७. अनाचीर्ण संखडी के चार प्रकार एवं उनके प्रायश्चित्त ।
- १५९८-१६०२. संखडी-प्रलोकना के दोष आदि अपवाद एवं यतना ।
- १६०३-१०. आहृत आदि के विविध प्रकार, दोष एवं अपवाद ।
- १६११-१४. पादप्रमार्जन के प्रकार, दोष एवं अपवाद ।
- १६१५-२०. पैरों के संबाधन, प्रधावन आदि के दोष एवं अपवाद ।

- १६२१-२४. व्रणचिकित्सा, विधि, निषेध और अपवाद।
- १६२५-२९. गण्डमाला, फुंसी आदि के आच्छेदन आदि के विषय में दोष एवं उसके अपवाद।
- १६३०-३३. पायुकृमि एवं कुक्षिकृमि विषयक विधि-निषेध।
- १६३४-४०. नखशिखा, दंत, आंख, रोग आदि के परिकर्म विषयक दोष और अपवाद।
- १६४१-४३. स्वेद, जल्ल आदि के निर्हरणविषयक निषेध एवं अपवाद।
- १६४४-४८. शीर्षद्वारिका का निषेध, दोष एवं उसके अपवाद।
- १६४९-५२. वशीकरण सूत्र-निर्माण के दोष एवं उसके अपवाद।
- १६५३-६३. गृह, गृहांगण, श्मशान आदि में परिष्ठापन के दोष एवं अपवाद।
- १६६४-७४. अनुद्गत सूर्य में परिष्ठापन के दोष एवं अपवाद।
१६७५. तीसरे और चौथे उद्देशक की संबंध गाथा।
- १६७६-८७. राजा का आत्मीकरण के प्रकार, दोष एवं उसके अपवाद।
१६८८. राजारक्षित आदि में भी समान विधि।
- १६८९-९५. राजा का अर्चीकरण : प्रकार, दोष एवं अपवाद।
- १६९६-१७०२. राजा आदि के अर्चीकरण के प्रकार, दोष एवं उसके अपवाद।
- १७०३-०८. औषधि के कृत्स्न-अकृत्स्न आदि भेद और उसके अपवाद।
- १७०९-११. सचित्त अनाज खाने के दोष एवं प्रायश्चित्त।
- १७१२, १७१३. विगय के प्रकार।
१७१४. आगाढ़-अनागाढ़ योग।
- १७१५-१७. विगय-भोग की अविधि और उसके प्रायश्चित्त।
१७१८. विगयवर्जन का गुण।
- १७१९-२९. आगाढ़ और अनागाढ़ योग एवं रोग और उनकी विगय विषयक विधियां।
- १७३०-३६. विगय खाने के दोष एवं विगय खाने की विधि।
- १७३७-४०. स्थापना-कुलों के प्रकार।
- १७४१-४६. स्थापना-कुलों में प्रवेश के दोष, प्रवेश न करने के गुण तथा प्रवेश करने का प्रायश्चित्त।
- १७४७-५१. गच्छवासी भिक्षुओं की सामाचारी।
- १७५२-५९. स्थापना कुलों की स्थापना न करने के दोष।
१७६०. वैयावृत्य के अयोग्य कौन ?

१७६१. अयोग्य को वैयावृत्य में स्थापित करने का प्रायश्चित्त ।
१७६२. वैयावृत्य के योग्य कौन ?
- १७६३-७१. योग्य भिक्षु को वैयावृत्य में स्थापित करने के गुण-लाभ ।
- १७७२-८४. स्थापना कुलों में आहार आदि ग्रहण-विषयक विधि एवं अपवाद ।
- १७८५-८८. निर्ग्रन्थी उपाश्रय में प्रवेश के विविध भंग ।
- १७८९-१८१७. निर्ग्रन्थी उपाश्रय में प्रवेश के दोष ।
- १८१८-५७. निर्ग्रन्थी-उपाश्रय में निर्ग्रन्थ गणधर के प्रवेश के हेतु ।
- १८५८-६३. तीन राजपुत्रों का कथानक ।
- १८६४-६९. साधु-साध्वी के परस्पर वैयावृत्य सम्बन्धी विविध भंग और प्रथम भंग की विधि ।
- १८७०-७२. साध्वियों का गणधर कैसा हो ?
- १८७३-८६. ग्लान साध्वी की सेवा, चिकित्सा-विधि एवं अपवाद, पुनः उसे स्वर्गण में पहुंचाने की विधि ।
- १८८७-१९०३. परस्पर वैयावृत्य-विधि तद्विषयक यतना एवं उसके अपवाद आदि ।
- १९०४-१५. निर्ग्रन्थियों के आगमन पथ में निर्ग्रन्थों की उपधि-निक्षेप के कारण, तत्संबन्धी दोष, अपवाद एवं प्रत्यर्पण-विषयक यतना ।
- १९१६-३२. अधिकरण के निक्षेप एवं उनकी व्याख्या ।
- १९३३-३६. अधिकरण के दोष एवं उसके अपवाद ।
- १९३७-४२. पुराने कलह को उत्पन्न करने के दोष एवं उसके अपवाद ।
- १९४३-४७. हास्योत्पत्ति के कारण, दोष एवं उसके अपवाद ।
- १९४८-६६. पार्श्वस्थ आदि के साथ संघाटक आदान-प्रदान के दोष एवं उसके अपवाद ।
- १९६७-७२. गीले हाथ आदि से भिक्षाग्रहण का निषेध एवं उसके अपवाद ।
१९७३. राजा आदि के आत्मीकरण आदि की विधि पूर्ववत् ।
१९७४. पादप्रमार्जन आदि की विधि पूर्ववत् ।
- १९७५-७८. उच्चार-प्रस्रवण भूमि की प्रतिलेखना न करने के दोष एवं उसके अपवाद ।
- १९७९-८७. तीन-तीन परिष्ठापन भूमियां, उनका परिमाण, तत्संबन्धी दोष एवं उसके अपवाद ।
- १९८८-२००१. उच्चारादि परिष्ठापन विधि, तत्संबन्धी दोष एवं उसके अपवाद ।
- २००२-१३. अपारिहारिक के साथ पारिहारिक की आहार ग्रहण-विषयक-विधि एवं अपवाद ।

२०१४. चौथे और पांचवें उद्देशक की संबंधगाथा ।
- २०१५-२७. सचित्त वृक्षमूल के प्रकार एवं आलोकन-प्रलोकन विषयक यतना एवं उसके अपवाद ।
- २०२८-३४. सचित्त वृक्षमूल में बैठने, खड़े रहने पर आज्ञाभंग आदि दोष, उसके अपवाद तथा यतना ।
- २०३५-२०४०. सचित्त वृक्षमूल में अशन आदि खाने पर आज्ञाभंग आदि दोष एवं उसके अपवाद ।
- २०४१, २०४२. सचित्त वृक्षमूल में उच्चार आदि करने पर आज्ञाभंग आदि दोष तथा उसके अपवाद ।
- २०४३, २०४४. सचित्त वृक्षमूल में उद्देश आदि करने पर आज्ञाभंग आदि दोष तथा उसके अपवाद ।
- २०४५-५३. गृहस्थ से संघाटी सिलवाने पर दोष, प्रायश्चित्त एवं उसके अपवाद ।
- २०५४-५८. संघाटी के धागे को दीर्घ करने पर दोष तथा उसके अपवाद ।
- २०५९-६७. आहार-अनाहार विषयक चतुर्भंगी तथा बासी खाने के दोष एवं प्रायश्चित्त ।
- २०६८-७१. द्विविध प्रातिहारिक पादप्रोज्छन को ग्रहण करने पर दोष तथा उसके अपवाद ।
- २०७२-७५. प्रातिहारिक पादप्रोज्छन को पुनः देने में काल-विपर्यास से होने वाले दोष एवं उसके अपवाद ।
- २०७६-८४. शय्यातर के पादप्रोज्छन एवं दण्ड आदि के प्रत्यर्पण में काल-विपर्यास से होने वाले दोष एवं उसके अपवाद ।
- २०८५-८९. प्रत्यर्पित शय्या-संस्तारक की आज्ञा लिए बिना परिभोग करने पर दोष तथा उसके अपवाद ।
- २०९०-२१२०. धागा बनाने पर दोष तथा उसके अपवाद ।
- २१२१-२५. सचित्त दारुदंड के निर्माण तथा धारण करने में दोष तथा उसके अपवाद ।
- २१२६-२८. चित्र-विचित्र दंडधारण के दोष तथा उसके अपवाद ।
- २१२९-३३. नव निवेशित ग्राम आदि में भिक्षा ग्रहण के दोष, अपवाद तथा यतना ।
- २१३४-३७. लोहे आदि की खान में अशन आदि ग्रहण करने पर दोष तथा उसके अपवाद ।
- २१३८-४१. मुंह आदि से वाद्य बजाने पर दोष, प्रायश्चित्त तथा उसके अपवाद ।
२१४२. औद्देशिक शय्या के प्रकार ।
२१४३. औद्देशिक शय्या का स्वरूप ।
- २१४४-४६. औद्देशिक के भेद एवं उनकी व्याख्या ।
- २१४७-४९. विविध प्रकार की औद्देशिक शय्या, प्रायश्चित्त तथा उसके अपवाद ।
२१५०. प्राभृतिका के दो प्रकार ।

२१५१. बादर प्राभृतिका के प्रकार एवं उनकी व्याख्या।
- २१५२-५५. प्रतीत्यकरण के प्रकार।
- २१५६, २१५७. सूक्ष्म प्राभृतिका के पांच प्रकार एवं उनकी व्याख्या।
२१५८. सूक्ष्म प्राभृतिका सम्बन्धी प्रायश्चित्त।
२१५९. सूक्ष्म प्राभृतिका के भेद।
२१६०. छिन्न और व्याघातिम प्राभृतिका का स्वरूप।
२१६१. अव्याघातिम प्राभृतिका का स्वरूप।
२१६२. निर्दिष्ट और अनिर्दिष्ट प्राभृतिका।
२१६३. निर्व्याघात प्राभृतिका।
२१६४. प्रवात एवं निर्वात प्राभृतिका का स्वरूप।
- २१६५-६७. प्रशस्त प्राभृतिका एवं मुनि के योग्य वसति।
२१६८. प्राभृतिका युक्त वसति में रहने के दोष।
२१६९. प्राभृतिका युक्त वसति में रहने के अपवाद।
२१७०. सपरिकर्म शय्या के दो भेद।
२१७१. मूलगुण परिकर्म युक्त शय्या।
२१७२. उत्तर मूलगुण परिकर्म युक्त शय्या।
२१७३. वसति के आठ प्रकार।
- २१७४-७६. परिकर्मयुक्त वसति में रहने का प्रायश्चित्त।
- २१७७-८१. उपाश्रय उपघात के कारण।
- २१८२-८४. सपरिकर्म शय्याविषयक विविध मत।
२१८५. परिकर्मयुक्त शय्या के दोष।
- २१८६, २१८७. परिकर्मयुक्त-शय्याविषयक अपवाद।
- २१८८-९२. आधाकर्म युक्त वसति एवं स्त्रीदोष युक्त वसति के विषय में चालना-प्रत्यवस्थान।
२१९३. द्रव्य प्रतिबद्ध शय्या और सार्वजनिक शय्या में रहने के विकल्प।
२१९४. संभोज विषयक नियुक्तिगाथा।
२१९५. संभोज-विधि के छह द्वार।
- २१९६, २१९७. ओघ संभोज के बारह प्रतिद्वार।

२१९८. उपधि संभोज के छह उपप्रतिद्वार।
२१९९. उद्गम दोषयुक्त उपधि का प्रायश्चित्त।
- २२००-०२. अन्यसांभोजिक के साथ उपधि-उत्पादन के विकल्प।
२२०३. साध्वी के साथ उपधि-उत्पादन करने पर प्रायश्चित्त।
२२०४. साधु-साध्वियों की समान वक्तव्यता।
२२०५. संघाटक दान और संभोज।
२२०६. प्रायश्चित्त-वृद्धि के प्रकार एवं विसंभोज-व्यवस्था।
- २२०७, २२०८. शेष अपराध पदों में भी यही प्रायश्चित्त।
२२०९. उत्पादन और एषणा द्वार की व्याख्या।
- २२१०-१२. उपधि परिकर्म संभोज की व्याख्या।
- २२१३, २२१४. उपधि का उपभोग सम्बन्धी विमर्श।
- २२१५, २२१६. उपधिपरिभोग सम्बन्धी विधि।
- २२१७, २२१८. उपधि-उत्पादन सम्बन्धी भंग।
२२१९. श्रुत प्रतिद्वार के छह स्थान।
२२२०. श्रुत की वाचना सम्बन्धी प्रायश्चित्त।
२२२१. श्रुतसम्भोज के अपवाद।
- २२२२, २२२३. भक्तपान प्रतिद्वार के छह स्थान एवं उनका प्रायश्चित्त।
२२२४. अतिथि साधु के साथ भक्तपान की विधि।
- २२२५-२७. भक्तपान-संभोज सम्बन्धी प्रायश्चित्त एवं उसके अपवाद स्थान।
- २२२८-३१. अंजलिप्रग्रह प्रतिद्वार के छह स्थान, उनकी व्याख्या एवं तत्सम्बन्धी प्रायश्चित्त।
- २२३२-३४. दान प्रतिद्वार के छह स्थान एवं उनसे सम्बन्धित प्रायश्चित्त।
२२३५. निकाचना द्वार के छह स्थान।
- २२३६-३८. अभ्युत्थान द्वार के छह स्थान एवं सम्बन्धित प्रायश्चित्त।
- २२३९-४२. कृतिकर्म प्रतिद्वार के छह स्थान एवं उनकी व्याख्या।
- २२४३, २२४४. वैयावृत्य प्रतिद्वार के छह स्थान एवं उनकी व्याख्या।
- २२४५-४९. समवसरण प्रतिद्वार के छह स्थान एवं उनकी व्याख्या।
- २२५०-५३. सन्निषद्या प्रतिद्वार के छह स्थान एवं उनकी व्याख्या।

- २२५४-५६. कथाप्रबंध प्रतिद्वार के छह स्थान एवं उनकी व्याख्या।
- २२५७-६२. संभोज एवं विसंभोज के भेद-प्रभेद।
२२६३. अभिग्रह तथा दान-संभोज की व्याख्या।
२२६४. अनुपालना-संभोज की व्याख्या।
२२६५. उपसम्पदा के पांच प्रकार।
२२६६. संवास-संभोज के दो भेद।
२२६७. तप न करने पर प्रायश्चित्त।
२२६८. दानग्रहण संभोज की चतुर्भंगी।
२२६९. संयतिवर्ग के साथ विधिपूर्वक व्यवहार न करने पर प्रायश्चित्त।
२२७०. सांभोजिक का व्यवहार।
२२७१. विसंभोज करने में समर्थ कौन।
- २२७२-७४. संस्तव किसके साथ ?
- २२७५-७८. संभोज-व्यवच्छेद सम्बन्धी उदाहरण एवं उनकी व्याख्या।
२२७९. आचार्य सुहस्ति से विसंभोज का प्रारम्भ।
२२८०. विसंभोज किसका ?
२२८१. विसंभोज क्यों ?
२२८२. पार्श्वस्थ आदि के साथ संभोज रखने में दोष।
२२८३. संभोज के अपवाद-स्थान।
- २२८४, २२८५. अच्छे पात्र का परिष्ठापन करने के दोष।
- २२८६, २२८७. पात्र-परिष्ठापन की विधि।
२२८८. पात्र-भेदन के कारण।
२२८९. पात्र के समान ही वस्त्र तथा दंड की व्याख्या।
- २२९०-२२९३. प्रमाणोपेत रजोहरण धारण न करने के दोष एवं प्रायश्चित्त।
- २२९४-९६. रजोहरण का संख्या-प्रमाण एवं अपवाद।
२२९७. रजोहरण ठीक करने के उपाय।
- २२९८-२३०२. रजोहरण सम्बन्धी दोष एवं उसके अपवाद।
- २३०३-०५. तीन से अधिक बंधन बांधने के दोष एवं अपवाद।

- २३०६-०८. तीर्थंकर द्वारा प्रतिषिद्ध रजोहरण के प्रकार एवं व्याख्या ।
२३०९. रजोहरण सम्बन्धी अपवाद ।
- २३१०-१३. व्युत्सृष्ट क्षेत्र से बाहर रजोहरण आदि रखने के दोष एवं उसके अपवाद ।
- २३१४-१६. रजोहरण पर बैठने के दोष एवं अपवाद ।
- २३१७-१९. रजोहरण पर सोने या उसे सिरहाने रखने के दोष एवं अपवाद ।
२३२०. पांचवें और छठे उद्देशक की सम्बन्ध-गाथा ।
- २३२१-६४. मातृग्राम के भेद-प्रभेद, उनकी व्याख्या, प्रायश्चित्त एवं मोह-चिकित्सा ।
२४६५. सातवें और आठवें उद्देशक की सम्बन्ध-गाथा ।
- २४६६-७३. कामकथा की अनाचीर्णता एवं उसके अपवाद ।
२४७४. ग्लान्य-द्वार की पूर्व वक्तव्यता ।
- २४७५-८०. शशक, भसक राजकुमार एवं सुकुमालिका की कथा ।
- २४८१-८३. नगररोध में निर्गमन न करने पर प्रायश्चित्त एवं उसके अपवाद ।
- २४८४-८६. सोपसर्ग क्षेत्र से निर्गमन न करने पर प्रायश्चित्त एवं अपवाद ।
- २४८७-९६. संवट्ट द्वार और उसकी व्याख्या ।
- २४९७-२५२६. नगररोध और उसके विभिन्न द्वारों की व्याख्या ।
- २५२७-३३. अटवी, संभ्रम, भय आदि द्वारों की व्याख्या ।
- २५३४-४९. छिन्न-मडम्ब में स्त्री-दीक्षा के विषय में स्व-पर परीक्षा ।
- २५५०-५२. उद्यान, शाला आदि की व्याख्या ।
२५५३. संध्या एवं रात्रि में भेद ।
- २५५४-५६. स्त्रीमध्यगत, संसक्त आदि की व्याख्या ।
- २५५७, २५५८. स्त्रियों के मध्य कथा के दोष एवं उसके अपवाद ।
२५५९. स्त्रियों के मध्य कथा करने में यतना ।
- २५६०-७१. साधु-साध्वियों के सह परिव्रजन के विविध भंग, तत्सम्बन्धी दोष तथा अपवाद ।
२५७२. क्षेत्र-संक्रमण सम्बन्धी विविध द्वार ।
- २५७३, २५७४. साध्वियों का गणधर कैसा हो ?
- २५७५-७८. साध्वियों के लिए क्षेत्रप्रतिलेखना ।
- २५७९-८२. साध्वियों का उपाश्रय कैसा ? पड़ोस कैसा ? शय्यातर कैसा और कौन ?

- २५८३-८७. साध्वियों की विचारभूमि के सम्बन्ध में विमर्श।
- २५८८-९०. साध्वियों के संक्रमण की विधि।
२५९१. गृहस्थ के साथ संवास के दोष।
२५९२. उपासक और अनुपासक के भेद।
- २५९३-२६०१. रात्रि में स्त्री या गृहस्थ के संवास या निगमन के दोष एवं उसके अपवाद।
- २६०२-०४. रात्रि में जीमनवार आदि में भिक्षा करने पर दोष।
- २६०५-१६. मूर्धाभिषिक्त राजा के भोज से भिक्षा लेने पर दोष एवं उसके अपवाद।
२६१७. सन्निधि और संचय में अंतर।
- २६१८, २६१९. संसृष्ट-पिण्ड, वनीपक-पिण्ड आदि की व्याख्या।
२६२०. आठवें और नवें उद्देशक की सम्बन्ध गाथा।
२६२१. मूर्धाभिषिक्त राजपिण्ड, अमात्यपिण्ड आदि का वर्जन।
२६२२. मुदित और मूर्धाभिषिक्त में अंतर।
२६२३. मुदित और मूर्धाभिषिक्त की चतुर्भंगी।
- २६२४-३६. राजपिण्ड के आठ प्रकार, उसके दोष एवं अपवाद।
- २६३७-४९. अंतःपुर के तीन प्रकार, उसमें प्रवेश से होने वाले दोष एवं उसके अपवाद।
- २६५०-५६. विविध प्रकार के भक्तों का कथन, निषेध एवं अपवाद।
- २६५७-६२. षड्दोषायतन में प्रवेश का निषेध एवं तत्सम्बन्धी प्रायश्चित्त।
- २६६३-६८. राजा के निर्गमन आदि को देखने के दोष एवं उसके प्रायश्चित्त।
- २६६९-७५. मूर्धाभिषिक्त रानियों को देखने का निषेध।
- २६७६, २६७७. शिकारादि हेतु निर्गत राजा से आहार-ग्रहण के दोष एवं उसके अपवाद।
२६७८. उपबृंहणीय आहार के प्रकार।
२६७९. परिषद् के विविध भेद।
२६८०. परिषद् के उठने से पूर्व उपबृंहणीय आहार-ग्रहण के दोष एवं उसके अपवाद।
- २६८१-८७. राजा के प्रवास-स्थान में रहने के दोष एवं अपवाद।
२६८८. विजय-यात्रा हेतु प्रस्थित राजा के भोजन में से भिक्षाग्रहण का निषेध।
२६८९. नदीयात्रा आदि के लिए प्रस्थित राजा का आहार-ग्रहण करने का निषेध।
२६९०. गिरियात्रा के लिए प्रस्थित राजा से भोजन लेने के दोष।

- २६९१-९४. राज्याभिषेक-काल में जाने का निषेध, दोष तथा उसके अपवाद ।
- २६९५-९९. राज्याभिषेक-काल में राजमहल में प्रवेश एवं अनुज्ञा की विधि ।
२७००. अनुज्ञातव्य क्या ?
- २७०१-०८. दीक्षार्थी विषयक राजानुज्ञा सम्बन्धी विविध विधियां ।
- २७०९-११. रुष्ट राजा द्वारा देश निष्कासन का आदेश होने पर उसे अनुकूल बनाने की विधि ।
- २७१२, २७१३. उद्दिष्ट, व्यंजित आदि पदों के अर्थ ।
२७१४. दश राजधानियों के नाम ।
- २७१५-२०. राजधानियों में रहने के निषेध का कारण एवं उसके अपवाद ।
२७२१. क्षत्रिय आदि स्थानों के विषय में उत्सर्ग-अपवाद ।
- २७२२-२९. विविध प्रकार के लोगों के लिए निःसृत आहार को ग्रहण करने के दोष एवं उसके अपवाद ।
२७३०. नवें और दसवें उद्देशक की सम्बन्ध गाथा ।
२७३१. आगाढ़ के प्रकार ।
२७३२. आगाढ़ की परिभाषा ।
- २७३३-४०. आगाढ़-वचन के द्वार एवं उनकी व्याख्या ।
२७४१. सूचा-असूचा के दो-दो भेद ।
- २७४२-६४. स्व-प्रशंसा एवं पर-निंदा के विविध प्रकार एवं उनके प्रायश्चित्त ।
- २७६५-७४. आशातना के प्रकार एवं उनकी व्याख्या ।
- २७७५-८१. आशातनाविषयक अपवाद ।
- २७८२, २७८३. अनंतकाय से युक्त अशन आदि खाने के दोष ।
- २७८४, २७८५. अनंतकाय-प्रयोग के अपवाद एवं यतना ।
२७८६. आधाकर्म का प्रयोग ।
२७८७. आधाकर्म के प्रकार ।
२७८८. आधाकर्म उपधि के दो भेद ।
२७८९. आधाकर्म वसति के दो भेद ।
२७९०. आधाकर्म के एकार्थक ।
२७९१. आधाकर्म के उद्दिष्ट स्थान ।

२७९२. आधाकर्म बनाने वाले गृहस्थ के चार संकल्प ।
- २७९३-९९. आधाकर्म की कल्पनीयता के विविध विकल्प ।
- २८००-२८०४. ऋजुजड़ एवं उसका दृष्टान्त ।
२८०५. ऋजुप्राज्ञ का स्वरूप ।
२८०६. वक्रजड़ का स्वरूप ।
२८०७. आधाकर्म ग्रहण करने पर होने वाले दोष ।
- २८०८-१०. आधाकर्म ग्रहण के अपवाद ।
- २८११-२२. निमित्त कथन के दोष, उदाहरण और अपवाद-पद ।
- २८२३-३६. शैक्ष-अपहार के दो प्रकार एवं उनकी व्याख्या ।
- २८३७-५५. शैक्ष को विपरिणत करने के प्रकार एवं उसके दोष ।
- २८५६-५९. दिशापहार और उसके कारण ।
२८६०. दिशापहार के अपवाद ।
- २८६१-७०. गणधारण विषयक विभिन्न भंग एवं गणधारण विधि ।
- २८७१, २८७२. अयोग्य को आचार्य-उपाध्याय बनाने के प्रायश्चित्त ।
- २८७३, २८७४. आचार्य-उपाध्याय के अयोग्य कौन ?
- २८७५-८१. उपसंपदा एवं गणविसर्जन विषयक अन्य विधियाँ ।
२८८२. दिशा-विपरिणमन ।
२८८३. भिक्षु एवं भिक्षुणी की दिशाएं एवं विपरिणमन के दोष ।
- २८८४-९५. दिशा-विपरिणमन की व्याख्या एवं अपवाद ।
२८९६. अधिकरण के निरुक्त एवं एकार्थक ।
२८९७. अधिकरण के प्रकार ।
- २८९८-२९०८. अधिकरण (कलह) उत्पत्ति के कारण एवं उनकी व्याख्या ।
- २९०९, २९१०. गिरगिट का दृष्टान्त ।
- २९११-१४. कलह करने के दोष ।
- २९१५-१७. कलह के समय आचार्य का कर्तव्य ।
२९१८. आचार्य का वैशिष्ट्य ।
२९१९. कलह का निषेध करने पर साधुओं की मनःस्थिति ।

- २९२०-२६ आचार्य द्वारा दिन में चार बार कलह-उपशांति की प्रेरणा अथवा प्रायश्चित्त।
- २९२७, २९२८. वर्ष भर अनुपशान्त रहने वाले की विधि एवं प्रायश्चित्त।
- २९२९-३२. संवत्सरी के दिन उत्पन्न कलह-विषयक विधि एवं प्रायश्चित्त।
- २९३३-३७. आचार्य और उपाध्याय के अनुपशान्त होने से प्रायश्चित्तविषयक भिन्नता।
- २९३८, २९३९. कुमार-दृष्टान्त एवं उसका निगमन।
- २९४०-५६. भिक्षु आदि के विषय में स्वगण-परगण विषयक विभिन्न विधियां एवं प्रायश्चित्त।
२९५७. चार पत्नियों का दृष्टान्त।
- २९५८-८०. परपक्ष के साथ कलह के कारण, उसकी उपशमन-विधि तथा प्रायश्चित्त आदि।
- २९८१, २९८२. सूत्रोक्त विधि से प्रायश्चित्त, अस्वीकार करने वाले का निर्यूहण।
- २९८३, २९८४. परपक्ष कलह का अपवाद एवं कालकाचार्य का दृष्टान्त।
- २९८५-९१. विपरीत प्रायश्चित्त-कथन एवं प्रायश्चित्त-दान के दोष एवं अपवाद।
- २९९२, २९९३. उद्घातिक एवं अनुद्घातिक प्रायश्चित्ती के प्रकार।
- २९९४, २९९५. परिहारतप प्रायश्चित्त दान से पूर्व पृच्छा।
२९९६. परिहारतप के योग्य दीक्षा-पर्याय।
२९९७. परिहारतप के योग्य श्रुत का अध्ययन।
२९९८. परिहारतप की योग्यता के दृष्टान्त।
- २९९९, ३०००. परिहारतप तथा शुद्ध तप किसको ?
- ३००१-०४. परिहारतप प्रारम्भ कराने की विधि।
३००५. दस परिहार्य पद।
- ३००६, ३००७. दस पदों का अतिक्रमण करने पर प्रायश्चित्त।
३००८. पारिहारिक के साथ गुरु का व्यवहार।
३००९. पारिहारिक के साथ अनुपारिहारिक का व्यवहार।
- ३०१०, ३०११. परिहारतप वाले के साथ संभोज करने के दोष एवं प्रायश्चित्त।
- ३०१२-४३. सूर्योदय और सूर्यास्त से सम्बन्धित भंग, उनकी व्याख्या एवं प्रायश्चित्त।
- ३०४४-५१. असमर्थ भिक्षु के प्रकार तथा तत्सम्बन्धी प्रायश्चित्त।
- ३०५२-५४. परिव्रजन करने वाले भिक्षु के दो प्रकार एवं उनकी व्याख्या।
३०५५. जिनकल्पिक भिक्षु का भिक्षा-काल।

- ३०५६-५८. सूर्योदय और सूर्यास्त सम्बन्धी तृतीय और चतुर्थ भंग की व्याख्या ।
३०५९. वान्त भोजन खाने का प्रायश्चित्त ।
- ३०६०-६२. रात्रि में सिक्थ अथवा कवल निगलने पर प्रायश्चित्त ।
- ३०६३-७५. संखड़ीभोजी साधु के विविध भंग और उनके प्रायश्चित्त ।
- ३०७६-३०८१. उद्गारविषयक विविध आदेश ।
३०८२. प्रमाणोपेत आहार ।
३०८३. उद्गार का कारण ।
- ३०८४-८६. भोजनपान के विविध प्रायश्चित्त तथा अपवाद ।
- ३०८७-९०. रत्नवणिक का दृष्टान्त एवं निगमन ।
- ३०९१-९३. ग्लान साधु की गवेषणा न करने के दोष एवं अपवाद ।
- ३०९४, ३०९५. ग्लान साधु के बारे में सुनकर भी उन्मार्ग में जाने के दोष तथा प्रायश्चित्त ।
- ३०९६, ३०९७. कुसुमित वनखण्ड का दृष्टान्त ।
- ३०९८-३१०५. शुद्ध एवं श्रद्धावान द्वार की व्याख्या ।
- ३१०६-१०. इच्छाकार एवं अशक्त द्वार की व्याख्या ।
- ३१११-३२. सुखी आदि द्वारों की व्याख्या ।
- ३१३३-३५. वैद्य के अनेक भेद ।
- ३१३६-५६. ग्लान मुनि को वैद्य को दिखाने के विविध द्वार और उनकी व्याख्या ।
- ३१५७-८५. उपाश्रय में आने के बाद वैद्य विषयक अन्य विधियां ।
- ३१८६-९०. वैद्य का वैयावृत्य क्यों ?
- ३१९१-९८. वैद्य के वेतनविषयक विधि ।
- ३१९९-३२१५. ग्लान मुनि के स्थानान्तरविषयक विधि एवं उपेक्षा के दोष ।
- ३२१६-१८. संयतों एवं संयतियों के प्रकार तथा उनके पास ग्लान को छोड़ने का प्रायश्चित्त ।
- ३२१९-२४. आठ स्थानों में ग्लान का परित्याग करने पर प्रायश्चित्त ।
- ३२२५-२८. आचार्य, कुल आदि के लिए ग्लान-परिचर्या का जघन्य काल ।
३२२९. ग्लान-परिचर्या के अपवाद ।
- ३२३०-३२. परिचर्या में नियुक्त साधु के गुण ।
- ३२३३-३६. गुणरहित साधु की वैयावृत्य में नियुक्ति करने पर आचार्य को दोष तथा तद्विषयक

- प्रायश्चित्त ।
३२३७. समुचित सेवा के अभाव में विशिष्ट लब्धियों की प्राप्ति नहीं ।
३२३८. विशिष्ट गुणसम्पन्न साधु के अभाव में सेवानियुक्ति का क्रम ।
- ३२३९-४१. ग्लान को भोजन आदि से तृप्त न करने पर दोष तथा उसके अपवाद ।
- ३२४२-४७. ग्लान-प्रायोग्य वस्तु न मिलने पर अन्य साधु को न कहने पर दोष तथा प्रायश्चित्त ।
३२४८. प्रथम प्रावृत् विषयक विधि ।
- ३२४९-५६. वर्षावास में विहार के दोष, प्रायश्चित्त तथा उसके अपवाद ।
३२५७. वसति-परिवर्तन के हेतु ।
३२५८. इन्द्रमहोत्सव आदि में अवमानविषयक यतना ।
३२५९. वसति का कालसापेक्ष प्रमार्जन ।
३२६०. क्षेत्र-संक्रमण से आज्ञाभंग नहीं ।
३२६१. मार्ग विषयक यतना ।
३२६२. पर्युषणा-काल में पर्युषण न करने पर दोष ।
- ३२६३, ३२६४. पर्युषणा के एकार्थक नाम ।
- ३२६५-३३०४. स्थापना के निक्षेप एवं भाव स्थापना आदि की व्याख्या ।
- ३३०५, ३३०६. कुंभकार का दृष्टान्त ।
- ३३०७-१०. अनंगसेन की कथा ।
- ३३११, ३३१२. दरिद्र ब्राह्मण का दृष्टान्त ।
- ३३१३-१७. अनन्तानुबंधी क्रोध, मान को उपमा तथा उपनय ।
३३१८. ब्राह्मण और बैल की कथा ।
- ३३१९-२२. अत्वंकारी भट्टा की कथा ।
- ३३२३, ३३२४. पांडुरा आर्या की कथा ।
३३२५. आर्य मंगु की कथा ।
३३२६. पर्युषण का संदेश ।
३३२७. वर्षावास में प्रायश्चित्त-वहन क्यों ?
३३२८. प्रथम और अंतिम तीर्थकर के साधुओं के लिए पर्युषण अनिवार्य ।
३३२९. वर्षा में भिक्षा का निषेध तथा अपवाद ।

३३३०. वर्षा में भिक्षा विधि का अपवाद।
३३३१. संयमक्षेत्र का स्वरूप।
- ३३३२-३४. उत्तरकरण करके भिक्षा लेने का अपवाद।
- ३३३५-३९. पर्युषणा में केश न रखने का विधान एवं अपवाद।
३३४०. पर्युषणा में आहार करने पर दोष।
- ३३४१, ३३४२. पर्युषणा में तप करने के लाभ।
- ३३४३-४६. पर्युषणकाल में पर्युषणाकल्प के पठन के विधि-निषेध।
- ३३४७-४९. प्रथम समवसरण में उपधि-ग्रहण का निषेध तथा उसके दोष।
- ३३५०-६०. वर्षाकाल से पूर्व अधिक उपकरण ग्रहण करने के हेतु एवं न करने के कारण।
- ३३६१-८१. वर्षाकाल हेतु प्रवेश और वस्त्र-विषयक विभिन्न विधियां।
- ३३८२-८४. वर्षावास के बाद विहार करके उपकरण-ग्रहण के विधि-विधान।
३३८५. स्वक्षेत्र-परक्षेत्र में उपधि-विषयक विधि।
३३८६. चातुर्मास के बाद विहार न करने के कारण।
३३८७. दो मास बाद वस्त्र-ग्रहण का कारण।
- ३३८८-९०. वर्षावास में वस्त्र-ग्रहण के अपवाद।
- ३३९१-३४००. ऋतुबद्धकाल में वस्त्र-ग्रहण विधि, पृच्छा, यतना एवं अपवाद।
३४०१. दसवें और ग्यारहवें उद्देशक की सम्बन्ध गाथा।
- ३४०२-१२. पात्र संबंधी विविध नियम।
- ३४१३-१७. पात्र-आनयन के अपवाद।
- ३४१८-२३. गृहस्थ से पात्र मंगवाने के दोष एवं अपवाद।
३४२४. धर्म के दो प्रकार।
३४२५. श्रुतधर्म के दो प्रकार।
३४२६. धर्म के अवर्णवाद के दो प्रकार।
३४२७. चरणधर्म के दो प्रकार।
- ३४२८-३६. अवर्णवाद सम्बन्धी प्रायश्चित्त एवं अपवाद।
- ३४३७, ३४३८. गृहस्थ का वैयावृत्य करने के दोष।
- ३४३९-४६. भय के प्रकार एवं उनकी व्याख्या।

- ३४४७-४९. कर्म की उत्तरप्रकृतियां एवं उनमें प्रवृत्त होने पर प्रायश्चित्त ।
- ३४५०-५७. कर्मबंध के हेतु एवं उनका प्रायश्चित्त ।
- ३४५८-६०. कर्मक्षय में धान्यपल्य का दृष्टान्त ।
३४६१. भयाक्रान्त करने के अपवाद ।
- ३४६२-६७. विस्मापना के प्रकार, उसके दोष एवं अपवाद ।
- ३४६८-७४. विपर्यास के प्रकार एवं व्याख्या ।
- ३४७५-७७. विपर्यास करने के दोष एवं उसके अपवाद ।
- ३४७८-८३. उन्मार्ग आदि की प्रशंसा के दोष एवं उसके अपवाद ।
३४८४. वैर शब्द के निक्षेप एवं चोर-सेनापति का दृष्टान्त ।
३४८५. वैराज्य की परिभाषा ।
- ३४८६-३५८९. वैराज्य आदि की व्याख्या तथा सद्यःगमन के दोष ।
- ३४९०-३५०८. वैराज्यगमन विषयक विविध भंग एवं उनसे होने वाले दोष ।
- ३५०९-१५. वैराज्य-गमन के अपवाद ।
- ३५१६-१९. दिवाभोजन के अवर्णवाद के दोष ।
- ३५२०, ३५२१. रात्रिभोजन का वर्णवाद ।
- ३५२२-४४. रात्रि-भोजन : विकल्प, व्याख्या, तत्संबंधी प्रायश्चित्त तथा अपवाद ।
- ३५४५-४९. रात्रिभोजन के अपवाद ।
- ३५५०-५४. मार्ग-निर्गत मुनियों के भंग, उनकी व्याख्या तथा निर्गमन के कारण ।
- ३५५५-६६. अटवीगमन में उपयोगी उपकरण ।
- ३५६७, ३५६८. तीन प्रकार की परिषद् ।
- ३५६९-७२. सार्थगमन में धर्मकथा तथा अन्य करणीय ।
- ३५७३-७६. परिषद्त्रय के चलने का क्रम ।
- ३५७७-८३. सार्थ के साथ चलने के अन्य नियम तथा तत्सम्बन्धी प्रायश्चित्त ।
- ३५८४-९४. विविध द्रव्यों को शून्यग्राम आदि में ग्रहण करने की विधि, दोष एवं प्रायश्चित्त ।
- ३५९५-३५९६. पानकविषयक नियम ।
३५९७. अनागाढ़ कारण में परिवासित रखने में दोष ।
३५९८. आगाढ़ के चार प्रकार ।

- ३५९९, ३६००. परिव्रासित आहार विषयक विराधना ।
 ३६०१-०३. परिव्रासित आहार विषयक अपवाद एवं यतना ।
 ३६०४-१०. विविध प्रकार के भोज ।
 ३६११-१३. भोज में भिक्षा करने के दोष एवं अपवाद ।
 ३६१४-१६. नैवेद्यपिण्डविषयक दोष एवं अपवाद ।
 ३६१७-२७. यथाच्छंद की व्याख्या, उसकी प्रशंसा के दोष एवं अपवाद ।
 ३६२८. उपासक के भेद-प्रभेद ।
 ३६२९. 'अलं' शब्द के अर्थ ।
 ३६३०-३२. दीक्षा के अयोग्य पुरुषों के प्रकार ।
 ३६३३. दीक्षा के अयोग्य स्त्रियां ।
 ३६३४. निष्कारण अयतना से अयोग्य दीक्षा का प्रायश्चित्त ।
 ३६३५-४१. बाल के प्रकार और उनका स्वरूप ।
 ३६४२-५५. बालदीक्षा का प्रायश्चित्त ।
 ३६५६, ३५५७. बालदीक्षा के दोष ।
 ३६५८-६६. बालदीक्षा के अपवाद ।
 ३६६७. वृद्ध के प्रकार ।
 ३६६८-७१. विविध अवस्थाएं तथा उनमें दीक्षा की योग्यता ।
 ३६७२, ३६७३. तीन प्रकार के वृद्धों का स्वरूप ।
 ३६७४-८५. वृद्धदीक्षा : दोष, प्रायश्चित्त एवं अपवाद ।
 ३६८६-९१. नपुंसक के भेद तथा उनको दीक्षित करने का प्रायश्चित्त ।
 ३६९२-९५. पंडक के छह लक्षण एवं उनकी व्याख्या ।
 ३६९६. वेदत्रयी के दृष्टान्त ।
 ३६९७-३७१२. पंडक के प्रकार, उनकी व्याख्या, दृष्टान्त और पंडक-दीक्षा के दोष ।
 ३७१३. क्लीब का स्वरूप ।
 ३७१४, ३७१५. वातिक नपुंसक का स्वरूप ।
 ३७१६, ३७१७. कुंभी नपुंसक के दो प्रकार ।
 ३७१८. ईर्ष्यालु नपुंसक का स्वरूप ।

३७१९. शकुनि नपुंसक का स्वरूप।
- ३७२०, ३७२१. तत्कर्मसेवी नपुंसक का स्वरूप।
३७२२. पाक्षिकापाक्षिक नपुंसक का स्वरूप।
३७२३. सौगंधिक नपुंसक का स्वरूप।
३७२४. आसिक्त नपुंसक का स्वरूप।
३७२५. वर्धित आदि छह नपुंसकों की दीक्षा में भजना।
३७२६. नपुंसक-दीक्षा का प्रायश्चित्त।
- ३७२७-२९. नपुंसक-दीक्षा : जिज्ञासा और समाधान।
- ३७३०-३३. नपुंसक-दीक्षा के अपवाद।
३७३४. नपुंसक के दो प्रकार।
- ३७३५-४७. दीक्षित नपुंसक की चर्या तथा उसका लिंगत्याग।
- ३७४८-५९. जडु के प्रकार, व्याख्या तथा उनको दीक्षित करने के दोष।
- ३७६०-६७. क्लीब के प्रकार, उसको दीक्षित करने के दोष तथा अपवाद।
- ३७६८-७०. रोग के प्रकार तथा रोगी को दीक्षा देने में दोष।
३७७१. स्तेन के प्रकार।
- ३७७२-८३. स्तेन के निक्षेप, उसको दीक्षित करने में दोष तथा अपवाद।
- ३७८४-९०. राजा के अपकारी को दीक्षित करने के दोष तथा उसका प्रायश्चित्त।
- ३७९१, ३७९२. उन्मत्त के प्रकार तथा उसको दीक्षित करने के दोष।
- ३७९३-९६. अदर्शन (प्रज्ञाचक्षु) के भेद एवं उनको दीक्षित करने के दोष।
- ३७९७-३८०१. दास को दीक्षित करने में दोष एवं अपवाद।
- ३८०२-१४. दुष्ट के प्रकार एवं उसके चार दृष्टान्त।
- ३८१५-२३. मूढ के बारह निक्षेप एवं उनकी व्याख्या।
- ३८२४-२६. ऋणार्त को दीक्षित करने के दोष एवं अपवाद।
- ३८२७-३०. जुंगित के प्रकार एवं उनकी व्याख्या।
३८३१. जुंगितदेह वाला आचार्यपद के योग्य नहीं।
३८३२. जुंगित को दीक्षित करने के अपवाद।
- ३८३३-३८. उद्बद्ध को दीक्षा देने के दोष तथा उसके अपवाद।

- ३८३९-४७. भृतक के प्रकार, व्याख्या तथा दीक्षित करने के अपवाद।
- ३८४८-५७. शैक्ष-अपहरणकर्ता के भेद, उसको दीक्षित करने के दोष तथा अपवाद।
- ३८५८-६२. गर्भवती अथवा बालवत्सा को दीक्षित करने के दोष तथा प्रायश्चित्त।
- ३८६३-६६. क्लीब आदि को दीक्षित करने के प्रायश्चित्त तथा अपवाद।
- ३८६७, ३८६८. अज्ञानवश दीक्षित अयोग्य के मुंडापन आदि पांच पदों का निषेध तथा उसके दोष।
- ३८६९, ७२. परीक्षा, दीक्षा तथा शिक्षा।
- ३८७३-८१. उपस्थापना विधि तथा शैक्ष की परीक्षा।
- ३८८२-९२. उपस्थापना के आपवादिक नियम।
- ३८९३-९७. वैयावृत्य के अयोग्य कौन तथा अयोग्य से वैयावृत्य करवाने के अपवाद।
- ३८९८-३९०८. सचेल भिक्षु का सचेल साध्वियों के मध्य रहने पर दोष तथा उसके अपवाद।
३९०९. बासी आहार की मार्गणा का प्रसंग।
३९१०. चतुर्विध आहार की व्याख्या।
- ३९११-१४. आहार और अनाहार का विमर्श।
- ३९१५-२१. आहार बासी रखने पर प्रायश्चित्त, उसके दोष तथा अपवाद।
- ३९२२-२७. विविध बाल-मरणों की व्याख्या।
- ३९२८-३१. बाल-मरण की प्रशंसा के दोष तथा अपवाद।
३९३२. पंडित-मरण के भेद।
- ३९३३-४०५६. भक्तपरिज्ञा अनशन तथा उसके २७ द्वारों की व्याख्या।
४०५७. भक्तपरिज्ञा और इंगिनीमरण में अंतर।
- ४०५८, ४०५९. इंगिनीमरण का स्वरूप।
- ४०६०-९६. प्रायोपगमन अनशन में स्थिरता के विविध दृष्टान्त।
- ४०९७, ४०९८. बछड़े आदि के प्रति करुणा से दोष।
४०९९. गृहस्थ के कार्य के प्रति उपेक्षाभाव।
४१००. लौकिक विद्या की निरपेक्षता।
४१०१. 'स्तन्यक' शब्द का ग्रहण क्यों ?
- ४१०२-०६. पशु को बांधने एवं बंधनमुक्त करने के दोष तथा अपवाद।
- ४१०७-११. प्रत्याख्यान-भंग के दोष, उसके प्रायश्चित्त तथा अपवाद।

- ४११२-१६. परित्काय वनस्पति युक्त आहार के दोष तथा अपवाद।
- ४११७-१९. सलोम चर्म ग्रहण के दोष तथा प्रायश्चित्त।
४१२०. शुषिर के प्रकार।
४१२१. पुस्तक-पंचक के नाम।
- ४१२२, ४१२३. दुष्प्रतिलेख्य दूष्य-पंचक के नाम।
४१२४. चर्म के पांच प्रकार।
- ४१२५-२९. पुस्तकें रखने के दोष।
- ४१३०, ४१३१. तृणपंचक रखने के दोष।
- ४१३२-३९. निर्लोमचर्म रखने के दोष तथा अपवाद।
४१४०. तृण-ग्रहण के अपवाद।
४१४१. दुष्प्रतिलेख्य वस्त्र-ग्रहण के अपवाद।
- ४१४२-४६. पीढ़े आदि पर बैठने के दोष तथा अपवाद।
४१४७. संघाटी के प्रकार।
- ४१४८-५१. गृहस्थ से संघाटी सिलवाने के दोष तथा अपवाद।
- ४१५२-५८. स्थावरकाय की विराधना के दोष, उसके प्रायश्चित्त तथा अपवाद।
- ४१५९-६२. वृक्ष के प्रकार तथा सचित्त वृक्ष पर चढ़ने के दोष तथा अपवाद।
- ४१६३-६६. गृहस्थ के पात्र में आहार करने के दोष तथा अपवाद।
- ४१६७, ४१६८. गृहस्थ के वस्त्र का उपभोग और उसके दोष।
- ४१६९-७४. गृही-निषद्या के दोष तथा अपवाद।
- ४१७५-७८. गृहस्थ की चिकित्सा के दोष, प्रायश्चित्त तथा अपवाद।
४१७९. पुरःकर्म हाथ या पात्र से आहार-ग्रहण करने के दोष।
- ४१८०-८४. पुरःकर्म का स्वरूप।
- ४१८५-९४. पुरःकर्म किसका ?
- ४१९८-४२२८. द्विविध परिहार और उसके उपभेद।
४२२९. गीतार्थ का ग्रहण क्यों ?
- ४२३०-४२३२. वस्त्रविषयक अन्य दोष एवं अपवाद।
- ४२३३-३९. सचित्त जल से युक्त पात्र से भिक्षा ग्रहण करने के दोष तथा अपवाद।

- ४२४०-४७. वप्र आदि देखने के संकल्प से जाने के दोष, अपवाद तथा यतना ।
- ४२४८-६१. कच्छ, कानन यावत् विविध रूपों के दर्शन के दोष ।
- ४२६२-६८. प्रथम प्रहर में गृहीत भक्तपान को चतुर्थ पौरुषी में भोग करने के दोष ।
- ४२६९-८७. प्रथम प्रहर में गृहीत भक्तपान के विषय में जिज्ञासा-समाधान तथा अपवाद ।
- ४२८८-९२. अर्धयोजन से आगे आहार-पानी ले जाने के दोष ।
- ४२९३-४३१२. बहिर्ग्राम में भिक्षार्थ जाने के लाभ एवं दृष्टान्त ।
- ४३१३-१६. अपवाद में उपाश्रय से बाहर आहार करना अनुज्ञात ।
४३१७. गोमय-ग्रहण और आलेपन-विषयक चतुर्भंगी ।
४३१८. रोग में समता ।
- ४३१९-२४. व्रण-चिकित्सा के हेतु तथा लेप की चतुर्भंगी ।
- ४३२५-२८. गृहस्थ से उपकरण वहन करवाकर उसे आहार आदि देने के दोष तथा अपवाद ।
४३२९. पांच महानदियों के नाम ।
४३३०. उत्तरण और संतरण में अंतर ।
- ४३३१-४५. नदी के उत्तरण और संतरण में दोष तथा मुरुंड राजा का कथानक ।
४३४६. एक मास में दो या तीन बार भुजाओं से नदी पार करने पर प्रायश्चित्त ।
४३४७. संघट्ट, लेप आदि की व्याख्या ।
४३४८. भुजाओं आदि से नदी पार करने के दोष ।
- ४३४९, ४३५०. ऐरावती नदी को पार करने की विधि ।
४३५१. नदी उतरने के तीन मार्ग ।
४३५२. जल-जीवों की विराधना ।
४३५३. संक्रम-सेतु के दो प्रकार ।
४३५४. नोस्थल के प्रकार ।
४३५५. पंकोदक के प्रकार ।
- ४३५६-६३. जल-मार्ग को पार करने की यतना एवं विधान ।
- ४३६४-६९. जल-मार्ग से स्थानान्तरण कब और कैसे ?
- ४३७०-७७. स्थल-मार्ग को छोड़कर जलमार्ग से जाने के कारण एवं उसके विभिन्न विकल्प ।
४३७८. अव्यवहित पृथ्वी आदि पर कायोत्सर्ग आदि करने में दोष ।

- ४३७९, ४३८०. सचित्त पृथ्वी आदि का अर्थ ।
 ४३८१-८३. विविध जीवों के विविध आवास ।
 ४३८४-८६. पृथ्वीकाय में जीवत्व-सिद्धि का दृष्टान्त ।
 ४३८७. अव्यवहित पृथ्वी पर प्रतिलेखना आदि करने के अपवाद ।
 ४३८८-९२. स्थूणा, देहली आदि स्थानों पर कायोत्सर्ग करने के दोष तथा अपवाद ।
 ४३९३-९५. कुड्य आदि पर कायोत्सर्ग आदि करने के दोष तथा अपवाद ।
 ४३९६-९८. स्कन्ध आदि स्थानों पर कायोत्सर्ग करने के दोष तथा अपवाद ।
 ४३९९. गृहस्थ को शिल्प आदि कला सिखाने के दोष ।
 ४४००. वस्त्रसंधान आदि कलाओं का निर्देश ।
 ४४०१-०३. निमित्त कथन के अपवाद ।
 ४४०४. परुष वचन की व्याख्या ।
 ४४०५-०७. गृहस्थ आदि की आशातना तथा उसके दोष ।
 ४४०८. गृहस्थ को कौतुक, भूतिकर्म आदि बताने के दोष ।
 ४४०९-१२. कौतुककर्म, भूतिकर्म, प्रश्नाप्रश्न आदि की व्याख्या ।
 ४४१३. लक्षण के प्रकार ।
 ४४१४. किसमें कितने लक्षण ?
 ४४१५. लक्षण का स्वरूप ।
 ४४१६. मान, उन्मान तथा प्रमाणयुक्त पुरुष ।
 ४४१७. देवों के लक्षण ।
 ४४१८. नारक तथा तिर्यञ्च के लक्षण ।
 ४४१९-२४. स्वप्न का स्वरूप एवं उसके प्रकार ।
 ४४२५, ४४२६. योग का प्रयोग : प्रायश्चित्त एवं अपवाद ।
 ४४२७-३२. मार्ग बताने के दोष, प्रायश्चित्त तथा अपवाद ।
 ४४३३. धातु अथवा खजाना बताने के दोष ।
 ४४३४. धातु के तीन प्रकार ।
 ४४३५. निधि के प्रकार ।
 ४४३६. निधि-उत्खनन के दोष तथा तद्विषयक अपवाद ।

४४३७	मयूरांक राजा ।
४४३८	निधि-उत्खनन और धातु आदि के विषय में बताने के अपवाद ।
४४३९	दर्पण, मणि आदि में स्वयं का प्रतिबिम्ब देखने का निषेध ।
४४४०-४५	दर्पण में प्रतिबिम्ब विषयक मतान्तर ।
४४४६-४९	दर्पण आदि में प्रतिबिम्ब देखने के दोष तथा अपवाद ।
४४५०-५३	वमन-विरेचन के दोष तथा अपवाद ।
४४५४	दुःख में समता ।
४४५५	वमन-विरेचन के अपवाद ।
४४५६-५८	अनागत रोगचिकित्सा करवाने पर दोष तथा उसके अपवाद ।
४४५९	अनागत रोग की चिकित्सा के लाभ ।
४४६०	अनागत रोग की चिकित्सा-विषयक भजना ।
४४६१-६५	पार्श्वस्थ : स्वरूप एवं भेद ।
४४६६	कुशील का स्वरूप ।
४४६७-६९	अवसन्न का स्वरूप एवं भेद ।
४४७०-७२	संसक्त का स्वरूप ।
४४७३	नैतिक का स्वरूप ।
४४७४	काथिक का स्वरूप ।
४४७५, ४४७६	धर्मकथा करना दोष क्यों ?
४४७७-७९	प्राश्निक का स्वरूप ।
४४८०, ४४८१	मामक का स्वरूप ।
४४८२	संप्रसारक का स्वरूप ।
४४८३	संप्रसारणा का स्वरूप ।
४४८४	पार्श्वस्थ आदि की प्रशंसा के दोष ।
४४८५	असंयमी की प्रशंसा का निषेध ।
४४८६-९२	सुखशील के साथ सम्पर्क या प्रशंसा के दोष तथा अपवाद ।
४४९३	पार्श्वस्थ आदि को वंदन-विधि ।
४४९४	वंदना किसको ?

- ४४९५ वंदना न करने के दोष ।
- ४४९६ धात्रीपिण्ड के दोष ।
- ४४९७ धात्री का स्वरूप, भेद तथा अपवाद ।
- ४४९८-४५१६. धात्री-विषयक चर्चा ।
- ४५१७-२४ दूतीपिण्ड की व्याख्या, दृष्टान्त एवं अपवाद ।
- ४५२५-३० निमित्तपिण्ड की व्याख्या, दृष्टान्त एवं अपवाद ।
- ४५३१-३८ आजीवपिण्ड की व्याख्या, उसके भेद एवं अपवाद ।
- ४५३९-५२ वनीपकपिण्ड की व्याख्या, उसके भेद एवं अपवाद ।
- ४५५३-५९ चिकित्सापिण्ड की व्याख्या एवं अपवाद ।
- ४५६०-६४ क्रोधपिण्ड की व्याख्या एवं अपवाद ।
- ४५६५-७५ मानपिण्ड का स्वरूप, दृष्टान्त एवं अपवाद ।
- ४५७६-८२ विद्यापिण्ड और मंत्रपिण्ड की व्याख्या एवं अपवाद ।
- ४५८३-८९ चूर्णपिण्ड की व्याख्या एवं अपवाद ।
- ४५९०-९३ योगपिण्ड के भेद एवं आर्य समित का कथानक ।
- ४५९४ आहारविशुद्धि के साथ पात्रविशुद्धि का निर्देश ।
- ४५९५-४६०६ क्रीतकृत के भेद, उनकी व्याख्या, दोष और अपवाद ।
- ४६०७-१३ प्रामित्य दोष की व्याख्या, दृष्टान्त एवं अपवाद ।
- ४६१४-२० परिवर्तित दोष की व्याख्या, दृष्टान्त एवं अपवाद ।
- ४६२१-२७ आच्छेद्य दोष की व्याख्या, गोपालक का दृष्टान्त तथा उसे ग्रहण करने के दोष ।
- ४६२८-४३ अनिसृष्ट—अननुज्ञात पिण्ड की व्याख्या, दृष्टान्त एवं उसके दोष ।
- ४६४४-९६ पात्र-विषयक निर्देश ।
- ४६९७-९९. एकाकी विहरण करने वाले मुनियों के विविध प्रकार ।
- ४७००, ४७०१. निष्कारण एकाकी विहरण करने वालों के लिए उपदेश आदि का विधान ।
- ४७०२-११. उपधि उपहत कब और कैसे ?
- ४७१२-२१. गच्छनिर्गत शिष्य एवं प्रतीच्छक के विषय में विशेष विधान ।
- ४७२२-३०. गच्छनिर्गत भिक्षु के उपकरण ग्रहण करने के विभिन्न विकल्प एवं उनकी व्याख्या ।
- ४७३१-६५. अतिरिक्त पात्र को देने की प्राथमिकता एवं उसके हेतु ।

४७६६. अतिरिक्त पात्र न देने के कारण।
- ४७६७-६९. ग्राह्य-अग्राह्य पात्रों की व्याख्या एवं उसके अपवाद।
- ४७७०-७२. पात्र-परिकर्म विषयक विधि-निषेध एवं अपवाद।
- ४७७३-८८. पात्रैषणा की विधि।
- ४७८९-९३. पात्र-कोरण विषयक-विधि एवं अपवाद।
- ४७९४-४८०६. स्थान एवं अस्थान में पात्रैषणा के विषय में यतना।
- ४८०७-११. पात्र-प्राप्ति की कालसीमा एवं उसके अतिक्रमण के कारण।
- ४८१२ चौदहवें और पन्द्रहवें उद्देशक की सम्बन्ध गाथा।
- ४८१३-३१ आम से सम्बन्धित अनेक विधान और उनके अपवाद।
- ४८३२-३४ चतुर्विध आम।
- ४८३५-३८ भाव आम के प्रकार।
- ४८३९-४३ भिन्न शब्द के चार निक्षेप तथा उनसे सम्बन्धित प्रायश्चित्त।
- ४८४४-५३ परीत प्रलंब ग्रहण करने के विविध प्रायश्चित्त तथा दोष।
- ४८५४-६९ कोट्टक में जाते समय भंग-रचना और उसके प्रायश्चित्त।
- ४८७०-४९१६ प्रलम्ब ग्रहण : प्रकार, दोष एवं प्रायश्चित्त।
- ४९१७, ४९१८ उपसर्गयुक्त देश में रहने का निषेध।
- ४९१९ व्यसनयुक्त एवं विषययुक्त राजा के राज्य में अराजकता।
- ४९२० सात व्यसन।
- ४९२१-२३ गच्छ सारणा : चतुर्भंगी एवं उसकी व्याख्या।
४९२४. सुखसाध्य कार्य की सावधानियां।
- ४९२५-२७ अभिनव रोग की चिकित्सा क्यों?
- ४९२८ उपाय-अनुपाय में सहसा उत्पन्न ज्वर का दृष्टान्त।
- ४९२९-३१ कार्यसंसिद्धि में उचित देश-काल।
४९३२. प्रतिसेवना में प्रवृत्त क्यों?
- ४९३३-३५ प्रतिसेवना और गीतार्थ।
- ४९३६-४७ गीतार्थ और केवली की तुलना।
- ४९४८-५२ अनंतकाय वनस्पति के लक्षण।

- ४९५३ परित्त वनस्पति के लक्षण।
- ४९५४-५६. पृथ्वीकाय आदि के अचित्त होने के कारण।
- ४९५७, ४९५८. वनस्पति के प्रसंग में अन्य कार्यों का ग्रहण क्यों ?
- ४९५९, ४९६०. फूलों के अचित्त होने में कालगत भिन्नता।
४९६१. पत्र आदि हरियाली के अचित्त होने का लक्षण।
४९६२. ग्रहण और प्रक्षेपण की चतुर्भंगी।
- ४९६३-७६. प्रायश्चित्त की विषमता के संदर्भ में प्रश्न एवं समाधान।
- ४९७७-८०. लोकोत्तर धर्म में अनुधर्मता और महावीर-जीवन।
४९८१. प्रलम्ब-ग्रहण के विषय में निर्ग्रन्थी-विषयक विधि।
४९८२. आम-प्रलम्ब लेने में दोष।
- ४९८३-८६. प्रलम्ब-ग्रहण से सम्बन्धित भंगों की व्याख्या।
- ४९८७-९३. दृष्टान्त का महत्त्व।
- ४९९४-९९. प्रलम्ब-ग्रहण के विषय में दृष्टान्त।
- ५०००-५००६. अटवी-यतना एवं उसकी विधि।
५००७. आतंक की व्याख्या।
५००८. रोग के प्रकार।
५००९. आगाढ़-ग्लानत्व में भजना।
- ५०१०, ५०११. ग्लान-विषयक द्वार गाथा।
५०१२. चतुर्विध रोग की चिकित्सा।
- ५०१३, ५०१४. चिकित्सा-विषयक विकल्प।
- ५०१५, ५०१६. ग्लानविषयक द्वारगाथा की व्याख्या।
- ५०१७-२८. निर्ग्रन्थी विषयक प्रलम्ब-ग्रहण की विधि।
- ५०२९-३४. निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थी के विधान में भेद क्यों ?
५०३५. देवी और ककड़ी।
- ५०३६-४०. अविधिभिन्न प्रलम्ब ग्रहण के दोष।
- ५०४१-४३. सूत्रोक्त विधान के कारण।
- ५०४४-६९. प्रलम्ब-ग्रहण विषयक विविध अपवाद एवं यतना।

- ५०७०-७३ गृहस्थ से पाद-प्रमार्जन यावत् शीर्षद्वारिका के दोष तथा अपवाद ।
- ५०७४-७९ आगंतागार, आरामागार, उद्यान आदि स्थानों में उच्चार-प्रस्रवण परिष्ठापन के दोष तथा अपवाद ।
- ५०८०-८९ गृहस्थ को अशन-पान आदि देने में दोष तथा उसके अपवाद ।
- ५०९०-५१०० पार्श्वस्थ, अवसन्न आदि को अशन-आदि देने के दोष, अपवाद तथा प्रायश्चित्त ।
- ५१०१-२१ गृहस्थ या अन्यतीर्थिक को वस्त्र देने के दोष तथा अपवाद ।
- ५१२२ वस्त्र के दो प्रकार ।
- ५१२३ वस्त्र के चतुर्विध निक्षेप एवं उनकी व्याख्या ।
- ५१२४-२८ उत्कृष्ट आदि वस्त्र-ग्रहण के प्रायश्चित्त ।
- ५१२९-३५ गच्छवासी मुनियों की वस्त्र ग्रहण की चार प्रतिमाओं की व्याख्या ।
- ५१३६-४३ वस्त्र-ग्रहण करने की विधि तथा वस्त्र सम्बन्धी विधान एवं प्रायश्चित्त ।
- ५१४४-८६. याचनावस्त्र एवं निमन्त्रणावस्त्र ग्रहण करते समय किए जाने वाले प्रश्न एवं उनके हेतु ।
- ५१८७-८९. वस्त्र-ग्रहण करने के बाद द्वितीय अवग्रह किसका और क्यों ?
- ५१९०-९६. साध्वी वस्त्र-ग्रहण क्यों न करे ?
- ५१९७-५२०३. सोलह स्थानों में वस्त्र याचना का निषेध एवं उसके हेतु ।
- ५२०४-११. वस्त्र-परिभोग की विधि ।
- ५२१२-१५ विभूषा के लिए पाद-प्रमार्जन आदि करने के दोष तथा उसके अपवाद ।
५२१६. पन्द्रहवें और सोलहवें उद्देशक की सम्बन्ध गाथा ।
- ५२१७ सागारिक शय्या में रहने का प्रायश्चित्त ।
- ५२१८ सागारिक शय्या के दो प्रकार ।
- ५२१९-२२ सागारिक के निक्षेप एवं उनकी व्याख्या ।
- ५२२३-३५ सागारिक शय्या में रहने के दोष ।
- ५२३६-३८ रूप के तीन प्रकार ।
- ५२३९, ५२४० दिव्य प्रतिमा वाले उपाश्रय में रहने के प्रायश्चित्त ।
- ५२४१-४८ परिगृहीत प्रतिमा वाले उपाश्रय के प्रायश्चित्त ।
- ५२४९-५७ प्राजापत्य परिगृहीत प्रतिमा विषयक दोष एवं प्रायश्चित्त ।
- ५२५८-६१ आज्ञाभंग के विषय में मौर्य दृष्टान्त ।

- ५२६२ सागारिक शय्या में रहने के दोष।
- ५२६३ असन्निहित प्रतिमा वाले उपाश्रय में रहने के दोष।
- ५२६४-७४ सन्निहित प्रतिमा वाले उपाश्रय में रहने के दोष तथा प्रायश्चित्त।
- ५२७५ सन्निहित प्रतिमाओं के प्रकार।
- ५२७६-७९ सन्निहित देवियों के प्रकार एवं उनकी व्याख्या।
- ५२८०-८४ किसके प्रति किया गया अपराध गुरुतर।
- ५२८५ राग के आधार पर कर्मबन्ध।
- ५२८६ प्रायश्चित्त में तरतमता।
- ५२८७-९६ मनुष्य रूप के तीन प्रकार के भेद-प्रभेदों की व्याख्या तथा तत्सम्बन्धी प्रायश्चित्त।
- ५२९७ लेप्य प्रतिमाओं तथा स्त्री का आलिंगन आदि के दोष।
- ५२९८-५३०४ मनुष्य-स्त्री के प्रकार एवं उनकी व्याख्या।
- ५३०५-१३ तिर्यञ्च स्त्री रूप के प्रकार उनके साथ रहने एवं प्रतिसेवना करने के विविध प्रायश्चित्त।
- ५३१४ मनुष्यस्त्री और तिर्यञ्चस्त्री में अन्तर।
- ५३१५-१७ तिर्यञ्च स्त्री के चार विकल्प एवं उनकी व्याख्या।
- ५३१८-२० साध्वियों को पुरुषप्रतिमा वाले स्थान में रहने का निषेध तथा अपवाद।
- ५३२१ अल्प दोषवाले उपाश्रय में रहने का निर्देश।
- ५३२२ विभागतः सागारिक उपाश्रय के वर्णन की प्रतिज्ञा।
५३२३. श्रमणियों के लिए अनुज्ञात उपाश्रय।
- ५३२४-३३ निषिद्ध उपाश्रय, व्याख्या एवं प्रायश्चित्त।
- ५३३४-३८. पुरुषों के प्रकार और उनकी व्याख्या।
५३३९. नपुंसक के प्रकार।
- ५३४०-४७. श्रमणों के लिए निषिद्ध उपाश्रय एवं रहने के प्रायश्चित्त।
- ५३४८-५२. श्रमणियों के लिए निषिद्ध उपाश्रय।
- ५३५३-५८ सउदक शय्या की विस्तृत व्याख्या एवं तत्सम्बन्धी प्रायश्चित्त।
- ५३५९-७४ सूत्र के प्रकार एवं उनकी व्याख्या।
- ५३७५ मोक्ष का उपाय।
- ५३७६-५४०९ सउदक शय्या में रहने का प्रतिषेध, दोष, प्रायश्चित्त तथा अपवाद।

- ५४१०-५४२८. सउदक शय्या में रहते समय की जाने वाली यतना।
- ५४२९-३२ प्रमादी या सुप्त रहने की हानियां।
- ५४३३ चोर द्वारा जल ले जाने पर विधान।
- ५४३४-३७ दकतीर की व्याख्या, उसके भंग।
- ५४३८-६५/१. दकतीर पर विविध क्रियाएं करने से दोष एवं उनका प्रायश्चित्त।
- ५४६६-६९ दकतीर पर आतापना के दोष तथा उसकी यतना।
- ५४७०-७५ विशिष्ट प्रयोजन से दकतीर पर आतापना।
- ५४७६-५५०३. साग्निक शय्या के प्रकार और वहां रहने पर प्रायश्चित्त किसे? जिज्ञासा : समाधान।
- ५५०४-१२. ज्योतियुक्त उपाश्रय में रहने के दोष एवं प्रायश्चित्त।
- ५५१३-१७ कुंभकार की पांच शालाएं तथा उनमें रहने का प्रायश्चित्त।
- ५५१८-२७ पचन, व्याघरण एवं ईंधनशाला में रहने का निर्देश, यतना तथा अपवाद।
- ५५२८-३३ दीपक के दो प्रकार, दीपक युक्त शय्या में रहने का प्रायश्चित्त तथा यतना।
- ५५३४ सोलहवें-सत्तरहवें उद्देशक की सम्बन्ध गाथा।
- ५५३५, ५५३६ इक्षु के विविध अवयवों की व्याख्या।
- ५५३७, ५५३८ आरण्यक और वण्णंधा की व्याख्या।
- ५५३९-४३ आरण्यक आदि से अशन-पान लेने के दोष तथा अपवाद।
- ५५४४, ५५४५ वसुरात्मिक को अवसुरात्मिक तथा अवसुरात्मिक को वसुरात्मिक कहने के दोष।
- ५५४६ दोषारोपण करने के कारण।
- ५५४७-५५ विहरमाण संविग्न की अवहेलना के कारण, दोष तथा चारित्र के प्रकार।
५५५६. प्रमाण के प्रकार।
- ५५५७, ५५५८. प्रत्यक्षज्ञानी और परोक्षज्ञानी के ज्ञान में साम्य।
- ५५५९ आराधक कौन?
- ५५६० सुलभबोधि कौन?
- ५५६१ दुर्लभबोधि कौन?
- ५५६२ यथाख्यात चारित्र की प्राप्ति किसके?
- ५५६३ दीर्घसंसारी कौन?
- ५५६४ आत्म-अहितैषी कौन?

- ५५६५ वसुरात्मिक को अवसुरात्मिक कहने के अपवाद ।
 ५५६६-७२ शिथिलाचारियों की प्रशंसा के दोष ।
 ५५७३ सुलभबोधि-दुर्लभबोधि की पहचान ।
 ५५७४ अवसुरात्मिक को वसुरात्मिक कहने के अपवाद ।
 ५५७५ वसुरात्मिक गण से अवसुरात्मिक गण में संक्रमण करने के दोष ।
 ५५७६ उपसम्पदा का काल ।
 ५५७७ स्वीकृत उपसम्पदा को छोड़कर अन्यत्र जाने का प्रायश्चित्त ।
 ५५७८-८१ गुरुकुल वास में रहने के लाभ ।
 ५५८२ गण-संक्रमण के प्रशस्त कारण ।
 ५५८३-९६ गण-संक्रमण के अन्य कारण तथा उसके प्रायश्चित्त ।
 ५५९७-५६०५ प्रतीच्छक-विषयक चर्चा ।
 ५६०६ व्यक्त और अव्यक्त की चतुर्भंगी ।
 ५६०७, ५६०८ गण संख्या में सहायक विषयक-विधि ।
 ५६०९ व्यक्त को सहायक न देने का अपवाद ।
 ५६१०-२७ एकाकी गमन एवं उसके प्रायश्चित्त ।
 ५६२८ ज्ञातिवर्ग के दो प्रकार ।
 ५६२९-४० शिष्य-निर्माण की विधि ।
 ५६४१ शिष्य का निर्माण न होने पर करणीय कार्य ।
 ५६४२-४४ एकपाक्षिक कौन, उसके प्रकार ।
 ५६४५. उपसम्पदा के पांच प्रकार ।
 ५६४६-५८. श्रुत-सम्पदा एवं उसकी विधि ।
 ५६५९-६२. अविधि से उपसम्पदा और उसके अपवाद ।
 ५६६३-७७. चरित्रार्थ उपसम्पदा और उसकी विधि एवं अविधि ।
 ५६७८-८८. सम्भोज के लिए गण-संक्रमण एवं उसकी विधि ।
 ५६८९ संविग्न से असंविग्न गण में संक्रमण का परिणाम ।
 ५६९०, ५६९१ पार्श्वस्थ, यथाच्छंद आदि स्थानों में प्रवेश करने का परिणाम ।
 ५६९२ असंविग्न के पांच प्रकार ।

- ५६९३, ५६९४ पार्श्वस्थ की आलोचना।
- ५६९५ आचार्यार्थ गण-संक्रमण करने वाले के तीन कारण।
- ५६९६ ज्ञानार्थ संक्रमण करने के लिए यावज्जीवन शिष्यत्व स्वीकार करना आवश्यक नहीं।
- ५६९७-५७०८ दर्शन और चारित्र के लिए गण-संक्रमण।
- ५७०९-१७ संविग्न अगीतार्थ आदि को आचार्य रूप में उद्दिष्ट करने पर प्रायश्चित्त तथा अवसन्न आचार्य को प्रेरित करने की विधि।
- ५७१८, ५७१९ गण-अपक्रमण के आठ स्थान।
- ५७२०-४९ निहववाद : कथानक एवं उनका समय।
- ५७५०-५७ निहवों को अशन-पान आदि देने पर दोष तथा अपवाद।
- ५७५८--८१ सुदीर्घ अटवी में गमन का निषेध, दोष तथा उसका प्रायश्चित्त।
- ५७८२-८५ सार्थ के पांच प्रकार तथा गमन हेतु उन्हें ग्रहण करने का क्रम।
- ५७८६-९४. सार्थ प्रत्युपेक्षा की विधि।
५७९५. सार्थवाह एवं आदियात्रिक के प्रकार।
- ५७९६-५८००. शुद्ध एवं अशुद्ध सार्थ की व्याख्या।
- ५८०१-५८०६. सार्थ की अनुज्ञा-विधि एवं अन्य विधान।
- ५८०७-१५. अध्यवसाय विषयक विधि-निषेध।
- ५८१६-२८. अटवी गमन के अन्य विधान।
५८२९. राजप्रद्वेष के कारण।
५८३०. प्रद्विष्ट राजा द्वारा दिए गए दंड।
- ५८३१-४७. राजा को प्रद्विष्ट करने के दोष तथा यतना।
- ५८४८, ५८४९. विरूप, प्रत्यन्तवासी आदि शब्दों की व्याख्या।
- ५८५०-५२. आर्य देश से अनार्य देश में संक्रमण विषयक चतुर्भंगी।
५८५३. आर्य-अनार्य की भेदरेखा।
५८५४. साधुओं की विहार-भूमि।
- ५८५५-६२. आर्यक्षेत्र में विहरण के गुण, बाहर विहरण करने पर दोष तथा प्रायश्चित्त।
- ५८६३-६५. आचार्य स्कन्दक का कथानक।
- ५८६६-६९. राजा सम्प्रति और मौर्यवंश।

- ५८७०-८०. राजा सम्प्रति की लोक एवं लोकोत्तर सेवा ।
- ५८८१-८६. जुगुप्सित कुल के दो प्रकार, उनमें अशन-पान आदि ग्रहण करने के दोष तथा अपवाद ।
- ५८८७-९२. आकाश में डोरी आदि से लटकाकर भोजन आदि प्रतिष्ठित करने के दोष तथा अपवाद ।
- ५८९३-५९०२. गृहस्थों के बीच आहार-पानी का भोग करने के दोष, प्रायश्चित्त तथा अपवाद ।
- ५९०३-०६. गुरु के आहार, उपधि और शरीर का पैरों से संघट्टन होने पर क्षमायाचना न करने से दोष तथा अपवाद ।
५९०७. गणना और प्रमाण से हीन या अधिक उपधि रखने के दोष ।
५९०८. उपधि सम्बन्धी द्वार ।
- ५९०९-१५. जिनकल्पिक मुनियों की उपधि के प्रकार एवं उनका परिमाण ।
- ५९१६-२९. स्थविरकल्पिक मुनियों की उपधि और उसका परिमाण ।
- ५९३०-३५. वस्त्र-विषयक अन्य विकल्प ।
- ५९३६-४३. वस्त्र परिकर्म एवं उसके अपवाद ।
- ५९४४, ५९४५. पात्र विषयक विभिन्न द्वार ।
- ५९४६-५७. अतिरिक्त एवं हीन प्रमाण वाला पात्र रखने का दोष ।
- ५९५८-६०. पात्र का परिमाण ।
- ५९६१-६६. हीनाधिक प्रमाण वाला पात्र रखने का कारण ।
- ५९६७-७२. लाक्षणिक एवं अपलक्षण पात्र ।
- ५९७३-८४. पात्र के प्रकार, उनकी प्राप्ति के स्थान एवं परिकर्म ।
- ५९८५-६०२२. पात्र एवं मात्रक विषयक अन्य विधियां एवं अपवाद ।
- ६०२३, ६०२४. सचित्त पृथ्वी आदि स्थानों पर परिष्ठापन करने के दोष एवं अपवाद ।
६०२५. सोलहवें और सत्तरहवें उद्देशक की सम्बन्ध गाथा ।
६०२६. कुतूहल से बछड़े आदि को दर्भ से बांधने के दोष ।
- ६०२७-३०. बंदर, मोर आदि को बांधने एवं खोलने के दोष एवं अपवाद ।
- ६०३१, ६०३२. मालाएं धारण करने के दोष एवं अपवाद ।
- ६०३३, ६०३४. विविध धातुओं के निर्माण, धारण आदि दोष तथा उसके अपवाद ।
- ६०३५, ६०३६. आभूषण-धारण के दोष एवं अपवाद ।

- ६०३७, ६०३८. विविध प्रकार के वस्त्रधारण करने के दोष एवं अपवाद ।
- ६०३९-५२. गृहस्थों या स्त्रियों से साधुओं का पाद-प्रमार्जन करवाने के दोष एवं अपवाद ।
- ६०५३, ६०५४. दसविध स्थितकल्प ।
६०५५. स्थापनाकल्प के प्रकार ।
- ६०५६, ६०५७. सदृशकल्प और विसदृशकल्प कौन ?
- ६०५८-६०. सदृशकल्पी को स्थान न देने का प्रायश्चित्त ।
- ६०६१-६३. एकत्र संभोज के लाभ तथा पारस्परिक सौहार्द की प्रेरणा ।
६०६४. वृषभग्राम में प्रवास विषयक विधि ।
- ६०६५-६९. सांभोजिक मुनियों को स्थान न देने के अपवाद ।
६०७०. मालापहत के तीन प्रकार ।
- ६०७१-७५. मालापहत दोष और उसके अपवाद ।
- ६०७६-७८. उद्भिन्न के भेद, उसके दोष तथा अपवाद ।
- ६०७९-८१. निक्षिप्त दोष की व्याख्या ।
६०८२. एकेन्द्रिय की वेदना का दृष्टान्त ।
- ६०८३-८५. निक्षिप्त भिक्षा ग्रहण करने के अपवाद ।
६०८६. अत्युष्ण आहार करने के दोष ।
- ६०८७-८९. उष्ण आहार ग्रहण करने के दोष, अपवाद एवं यतना ।
- ६०९०-९७. उत्स्वेदिम और संस्वेदिम आदि पानक, अपरिणत पानक ग्रहण करने के दोष, प्रायश्चित्त तथा अपवाद ।
६०९८. आचार्य बनने हेतु आचार्यत्व के लक्षणों का कथन करने पर दोष ।
- ६०९९, ६१००. मान-उन्मान-प्रमाणयुक्त पुरुष ।
- ६१०१, ६१०२. लोकमान्य आचार्य के लक्षण ।
- ६१०३-०७. आचार्य बनने हेतु स्वयं के विशिष्ट लक्षण बताने पर प्रायश्चित्त तथा उसके अपवाद ।
- ६१०८-१४. भिक्षु के नाच, गाना आदि करने पर दोष तथा अपवाद पद ।
- ६११५-१६. विविध वाद्यों के शब्द तथा अन्य स्थानों के शब्द सुनने हेतु गमन करने पर दोष तथा उसके अपवाद ।
- ६११७, ६११८. सत्तरहवें और अठारहवें उद्देशक की सम्बन्ध गाथा ।

- ६११९-२१. नौका द्वारा जल में गमन करने के दोष एवं अपवाद ।
 ६१२२ नौका निर्युक्ति के आठ प्रकार एवं उनकी व्याख्या ।
 ६१२३-२६ नौका-क्रय तथा नौका-गमन विचार ।
 ६१२७ अकारण नौका में चढ़ने का प्रायश्चित्त ।
 ६१२८ नौ संतारिम पथ के प्रकार ।
 ६१२९ नौकाओं के चार प्रकार ।
 ६१३० नौका में चढ़ने का अपवाद ।
 ६१३१-३४ नौका सम्बन्धी विविध दोष एवं उसके अपवाद ।
 ६१३५-३९ नौका सम्बन्धी विविध उपकरण एवं उनकी व्याख्या ।
 ६१४०-४४ नौका डूबने पर पार लगाने का क्रम ।
 ६१४५-४७ नौका में स्थित होकर भिक्षा लेने के दोष एवं अपवाद ।
 ६१४८ पात्र की भांति वस्त्र के ग्रहण की विधि का निर्देश ।
 ६१४९, ६१५० अठारहवें और उन्नीसवें उद्देशक की सम्बन्ध गाथा ।
 ६१५१-७४ मद्य-ग्रहण के दोष, तद्विषयक विविध नियम तथा अपवाद ।
 ६१७५-८४. चार सन्ध्याओं में स्वाध्याय करने के दोष तथा अपवाद ।
 ६१८५-९० इन्द्रमह, स्कन्दमह आदि चार महोत्सवों में स्वाध्याय करने के दोष ।
 ६१९१-९४ स्वाध्यायकाल में स्वाध्याय न करने के दोष तथा उसके अपवाद ।
 ६१९५ अस्वाध्यायी के प्रकार ।
 ६१९६ परसमुत्थ अस्वाध्यायी के प्रकार ।
 ६१९७-६२०५ संयमघाती अस्वाध्यायी की व्याख्या ।
 ६२०६-०८ उत्पात सम्बन्धी अस्वाध्यायी की व्याख्या ।
 ६२०९-१४ सादेव्य अस्वाध्यायी के विविध प्रकार एवं उनकी व्याख्या ।
 ६२१५-१९ व्युद्ग्रह सम्बन्धी अस्वाध्यायी की व्याख्या ।
 ६२२०-३९ शरीरसम्बन्धी अस्वाध्यायी के प्रकार एवं उनकी व्याख्या ।
 ६२४०, ६२४१ बारह परिष्ठापन भूमियों की प्रतिलेखना ।
 ६२४२-४५ सूर्यास्त के साथ सामान्यतः आवश्यक करने का विधान ।
 ६२४६-५१. द्विविध काल एवं काल प्रतिलेखना ।

६२५२. काल प्रतिलेखक की विशिष्टताएं।
- ६२५३-८६ काल-प्रतिलेखना की विस्तृत विधि।
- ६२८७-९५ आत्मसमुत्थ अस्वाध्यायी के प्रकार एवं उनकी व्याख्या।
- ६२९६-६३०० अस्वाध्याय में स्वाध्याय करने के दोष तथा उसके अपवाद।
- ६३०१-०४ उत्क्रम से वाचना देने के दोष तथा अपवाद।
- ६३०५ छेदसूत्रों का महत्त्व।
- ६३०६, ६३०७. अपृथक्त्वानुयोग कथन-विधि एवं दोष।
- ६३०८-१३ आर्यरक्षित द्वारा पृथक्त्वानुयोग का प्रवर्तन।
- ६३१४, ६३१५. अनुयोग की विभाषा एवं उसके लाभ।
६३१६. अपृथक्त्वानुयोग में पृथक्त्वानुयोग से व्याख्या करने के दोष।
- ६३१७, ६३१८. चरणकरणानुयोग से पूर्व अन्य अनुयोगों की व्याख्या करने के दोष तथा उसके अपवाद।
६३१९. वाचना के अयोग्य कौन ?
- ६३२०-२२. द्रव्य और भाव तिंतिण शब्द की व्याख्या।
- ६३२३-२७. चपल के चार प्रकार एवं उनकी व्याख्या।
६३२८. गाणंगणिक कौन ?
६३२९. दुर्बलचारित्री कौन ?
६३३०. सुखशील को प्रवचन-रहस्य बताने के दोष।
६३३१. आचार्यपरिभाषी कौन ?
६३३२. वामावर्त कौन ?
६३३३. पिशुन कौन ? पिशुनता का प्रायश्चित्त।
६३३४. अर्थवाचना के अयोग्य कौन ?
६३३५. आदिअदृष्टभाव कौन ?
- ६३३६-४०. अकृतसामाचारी कौन ?
६३४१. तरुणधर्मा कौन ?
६३४२. दुर्विनीत को श्रुतदान नहीं।
६३४३. ज्ञान के साथ अहंकार का विरोध।
- ६३४४, ६३४५. प्रकीर्ण के प्रकार एवं उनकी व्याख्या।

६३४६. श्रुतदाता आचार्य का निह्व (अपलाप) करने के दोष एवं प्रायश्चित्त ।
- ६३४७-५१. ज्ञान-दान और वाचना के अयोग्य वाचना देने के प्रायश्चित्त ।
- ६३५२, ६३५३. अपात्र को वाचना देने के अपवाद ।
६३५४. पात्र को वाचना न देने के दोष ।
- ६३५५-५८. पात्र को वाचना न देने के कारण ।
६३५९. अव्यक्त को वाचना देने का अपवाद ।
६३६०. व्यक्त को वाचना न देने के कारण ।
६३६१. प्राप्त को वाचना न देने के दोष ।
६३६२. अप्राप्त को वाचना देने के कारण ।
६३६३. प्राप्त को वाचना न देने के कारण ।
६३६४. अपात्र को ज्ञान-दान : कच्चे घड़े का दृष्टान्त ।
- ६३६५-७०. समान शिष्यों में एक को वाचना देने और एक को न देने पर दोष तथा उसके अपवाद ।
- ६३७१-७८. अदत्त वाणी के प्रकार, प्रयोग करने पर दोष और अपवाद ।
- ६३७९-८२. गृहस्थ को वाचना देने पर प्रायश्चित्त तथा दोष ।
६३८३. वाचना के योग्य कौन ?
६३८४. सुगति किसकी ?
६३८५. वाचना-ग्रहण करने का अधिकारी ।
- ६३८६-८८. वाचना-ग्रहण के संदर्भ में अपवाद ।
- ६३८९-९२. श्रुत-ग्रहण की विधि ।
६३९३. उन्नीसवें और बीसवें उद्देशक की सम्बन्ध-गाथा ।
६३९४. जे से आदि निर्देशवाची शब्द ।
६३९५. भिक्षु के चार निक्षेप ।
- ६३९६-६४०१. भिक्षु शब्द की व्याख्या ।
६४०२. भिक्षु शब्द के एकार्थक ।
- ६४०३-१२. मास शब्द के निक्षेप एवं उनकी व्याख्या ।
- ६४१३-१६. परिहार शब्द की व्याख्या ।
- ६४१७-२३. स्थान शब्द के पन्द्रह निक्षेप एवं उनकी व्याख्या ।

६४२४. प्रतिसेवना के प्रकार ।
- ६४२५-२७. प्रायश्चित्त क्यों ?
- ६४२८, ६४२९. प्रतिसेवना और कर्म का सम्बन्ध ।
- ६४३०-३२. शल्योद्धरण की अनिवार्यता एवं आलोचना के प्रकार ।
६४३३. आलोचना परिणत साधु अंतराल में कालगत होने पर भी आराधक ।
६४३४. उत्कृष्टतः बारह वर्षों से आलोचना करना अनिवार्य ।
- ६४३५-३८. विहारालोचना के प्रकार एवं व्याख्या ।
- ६४३९-४३. मूलगुण की आलोचना करने का क्रम ।
- ६४४४-४७. उपसम्पदालोचना के प्रकार और उनका काल ।
- ६४४८-६१. निर्गमन दोषयुक्त क्यों बनता है ?
- ६४६२-७३. उपसम्पदा के योग्य भिक्षु की परीक्षा विधि ।
- ६४७४-८१. अयोग्य शिष्य को उपसम्पदा हेतु निषेध करने की विधि ।
- ६४८२-९७. ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र के लिए उपसम्पदा लेने वाले शिष्य की पृच्छा आदि की विधि ।
- ६४९८-६५००. अपराध आलोचना की व्याख्या ।
- ६५०१-०९. अपराध विषयक आलोचना करने के प्रशस्त और अप्रशस्त स्थान, काल और द्रव्य आदि ।
- ६५१०, ६५११. आलोचना करने की विधि ।
६५१२. आलोचना करने के गुण ।
- ६५१२/१. बालक की भांति सरल हृदय से आलोचना करने का निर्देश ।
६५१३. आलोचनार्ह के प्रकार ।
६५१४. आगमव्यवहारी के प्रकार ।
६५१५. श्रुतव्यवहारी के प्रकार ।
- ६५१६., ६५१७. आलोचक की चतुर्भंगी, मायापूर्वक आलोचना करने से प्रायश्चित्त ।
६५१८. श्रुतव्यवहारी का व्यवहार-प्रयोग ।
६५१९. मायावी आलोचक के दृष्टान्त ।
- ६५२०-४३. प्रायश्चित्त-दान में विभिन्नता का कारण और गर्दभ दृष्टान्त ।
६५४४. बहुक के प्रकार ।

६५४५. प्रायश्चित्त के द्वार ।
 ६५४६.-४९. प्रायश्चित्त स्वीकर्ता के प्रकार ।
 ६५५०-८०. स्थापना के स्थान एवं उनकी व्याख्या ।
 ६५८१. प्रायश्चित्त और असंयम के स्थान ।
 ६५८२. शोधिकारक प्रायश्चित्त के तीन प्रमाण ।
 ६५८३, ६५८४. प्रायश्चित्त देने के अधिकारी ।
 ६५८५-८८. निशीथसूत्र के वर्णित प्रायश्चित्त ।
 ६५८९-६६११. विविध प्रकार के स्थापना आरोपणा के स्थान ।
 ६६१२. अतिचार के स्थान ।
 ६६१३. अतिक्रम योजना ।
 ६६१४. जिनकल्प के अतिचार ।
 ६६१५. स्थविरकल्प में प्रायश्चित्त ।
 ६६१६. निशीथ का निर्यूहण प्रत्याख्यान पूर्व से ।
 ६६१७-४९. दोष-एकत्व के कारण तथा उनके दृष्टान्त ।
 ६६५०, ६६५१. उत्तरगुण की व्याख्या ।
 ६६५२. प्रायश्चित्त वहन कर्ता निर्ग्रन्थ के प्रकार ।
 ६६५३-७५. विविध प्रायश्चित्त स्थान ।
 ६६७६. मूल प्रायश्चित्त किसे ?
 ६६७७-९०. प्रायश्चित्त विषयक चलमाण-प्रत्यवस्थान ।
 ६६९१-९९. अतिरेक प्रायश्चित्त क्यों ?
 ६७००-०३. परिहार तप की योग्यता एवं उसकी विधि ।
 ६७०४. परिहार तप और शुद्धतप में मण्डप और दृष्टान्त ।
 ६७०५-०७. परिहारतप और शुद्धतप के अधिकारी ।
 ६७०८-१६. परिहारतप स्वीकार कराने की विधि एवं उसकी चर्या ।
 ६७१७-१९. तप में शुद्धि का हेतु ।
 ६७२०. शुद्धतप और परिहारतप में कठोर तप कौन ?
 ६७२१-२८. वैयावृत्त्य के प्रकार एवं उनकी व्याख्या ।

- ६७२९-३१. हितकारी आचार्य कौन ?
- ६७३२, ६७३३. कृत्स्न के छह प्रकार ।
- ६७३४-३९. पूर्वानुपूर्वी का विवेचन ।
- ६७४०, ६७४२. आलोचना में माया की चतुर्भंगी और व्याध आदि के दृष्टान्त ।
६७४३. शुद्ध आलोचना का स्वरूप ।
६७४४. आलोचना-सामाचारी ।
६७४५. आचार्य के प्रकार ।
- ६७४६-५७. आलोचक और आलोचनार्ह के आधार पर आचार्य के नौ विकल्प एवं उनकी व्याख्या ।
६७५८. प्रायश्चित्त प्रस्थापना के प्रकार ।
- ६७५९-६३. आरोपणा प्रायश्चित्त के पांच प्रकार एवं उनकी व्याख्या ।
- ६७६४-७४. प्रायश्चित्तार्ह के प्रकार एवं भेद-प्रभेद ।
६७७५. दोष और सामर्थ्य के अनुसार दण्ड ।
- ६७७६, ६७७७. चिकित्सा-प्रायश्चित्त और परिचारक भिक्षु ।
- ६७७८-६७८१. सापेक्ष आचार्य आदि के प्रायश्चित्त ।
६७८२. निशीथकल्प के चार प्रकार ।
- ६७८३-८६. श्रद्धान निशीथकल्प के भेद ।
- ८७८७, ६७८८. आचरण निशीथकल्प का स्वरूप ।
६७८९. ग्रहण निशीथकल्प की विधि ।
- ६७९०, ६७९१. शोधिकल्प का स्वरूप ।
६७९२. प्रकल्पधर के तीन प्रकार ।
- ६७९३-९६. प्रायश्चित्त के लाभ ।
६७९७. स्वस्थान और विस्तार प्रायश्चित्त का भेद ।
६७९८. ओघ प्रायश्चित्त के तीन स्थान ।
६७९९. दीर्घसंसारी कौन ?
- ६८००, ६८०१. छेदसूत्रों में चतुर्विध अनुयोग विधि ।
६८०२. प्रमत्त साधु की आत्मविराधना ।
- ६८०३-०६. अपराधपद के दोष और अपवाद ।

६८०७. तुल्य प्रज्ञप्ति में अर्थनानात्व ।
 ६८०८. बीसवें अध्ययन की विषयवस्तु ।
 ६८०९. जिन-प्रज्ञप्त विधि का समाचरण न करने के दोष ।
 ६८१०. अपराध के आधार पर प्रायश्चित्त ।
 ६८११. वैराग्ययुक्त की पापोपरति ।
 ६८१२. यतना और अयतना का स्वरूप ।
 ६८१३. अपायदर्शन का लाभ ।
 ६८१४. जिनकल्पी के अपवाद नहीं ।
 ६८१५. श्रोतव्य कल्प का प्रयोजन ।
 ६८१६, ६८१७. प्रकल्प अध्ययन के अर्थाधिकार ।
 ६८१८. प्रकल्प अध्ययन की वाचना के अयोग्य कौन ?
 ६८१९. प्रकल्प अध्ययन की वाचना के योग्य कौन ?

निशीथ-निर्युक्ति एवं भाष्य

१. नवबंभचेरमइओ, अट्टारसपदसहस्सिओ वेदो।
हवति य सपंचचूलो, बहु^१-बहुतरओ^२ पदग्गेणं^३ ॥१॥ नि १ ॥
२. आयारपकप्पस्स तु इमाइ गोण्णाइ नामधेज्जाइं।
आयारमादियाइं पायच्छित्तेणऽहीगारो^४ ॥२॥ नि २ ॥
३. आयारो अगं 'ति य'^५, पकप्प तह चूलिया णिसीहं ति।
णिसियं सुत्तत्थ तहा, तदुभय अणुपुव्वि^६ अक्खातं ॥३॥ नि ३ ॥
४. आयारे निक्खेवो, चउव्विधो^७ दसविधो य अग्गम्मि।
छक्को य पकप्पम्मी^८, चूलियाए निसीहे यं^९ ॥४॥ नि ४ ॥
५. णामं ठवणायारो, दव्वायारो य भावआयारो^{१०}।
एसो खलु आयारे, णिक्खेवो चउविधो होति ॥५॥ नि ५ ॥
६. णामण-धोवण^{११}-वासण, सिक्खावण सुकरणाविरोधीणि।
दव्वाणि जाणि लोए, दव्वायारं वियाणाहि^{१२} ॥६॥ नि ६ ॥
७. नाणे दंसण चरणे, तवे य विरिए य भावमायारो।
'अट्टऽट्टऽट्टदुवालस'^{१३}, विरियमहाणी तु जा तेसिं ॥७॥ नि ७ ॥
८. काले विणए बहुमाणे, उवधाणे तहा अणिण्हवणे।
वंजण-अत्थ-तदुभए, अट्टविधो नाणमायारो^{१४} ॥८॥ नि ८ ॥
९. जं जम्मि होति काले, आयरियव्वं^{१५} स कालमायारो।
वतिरित्तो तु अकालो, लहुगा उ अकालकारिस्स ॥९॥

१. 'बहु' भवति णवअज्झयणेहिंतो (चू)।

२. बहुयरो (भ), 'बहुतरो' भवति 'पयग्गेणं' ति अट्टारसपयग्ग-सहस्सेहिंतो पंचचूलापएहिं सहितो पयग्गेणं बहुतरो भवति ति (चू)।

३. आनि ११।

४. °अही° (क)।

५. चिय (मु)।

६. °पुव्विए (क), °पुव्वीए (दे)।

७. चउविधो (मु)।

८. °म्मिं (क, दे, पा)।

९. गाथा के चतुर्थ चरण में अनुष्टुप् छंद है।

१०. भावमायारो (मु, भ)।

११. धोमण (दे)।

१२. दशनि १५५।

१३. °दुवारिय (क, दे)।

१४. दशनि १५८।

१५. आयरियव्वं णाम पढियव्वं सोयव्वं वा (चू)।

१. आचार (आचारांग सूत्र) नव ब्रह्मचर्यमय अर्थात् नौ अध्ययनों में निबद्ध है।^१ उसकी पांच चूलाएं हैं।^२ वह अठारह हजार पद परिमाण वाला है। पांच चूलाओं सहित उसका पदपरिमाण बहु, बहुतर हो जाता है।^३
२. आचारप्रकल्प के ये आचार आदि गौण (गुणनिष्पन्न) नाम हैं। यहां प्रायश्चित्त का अधिकार है। (प्रस्तुत ग्रन्थ में आचार का प्रायश्चित्त सहित निरूपण है।)
३. आचार, अग्र, प्रकल्प, चूलिका तथा निशीथ—ये पांच आचारप्रकल्प के गुणनिष्पन्न नाम हैं। इसमें निशीथ का सूत्र, अर्थ एवं तदुभय (सूत्रार्थ) क्रमशः आख्यात है।
४. आचार शब्द का निक्षेप चार प्रकार का, अग्र शब्द का दस प्रकार का, प्रकल्प, चूलिका एवं निशीथ का निक्षेप छह-छह प्रकार का है।
५. आचार शब्द के चार निक्षेप ये होते हैं—१. नाम आचार २. स्थापना आचार ३. द्रव्य आचार और ४. भाव आचार।
६. द्रव्य आचार (नोआगमतः तद्व्यतिरिक्त द्रव्यनिक्षेप)—नामन^४, धोवन^५, वासन^६, शिक्षण^७, सुकरण^८ तथा अविरोध^९ की अपेक्षा लोक में जितने भी अविरोधी द्रव्य हैं, उन सबको द्रव्य आचार जानना चाहिए।
७. भाव आचार पांच प्रकार का है—१. ज्ञान २. दर्शन ३. चारित्र ४. तप और ५. वीर्य। ज्ञान, दर्शन और चारित्र आचार आठ-आठ प्रकार का तथा तप-आचार बारह प्रकार का है। ज्ञान आदि चारों भाव आचारों के उत्तरभेदों की हानि न करना (यथाशक्ति प्रवृत्ति करना) वीर्य आचार है।
८. ज्ञान आचार आठ प्रकार का है—काल, विनय, बहुमान, उपधान, अनिह्वन, व्यंजन, अर्थ और तदुभय।
९. जो श्रुत जिस काल में करणीय है, उसका उस समय आचरण (पढ़ना, सुनना) काल ज्ञान आचार है। यथोक्त काल से अतिरिक्त आचरण 'अकाल' है। दर्प के कारण अकाल अनाचार का प्रयोग करने वाले को चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

-
१. नौ अध्ययन ये हैं—१. शस्त्रपरिज्ञा २. लोकविजय ३. शीतोष्णीय ४. सम्यक्त्व ५. लोकसार ६. धुत ७. महापरिज्ञा ८. विमोक्ष और ९. उपधानश्रुत।
 २. पांच चूलाएं हैं—१. पिण्डैषणा यावत् अवग्रह प्रतिमा २. सप्त सप्तैकक ३. भावना ४. विमुक्ति और ५. आचारप्रकल्प।
 ३. प्रथम चार चूलाओं के प्रक्षेप से आचारांग बहु पदपरिमाण वाला हो जाता है और पांचवीं चूला के प्रक्षेप से इसका पद-परिमाण अठारह हजार से बहुतर हो जाता है—यह चूर्णिकार का अभिमत है।
 ४. नामन (झुकाया)—नामन की अपेक्षा से तिनिश आचारवान् है (झुकाया जा सकता है)। एरंड अनाचारवान् है।
 ५. धावन (धोना)—धावन की अपेक्षा कुसुंभराग आचारवान् है, कृमिराग अनाचारवान् है।
 ६. वासन (सुगंध)—वासित होने की क्षमता के आधार पर कटाह आदि आचारवान् तथा वज्र अनाचारवान् है।
 ७. शिक्षण—शिक्षण की अपेक्षा से शुक, सारिका आदि आचारवान् हैं, कौआ, बकरा आदि अनाचारवान् हैं।
 ८. सुकरण (सरलता से रूपांतरण)—सुकरण की अपेक्षा से सुवर्ण आचारवान् तथा घंटालोह अनाचारवान् है।
 ९. अविरोध (अविरुद्ध मिश्रण)—अविरोध की अपेक्षा से दूध और चीनी आचारवान् तथा दही और तैल अनाचारवान् हैं।

१०. को आतुरस्स कालो, मइलंवरधोव्वणे^१ उ^३ को कालो।
जदि मोक्खहेतु नाणं, को कालो तस्सऽकालो वा ॥१०॥
११. आहारविहारादिसु, मोक्खऽधिगारेसु कालमक्कालो^२।
जह दिट्ठो तह सुत्ते, विज्जाणं साधणे चव ॥११॥
१२. तक्ककुडेणाहरणं, दोहि य धमएहि होति नातव्वं।
अतिसिरिमिच्छंतीए^४, थेरीय विणासितो अप्पा ॥१२॥
१३. णीयासणमंजलिपग्गहादि^५ विणयो तहिं तु हरिएसो।
भत्ती^६ उ होति सेवा, बहुमाणो भावपडिबंधो ॥१३॥
१४. बहुमाणे भत्ति भइया, भत्तीए वि माणे^७ अकरणे लहुगा।
गिरि-णिज्जर सिवमरुगो, भत्तीय पुलिंदओ^८ माणे ॥१४॥
१५. दोग्गतिपडणुवधरणा^९, उवधानं जत्थ जत्थ जं सुत्ते।
आगाढमणागाढे, गुरु-लहुयाणादसगडपिता^{१०} ॥१५॥
१६. निण्हवणं अवलावो, कस्स सगासेऽहितण्ण^{११} चतुगुरुगा।
ण्हावित विह छुरघरए, दाण तिदंडे णिवे हिमवं^{१२} ॥१६॥
१७. सक्कयमत्ता^{१३} बिंदू, अण्णऽभिधाणेण वावि तं अत्थं।
'वंजिज्जइ त्ति जेणं'^{१४}, वंजणमिति वुच्चती^{१५} सुत्तं ॥१७॥
१८. लहुगो वंजणभेदे, आणादी अत्थभेद चरणे य।
चरणस्स य 'भेदे पुण'^{१६}, अमोक्ख दिक्खा य अफला उ ॥१८॥

१. °धोवणे (दे, अ, भ)।

२. व्व (मु), × (भ)।

३. काल अक्काले (भ, मु)।

४. °सिरं (क, दे), अतिरिसिं (पा)।

५. °णंजलिं (क), °णंजलीं (भ, मु), दो वि हत्था मउल-
कमल-संठिया अंजली भण्णति (चू)।६. अब्भुट्ठाणं डंडग्गह-पायपुंच्छणासणपदाणग्गहणादीहिं
सेवा जा, सा भत्ती भवति (चू)।७. बहुकारलोवं काऊण भण्णति माणे (चू), णाण-दंसण-
चरित्त-तव-भावणादिगुणरंजियस्स जो रसो पीतिपडिबंधो,
सो बहुमाणो भवति (चू)।

८. पुलिंदितो (क)।

९. °पडणपधरणा (भ)।

१०. °आणादि सगं (मु)।

११. °अधितं अण्ण (भ, मु), °सेहियण्ण (पा), तगार-
हिगाराणं संधिपपओगेण अगारो लब्भति ततो अहीतं
भवति (चू)।

१२. हिमयं (भ)।

१३. °मित्ता (दे, पा)।

१४. वंजति जेण अत्थं (मु)।

१५. भण्णते (भ, मु)।

१६. भेदेणं (भ)।

१०. जिज्ञासा—आतुर (रोगी) के लिए क्या काल, मैले वस्त्र धोने का क्या काल अर्थात् उनका काल से कोई प्रतिबन्ध नहीं होता। यदि ज्ञान मोक्ष का हेतु है तो उसका क्या काल? क्या अकाल?
११. समाधान—मोक्ष के कारणभूत आहार—विहार आदि के विषय में जैसे काल और अकाल निर्दिष्ट हैं वैसे ही श्रुतज्ञान के विषय में भी काल और अकाल का निर्देश है। इतना ही नहीं, विद्या की सिद्धि में भी काल और अकाल होता है। (अकाल में साधी गई विद्या के समान अकाल में पठित श्रुत भी अहितकर होता है।)
१२. तक्र घट^१ और दो धमकों^२ (सींग बजाने वालों) के उदाहरण से काल आचार का महत्त्व ज्ञातव्य है। अधिक लक्ष्मी की इच्छा करने वाली बुढ़िया^३ ने अपना विनाश कर लिया। (उसी प्रकार अकाल में स्वाध्याय करना ज्ञान के विनाश का कारण बन सकता है।)
१३. नीचे आसन पर बैठना, अंजलि प्रग्रह (हाथ जोड़ना) आदि विनय (विनय आचार) है। इसमें हरिकेश^४ का दृष्टान्त है। सेवा (अभ्युत्थान, आसन-प्रदान आदि) भक्ति है और ज्ञान, दर्शन आदि गुणों के कारण गुरु के प्रति आन्तरिक प्रीति सम्बन्ध बहुमान है।
१४. बहुमान में भक्ति की भजना है। भक्ति में बहुमान की भजना है। भक्ति और बहुमान न करने का प्रायश्चित्त चतुर्लघु है। गिरि निर्झर पर स्थित शिव के प्रति भक्ति में ब्राह्मण और बहुमान में भील^५ का दृष्टान्त है।
१५. दुर्गति में गिरती हुई आत्मा को जिससे धारण किया जाता है, वह उपधान (ज्ञान विषयक तपोनुष्ठान) कहलाता है। जिस-जिस श्रुत के लिए जो-जो उपधान विहित है, वह करणीय है। आगाढ़ श्रुत (भगवती आदि) के लिए आगाढ़ उपधान और अनागाढ़ श्रुत (आचार आदि) के लिए अनागाढ़ उपधान न करने वाले को क्रमशः गुरु, लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होते हैं तथा आज्ञाभंग आदि (मिथ्यात्व, अनवस्था और विराधना) दोष प्राप्त होते हैं। इसमें अशकट पिता^६ का दृष्टान्त है।
१६. निह्वन का अर्थ है अपलाप। किसके पास अध्ययन किया? पूछने पर जो अन्य किसी का कथन करता है, उसे चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। इसमें नापित और परिव्राजक का दृष्टान्त है—एक नापित की क्षुरपेटिका विद्या के प्रभाव से आकाश में रहती। परिव्राजक ने उससे वह विद्या प्राप्त कर ली। अन्यत्र जाकर त्रिदंड को आकाश में स्थापित कर पूजा प्राप्त करने लगा। राजा के पूछने पर उसने हिमवान पर्वत पर स्थित महर्षि को अपना विद्यादाता बताया। गुरु का अपलाप करने के कारण उसका त्रिदंड नीचे गिर गया।^७
१७. जिसके द्वारा अर्थ व्यक्त होता है, उसे व्यंजन अर्थात् सूत्र कहा जाता है। उस सूत्र को प्राकृत के स्थान पर संस्कृत में बोलना, मात्रा, बिन्दु आदि का अधिक या हीन उच्चारण करना, सूत्र में प्रयुक्त शब्द के स्थान पर उसके अन्य पर्यायवाची शब्द का कथन करना व्यंजन अतिचार है।
१८. व्यंजन का भेद (संस्कृतीकरण, मात्रा आदि की हीनाधिकता) करने वाले को मासलघु तथा सूत्र अन्य करने पर चतुर्लघु प्रायश्चित्त का विधान है। इससे आज्ञाभंग आदि (अनवस्था, मिथ्यात्व, विराधना) दोष प्राप्त होते हैं। व्यंजनभेद से अर्थभेद, अर्थभेद से चरणभेद और चरणभेद से मोक्ष का अभाव होता है। फलतः दीक्षा आदि क्रियाएं निष्फल हो जाती हैं।

१-७ विस्तार हेतु द्रष्टव्य परिशिष्ट २, कथा सं. १-७।

१९. वंजणमभिंदमाणे, अवंतिमादण्ण अत्थे गुरुगो उ।
जो 'अण्णो ऽण्णुवाती'^१, णाणादिविराधणा नवरिं^२ ॥ १९ ॥
२०. दुमपुप्फिपढमसुत्तं^३, 'ऽधागड रीर्यंति'^४ रण्ण^५ भत्तं च।
उभयण्णहकरणेणं^६, मीसग पच्छित्तुभयदोसा ॥ २० ॥
२१. सुत्तम्मि एते लहुगा, पच्छित्ता अत्थ गुरुग केसिंचि।
तं 'तु ण'^७ जुज्जति जम्हा, दोण्ह वि लहुगा अण्णज्जाए^८ ॥ २१ ॥
२२. अत्थधरो तु पमाणं, तित्थगरमुहुग्गतो^९ य^{१०} सो जम्हा।
पुव्वं च होति अत्थो, अत्थे गुरु जेसि तेसेवं ॥ २२ ॥
२३. निस्संकिंय निक्कंखिय, निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी य।
उववूह-थिरीकरणे, वच्छल्ल-पभावणे अट्ठ^{११} ॥ २३ ॥ नि ९ ॥
२४. संसयकरणं संका, कंखा अण्णोण्णदंसणग्गाहो।
संतम्मि वि वितिगिच्छा^{१२}, सिज्जेज्ज न मे अयं अत्थो^{१३} ॥ २४ ॥
२५. विदु कुच्छत्ति व^{१४} भण्णति, सा पुण आहार-मोयमसिणाणाई^{१५}।
तीसु वि देसे गुरुगा, मूलं पुण^{१६} सव्वहिं होति ॥ २५ ॥
२६. णेगविधा इड्डीओ, पूयं परवादिणं च दट्ठुणं।
जस्स न मुज्जति दिट्ठी, अमूढदिट्ठी^{१७} तगं बेति ॥ २६ ॥
२७. खमणे वेयावच्चे, विणए 'सज्जायमादिसु य जुत्तं'^{१८}।
जो तं पसंसए एस, होति उववूहणा विणओ ॥ २७ ॥

१. अण्णो अण्णुवादी (भ, मु), वण्णो (पा)।
२. णवरं (दे, पा)।
३. दोसु माओ दुमो (चू)।
४. अहागड रीर्यंति त्ति अहाकडेसु रीर्यंति (चू)।
५. रण्णो (दे, मु)।
६. उभयमण्णह (दे)।
७. पुण (भ, मु)।
८. असज्जाए (दे, पा)।
९. 'मुहुग्गतो (क), 'पुहुग्ग' (पा)।

१०. तु (मु)।
११. दशनि १५७।
१२. वितिगिच्छा णाम मतिविप्लुतिः (चू)।
१३. अट्ठो (भ, मु)।
१४. वि (भ), व इति बितियविकप्पदरिसणे भण्णइ (चू)।
१५. 'णाई (मु, भ), मोए त्ति काइयं (चू)।
१६. पुण सद्दो विसेसणत्थे दट्ठुव्वो (चू)।
१७. 'दिट्ठिं (मु)।
१८. 'मादिसंजुत्तं (भ, मु)।

१९. व्यंजन (सूत्र) को अन्यथा न करता हुआ जो उन्हीं सूत्राक्षरों में अन्य अर्थ की विकल्पना करता है—यथा—आवंती केयावंती...इत्यादि सूत्र में अवंती-जनपद, केया अर्थात् रज्जु, वंती अर्थात् कूएँ में गिर गई इत्यादि अन्य अननुपाती (सूत्र में घटित न होने वाला) अर्थ करता है, उसके ज्ञान आदि (दर्शन, चारित्र) की विराधना होती है तथा गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२०. तदुभय अतिचार में सूत्र और अर्थ दोनों का अन्यथाकरण होता है। जैसे दुमपुष्पिका के प्रथम श्लोक का 'धम्मो मंगल मुक्कट्टो अहिंसा डूंगरमस्तके इत्यादि' तथा 'अहागडेसु रीयंति' 'रायभत्ते सिणाणे' इत्यादि श्लोकों के उच्चारण एवं अर्थ दोनों का अन्यथाकरण होने से व्यंजन और अर्थ दोनों अतिचारों से प्राप्त दोष एवं प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२१. कुछ आचार्यों के मतानुसार काल आदि ज्ञान के अतिचारों के विषय में कथित प्रायश्चित्त सूत्र के विषय में लघु होता है और अर्थविषयक अतिचार में गुरु होता है। किन्तु यह युक्तियुक्त नहीं क्योंकि सूत्र और अर्थ दोनों का ही अकाल अथवा अस्वाध्यायी में स्वाध्याय करने पर चतुर्लघु प्रायश्चित्त का विधान है।

२२. सूत्रधर और अर्थधर में अर्थधर (अर्थज्ञाता) प्रमाण होता है क्योंकि अर्थ की प्राप्ति तीर्थकर के मुख से होती है। अर्थ पूर्व होता है। (अर्हत्भाषित अर्थ के आधार पर गणधर सूत्र की रचना करते हैं) अतः अर्थविषयक प्रमाद में गुरु प्रायश्चित्त का विधान है।

२३. दर्शनाचार के आठ प्रकार हैं—१. निःशंकित २. निष्कांक्षित ३. निर्विचिकित्सा ४. अमूढदृष्टि ५. उपबृंहण ६. स्थिरीकरण ७. वात्सल्य और ८. प्रभावना।

२४. शंका का अर्थ है—संशय करना। कांक्षा का अर्थ है—अन्य-अन्य अर्थात् नाना प्रकार के दर्शनों (मत्तों) के ग्रहण की आकांक्षा। सत् पदार्थ के विषय में जैसे मति का विप्लव हो जाता है, वैसे ही मेरा यह अर्थ (प्रयोजन) सिद्ध होगा या नहीं, इस प्रकार फल के विषय में मति का विप्लव विचिकित्सा है।

२५. विचिकित्सा (विदुकुत्सा) का एक अर्थ है—विदु अर्थात् साधु की कुत्सा अर्थात् निन्दा करना, यथा ये एक पात्र में मंडलीबद्ध होकर आहार करते हैं, अशुचि हैं। मोक (प्रस्रवण) का विसर्जन कर जल प्रयोग नहीं करते, स्नान नहीं करते आदि। शंका, कांक्षा और विचिकित्सा तीनों अतिचारों के दो-दो प्रकार होते हैं—देश^१ और सर्व^२। देश अतिचार में चतुर्गुरु प्रायश्चित्त तथा सर्व अतिचार में मूल प्रायश्चित्त का विधान है।

२६. परप्रवादियों (अन्यतीर्थिकों) की अनेक प्रकार की ऋद्धियों और पूजा को देखकर जिसकी दृष्टि मूढ़ नहीं होती, वह अमूढदृष्टि कहलाता है।

२७. क्षपण (उपवास, बेला आदि तपस्याओं), वैयावृत्य, विनय, स्वाध्याय आदि गुणों से युक्त श्रमण, श्रमणी आदि की जो प्रशंसा करता है, वह उपबृंहण विनय (दर्शनाचार) है।

१. देश शंका, जैसे—सब जीव समान हैं फिर कोई भव्य और कोई अभव्य, ऐसा क्यों?

२. सर्वशंका, जैसे—समस्त द्वादशांग गणिपिटक प्राकृत भाषा में निबद्ध है लगता है वह कुशल (जिन) कल्पित नहीं। इसी प्रकार कांक्षा आदि के विषय में ज्ञातव्य है।

२८. एतेसुं चिय खमणादिगोसु सीदंत^१ चोदणा जा तु ।
बहुदोसे माणुस्से, मा सीद थिरीकरणमेतं ॥ २८ ॥
२९. साहम्मियवच्छल्लं, आहारादीसु^२ होति सव्वत्थ ।
आदेस-गुरु-गिलाणे, तवस्स बालादि^३ सविसेसं ॥ २९ ॥
३०. आयरिए य गिलाणे, गुरुगा लहुगा य खमगपाहुणगे ।
गुरुगो य बालवुद्धे, सेहे य महोदरे लहुगो ॥ ३० ॥
३१. कामं सभावसिद्धं, तु पवयणं दिप्पते^४ सयं चेव ।
तह वि य जो जेणऽहिओ, सो तेण पभावते तं तु ॥ ३१ ॥
३२. सुलसा अमूढदिट्ठी, सेणिय उववूह थिरिकरणऽऽसाढो^५ ।
वच्छल्लम्मि य वइरो, पभावगा अट्ट पुण होंति ॥ ३२ ॥
३३. अइसेस-इड्ढि-धम्मकहि^६ वादि-आयरिय-खमग-णेमिती ।
विज्जा-राया गणसम्मता य तित्थं पभावेति^७ ॥ ३३ ॥
३४. दिट्ठीमोहे अपसंसणे य 'थिर अकरणे'^८ य लहुगा तु ।
'वच्छल्लपभावणं च'^९, अकरणे सट्ठाणपच्छित्तं ॥ ३४ ॥
३५. पणिधाणजोगजुत्तो, पंचहि समितीहि तिहि य गुत्तीहिं ।
एस चरित्तायारो, अट्टविधो होति णातव्वो^{१०} ॥ ३५ ॥ नि १० ॥
३६. समितीण य गुत्तीण य, एसो भेदो तु होति नातव्वो ।
समिती पयारूवा, गुत्ती पुण उभयरूवा तु ॥ ३६ ॥
३७. समितो नियमा गुत्तो, गुत्तो समियत्तणम्मि भइयव्वो ।
कुसलवइ उदीरेंतो, 'तेणं गुत्तो'^{११} वि समितो वि ॥ ३७ ॥

१. सीदंति (भ), सीतंतो णाम जो थिरसंघयणो धितिसंपण्णो
हट्ठो य ण उज्जमति खमणादिएसु एसा सीयणा (चू) ।
२. °रातीहिं (मु, भ) ।
३. आदिसद्दातो बुद्धो सेहो महोदरो (चू) ।
४. दिप्पति (भ) ।
५. °णसद्धो (भ), थिरक° (पा) ।

६. °कह (दे) ।
७. पगासंति (चू), दशनि १५७/१ ।
८. थिरीयकरणे (भ, मु) ।
९. °वणाण य (भ, मु) ।
१०. दशनि १५९ ।
११. जं वतिगुत्तो (भ, मु, पा) ।

२८. तपस्या, वैयावृत्य, विनय आदि में विषादप्राप्त (धृति और संहनन सम्पन्न होने पर भी उद्यम न करने वाले) को प्रेरित करना—मनुष्य जन्म बहुदोष वाला है। (रोग, जरा आदि अपायों से युक्त है) अतः करणीय में प्रमाद मत करो—इस प्रकार प्रेरित कर वचन, क्रिया आदि की सहायता से स्थिर करना स्थिरीकरण है।
२९. आहार आदि (वस्त्र, पात्र, औषध आदि) के द्वारा साधर्मिक को वात्सल्य (आदर) प्रदान करना वात्सलता है। अतिथि, गुरु, ग्लान, तपस्वी, शैक्ष आदि के प्रति वात्सल्य विशिष्ट वात्सल्य है।
३०. आचार्य और ग्लान के प्रति वात्सल्य का प्रयोग न करने वाले के लिए चतुर्गुरु, तपस्वी और प्राघुर्णक के प्रति वात्सल्य का प्रयोग न करने वाले के लिए चतुर्लघु, बाल, वृद्ध के विषय में मासगुरु तथा शैक्ष और महोदर के विषय में मासलघु प्रायश्चित्त का विधान है।
३१. जिनप्रवचन स्वभावतः प्रख्यात है अतः वह स्वयं शोभित होता है (दीप्त है) फिर भी जो जिस गुण में विशिष्टतर है, वह अपने उस गुण से प्रवचन की प्रभावना करता है—यह प्रभावना नामक दर्शनाचार है।
३२. अमूढदृष्टि में सुलसा^१, उपबृंहण में श्रेणिक^२, स्थिरीकरण में आचार्य आषाढ^३ और वात्सलता में आर्यवज्र^४ के दृष्टान्त प्रज्ञप्त हैं। तीर्थ के प्रभावक^५ आठ होते हैं—
३३. १. अतिशय ऋद्धिसम्पन्न (विशिष्ट ज्ञानी, राजा, पुरोहित आदि) २. अतिशय धर्मकथी, ३. अतिशय वादी, ४. अतिशय सम्पन्न आचार्य, ५. अतिशय तपस्वी, ६. अतिशय निमित्तज्ञ, ७. विद्यासिद्ध और ८. राजा, चातुर्वेद्य आदि के द्वारा सम्मत पुरुष तीर्थ के प्रभावक होते हैं।
३४. दृष्टिमोह, अप्रशंसा (उपबृंहण न करना) और स्थिरीकरण न करने वाले के लिए चतुर्लघु और वात्सल्य और प्रभावना न करने वाले के लिए प्रत्येक में सामान्य और विशेष के विभाग से स्वस्थान प्रायश्चित्त का विधान है।^६ इसी प्रकार प्रभावना के विषय में भी सामान्यतः प्रायश्चित्त चतुर्गुरु है और विशेष में स्वस्थान प्रायश्चित्त का विधान है।^७
३५. प्रशस्त प्रणिधान (चित्त) और योग युक्त श्रमण की पांच समितियां और तीन गुप्तियां—यह अष्टविध चारित्राचार है, ऐसा जान लेना चाहिए।
३६. समिति और गुप्ति में यह भेद ज्ञातव्य है कि समिति प्रचार रूप (सम्यक् प्रवृत्ति रूप) है जबकि गुप्ति उभय (कुशल और अकुशल प्रवृत्ति) का निषेध या अप्रचार रूप है।
३७. समित नियमतः गुप्त होता है, पर गुप्त समित हो भी सकता है नहीं भी। कुशल वचन का प्रयोग करने वाला (अकुशल की अपेक्षा) वाक्गुप्त भी है तथा (कुशल वचन की अपेक्षा) वचनसमित भी है।

१-४. विस्तार हेतु द्रष्टव्य, परिशिष्ट २, कथा सं. ८-११।

५. द्रष्टव्य गा. ३३।

६. वात्सल्य का सामान्यतः प्रयोग न करने वाले के लिए मासलघु तथा विशेषतः आचार्य और ग्लान का वैयावृत्य न करने वाले के लिए चतुर्गुरु प्रायश्चित्त आदि का विधान है (द्र. गा. ३०)

७. अतिशय ऋद्धिसम्पन्न, धर्मकथी, वादी यदि अतीत निमित्त के द्वारा शक्ति होने पर भी प्रभावना न करें तो चतुर्लघु और प्रत्युत्पन्न और अनागत निमित्त से प्रभावना न करें तो चतुर्गुरु प्रायश्चित्त का विधान है। यह स्वस्थान प्रायश्चित्त है अथवा आचार्य उपाध्याय आदि स्थानों के अनुसार प्रायश्चित्त स्वस्थान प्रायश्चित्त है।

- ३७/१. समिती पयारूवा, गुत्ती पुण होति उभयरूवा तु।
कुसलवइ उदीरेंतो, तेणं गुत्तो वि समितो वि^१ ॥३८॥
३८. गुत्तो पुण जो साधू, अप्पवियाराएँ णाम गुत्तीए।
सो न समितो त्ति वुच्चति, तीसे तु 'वियारूवं ता'^२ ॥३९॥
३९. समितीसु य गुत्तीसु य, 'असमितऽगुत्ते य'^३ सव्वहिं लहुगो।
आणादिविराधणया, सउदाहरणा जहा हेट्ठा^४ ॥४०॥
४०. दुविध तवपरूवणया, सट्ठाणारोवणा तमकरेंते^५।
सव्वत्थ होति लहुगो, लीण-^६विणय-झाय^६ मोत्तूणं ॥४१॥
४१. बारसविधम्मि वि तवे, सव्विभंतर-बाहिरे कुसलदिट्ठे।
अगिलाय अणाजीवी, णातव्वो सो तवायारो^७ ॥४२॥ नि ११ ॥
४२. अणिगूहितबलविरिओ, परक्कमति^८ जो जहुत्तमाउत्तो।
जुंजति य जहत्थामं, णातव्वो वीरियायारो^९ ॥४३॥ नि १२ ॥
४३. णाणे दंसण-चरणे, तवे य बत्तीसई^{१०} य भेदेसु।
विरियं न तु हावेज्जा, 'सट्ठाणारोवण हावेंते'^{११} ॥४४॥
४४. णाणायारे पगतं, इतरे उच्चारितऽत्थसरिसा तु।
अहवा तेहि वि पगतं, तदट्ठ जम्हस्सते^{१२} णाणं ॥४५॥
४५. णाणसुपरिच्छितत्थे^{१३}, चरणं तव-वीरियं च तत्थेव।
पंचविह जतो विरियं, तम्हा सव्वेसु^{१४} अधिगारो ॥४६॥

१. हस्तप्रतियों में यह गाथा नहीं मिलती है। मुद्रितभाष्य में यह गाथा ३८ क्रमांक में है। पर यह गाथा यहां अतिरिक्त प्रतीत होती है, क्योंकि गाथा का पूर्वार्द्ध ३६ वीं गाथा में तथा उत्तरार्ध ३७ वीं गाथा में है।

२. °रूवत्ता (भ, पा, मु)।

३. असमिते अगुत्ते (भ, मु)।

४. 'हेट्ठा' से ग्रंथकार का आशय आवश्यकचूर्णि से है।

५. °करेंतो (दे)।

६. विणज्जाय (दे, भ, मु)।

७. दशनि १६०, तु. पंकभा १२१४।

८. °क्कमती (भ, मु)।

९. दशनि १६१, तु. पंकभा ११३६, मूला ४१३।

१०. छत्ती° (दे)।

११. °वणावेंते (मु), सट्ठाणारोवणा णाम णाणायारं हावेंतस्स जं णाणायारे पच्छित्तं, तं चेव भवति (चू)।

१२. जम्हस्सते (दे)।

१३. णाणे° (मु)।

१४. सव्वेसिं (दे), सव्वेहिं (पा)।

३७/१. समिति प्रवृत्ति रूप है और गुप्ति उभय दृष्टि से निवृत्ति रूप है अतः कुशल वचन बोलने वाला गुप्त भी है, समित भी है।

३८. जो साधु गुप्त है, अप्रविचार (अप्रवृत्ति) रूप गुप्ति में स्थित है, वह समित नहीं है क्योंकि समिति की विचाररूपता (प्रवृत्त्यात्मकता) ही कथित है। समिति सम्यक् प्रवृत्ति रूप मानी गई है।

३९. समिति में असमित और गुप्ति में अगुप्त अर्थात् आठों प्रकार के चारित्रातिचारों में प्रत्येक के लिए मासलघु प्रायश्चित्त का विधान है। उसे आज्ञाभंग आदि (अनवस्था, मिथ्यात्व) और आत्म संयम विराधना—दोष प्राप्त होते हैं। इनके उदाहरण आवश्यकचूर्णि^१ से ज्ञेय हैं।

४०. तप दो प्रकार का प्रज्ञप्त है—आभ्यन्तर और बाह्य। पुरुषकार पराक्रम होने पर भी इस द्वादशविध तप का आचरण न करने वाले के लिए स्वस्थान प्रायश्चित्त मासलघु है। प्रतिसंलीनता, विनय और स्वाध्याय में विशेष प्रायश्चित्त का विधान है।^२

४१. कुशल (तीर्थकरों) द्वारा निर्दिष्ट आभ्यन्तर और बाह्य—इस बारह प्रकार के तप के प्रति अग्लान (सहर्ष) और अनाशंसा (ऐहलौकिक और पारलौकिक आशंसा रहित) भाव से उद्यत रहना तप आचार है।

४२. बल और वीर्य का गोपन न करते हुए यथोक्त आचारों में अप्रमत्त भाव से यथाशक्ति (यथास्थान) अपने आप को योजित करना वीर्याचार है।

४३. ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप के (कुल) छत्तीस भेदों में वीर्य का हापन (त्याग) कभी नहीं करना चाहिए। जो यथास्थान वीर्य का प्रयोग नहीं करता, उसे स्वस्थान आरोपणा प्राप्त होती है।^३

४४. यहां ज्ञानाचार प्रकृत (प्रकरण-प्राप्त) है, अन्य दर्शन आदि आचारों का अर्थ प्ररूपण मात्र किया है। अथवा वे भी प्रकृत हैं क्योंकि दर्शन आदि आचारों के लिए ही ज्ञान अभीष्ट है।

४५. ज्ञान से जीव-अजीव आदि पदार्थों का सम्यग् परिच्छेद (ज्ञान) होने पर दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य आचार का प्रवर्तन होता है। वीर्य पांच प्रकार का है। इसीलिए यहां सभी का अधिकार है (प्रसंग है)।

१. निभा १ चू. पृ. २३, जहा हेट्टा आवसगे तथा दट्टव्वा।

२. स्त्री संसक्त शय्या में रहने से चतुर्गुरु, तिर्यञ्च, स्त्री और पुरुष में चारित्र और आत्मविराधना निष्पन्न चतुर्गुरु, पुरुष संसक्त में चतुर्लघु प्रायश्चित्त, इन्द्रिय-विषयों में राग में गुरु और द्वेष में लघु प्रायश्चित्त आदि भिन्न-भिन्न प्रायश्चित्त हैं। इसी प्रकार विनय और स्वाध्याय के विषय में भी भिन्न-भिन्न प्रायश्चित्त हैं।

३. ज्ञानाचार का प्रयोग न करने वाले को तत्सम्बन्धी प्रायश्चित्त, इसी प्रकार दर्शन का प्रयोग न करने वाले को दर्शनातिचार सम्बन्धी प्रायश्चित्त, चारित्र और तप का प्रयोग न करने वाले को क्रमशः चारित्रातिचार एवं तप अतिचार सम्बन्धी प्रायश्चित्त की प्राप्ति स्वस्थान आरोपणा है।

४६. भवविरियं गुणविरियं, चरित्तविरियं समाधिविरियं च।
आयविरियं पि य तहा, पंचविधं वीरियं अहवा ॥ ४७ ॥
४७. बालं पंडित उभयं, करणं लद्धिविरियं च पंचमगं।
ण हु वीरियपरिहीणो, पवत्तते णाणमादीसु^१ ॥ ४८ ॥
४८. दव्वोगाहण^२ आदेस, काल-कम-गणण-संचए भावे।
अगं भावो तु पहाण, बहुग उवचारतो तिविधं^३ ॥ ४९ ॥ नि १३ ॥
४९. तिविधं पुण दव्वगं, सच्चित्तं मीसगं च अच्चित्तं।
रुक्खग्गदेसअवचित्तं^४, उवचित तस्सेव कुंतग्गे^५ ॥ ५० ॥
५०. ओगाहणग्ग सासतणगाण उस्सतचउत्थभागो उ।
मंदरविवज्जिताणं, जं वोगाढं तु जावतियं ॥ ५१ ॥
५१. अंजणग-दहिमुहाणं, कुंडल-रुयगवर-मंदराणं च।
उव्वेहो^६ उ सहस्सं, सेसा पादं समोगाढा ॥ ५२ ॥
५२. आदेसगं पंचंगुलादि जं पच्छिमं तु आदिसति।
पुरिसाण व जो अंते, भोयणकम्मादिकज्जेसु ॥ ५३ ॥
५३. कालगं सव्वद्धा, कमग्ग 'चउहा य'^७ दव्वमादीयं।
खंधोगाह ठितीसु^८ य, भावेसु य अंतिमा जे तु^९ ॥ ५४ ॥
५४. उक्कोसं गणणग्गं, जा सीसपहेलिया ठिता गणिते।
जुत्तपरित्ताणंतं, उक्कोसं तं पि नातव्वं^{१०} ॥

१. इस गाथा के बाद प्रति में 'आयारो गतो' का उल्लेख है।

२. दव्वोगाहणग (मु)।

३. आनि ३०५।

४. ँग्गदिसअविचित्त (भ)।

५. कुंभग्गे (क)।

६. ओगाहो (भ, मु)।

७. चतुद्धा तु (मु)।

८. द्वितीसु (दे)।

९. ते (मु)।

१०. मुद्रित पुस्तक में यह गाथा उद्धृत गाथा के रूप में है। भ प्रति में यह गाथा नहीं है, किन्तु अन्य हस्तप्रतियों में यह भाष्य गाथा के क्रम में प्राप्त है। क्रमाग्र के बाद इस गाथा में गणनाग्र की व्याख्या है अतः विषयवस्तु की दृष्टि से भी यह भाष्यगाथा ही होनी चाहिए।

४६. अथवा वीर्य पांच प्रकार का है—१. भववीर्य (जन्म प्रत्ययिक वीर्य यथा मनुष्य भव में सर्व चारित्र को पालन करने का सामर्थ्य, २. गुणवीर्य (औषधियों में रोगापनयन सामर्थ्य), ३. चारित्रवीर्य (अशेष कर्मक्षपण सामर्थ्य), ४. समाधिवीर्य (प्रशस्त मनःसमाधि वीर्य) और ५. आत्मवीर्य (वियोगज आत्मवीर्य यथा मनोयोग आदि अवियोगज यथा उपयोग, असंख्यप्रदेशवत्त्व आदि।)

४७. अथवा वीर्य के पांच प्रकार हैं—१. बालवीर्य (असंयत का असंयमवीर्य)। २. पंडित वीर्य (संयती का संयमवीर्य) ३. बालपंडित वीर्य (श्रावक का उभयात्मक वीर्य) ४. करणवीर्य (उत्थान, कर्म आदि से युक्त क्रियात्मक-योग वीर्य) और ५. लब्धिवीर्य (अपर्याप्त अवस्था में होने वाला सामर्थ्य)। वीर्यहीन व्यक्ति ज्ञान आदि में प्रवृत्त नहीं होता। (अतः सभी आचारों का अधिकार है।)

४८. चतुर्निक्षेपात्मक अग्र के दस प्रकार हैं। इनमें द्रव्याग्र के सात प्रकार हैं—१. द्रव्याग्र २. अवगाहनाग्र ३. आदेशाग्र ४. कालाग्र ५. क्रमाग्र ६. गणनाग्र और ७. संचयाग्र। भावाग्र तीन प्रकार का है—८. प्रधानाग्र ९. बहुत्वाग्र और १०. उपचाराग्र।

४९. द्रव्याग्र तीन प्रकार का है—१. सचित्त द्रव्याग्र, वृक्ष का अग्रभाग २. मिश्रद्रव्याग्र—देश उपचित (सचित्त) और देश अपचित (अचित्त), जैसे शीताग्नि या ईषद् दग्ध वृक्षाग्र और ३. अचित्त द्रव्याग्र, यथा कुंताग्र।

५०. अवगाहना का परिमाण अवगाहनाग्र है, जैसे मेरूपर्वत को छोड़कर शेष शाश्वत पर्वतों की अवगाहना उनकी ऊंचाई का चौथा भाग होता है। (मंदराचल की अवगाहना सहस्र योजन है।) अथवा जो वस्तु जितने आकाश प्रदेशों में अवगाढ़ है, वह उसका अवगाहनाग्र है।

५१. अंजनक, दधिमुख, कुंडल, रुचक और मंदर पर्वत का अवगाहनाग्र सहस्र योजन है। शेष अपनी ऊंचाई (उच्छ्राय) के चौथाई भाग में समवगाढ़ हैं।

५२. आदेश (निर्देश) की अपेक्षा से जिसका अन्त में कथन किया जाए, वह आदेशाग्र है, जैसे पांच अंगुलियों में यदि कनिष्ठा अंगुली से प्रारम्भ किया जाए तो अंगुष्ठ आदेशाग्र है। अथवा भोजन के लिए क्रम में स्थित पुरुषों में जिसका अन्त में निर्देश किया जाता है, वह आदेशाग्र है। इसी प्रकार कर्म आदि कार्यों में भी जानना चाहिए।

५३. कालाग्र का अर्थ है काल का अंतिम भाग कालाग्र अर्थात् सर्वाद्भूवा (सर्वकाल)।^१ द्रव्य आदि के भेद से क्रमाग्र चार प्रकार का है—१. द्रव्यक्रमाग्र (अनन्तानन्त प्रदेशी स्कन्ध) २. क्षेत्र क्रमाग्र (सर्व लोकवर्ती सूक्ष्म स्कन्ध) ३. कालक्रमाग्र (असंख्यात समयस्थिति वाला स्कन्ध) और ४. भावक्रमाग्र (एक गुण काला आदि यावत् अनन्त गुण काला आदि) जो-जो अंतिम होते हैं, वे क्रमाग्र होते हैं।^२

५४. गणित (गणना) में उत्कर्ष शीर्ष प्रहेलिका^३ में प्राप्त होता है (शीर्ष प्रहेलिका के आगे गिनती नहीं होती) अतः वह गणनाग्र है। वैसे ही युक्त परित्तानन्त^४ को भी उत्कृष्ट गणनाग्र जानना चाहिए।

१. काल के विविध भेदों—समय आदि में सबसे अन्तिम भेद हैं—सर्वद्भूवा। महत्परिमाण वाला होने से वही कालाग्र है।

२. क्रमाग्र में द्रव्य क्रमाग्र महत्परिमाण, क्षेत्रक्रमाग्र उत्कृष्ट अवगाहना, कालक्रमाग्र उत्कृष्ट स्थिति और भाव क्रमाग्र उत्कृष्ट गुण आदि पर्यायों से अन्त में निर्दिष्ट होते हैं।

३. यह जैन गणित की अंतिम संख्या है। माथुरी वाचना के अनुसार शीर्ष प्रहेलिका की पूरी संख्या १९४ अंकों की है जिसमें ५४ अंक और १४० शून्य होते हैं। वल्लभी वाचना के अनुसार इसकी पूरी संख्या २५० अंकों की है जिसमें ७० अंक तथा १८० शून्य होते हैं—द्रष्टव्य का. लो. प्र. २९/१२।

४. युक्त परित्तानन्त के लिए द्रष्टव्य अणु ५९६-६०३।

५५. तणसंचयमादीणं, जं उवरि पहाणखाइगो भावो ।
जीवादिछक्कगे पुण^१, बहुयगं पज्जवा होंति ॥ ५५ ॥
५६. जीवा पोग्गलसमया, दव्वपदेसा य पज्जवा चेव ।
थोवाणंताऽणंता, विसेसमधिया दुवेऽणंता ॥ ५६ ॥
५७. पंचणह वि अग्गा णं^२, उवचारेणेद पंचमं अगं ।
जं उवचरित्तु ताइं, तस्सुवयारो^३ न इहरा तु ॥ ५७ ॥
५८. उवयारेण तु पगतं, उवचरिताधीत-गमितमेगट्टं^४ ।
उवयारमेत्तमेतं, केसिंचि^५ न तं कमो जम्हा ॥ ५८ ॥
५९. णामं ठवणपकप्पो, दव्वे खेत्ते य काल भावे य ।
एसो तु पकप्पस्सा, निक्खेवो छव्विधो होति ॥ ५९ ॥ नि १४ ॥
६०. सामित्त-करण-अधिकरण, ते य एगत्त तह 'पुहुत्ते य'^६ ।
दव्वपकप्पविभासा, खेत्ते कुलियादि^७ किट्टं^८ तु ॥ ६० ॥
६१. पण्णत्ति जंबुदीवे^९, 'दीवुदहीणं तहेव'^{१०} पण्णत्ती ।
एसो खेत्तपकप्पो, जत्थ व कहणा पकप्पस्स ॥ ६१ ॥
६२. पण्णत्ति चंद-सूरे, णालिगमादीहि जम्मि वा काले ।
मूलुत्तरा य^{११} भावे, परूवणा कप्पणेगट्टा ॥ ६२ ॥
६३. णामं ठवणा चूला, दव्वे खेत्ते य^{१२} काल भावे य ।
एसो खलु चूलाए, निक्खेवो छव्विधो होति ॥ ६३ ॥ नि १५ ॥

१. पुणसद्दो बहुत्तावधारणत्थे दट्टव्वो (चू) ।

२. णगारो देसिवयणेण पायपूरणे (चू) ।

३. अस्सु^० (भ) ।

४. 'गट्टा (भ, मु) ।

५. केसिंच (भ, मु) ।

६. पुहत्तेहिं (दे, पा) ।

७. कुलितं णाम सुरट्टाविसते दुहत्थप्पमाणं कट्टं (चू) ।

८. किट्टं णाम वाहितं (चू) ।

९. 'दीवे (मु) ।

१०. दीवसमुद्दाण तह य (दे, भ, मु) ।

११. उ (दे) ।

१२. × (दे) ।

५५. तृण संचय (तिनके के ढेर) आदि में जो सबसे ऊपर का तृण है, वह संचयाग्र है। (तीन प्रकार के भावाग्र में) प्रधानाग्र है क्षायिक भाव। जीव आदि षट्क (जीव, पुद्गल, समय, द्रव्य, प्रदेश और पर्यव) में पर्यव बहुत्वाग्र है।

५६. जीव सबसे कम हैं। पुद्गल उनसे अनन्तगुना हैं। समय उनसे अनन्तगुना हैं। द्रव्य उनसे विशेषाधिक हैं। प्रदेश उनसे अनन्तगुना हैं। पर्यव उनसे अनन्तगुना हैं।

५७. पांच प्रकार के^१ अग्रों अर्थात् आचाराग्रों में इस आचार प्रकल्प को उपचार से पांचवां अग्र माना गया है क्योंकि अन्य चार को ग्रहण करने के पश्चात् इसका उपचार (ग्रहण) होता है अन्यथा नहीं।

५८. यहां उपचाराग्र प्रकृत (अधिकृत) है। उपचरित, अधीत, आगमित तथा गृहीत—ये एकार्थक नाम हैं। कुछ आचार्यों का मत है कि आचार प्रकल्प को उपचाराग्र कहना उपचार (कल्पना) मात्र है क्योंकि आचार की पांच चूलाओं में ऐसा कोई क्रम नहीं है। (आचार प्रकल्प का अध्ययन चार चूलाओं के बाद किया जाए—यह क्रम नहीं है।)

५९. प्रकल्प शब्द का निक्षेप छह प्रकार का होता है—नामप्रकल्प, स्थापनाप्रकल्प, द्रव्यप्रकल्प, क्षेत्रप्रकल्प, कालप्रकल्प और भावप्रकल्प।

६०. द्रव्य प्रकल्प की अर्थव्याख्या (विभाषा) स्वामित्व, करण और अधिकरण के एकत्व एवं बहुत्व के आधार पर अनेक प्रकार से की जाती है।^२ कुलिक आदि से खेत को जोतना क्षेत्र प्रकल्प है।

६१. (अथवा) जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति और द्वीपसागर प्रज्ञप्ति क्षेत्र प्रकल्प है।^३ अथवा जिस क्षेत्र में प्रकल्प-अध्ययन का व्याख्यान (कथन) किया जाता है, वह क्षेत्र प्रकल्प है।

६२. चन्द्रप्रज्ञप्ति और सूर्यप्रज्ञप्ति काल प्रकल्प है।^४ अथवा नालिका (घड़ी) आदि^५ जिनके द्वारा काल का ज्ञान होता है, अथवा जिस काल (द्वितीय प्रहर) में आचार प्रकल्प का व्याख्यान किया जाए, वह काल प्रकल्प है। जिसमें मूलगुण (महाव्रत) और उत्तरगुण (पिण्ड विशोधि) आदि का प्ररूपण किया जाता है। वह आचारप्रकल्प भाव प्रकल्प है।^६ कल्पना, प्ररूपणा एकार्थक शब्द हैं।

६३. चूला शब्द का निक्षेप छह प्रकार का होता है—नामचूला, स्थापना चूला, द्रव्यचूला, क्षेत्रचूला, कालचूला और भावचूला।

१. भावाग्र का तीसरा प्रकार है उपचाराग्र। उपचार अर्थात् ग्रहण करना, ज्ञान करना। यहां जीव का भावश्रुतोपचार नामक अग्र प्रस्तुत है। उसके दो प्रकार हैं—सकलश्रुतोपचाराग्र और देशश्रुतोपचाराग्र। देशश्रुतोपचाराग्र में आचार की पांच चूलाओं में सबसे अंत में ग्रहण किये जाने के कारण आचार प्रकल्प उपचाराग्र है।

२. स्वामित्व में जीव की अपेक्षा, जैसे देवदत्त के अग्र केशों का कल्पन (काटना) और बहुत से व्यक्तियों के अग्रकेशों का कल्पन। अजीव द्रव्य की अपेक्षा, एक या बहुत वस्त्रों की दशा (किनारी) को काटना। करण की अपेक्षा से एक दात्र या कैंची से केश आदि काटना, बहुत से दात्र या कैंचियों से काटना। अधिकरण की अपेक्षा से एक और अनेक गंडी या फलक पर रखकर काटना आदि।

३. जिसमें जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड आदि द्वीपों का वर्णन है, वह जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति क्षेत्र प्रकल्प है। जिसमें लवणसमुद्र आदि समुद्रों का वर्णन है, वह द्वीपसागर प्रज्ञप्ति भी क्षेत्र प्रकल्प है।

४. चन्द्रप्रज्ञप्ति और सूर्यप्रज्ञप्ति में काल का प्रकल्प (प्ररूपण) है अतः वे कालप्रकल्प हैं।

५. जिनकल्पिक आदि छाया, लग्न आदि के द्वारा कालज्ञान करते हैं अतः आदि शब्द से उनका ग्रहण किया जा सकता है।

६. भाव प्रकल्प के दो प्रकार हैं—प्रकल्प शब्द को जानने वाला और उस अर्थ में उपयुक्त व्यक्ति आगमतः भावप्रकल्प है। तथा प्रस्तुत अध्ययन नोआगमतः भाव प्रकल्प है।

६४. तिविधा य^१ दव्वचूला, सच्चिता मीसिगा य अच्चिता।
कुक्कुडसिह^२ मोरसिहा, चूलामणि^३ 'कुंत-अग्गादी'^४ ॥ ६४ ॥
६५. अह तिरिय उड्डुलोगाण चूलिया होंतिमा उ खेत्तम्मि।
सीमंत-मंदरे वि य^५, ईसीपब्भारणामा^६ य ॥ ६५ ॥
६६. अहिमासगो तु काले, भावे चूला तु^७ होतिमा चेव।
चूला विभूसणं ति य, सिहरं ति य होंति एगट्ठा ॥ ६६ ॥
६७. णामं ठवण णिसीहं, दव्वे खेत्ते य काल भावे य।
एसो तु निसीहस्सा, निक्खेवो छव्विधो होति ॥ ६७ ॥ नि १६ ॥
६८. दव्वनिसीहं कतगादिगोसु^८, खेत्तं तु कण्ह^९ तमु^{१०} णिरगा।
कालम्मि होति रत्ती, 'भावनिसीधं इमं'^{११} चेव ॥ ६८ ॥
६९. जं होति अप्पगासं, तं तु निसीहं ति^{१२} 'लोगतो सिद्धं'^{१३}।
जं अप्पगासधम्मं, अण्णं पि तगं निसीधं ति^{१४} ॥ ६९ ॥
७०. अट्टविधकम्मपंको, णिसीयते जेण तं निसीहं ति।
अविसेसे वि विसेसो, सुइं^{१५} पि जं णेति अण्णेसिं ॥ ७० ॥

१. पढमो च सद्दोऽवधारणे, बितिओ समुच्चये (चू)।

२. °सिहा (दे)।

३. चूडा° (दे)।

४. अगगकुंतादी (मु, भ)।

५. चसद्दो समुच्चये पायपूरणे वा (चू)।

६. ईसि ति अप्पभावे, प इति प्रायोवृत्त्या, भार इति भारकंतस्स पुरिसस्स गायं पायसो ईसि णयं भवति, जा य एवं ठिता.. सा य सव्वट्टिसिद्धिदिमाणाओ उवरिं बारसेहिं जोयणेहिं भवति (चू)।

७. तुसद्दो खओवसमभावविसेसणे दट्टव्वो (चू)।

८. °गाहिएसु (दे), कतको णाम रुक्खो तस्स फलं तं

कलुसोदगे पक्खिप्पइ, तओ कलुसं हेट्ठा ठायति (चू)।

९. कण्ह इति कण्हरातीओ (चू)।

१०. तमु ति तमुक्काओ (चू)।

११. °सीधंतिमं (मु, भ)।

१२. तु (दे)।

१३. लोगसंसिद्धं (मु, भ)।

१४. तु (दे, पा)।

१५. किं पुण कारणं तेसिमं सुइं णागच्छति? सुण-इदमज्झयणं अववायबहुलं, ते य अगीयत्थादिदोसजुत्तता विणसेज्ज तेण णागच्छति (चू)।

६४. द्रव्य चूला (नो आगमतः तद्रव्यतिरिक्त द्रव्य चूला) तीन प्रकार की होती है—१. सचित्त—कुर्कुट (मुर्गे) की (पेशीमय) शिखा सचित्त होती है। २. मिश्र—मोर की (रोम युक्त पेशीमय) शिखा मिश्रचूला है। ३. अचित्त—चूड़ामणि या भाले का अग्रभाग अचित्त चूला है।
६५. क्षेत्र में (क्षेत्र की अपेक्षा से) ये क्षेत्र चूलाएं होती हैं—अधोलोक की चूला सीमान्तक नरक^१, तिर्यक् लोक की चूला मंदर (मेरू) पर्वत^२ और ऊर्ध्व लोक की चूला ईषत् प्राग्भारा नामक पृथ्वी^३।
६६. अभिवर्धित वर्ष में जो अधिक मास होता है, वह काल चूला है।^४ प्रस्तुत अध्ययन (निशीथ) भाव चूला (नो आगमतः भावचूला) है। चूला के ये एकार्थक शब्द हैं—चूला, विभूषण, शिखर।
६७. निशीथ शब्द का निक्षेप छह प्रकार का है—नाम निशीथ, स्थापना निशीथ, द्रव्य निशीथ, क्षेत्र निशीथ, काल निशीथ और भाव निशीथ।
६८. कतक (कतक वृक्ष का फल) आदि डालने पर जल का जो कालुष्य नीचे बैठ जाता है, वह द्रव्य (नो आगमतः तद्रव्यतिरिक्त द्रव्य) निशीथ है। कृष्णराजि^५ तमस्काय^६ और नरक—क्षेत्र निशीथ है। रात्रि कालनिशीथ है और यह (निशीथ अध्ययन) भाव निशीथ है।
६९. जो अप्रकाश (अंधकार) है, वह निशीथ है—ऐसा लोक प्रसिद्ध है अथवा जो अप्रकाशधर्मा—अप्रकाश्य है, ऐसी अन्य वस्तुएं भी निशीथ हैं।^७
७०. जिससे आठ प्रकार के कर्मपंकों—ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का निसीदन, (उपशम, क्षय, क्षयोपशम) होता है वह है—निशीथ (निशीथाध्ययन)।^८ कर्मक्षपण की दृष्टि से सभी अध्ययन समान हैं, फिर भी यह निशीथ अध्ययन विशेष है क्योंकि यह सूत्र अपवादबहुल होने के कारण अन्य मुनियों को इसकी वाचना नहीं दी जाती, इसे सुनाया-पढ़ाया नहीं जाता।^९

१. रत्नप्रभा नरक का प्रथम नरकावास है—सीमान्तक।

२. अथवा (कुछ आचार्यों के अनुसार) मेरू पर्वत के ऊपर चालीस योजन की चूला है, वह तिर्यक् लोक की चूला है।

३. ईषत् प्राग्भारा पृथ्वी का दूसरा नाम सिद्धशिला है, जो सर्वार्थसिद्ध विमान से बारह योजन ऊपर स्थित है।

४. गाथा में उक्त 'तु' शब्द से काल के अन्तिम विभाग को भी कालचूला के रूप में ग्रहण किया गया है, जैसे अवसर्पिणी काल का अन्तिम विभाग है—दुःषम-दुःषमा, वह काल चूला है।

५. सनत्कुमार और माहेन्द्र कल्प से ऊपर ब्रह्मलोक कल्प के रिष्टविमान प्रस्तट के समानान्तर आखाटक आकार वाली समचतुस्र संस्थान से संस्थित आठ कृष्णराजियां प्रज्ञप्त हैं। विशेष हेतु द्रष्टव्य भ. ५/८९-१०५ सभाष्य।

६. जम्बूद्वीप के बाहर तिरछी दिशा में असंख्य द्वीप समुद्रों को पार करने पर अरुणवर द्वीप के बहिर्वर्ती वेदिका के छोर से आगे जो अरुणोदय समुद्र है, उसमें बयालीस हजार योजन अवगाहन करने पर जल के ऊपर के सिरे से एक प्रदेश वाली श्रेणी निकली है। यहां से तमस्काय उठता है। वह सतरह सौ इक्कीस योजन ऊपर जाता है। उसके पीछे तिरछा फैलता हुआ सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार और माहेन्द्र—इन चार कल्पों को घेरकर ऊपर ब्रह्मलोक कल्प के रिष्टविमान के प्रस्तट तक पहुंच जाता है। विशेष हेतु द्रष्टव्य भ. ५/७०-८८ व भाष्य।

७. रहस्यमय सूत्र, मंत्र, विद्या, योग आदि जो अपरिणत श्रोता के समक्ष प्रकट नहीं किए जाते, वे भी निशीथ हैं।

८. निशीथ शब्द की भिन्न व्याख्या के अनुसार द्रव्य निशीथ है—कतक फल, जिसके प्रक्षेप से जल का कालुष्य चला जाता है। क्षेत्र निशीथ है बाह्य द्वीप समुद्र, जहां जीव और पुद्गलों का अभाव हो जाता है। कालनिशीथ है दिन, जिससे रात्रि का अंधकार चला जाता है और भाव निशीथ है क्षय, क्षयोपशम आदि भाव, जिससे कर्ममल का अपगम होता है।

९. अगीतार्थ, अतिपरिणत और अपरिणत साधुओं के समक्ष उसका परावर्तन भी नहीं किया जाता। उसके उद्देश, वाचन, अर्थश्रवण आदि की तो बात ही क्या? अतः यह अन्य श्रुतग्रन्थों की अपेक्षा विशिष्ट है।

७१. आयारे चउसु वि^१ चूलियासु उवदेस वितहकारिस्स ।
पच्छित्तमिहज्झयणे, वुत्तं^२ 'अण्णोसु य पदेसु'^३ ॥७१॥ नि १७ ॥
७२. तं अतिपसंगदोसा, निसेवतो होति न तु असेविस्स ।
पडिसेवए य सिद्धे, कत्तादिव^४ सिज्झते ततियं ॥७२॥
७३. पडिसेवओ य पडिसेवणा य पडिसेवितव्वगं चेव ।
एतेसिं 'तिण्हं पी'^५, पत्तेय परूवणं वोच्छं ॥७३॥ नि १८ ॥
७४. पडिसेवणा तु भावो, सो पुण कुसलो^६ व होज्जऽकुसलो वा^७ ।
कुसलेण होति कप्पो, अकुसलपडिसेवणा^८ दप्पो ॥७४॥ नि १९ ॥
७५. णाणी न विणा नाणं, णेयं पुण^९ तेसऽणणमण्णं वा ।
इय दोणहमण्णत्तं^{१०}, भइयं पुण सेवितव्वेणं^{११} ॥७५॥
७६. पडिसेवगो तु साधू, पडिसेवण मूलउत्तरगुणे य ।
पडिसेवियव्वगं खलु, दव्वादि चतुव्विधं होति^{१२} ॥७६॥ नि २० ॥
७७. पुरिस उक्कोस मज्झिम, जहण्णगा ते चउव्विधा होंति ।
कप्पट्टिता परिणता, कडजोगी चेव तरमाणा^{१३} ॥७७॥ नि २१ ॥
७८. संघयणे संपण्णा, धितिसंपण्णा य होंति तरमाणा ।
सेसेसु होति भयणा, संघयण-धितीय इतरे^{१४} य ॥७८॥

१. य (मु, भ, पा) ।

२. भणियं (मु, भ) ।

३. अण्णपदा सूयकडादओ पया, तेसु वि वितहकारिस्स
पच्छित्तं वुत्तं (चू) ।

४. कत्ता इव (भ) ।

५. तु पयाणं (व्यभा ३७) ।

६. कुसलो नाम प्रधानः कर्मक्षपणसमर्थ इत्यर्थः (चू) ।

७. वा समुच्चये पायपूरणे वा (चू) ।

८. °परिणामतो (व्यभा ३९) ।

९. पुण त्ति भइणीय-सद्भावधारणत्थे (चू) ।

१०. °ह व अणा° (भ), °मणाणत्तं (दे, पा) ।

११. व्यभा ४०, सेवियव्वं णाम जं उवभुज्जति (चू) ।

१२. तु. व्यभा ३८ ।

१३. इस गाथा के लिए चूर्णि में 'एसा भदबाहुसामिकता
गाहा' का उल्लेख है अतः यह निर्युक्ति की होनी चाहिए ।

१४. इयरे त्ति इयरा णाम संघयण-धितिरहिता (चू) ।

७१. आचार (आचारांग सूत्र) और प्रथम चारों चूलिकाओं में उपदिष्ट क्रिया का विपरीत आचरण करने वाले^१ के लिए इस अध्ययन में प्रायश्चित्त का कथन किया गया है। केवल इसमें ही नहीं, अन्य पदों (बृहत्कल्प और व्यवहार सूत्र आदि) में भी प्रायश्चित्त का निरूपण है।
७२. दोष सेवन न करने वाले के लिए प्रायश्चित्त का विधान करने से अतिप्रसंग^२ दोष आता है। प्रायश्चित्त का विधान प्रतिसेवक के लिए है, अप्रतिसेवक के लिए नहीं। प्रतिसेवक सिद्ध हो जाने पर कर्ता आदि के समान तीनों (कर्ता, करण, कर्म) सिद्ध हो जाते हैं।^३
७३. प्रतिसेवक, प्रतिसेवना और प्रतिसेवितव्य—इन तीनों पदों में से प्रत्येक की प्ररूपणा कर रहा हूँ।
७४. प्रतिसेवना भाव है—जीव का अध्यवसाय है (क्रिया नहीं)। वह कुशल (कर्मक्षय में समर्थ) भी होता है और अकुशल (कर्मबंध कारक) भी। कुशल परिणाम से की गई प्रतिसेवना कल्प-(कल्पिका) और अकुशल प्रतिसेवना दर्पिका प्रतिसेवना कहलाती है।
७५. ज्ञान के बिना ज्ञानी नहीं होता। (दोनों में एकत्व है।) ज्ञानी और ज्ञान से ज्ञेय अभिन्न भी होता है और कभी भिन्न भी। इसी प्रकार प्रतिसेवक और प्रतिसेवना में नानात्व नहीं है। प्रतिसेव्य के साथ भजना है। हस्तकर्म आदि की अपेक्षा से अनन्यत्व है और प्रलंब आदि वस्तुओं के ग्रहण की अपेक्षा अन्यत्व।
७६. प्रतिसेवक साधु होता है। प्रतिसेवना मूलगुण और उत्तरगुण के विषय में होती है। प्रतिसेवितव्य द्रव्य आदि (द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव) चार प्रकार का होता है।
७७. पुरुष (प्रतिसेवक) तीन प्रकार के होते हैं—उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य। उनके पुनः चार प्रकार होते हैं।^४ पुनः पुरुष के चार प्रकार होते हैं—१. कल्पस्थित^५ २. परिणत^६ ३. कृतयोगी^७ और ४. तरमाण।^८
७८. कुछ पुरुष संहनन सम्पन्न भी होते हैं और धृति सम्पन्न भी। वे नियमतः तरमाण होते हैं। शेष विकल्पों में भजना है—दूसरा संहनन सम्पन्न, तीसरा धृतिसम्पन्न और चौथा विकल्प दोनों से रहित होता है।

१. वितथकारी का अर्थ है—अनाचार का सेवन करने वाला। शिष्य ने पूछा—क्या अनाचार का ही प्रायश्चित्त आता है या अन्य का भी? क्या निशीथ में अनाचार के प्रायश्चित्त का ही विधान है? आचार्य ने कहा—नहीं। अन्य पदों अर्थात् अतिक्रम, व्यतिक्रम और अतिचार के प्रायश्चित्त का भी इसमें विधान है। शिष्य ने दूसरा प्रश्न किया—क्या सचूला आचारांग सूत्र के वितथकारी के लिए ही इस निशीथ अध्ययन में प्रायश्चित्त का विधान किया गया है या अन्य का भी? आचार्य ने कहा—केवल आचारांग ही नहीं, अन्य पद अर्थात् सूत्रकृतांग आदि आगमों में वर्णित क्रियाओं में दोष सेवन करने वाले के लिए भी प्रायश्चित्त का विधान है।
२. अतिप्रसंग का अर्थ है नियम का अतिविस्तार। दोषी के लिए प्रायश्चित्त और अदोषी के लिए भी प्रायश्चित्त तो वह अति-प्रसंग है। बिना हेतु के उस नियम के द्वारा दूसरे के अनिष्ट की प्राप्ति होना—यह अतिप्रसंग है, जैसे दोष की प्रतिसेवना न करने वाले को प्रायश्चित्ती मानने से चारित्र अशुद्धि, मोक्षाभाव, दीक्षा की निरर्थकता आदि दोष अतिप्रसंग दोष हैं।
३. कर्ता अमुक करण से प्रयत्न करता हुआ अमुक कार्य का निष्पादन करता है—इससे जैसे कर्ता के साथ करण और कार्य दोनों सिद्ध हो जाते हैं, वैसे ही प्रतिसेवक सिद्ध होने पर प्रतिसेवना और प्रतिसेव्य भी सिद्ध हो जाते हैं।
४. (क) धृतिसंहनन युक्त, (ख) संहनन सम्पन्न धृतिरहित, (ग) संहनन रहित धृति सम्पन्न, (घ) संहनन रहित धृति रहित।
५. यथोक्त मर्यादा (कल्प) का पालन करने वाले पुरुष कल्पस्थित कहलाते हैं, वे जिनकल्पिक होते हैं। अपवाद युक्त कल्प (प्रकल्प) में स्थित पुरुष प्रकल्पस्थित—स्थविरकल्पिक कहलाते हैं।
६. जो श्रुत और वय से व्यक्त होते हैं वे परिणत और जो इनसे रहित होते हैं वे अपरिणत कहलाते हैं।
७. जो उपवास आदि तपस्या में कृतयोग (अभ्यस्त) होते हैं—उपवास आदि से जिनके ध्रुवयोगों में हानि नहीं होती, वे कृतयोगी और शेष अकृतयोगी होते हैं।
८. प्रारम्भ किए हुए तपःकर्म को पूर्ण करने वाले तरमाण और पूर्ण न कर सकने वाले अतरमाण होते हैं।

७९. पुरिसा तिविधा संघयण, धितिजुता तत्थ होंति उक्कोसा ।
एगतरजुता मज्झा, दोहिं विजुता जहण्णा उ ॥७९ ॥
८०. उक्कोसगा तु दुविधा, 'कप्प-पकप्पट्टिता'^१ व होज्जाहि ।
कप्पट्टिता तु नियमा, परिणत^२-कडजोगि^३-तरमाणा^४ ॥ ८० ॥
८१. जे पुण^५ ठिता पकप्पे, परिणत-^६कडजोगिताइ ते^७ भइया ।
तरमाणा पुण नियमा, जेण उ उभएण^८ ते बलिया ॥ ८१ ॥
८२. मज्झा य^९ बितिय-ततिया, नियम पकप्पट्टिता तु णातव्वा ।
बितिया परिणत कडजोगिताएँ भइया तरे किंची ॥ ८२ ॥
८३. संघयणेण तु जुत्तो, अदढधित्ती न खलु सव्वसो अतरो^{१०} ।
देहस्सेव तु स गुणो, न भज्जती^{११} जेण अप्पेण ॥ ८३ ॥
८४. ततिओ धितिसंपन्नो, परिणत-^{१२}कडजोगिता वि^{१३} सो भइओ ।
एगे पुण तरमाणं, तमाहु मूलं धित्ती जम्हा ॥ ८४ ॥
८५. नामुदया संघयणं, धित्ती तु मोहस्स उवसमे होति ।
तह वि सती संघयणे, जा होति धित्ती न सा हीणे ॥ ८५ ॥
८६. चरिमो परिणत^{१४} कडजोगिताय भइओ^{१५} न सव्वसो अतरो ।
रातीभत्तविवज्जण, पोरिसिमादीण^{१६} जं तरति ॥ ८६ ॥
८७. पुरिस नपुंसा एमेव, होंति एमेव होंति इत्थीओ ।
नवरिं^{१७} पुण कप्पठिता, इत्थीवग्गे न कातव्वा ॥ ८७ ॥

१. कप्पट्टिता णाम जहाभिहिए कप्पे ट्टिता कप्पट्टिता । ते य
जिणकप्पिया तप्पडिवक्खा पकप्पट्टिता (चू) ।

२. परिणता णाम सुतेण वएण य वत्ता (चू) ।

३. कडजोगी णाम चउत्थादितवे कतजोगा (चू) ।

४. तरमाणा णाम जे जं तवोकम्मं आढवेंति, तं वि
नित्थरंति (चू) ।

५. पुण इति पादपूरणे (चू) ।

६. °जोगिया वेते (दे), °जोगि वावि ते (भ) ।

७. उभयं णाम संघयणधितिसामत्थाओ य जं तवोकम्मं

आढवेंति, तं णित्थरंति (चू) ।

८. वि (दे, भ) ।

९. अतरओ (मु), तरति (भ) ।

१०. भज्जति (मु), नज्जते (भ) ।

११. °जोगि वावि (भ) ।

१२. °गिताभयजोगितो (दे) ।

१३. °मादीहिं (मु, भ) ।

१४. णवरं (भ, मु) ।

७९. पुरुष के तीन प्रकार हैं—संहनन और धृति युक्त पुरुष उत्कृष्ट होते हैं। दोनों में से एक से युक्त (दूसरे और तीसरे विकल्प वाले) पुरुष मध्यम होते हैं और दोनों से रहित (संहनन धृति रहित) जघन्य होते हैं।
८०. उत्कृष्ट पुरुष दो प्रकार के होते हैं—१. कल्पस्थित और प्रकल्पस्थित। जो कल्पस्थित होते हैं वे नियमतः परिणत—श्रुत और वय से व्यक्त, कृतयोगी और तरमाण होते हैं।
८१. जो उत्कृष्ट पुरुष प्रकल्प स्थित (स्थविरकल्पी) होते हैं वे परिणत और कृतयोगी की अपेक्षा से भाज्य (विकल्पनीय) हैं।^१ वे नियमतः तरमाण होते हैं क्योंकि संहनन और धृति दोनों की दृष्टि से वे बलवान होते हैं।
८२. मध्यम पुरुष द्वितीय और तृतीय विकल्प वाले होते हैं। वे नियमतः प्रकल्पस्थित होते हैं—ऐसा ज्ञातव्य है।^२ जो द्वितीय भंग वाले होते हैं वे परिणत और कृतयोगी की अपेक्षा से भाज्य हैं^३, वे किंचित् तरमाण होते हैं।
८३. द्वितीय विकल्प वाले निर्ग्रन्थ संहनन युक्त होते हैं पर दृढ़ धृति वाले नहीं, फिर वे सर्वथा अतरमाण कैसे नहीं होते। (स्वल्प तरमाण कैसे होते हैं) (समाधान यह है कि) संहनन देह का ही गुण (उपकारक) है अतः अल्प (बाधा आदि) से भग्न नहीं होता।
८४. तृतीय विकल्प धृतिसम्पन्न का है। वे परिणत और कृतयोगित्व की दृष्टि से भाज्य हैं।^४ वे भी किंचित् तरमाण होते हैं। कुछ आचार्य उसे तरमाण मानते हैं क्योंकि तप का मूल है धृति।
८५. नामकर्म के उदय से संहनन प्राप्त होता है। मोह (अरति नामक नो कषाय चारित्रमोहनीय) के उपशम (क्षयोपशम) से धृति प्राप्त होती है। (यद्यपि संहनन और धृति के उत्पत्ति के कारण भिन्न-भिन्न हैं) तथापि संहनन होने पर जो धृति होती है, वह संहनन हीन में नहीं होती।
८६. अन्तिम (चतुर्थ) विकल्प वाले पुरुष भी परिणतत्व और कृतयोगित्व की अपेक्षा भाज्य हैं किन्तु वे सर्वथा अतरमाण नहीं होते क्योंकि वे भी रात्रिभोजन-विवर्जन, प्रहर आदि प्रत्याख्यानों को पूर्ण करते हैं।
८७. पुरुष नपुंसक^५ तथा स्त्रियां भी उत्कृष्ट आदि विकल्पों तथा कल्पस्थित आदि भंगों से इसी प्रकार (पुरुषों के समान) ज्ञातव्य हैं। केवल स्त्रियों के पक्ष में कल्पस्थित का भंग नहीं करना चाहिए।

१. स्थविरकल्पी गीतार्थ भी हो सकते हैं और अगीतार्थ भी। उग्र की दृष्टि से भी वे सोलहवर्ष से छोटे और बड़े दोनों हो सकते हैं अतः श्रुत और वय दोनों दृष्टि से परिणत और अपरिणत दोनों हो सकते हैं। तपस्या आदि की अपेक्षा से भी वे कृतयोगी ही हों—यह नियम नहीं है।
२. द्वितीय विकल्प वाले केवल संहनन सम्पन्न और तृतीय विकल्प वाले केवल धृतिसम्पन्न होते हैं अतः क्रमशः धृति और संहनन की अल्पता (अभाव) में वे जिनकल्प स्वीकार नहीं करते, स्थविरकल्प स्वीकार करते हैं।
३. द्वितीय विकल्प वाले पुरुष भी प्रथम विकल्प वाले स्थविरकल्पी पुरुषों के समान गीतार्थ या अगीतार्थ, वयस्क या अवयस्क, कृतयोगी और अकृतयोगी—सब प्रकार के हो सकते हैं।
४. परिणतत्व और कृतयोगित्व की दृष्टि से द्वितीय और तृतीय विकल्पगत पुरुषों में समानता है।
५. नपुंसक के दो प्रकार होते हैं—१. पुरुष नपुंसक और २. स्त्री नपुंसक। स्त्री नपुंसक को दीक्षा के योग्य नहीं माना गया अतः पुरुष नपुंसक यह कथन किया गया।

८८. दप्पे सकारणम्मि य, दुविधा पडिसेवणा समासेण ।
एक्केक्का वि य दुविधा, मूलगुणे उत्तरगुणे य ॥८८॥ नि २२ ॥
८९. मूलगुणे छट्टाणा, पढमे टाणम्मि^१ नवविधो भेदो ।
सेसेसुक्कोस-मज्झि^२, जहण्ण दव्वादिगा चउहा ॥८९॥
९०. दप्पे कप्प 'पमादऽणाभोग'^३ आहच्चओ य चरिमा तु ।
पडिलोमपरूवणता, 'अत्थेण उ'^४ होंति अणुलोमा ॥९०॥
९१. एमेव चतुह पडिसेवणा तु संखेवतो भवे दुविधा ।
दप्पो^५ तु जो पमादो^६, कप्पो^७ पुण अप्पमत्तस्स^८ ॥९१॥
९२. न य सव्वो वि पमत्तो, आवज्जति तह वि सो भवे वधगो ।
जह अप्पमादसहितो, आवण्णो वी अवधगो उ ॥९२॥
९३. अप्पतरमच्चिततरं, एगेसिं पुव्व जतणपडिसेवा ।
तं दोणह चेव जुज्जति, बहूण पुण^९ अच्चितं अंते ॥९३॥
९४. दोणहं वच्चं पुव्वच्चियं तु बहुयाण^{१०} अच्चितं अंते ।
अप्पं च एत्थ वच्चं, जतणा तेणं तु पडिलोमं ॥९४॥
९५. न पमादो कातव्वो, जतणापडिसेवणा^{११} अतो पढमं ।
सा तु अणाभोगेणं^{१२}, सहस्सकारेणं^{१३} वा होज्जा ॥९५॥

१. त्थाणम्मि (दे) ।

२. मज्झिम (क, मु) ।

३. अपमत्ताणाभोग (दे) ।

४. अत्थेणं (मु, भ) ।

५. अतिवातलक्खणो दप्पो (चू) ।

६. अनुपयोगलक्खणः प्रमादः (चू) ।

७. णाणातिकारणावेक्ख अकप्पसेवणा कप्पो (चू) ।

८. उवओगपुव्वकरणक्रिया लक्खणो अप्रमादः (चू) ।

९. × (दे) ।

१०. बहुयाण (भ) ।

११. जतणं (भ) ।

१२. अणाभोगो णाम अत्यन्तविस्मृतिः (चू) ।

१३. "स्सक्का" (दे) ।

८८. प्रतिसेवना संक्षेप में दो प्रकार की होती है—१. दर्प (निष्कारण) प्रतिसेवना^१ और २. कल्प (निष्कारण) प्रतिसेवना^२ पुनः प्रत्येक के दो-दो प्रकार हैं—मूलगुण प्रतिसेवना और उत्तरगुण प्रतिसेवना।

८९. मूलगुण प्रतिसेवना छह स्थानों में होती है। प्रथम स्थान (प्राणातिपात) में नौ भेद होते हैं।^३ शेष^४ में उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य तथा इनके द्रव्य आदि चार-चार भेद^५ होते हैं।

९०. दर्पिका, कल्पिका, प्रमाद और अप्रमाद—इन (चार प्रकार की) प्रतिसेवनाओं में चरम प्रतिसेवना दो प्रकार से होती है। अनाभोग (अज्ञान) से और अकस्मात्। इस क्रम से उपन्यस्त (कथित) प्रतिसेवना की प्रतिलोम क्रम से व्याख्या करेंगे। अर्थतः यही अनुलोम प्ररूपणा है।^६

९१. यही चार प्रकार की प्रतिसेवना संक्षेपतः दो प्रकार की होती है—जो दर्प-प्रतिसेवना है वही प्रमाद प्रतिसेवना है। अप्रमत्त की प्रतिसेवना कल्प-प्रतिसेवना है।^७

९२. हर प्रमत्त व्यक्ति प्राणातिपात नहीं करता, फिर भी वह हिंसक है। यथा अप्रमादयुक्त व्यक्ति प्राणातिपात हो जाने पर भी अवधक (अहिंसक) है।

९३. कुछ आचार्यों का मत है कि यतनापूर्वक की जाने वाली प्रतिसेवना (अप्रमाद प्रतिसेवना) अल्पस्वर और अर्चिततर (अधिक पूज्य) है अतः उसका पूर्व निपात होना चाहिए^८ किन्तु ये दोनों हेतु दो पदों के द्वन्द्व समास में युक्तियुक्त हैं, बहुत पदों के द्वन्द्व समास में अर्चिततर अन्त में आता है जैसे—भीमार्जुनवासुदेवाः।

९४. दर्पिका और कल्पिका वाच्य हो तो पहले कल्पिका वक्तव्य है क्योंकि वह अर्चिततर है। बहुत पदों की वक्तव्यता होने से अप्रमाद अन्त में वाच्य है क्योंकि बहुतों में अर्चिततर अन्त में आता है। यहां यतना-प्रतिसेवना के विषय में अल्प वक्तव्यता है अतः पश्चानुपूर्वी से व्याख्या की गई है।^९

९५. प्रमाद नहीं करना चाहिए (प्रव्रज्या के बाद सर्वप्रथम अप्रमाद का उपदेश दिया जाता है) अतः अर्थतः यतना प्रतिसेवना प्रथमतः व्याख्येय है। वह दो प्रकार से होती है—१. अनाभोग (अत्यन्त विस्मृति) के कारण। २. सहसाकार—आकस्मिक रूप से (जानते हुए भी परवशता के कारण)।

१. निष्कारण मूलगुण या उत्तरगुण में दोष लगाना, उछल-कूद आदि व्यायाम करना दर्प प्रतिसेवना है।
२. ज्ञान, दर्शन आदि के लिए, संयम योगों में निर्वाह न होने की स्थिति में प्रतिसेवना की जाती है, वह कल्प प्रतिसेवना है।
३. प्राणातिपात प्रतिसेवना के नौ प्रकार हैं—१. पृथ्वीकाय २. अप्काय ३. तेजस्काय ४. वायुकाय ५. वनस्पतिकाय ६. द्वीन्द्रिय ७. त्रीन्द्रिय ८. चतुरिन्द्रिय और ९. पञ्चेन्द्रिय।
४. शेष शब्द से मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह और रात्रिभोजन—इन पांच स्थानों का ग्रहण किया गया है।
५. मृषावाद आदि पांचों स्थानों की प्रतिसेवना के मूल तीन भेदों—उत्कृष्ट आदि का, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से गुणन करने पर प्रत्येक प्रतिसेवना के बारह-बारह प्रकार हो जाते हैं जैसे उत्कृष्ट (बहुमूल्य या बहु सारयुक्त) द्रव्य का अपलाप करना उत्कृष्ट द्रव्य मृषावाद है। इसी प्रकार मध्यम द्रव्य मृषावाद आदि तथा उत्कृष्ट क्षेत्र मृषावाद आदि भेद ज्ञातव्य हैं।
६. प्रस्तुत गाथा में अप्रमाद प्रतिसेवना का कथन अन्त में किया गया है अतः उसकी व्याख्या पहले करना प्रतिलोम या पश्चानुपूर्वी से की गई व्याख्या है पर अर्थ की दृष्टि से अप्रमाद ही करणीय है अतः यह अनुलोम प्ररूपणा है।
७. दर्प और प्रमाद तथा कल्प और अप्रमाद में कार्यकारणभाव है। कारण और कार्य में कथंचित् भिन्नता और कथंचित् अभिन्नता है अतः प्रतिसेवना के दो प्रकार और चार प्रकार—दोनों हो सकते हैं।
८. द्वन्द्व समास में जिन दो पदों में समास किया जाता है उनमें जिस पद में स्वर कम हो, उसका पूर्वनिपात होता है। दोनों में जो अधिक पूज्य हो, उसका पूर्वनिपात होता है। यतन प्रतिसेवना और अयतन प्रतिसेवना का द्वन्द्व समास करने पर 'यतन' का पूर्वनिपात व्याकरणसम्मत है।
९. दो विषयों की व्याख्या करणीय हो, एक के विषय में थोड़ा सा कहना हो, दूसरे के बारे में अधिक, तो जो अल्प वक्तव्य हो, उसका निरूपण पहले किया जाता है।

१६. अन्नतरपमादेणं, असंपउत्तस्स णोवउत्तस्स ।
रीयादिसु^१ भूतत्थेसु^२ 'अवट्टतो' होतऽणाभोगो^३ ॥१६॥
१७. पुव्वं अपासिरुणं, छूढे पादम्मि जं पुणो पासे ।
न य तरति नियत्तेउं, पादं सहसाकरणमेतं^४ ॥१७॥
१८. दिट्ठे^५ सहसक्कारे, कुलिंगादि जह असिम्मि विसमे वा ।
आउत्तो रीयादी, तडि^६ संकम उवधि संथारे ॥१८॥
१९. कुच्छितलिंगं कुलिंगी^७, जस्स व पंचेदिया असंपुण्णा ।
लिंगिंदियाणि आया^८, 'लिंगी तो'^९ घेप्पते तेहिं ॥ १९ ॥
१००. असि-कंटगविसमादिसु, गच्छंतो सिक्खितो वि जत्तेणं ।
चुक्कति एमेव मुणी, छलिज्जती अप्पमतो वि ॥१००॥
१०१. अस्संजतमतरंते, वट्टति ते पुच्छ होज्ज भासाए ।
वट्टति असंजमो से, मा अणुमति^{१०} केरिसं तम्हा ॥१०१॥
१०२. दिट्ठमणेसियगहणे, गह-निक्खेवे तहा निसग्गे य^{११} ।
पुव्वादिट्ठो जोगो, तिण्णो सहसा न निग्घेतुं^{१२} ॥ १०२ ॥
१०३. पंचसमितस्स मुणिणो, आसज्ज विराधणा 'जदि हवेज्जा'^{१३} ।
रीयंतस्स गुणवतो, सुव्वत्तमबंधगो सो उ ॥१०३॥

१. इरिया^० (जीभा १३६), रीय ति इरियासमिती गहिता,
आदिसद्दातो अण्णसमितीतो य (चू) ।

२. भूयत्थो णाम वियार-विहार-संथार-भिक्खादि संजमसाहिका
किरिया भूतत्थो (चू) ।

३. अवट्टतो एतदण्णाणं (जीभा) ।

४. जीभा १३५ ।

५. दिट्ठी (दे) ।

६. तडी नाम छिण्णटंका (चू) ।

७. कुलिंगो (दे, पा) ।

८. अत्ता (मु) ।

९. लिंगीओ (क), लिंगंतो (भ) ।

१०. इह वयणे अत्थावत्तिपओगेण वि सुहुमो वि अणुमतिदोसो
ण लब्भति (चू) ।

११. वा (भ, मु) ।

१२. णियेतुं (दे) ।

१३. जति हवेज्ज (दे) ।

१६. किसी भी प्रमाद से युक्त^१ न होने पर भी ईर्या आदि भूतार्थों (संयम साधक क्रियाओं) में अनुपयुक्त व्यक्ति का प्राणातिपात आदि में वर्तित न होना^२ अनाभोग प्रतिसेवना है।
१७. पैर उठाने से पूर्व स्थंडिल में प्राणी दिखाई नहीं दिया। पैर उठाने पर वहां प्राणी दिखाई दिया, उस उत्क्षिप्त (उठाए हुए) पैर को रखने से रोका नहीं जा सकता। पश्चात् दृष्ट प्राणी को जानते हुए भी परवशता के कारण प्राणातिपात की प्रवृत्ति हुई, वह सहसाकरण है।
१८. पूर्व प्रवृत्त काययोग का निर्वतन शक्य नहीं अतः पश्चात् देख लेने पर भी ईर्या में उपयुक्त पुरुष से भी द्वीन्द्रिय आदि प्राणी का वध हो जाता है, असिधारा के समान विषम पथ पर स्खलित हो जाता है।^३ छिन्न टंक का संक्रमण करते हुए, उपधि, संस्तारक आदि लाने में ईर्या समिति में उपयुक्त व्यक्ति से भी जो द्वीन्द्रिय आदि का वध या विराधना हो जाती है, वह ईर्यासमिति विषयक सहसाकार है।
१९. जिसकी इन्द्रियां कुत्सित हैं अथवा जिसकी पांचों इन्द्रियां पूर्ण नहीं हैं, वह कुलिंगी कहलाता है।^४ इन्द्रियां लिंग है आत्मा उनसे ग्राह्य—ज्ञेय है अतः वह लिंगी है।^५
१००. सुशिक्षित व्यक्ति भी तलवार की धार पर चलता हुआ कभी-कभी चूक जाता है, कंटकाकीर्ण और विषम मार्ग आदि में प्रयत्नपूर्वक चलता हुआ व्यक्ति भी कभी-कभी स्खलित हो जाता है, इसी प्रकार अप्रमत्त और ईर्या समिति में उपयुक्त मुनि भी कभी-कभी स्खलित हो जाता है।
१०१. कोई गृहस्थ ग्लान है। साधु उसे पूछे—क्या तुम स्वस्थ हो? इसका अर्थ होगा कि साधु उसके असंयम या असंयत जीवन का सूक्ष्म वाग्योग के द्वारा अनुमोदन कर रहा है अतः यह भाषा समिति विषयक सहसाकार है। अतः पूछना चाहिए 'कैसे है?' इस वचन में अर्थापत्ति प्रयोग से भी सूक्ष्म अनुमोदना का दोष नहीं लगता।
१०२. मुनि एषणा समिति में उपयुक्त है। उसने पहले अनेषणीय नहीं देखा। ग्रहण के लिए प्रवृत्त हो गया। फिर अनेषणीय देखा, किन्तु पूर्व प्रयुक्त काययोग का निग्रह करना शक्य नहीं हुआ—यह एषणा विषयक सहसाकार है। इसी प्रकार ग्रहण निक्षेप में तथा निसर्ग (उत्सर्जन) में पूर्व प्रवृत्त काययोग का निग्रह शक्य नहीं होता इसलिए आदान निक्षेप समिति एवं उत्सर्ग समिति विषयक सहसाकार प्रतिसेवना सम्भव है।
१०३. पांच समितियों से समित, गुणवान् मुनि के ऐसी अवस्था में काययोग में प्रवृत्त होने पर कदाचित् प्राणी विराधना हो जाए, फिर भी वह अबन्धक है अर्थात् उसके प्रमादप्रत्ययिक पाप नहीं लगता।

१. प्रमाद के पांच प्रकार हैं—१. इन्द्रिय २. कषाय ३. मद्य ४. निद्रा और ५. विकथा। इन पांचों से रहित व्यक्ति अप्रमत्त—'अण्णतर पमादेणं असंपउत्त' है।

२. अनाभोग प्रतिसेवना में प्राणातिपात की प्रवृत्ति नहीं है किन्तु कदाचित होने वाली विस्मृति के कारण उपयोग का अभाव है वही प्रतिसेवना का हेतु है।

३. 'जह असिंमि विसमे वा' की स्पष्टता के लिए द्रष्टव्य है गा. १०० का अनुवाद।

४. द्वीन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय तक के सारे विकलेन्द्रिय 'कुलिंगी' शब्द से गृहीत हैं।

५. लिंग का अर्थ है—चिह्न या हेतु, जिससे अप्रत्यक्ष साध्य का ज्ञान होता है जैसे धूम से अग्नि का। अप्रत्यक्ष आत्मा को इन्द्रियों से जाना जाता है अतः इन्द्रियां लिंग और आत्मा लिंगी है।

१०४. 'कसाय-विकहा'^१-वियडे, इंदिय-निह्पमाद पंचविधे ।
कलुसस्स य निक्खेवो, चउविध^२ कोधादि एक्कारो ॥१०४॥ नि २३ ॥
१०५. अप्पत्ति^३ असंखड^४, निच्छुभणे उवधिमेव पंतावे^५ ।
उद्दवणा^६ कालुस्से, ऽसंपत्ती^७ चेव संपत्ती ॥१०५॥ नि २४ ॥
१०६. लहुगो य दोसु दोसु य, गुरुगो लहुगा य दोसु ठाणेषु ।
दो चतुगुरु दो छल्लहु, अणवट्टेक्कारसपदाणि^८ ॥१०६॥
१०७. लहुगो गुरुगो गुरुगो, दो 'चतुलहुगा य दो य चतुगुरुगा'^९ ।
दो छल्लहु अणवट्टो, चरिमं एक्कारसपदाणि ॥१०७॥
१०८. लहुगो य दोसु दोसु य, गुरुगो लहुगा य दोसु ठाणेषु ।
दो चतुगुरु दो छल्लहु, छग्गुरुगा छेद मूलदुगं ॥१०८॥
१०९. सहसा व पमादेणं, अप्पडिवंदे कसाइए लहुगो ।
अहमवि 'न वंदइस्सं'^{१०}, असंप-संपत्ति लहु-गुरुगो ॥१०९॥
११०. एमेवऽसंखडे वी, असंप गुरुगो तु लहुग संपत्ते ।
निच्छुभणमसंपत्ते, लहुगच्चिय णीणिते गुरुगा ॥ ११० ॥
१११. उवधीहरणे गुरुगा, असंप-संपत्तिओ य छल्लहुगा ।
पंतावणसंकप्पे, छल्लहुगा अचलमाणस्स ॥ १११ ॥
११२. पहरणमग्गण छग्गुरु, छेदो दिट्ठम्मि अट्ठमं गहिते ।
उग्गिण्ण दिण्ण अमते, नवमं उद्दवणे चरिमं ॥११२॥

१. कसाए य कहा (भ) ।

२. चउहो (दे) ।

३. अप्पत्तियं पच्चामरिसकरणं (चू) ।

४. °खडि (भ), असंखडं वाचिगो कलहो (चू) ।

५. पंतावणं लउडादिभिः (चू) ।

६. उद्दवण (भ, मु), उद्दवणं मारणं (चू) ।

७. असं (भ, पा) ।

८. °पदासु (मु), °पदा तु (भ) ।

९. चउलहू य दो गुरुगा (दे) ।

१०. य ण वंदिस्सं (भ, मु) ।

१०४. प्रमाद के पांच प्रकार हैं—कषाय, विकथा, मद्य, इन्द्रिय और निद्रा। कषाय के चार निक्षेप हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। क्रोध-उत्पत्ति को प्रथम प्रकार माना जाए तो क्रोध ग्यारह भेद वाला होता है।

१०५. अप्रत्ययिक,^१ वाचिक कलह, निष्कासन, उपधि हरण और प्रान्तापन (लाठी आदि से पीटना)—इन पांच को सम्प्राप्ति (कार्यलाभ) और असंप्राप्ति^२ से गुणा करने पर दस भेद होते हैं। उनमें क्रोध की उत्पत्ति को जोड़ने से कषाय के ग्यारह भेद हो जाते हैं। जहां क्रोध की उत्पत्ति को नहीं जोड़ा जाता, वहां अपद्रावण (मारण) सहित ग्यारह भेद हो जाते हैं।

१०६. इनके प्रायश्चित्त इस प्रकार हैं—१. क्रोध की उत्पत्ति—लघुमास, २. अप्रत्ययिक—असंप्राप्ति—लघुमास, ३. संप्राप्ति—गुरुमास। ४. वाचिक कलह—असंप्राप्ति—गुरुमास, ५. असंप्राप्ति—चतुर्लघु, ६. निष्कासन—असंप्राप्ति—चतुर्लघु, ७. संप्राप्ति—चतुर्गुरु, ८. उपधिहरण—असंप्राप्ति—चतुर्गुरु, ९. संप्राप्ति—छह लघु (फुं), १०. प्रान्तापन—असंप्राप्ति—छह लघु, ११. संप्राप्ति—अनवस्थाप्य।

१०७. द्वितीय आदेश (जिसमें ग्यारहवां स्थान अपद्रावण का है उस) के प्रायश्चित्त का क्रम इस प्रकार है—अप्रत्ययिक असंप्राप्ति में—मासलघु—दूसरे व तीसरे स्थान में—मासगुरु, अग्रिम दो स्थानों में—चतुर्लघु, अग्रिम दो में चतुर्गुरु, अग्रिम दो में छह लघु, प्रान्तापन की संप्राप्ति में अनवस्थाप्य तथा अपद्रावण में पारांचित प्रायश्चित्त।

१०८. अथवा पन्द्रह प्रायश्चित्त-स्थान हैं—दो लघुमास के, दो गुरुमास के, दो चतुर्लघु के, दो चतुर्गुरु के, दो षड्लघु के, दो षड्गुरु के, एक छेद प्रायश्चित्त का, एक-एक क्रमशः मूल, अनवस्थाप्य और पारांचित प्रायश्चित्त का। (इनकी स्थान नियोजना अग्रिम गाथाओं १०९-११२ में वक्ष्यमाण है।)

१०९. एक साधु ने दूसरे साधु को देखा, वन्दना की। दूसरे साधु ने सहसा (अन्यमनस्कता के कारण) या किसी प्रमाद से उसको वन्दना नहीं की। इसने मुझे वन्दना नहीं की, इस अनुभूति से वह कषायाविष्ट हो गया—यह अप्रत्ययिक कषाय है। मैं भी इसे वन्दना नहीं करूंगा—अप्रतिवन्दन से उत्पन्न कषाय एवं उसकी असंप्राप्ति—कार्यपूर्ति न होना—इन दोनों में लघुमास प्रायश्चित्त है। वह साधु मिला, उसे प्रतिवन्दन नहीं किया—इस संप्राप्ति में मासगुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

११०. इसी प्रकार वाचिक कलह की भी असंप्राप्ति में मासगुरु और संप्राप्ति में चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। निष्कासन की असंप्राप्ति में चतुर्लघु और निष्कासित कर देने पर चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१११. उपधिहरण की असंप्राप्ति में चतुर्गुरु और संप्राप्ति में षड्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। यष्टि, मुट्टी आदि के प्रहारों से प्रान्तापन का संकल्प करने तथा उसी अवस्था में रहने (काययोग में प्रवृत्त न होने) तक षड्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

११२. साधु पर प्रहार करने के लिए शस्त्र की खोज करने पर षड्गुरु, शस्त्र मिलने की अवस्था में छेद प्रायश्चित्त और जाकर उसे उठा लेने में आठवां अर्थात् मूल प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। शस्त्र-प्रयोग किया पर साधु नहीं मरा—इन दोनों अवस्थाओं में नौवां अनवस्थाप्य और यदि वह मर जाए तो दसवां पारांचित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१. अप्रत्ययिक का अर्थ है—प्रत्यामर्श करना।

२. कार्य के लिए संकल्पित होने पर उसे कार्य रूप में परिणत होने का अवसर न मिलना असंप्राप्ति है। उसे कार्य रूप में परिणत कर देना, कार्य का हो जाना संप्राप्ति है।

११३. अप्पत्तियादि पंचग, असंप^१ संपत्ति संगुणं दस उ ।
कोधुप्पादणमेव तु, पढमं एक्कारसपदाणि ॥ ११३ ॥
११४. तिच्चाणुबद्धरोसो, अचयंत धरेत्तु^२ कुसलपडिसिद्धं ।
तिण्हं एगतराए^३, वच्चंते अंतरा^४ दोसा ॥ ११४ ॥ नि २५ ॥
११५. संजम-आतविराधण, उभयं^५ वा ततियगं च पच्छित्तं ।
णाणादितिगं वावी, अणवत्थादी तिगं^६ वावि ॥ ११५ ॥
११६. अहवाऽवाओ तिविधो, एगिंदियमादि जाव पंचिंदी ।
पंचणह चउत्थादी, अहवा एक्कादि^७ कल्लाणं ॥ ११६ ॥
११७. छक्काय चउसु लहुगा, परित्त लहुगा य गुरुग साधारे^८ ।
संघट्टण परितावण, लहु-गुरुगतिवायणे^९ मूलं ॥ ११७ ॥
११८. इत्थिकहं^{१०} भत्तकहं, देसकहं चेव तह य रायकहं ।
एता कहा कहंते, पच्छित्ते मग्गणा होति ॥ ११८ ॥ नि २६ ॥
११९. जातीकहं कुलकहं, रूवकहं बहुविधं च सिंगारं ।
एता कहा कहिंते, चतुजमला कालगा^{११} चतुरो ॥ ११९ ॥ नि २७ ॥
१२०. मातिसमुत्था जाती^{१२}, पिउवंस^{१३} कुलं तु^{१४} अहव उग्गादी ।
वण्णाऽऽगिती य रूवं, गति-पेहित^{१५}-भास-सिंगारे ॥ १२० ॥

१. मसंप (क) ।

२. धरिउ (क) ।

३. °राते (दे) ।

४. अंतरा इति मूलगणातो णिग्गयस्स अण्णं य गणं अपावेंतस्स
अंतरं भवति (चू) ।

५. उभयं णाम संजमो आया य, विराहणा सद्धो पत्तेगं (चू) ।

६. अहवा तिगं णाणविराहणा सुत्तत्थे अगेण्हंतस्स विस्सरियं
अपुच्छंतस्स, दंसणविराहणा अपरिणतो चरगादीहिं
दुग्गाहिज्जति, चरित्तविराहणा एगागी इत्थिगम्मो भवति
(चू) ।

७. एगादि (दे) ।

८. साहारण (चू) ।

९. °गुरु अति° (मु) ।

१०. °कधं (भ), सर्वत्र ।

११. कालग ति गुरुगा मासा (चू) ।

१२. माउप्पसादा रूवं भवति, जहा सोमलेरण, एवं जा कहा
सा जाइकहा (चू) ।

१३. पिति° (मु, भ) ।

१४. × (भ) ।

१५. पेहिति (भ) ।

११३. अप्रत्ययिक आदि पांच पदों को असंप्राप्ति और संप्राप्ति से गुणित करने पर दस हो जाते हैं (यह तीनों आदेशों—गा. १०५, १०६ और १०८ में कथित आदेशों में समानता है।) प्रथम आदेश में क्रोध की उत्पत्ति को प्रथम स्थान माना गया है—ये ग्यारह पद हो जाते हैं।

११४. तीव्र क्रोध से अनुबद्ध होता हुआ साधु तीर्थकरों द्वारा प्रतिषिद्ध क्रोध को शान्त करने में अक्षम हो जाता है। स्वयं के गण से अपक्रमण कर अन्य गण को प्राप्त होने के अन्तराल में वह तीनों में से किसी विराधना अथवा दोषों को प्राप्त हो सकता है।

११५. उपर्युक्त गाथा में कथित त्रिक की चार प्रकार से व्याख्या की गई है—१. संयम विराधना, आत्म-विराधना, उभय विराधना, २. ज्ञान विराधना का प्रायश्चित्त, दर्शन विराधना का प्रायश्चित्त, चारित्र विराधना का प्रायश्चित्त। ३. ज्ञान विराधना, दर्शन विराधना, चारित्र विराधना। ४. अनवस्था, मिथ्यात्व, आत्मसंयम विराधना।

११६. अथवा तीव्र क्रोधानुबन्ध वाला साधु तीन प्रकार के दोष से दूषित होता है—एकेन्द्रिय सम्बन्धी दोष, विकलेन्द्रिय सम्बन्धी दोष, पञ्चेन्द्रिय सम्बन्धी दोष। अथवा वह इन तीनों दोषों से प्राप्त होने वाले प्रायश्चित्त का भागी होता है—एकेन्द्रिय की हिंसा से उपवास यावत् क्रमशः पञ्चेन्द्रिय की हिंसा से पंचोला (पांच दिन की तपस्या) अथवा एकेन्द्रिय की हिंसा से एक कल्याणक यावत् पञ्चेन्द्रियवध से पांच कल्याणक।^१

११७. छह जीवनिकायों में चार—पृथ्वी, अप्, तेजस् और वायुकाय के संघट्टन में लघुमास, परितापन में गुरुमास और अपद्रावण में चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। परित्त (प्रत्येक) वनस्पतिकाय के विषय में भी प्रायश्चित्त क्रम इसी प्रकार है। साधारण वनस्पतिकाय के संघट्टन में गुरुमास, परितापन में चतुर्लघु और अपद्रावण में चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। पञ्चेन्द्रिय के संघट्टन आदि में क्रमशः षड्गुरु, छेद और मूल प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।^२

११८. स्त्रीकथा, भक्तकथा, देशकथा और राजकथा—इन कथाओं का कथन करने वाले के लिए प्रायश्चित्त की मार्गणा इस प्रकार है—

११९. स्त्रीकथा के चार प्रकार हैं—१. जातिकथा, २. कुलकथा, ३. रूपकथा और ४. बहुविध शृंगारकथा। इन चारों का कथन करने वाले प्रत्येक को चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। (यहां यमल शब्द तप और काल का तथा कालक गुरु का वाचक है।)

१२०. जाति माता से संबंधित होती है तथा कुल पिता के वंश से संबंधित है अथवा उग्र, भोग, राजन्य आदि कुल है। रूप का अर्थ है—वर्ण और आकृति। शृंगार का अर्थ है—गति, चितवन और बोलने की विधि^३।

१. एकेन्द्रिय वध से प्राप्त प्रायश्चित्त जघन्य, विकलेन्द्रिय वध से प्राप्त मध्यम और पञ्चेन्द्रियवध से प्राप्त उत्कृष्ट—इस प्रकार यह प्रायश्चित्त त्रिविध हो जाता है।

२. द्वीन्द्रिय में यह क्रम चतुर्लघु, त्रीन्द्रिय में चतुर्गुरु और चतुरिन्द्रिय में षड्लघु से प्रारम्भ होकर क्रमशः षड्लघु, षड्गुरु और छेद में पूर्ण होता है। ये एक बार आसेवन के प्रायश्चित्त हैं, अभीक्षण आसेवन में प्रथम प्रायश्चित्त छूटता जाता है, आगे का एक-एक बढ़ता जाता है।

३. स्त्री की जाति संबंधी चर्चा करना जातिकथा, उसके कुल की चर्चा करना कुलकथा और उसके रूप की चर्चा करना रूपकथा और उसकी गति आदि की चर्चा करना शृंगार कथा है। चूर्णिकार ने स्त्री के रूप का संबंध केवल माता या केवल पिता से भी माना है।

१२१. आत-पर-‘मोहुदीरणमुद्दाहो’^१ सुत्तमादिपरिहाणी ।
बंभव्वते अगुत्ती, पसंगदोसा य गमणादी^२ ॥ १२१ ॥
१२२. ‘आवावं निव्वावं’^३ आरंभं बहुविधं च निट्टाणं ।
एता कहा कहिंते, चतुजमला सुक्किला चउरो ॥ १२२ ॥ नि २८ ॥
१२३. सागघतादावावो, पक्कमपक्कं^४ तु होति निव्वावो ।
आरंभ तित्तिरादी, निट्टाणं जा सतसहस्सं ॥ १२३ ॥
१२४. आहारमंतरेण वि, गढितो^५ पुण जायते^६ सइंगालं ।
अजित्तिंदिय ओदरिया^७, वातो^८ व अणुण्णदोसा^९ य ॥ १२४ ॥
१२५. छंदं विधिं विकप्पं, नेवत्थं बहुविधं जणवयाणं ।
एता कहा कहिंते, चतुजमला सुक्किला चउरो ॥ १२५ ॥ नि २९ ॥
१२६. छंदो गम्मागम्मं, ‘विधि-रयणा’^{१०} भुज्जते^{११} व जं पुव्विं^{१२} ।
सारणिकूवविकप्पो, नेवत्थं भोयडादीयं^{१३} ॥ १२६ ॥
१२७. रागद्वोसुप्पत्ती, सपक्ख-परपक्खतो उ^{१४} अधिकरणं ।
बहुगुण इमो त्ति देसो, सोउं गमणं च अन्नेसिं ॥ १२७ ॥
१२८. अइजाणं^{१५} निज्जाणं, बल-वाहण कोसमेव कोट्टारं^{१६} ।
एता कहा कहिंते, चतुजमला कालगा चतुरो ॥ १२८ ॥ नि ३० ॥

१. °दीरणा उड्डुहो (भ, मु), °ण मुद्दाहो (पा) ।

२. आणादी (पा) ।

३. आवाधं णिव्वाधं (दे, भ) ।

४. पक्कापक्को (भ, मु) ।

५. गिहितो (भ), गहितो (मु) ।

६. जायई (मु), जाइए (भ) ।

७. ओदरिया णाम जीविता हेउं पव्वइया (चू) ।

८. वादी (दे) ।

९. अणुवदोसा (पा) ।

१०. विधी° (मु), विही नाम वित्थरो, रयणा णाम जहा

कोसलविसए आहारभूमी हरितोवलित्ता कज्जति
पउमिणिपत्ताइएहिं भूमी अत्थरिज्जति (चू) ।

११. भुज्जते (भ) ।

१२. पुव्वं (दे) ।

१३. भोयडा णाम जा लाडाणं कच्छा, सा मरहट्टयाणं भोयडा
भण्णति (चू) ।

१४. य (मु) ।

१५. अज्जाणं (दे), अइयाणं (मु) ।

१६. संटाणं (दे, भ), केपि एयं एवं पढंति—‘कोसमेव
सट्टाणं’ (चू) ।

१२१. स्त्रीकथा से अनेक दोषों की उत्पत्ति होती है, जैसे—१. स्त्रीकथा करने वाले के स्वयं के तथा उसके श्रोता के मोह की उदीरणा होती है। २. लोगों में उसका उड्डाह (उपहास) होता है। ३. सूत्र, अर्थ आदि की हानि होती है—सूत्र, अर्थ तथा अन्य संयम योगों में समय की अल्पता रहती है। ४. ब्रह्मचर्य असुरक्षित होता है। ५. स्त्रीकथा के प्रसंग से गमन, उन्निष्क्रमण (पुनः गृहवास में प्रवेश) आदि अनेक दोष^१ उत्पन्न होते हैं।

१२२. भक्तकथा के चार प्रकार हैं—१. आवाप, २. निर्वाप, ३. आरंभ और ४. बहुविध निष्पत्तान (निष्पत्ति)। इन चारों की कथा (चर्चा) करने वाले को प्रत्येक विषयक चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१२३. साग, घृत आदि (रसोई की सामग्री) की चर्चा करना आवाप भक्तकथा है। पक्व, अपक्व आदि की चर्चा करना निर्वाप भक्तकथा है। तित्तिर आदि इतने मसाले से भरे जाएंगे—यह चर्चा आरंभ भक्त कथा है और अमुक भोज आदि में एक लाख रुपये लगे आदि निष्पत्ति की चर्चा करना निष्पन्न भक्त कथा है।

१२४. भक्त कथा करने वाले के आहार के बिना भी गृद्धि के कारण अंगारदोष लगता रहता है। लोकनिन्दा होती है कि ये अजितेन्द्रिय हैं, तभी भक्तकथा करते रहते हैं। औदरिक हैं—उदरपूर्ति के लिए प्रव्रजित हुए हैं। आहारासक्ति के कारण अनुज्ञादोष लगता है। उससे भावप्राणातिपात, षट्कायवध की अनुमोदना होती है। भक्त कथा का प्रसंग दोष है—एषणा शुद्धि का अभाव।

१२५. देशकथा के चार प्रकार हैं—१. छंददेशकथा, २. विधिदेशकथा, ३. विकल्पदेशकथा और ४. बहुविध जनपदों की नेपथ्य देशकथा। इन चारों का कथन करने वाले प्रत्येक को चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१२६. विभिन्न देशों के आचार—विवाह आदि से सम्बन्धित रीति-रिवाजों की चर्चा करना छंददेशकथा है।^१ विभिन्न देशों में प्रचलित भोजन-विधियों तथा भोजन-स्थलों की चर्चा करना विधिदेशकथा है।^२ विकल्प का अर्थ है सारणी, कूप आदि। इनकी चर्चा करना विकल्पदेश कथा है। विभिन्न देशों के नेपथ्य—वेशभूषा की चर्चा करना नेपथ्य देशकथा है।^३

१२७. देशकथा करने से विभिन्न देशों के प्रति राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है। स्वपक्ष और परपक्ष में कलह होती है अर्थात् एक साधु एक देश की प्रशंसा करता है, दूसरा अन्य देश की, दोनों में उत्पन्न वाद-विवाद वाचिक कलह का रूप ले लेता है। अमुक देश बहुत अच्छा है, बहुत गुण वाला है, यह सुनकर अन्य मुनियों के मन में वहां जाने की इच्छा हो जाती है।

१२८. राजा से संबंधित कथा करना राजकथा है। इसके चार प्रकार हैं—१. अतियान कथा, २. निर्याण राजकथा, ३. बलवाहन कथा और ४. कोश (कोष्ठागार) या संस्थान कथा। इन चारों का कथन करने वाले प्रत्येक को चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१. स्त्री-कथा के प्रसंग से होने वाले दोष—मुनि चारित्र से भ्रष्ट होकर कुलिंगी हो सकता है। अपने लिंग में रहकर भी अब्रह्म का सेवन करता है। अथवा वह हस्तकर्म का आदी हो जाता है—कुलिंगी वा भवति, सलिंगद्वितो वा अगारि पडिसेवति संजति वा हत्थकम्मं वा करेति (चूर्णि पृ. ५०)।

२. जैसे—लाट देश में मामा की लड़की के साथ विवाह करना सम्मत है, मौसी की बेटी के साथ विवाह करना सम्मत नहीं।

३. जैसे—कौशलदेश में आहारभूमि में अमुक-अमुक रचना की जाती है—उपलेपन, पुष्पोपचार आदि किए जाते हैं।

अमुक देश में सर्वप्रथम अमुक वस्तु खायी जाती है, जैसे—उत्तरापथ में सत्तू पीया जाता है, कोंकण में पेया।

४. जैसे—लाटदेश में हर स्त्री विवाह पर्यन्त भोयडा (कच्छा) पहनती है।

१२९. अज्ज अतिजाति णीति व^१, णिंतो एंतो व सोभते एवं ।
बलकोसे^२ य^३ पमाणं, संठाणं^४ वण्ण नेवत्थं ॥१२९ ॥
१३०. चारियचोराभिमरा^५, हित-मारित संक कातुकामा वा ।
भुत्ताभुत्तोहावणं^६, करेज्ज वासंसपायोगं^७ ॥१३० ॥
१३१. वियडं गिण्हति वियरति, परिभाएती^८ तहेव परिभुंजे ।
लहुगा चतुजमलपदा, मददोस-अगुत्ति-गेही य ॥१३१ ॥ नि ३१ ॥
१३२. रागेतर गुरुलहुगा, सदे रूवे रसे य फासे य ।
गुरुगो लहुगो गंधे, जं वा आवज्जती जुत्तो^९ ॥१३२ ॥ नि ३२ ॥
१३३. सुहपडिबोधा^{१०} निद्दा, दुहपडिबोहा^{११} य निद्दनिद्दा य ।
पयला होति टितस्सा, पयलापयला य चंकमतो ॥१३३ ॥ नि ३३ ॥
१३४. दिवस निसि पढम-चरिमे, चतुक्क आसेवणे लहूमासो ।
आणऽणवत्थुडुहो, विराधणा निद्दपरिवुड्डी^{१२} ॥१३४ ॥ नि ३४ ॥
१३५. पोग्गल मोदग 'दंते, फरुसग'^{१३} वडसालभंजणे चेव^{१४} ।
निद्दपमादे एते, आहरणा एवमादीया^{१५} ॥१३५ ॥

१. वि (भ)

२. बलं सारीरं सेनाबलं वा (चू) ।

३. व (दे) ।

४. कोट्टारं (चू), कोट्टागारो जत्थ सालिमाइधण्णं । तम्मि वा एत्तियं पमाणं । जे पुण संठाणं पढंति तस्सिमं वक्खाणं 'संठाणं' ति वण्ण-णेवत्थं (चू) ।

५. °मरे (दे, पा), अहिमरा णाम दहरचोरा (चू) ।

६. °हाणे (पा) ।

७. वासंसपपओगं (मु, टि), वा आसंसं (भ, मु), आसंसपपओगो नाम निदानकरणं (चू) ।

८. °भायाए (दे), °भाए (भ) ।

९. जत्तो (भ), चूर्णि में 'छक्काय चउसु लहुगा' गाथा का

संकेत इस गाथा के बाद मिलता है । यह गाथा (निभा ११७) की है ।

१०. °बोहो (भ, बृभा २४००) ।

११. °बोहो (भ, बृभा) ।

१२. णिद्दवुड्डी य (मु), °रिवुड्डी (पा) ।

१३. फरुसग दंते (बृभा, जीभा) ।

१४. सुत्ते (बृभा) ।

१५. जीभा (२५२७), विभा (२३५) तथा बृभा (५०१७) में गाथा का उत्तरार्ध क्रमशः इस प्रकार है—

* थीणद्धिआहरणा, वोच्छामि विभागमेतेसिं ।

* थीणद्धियस्स एए, आहरणा होति नायव्वा ।

* एतेहिं पुणो तस्सा, विविंचणा होति जतणाए ।

१२९. आज राजा राजधानी में प्रवेश करेगा, आज यहां से निष्क्रमण करेगा, बाहर जाता हुआ अथवा आता हुआ इस प्रकार शोभित होता है, अमुक राजा का शारीरिक बल अथवा सैन्यबल इतना है, उसका कोष या कोष्ठागार इतना समृद्ध है, उसका संस्थान—आकृति, रूप, वर्ण और नेपथ्य (वेश) ऐसा है, इतना सुन्दर है आदि चर्चा करना राजकथा है।

१३०. राजकथा करने वाले के प्रति राजपुरुषों के मन में यह शंका हो सकती है कि ये प्रच्छन्न वेश में गुप्तचर हैं, अथवा चोर या अहिमर^१ हैं। राजा के अश्व की चोरी हो गई अथवा कोई स्वजन मारा गया तो हरण या मारण (वध) के विषय में राजकथा करने वालों पर शंका हो सकती है। अथवा वे हरण या वध करने के इच्छुक हैं, ऐसी शंका हो सकती है। कोई साधु यदि गृहस्थ अवस्था में राजा था तो राजकथा सुनकर उसे भुक्तभोगों की स्मृति हो सकती है, अन्य साधुओं के लिए कौतुक का विषय हो सकता है। स्मृति और कौतुक के कारण अवधावन, निदान आदि हो सकते हैं।

१३१. मद्य की अनुज्ञा देने वाले, मद्य ग्रहण करने वाले, मद्य परोसने (प्रदान करने) वाले तथा मद्य का परिभोग करने वाले—चारों में प्रत्येक के लिए चतुर्लघु प्रायश्चित्त है।^२ यह प्रायश्चित्त यमलपद युक्त है अर्थात् तप और काल—दोनों से युक्त है। इसके दोष हैं—मद दोष, अगुप्ति और गृद्धि। मद्य प्रमाद से कलह, मर्यादाहीनता आदि १६ मद दोष उत्पन्न होते हैं।^३

१३२. शब्द, रूप, रस और स्पर्श में राग^४ से चतुर्गुरु और द्वेष^५ से चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है तथा गंध में राग से मासगुरु और द्वेष से मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। इन्द्रिय विषयों में राग-द्वेष के कारण मुनि एकेन्द्रिय आदि जीवों के संघट्टन आदि से युक्त होता है, उसे तत्सम्बन्धी प्रायश्चित्त भी प्राप्त होता है।^६

१३३. निद्रा के पांच प्रकार हैं—निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला, स्त्यानर्द्धि। जिससे जागरण सुकर हो, वह निद्रा, जिससे जागरण दुष्कर हो, वह निद्रानिद्रा, स्थित अवस्था में (खड़े या बैठे) आनेवाली निद्रा प्रचला और चंक्रमण करते हुए अर्थात् गतिशील अवस्था में आने वाली निद्रा प्रचलाप्रचला कहलाती है।

१३४. दिन (दिन के चारों प्रहरों) में और रात्रि के प्रथम या अन्तिम (चतुर्थ) प्रहर में निद्रा चतुष्क का आसेवन करने वाले को लघुमास प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। निद्रा प्रमाद के मुख्य दोष हैं—आज्ञाभंग, अनवस्था, उड्डाह (जनापवाद), विराधना और निद्रा की वृद्धि।

१३५. पुद्गल (मांस), मोदक, हाथी दांत, कुम्भकार और वटवृक्ष की शाखा का भंजन इत्यादि—ये स्त्यानर्द्धि^७ नामक निद्रा प्रमाद के दृष्टान्त हैं।

१. अहिमर अर्थात् दहरचोर—मार कर धन लूटने वाला, चपेटा देकर मारने वाला।

२. मद्य सम्बन्धी चारों प्रमाद क्रमशः अधिक दोष वाले हैं, अतः प्रथम पद (अनुज्ञा) में तप और काल से लघु, द्वितीय में कालगुरु, तृतीय में तपगुरु और चतुर्थ में दोनों से गुरु चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

३. चूर्ण में मद्य के १६ मददोषों का निरूपण करने वाले दो पद्य उद्धृत हैं। उनके अनुसार प्रलाप, कायविडम्बना, असद्चिन्तन आदि से महाव्रत असुरक्षित होते हैं। मद्य की अति आसक्ति से येन-केन-प्रकारेण मद्य प्राप्त करने की चेष्टा होती है।

४. माया और लोभ के कारण राग होता है—मायालोभेहिंतो रागो भवति।

५. क्रोध और मान के कारण द्वेष होता है—कोहमाणेहिंतो दोसो भवति।

६. एकेन्द्रिय आदि जीवों के संघट्टन आदि के लिए प्राप्तव्य प्रायश्चित्त हेतु द्रष्टव्य गा. ११७।

७. जिस प्रकार जमे हुए घी अथवा पानी में कुछ दिखाई नहीं देता, उसी प्रकार दर्शनावरणीय के प्रकृष्ट उदय के कारण जिस निद्रा से चित्त जम जाता है, कुछ भी ज्ञान (भान) नहीं रहता, वह स्त्यानर्द्धि है।

१३६. पिसितासि पुव्वमहिसं^१, विगिंचितं^२ दिस्स^३ तत्थ णिसिं गंतुं ।
अन्नं हंतुं खादति^४, उवस्सए^५ सेसगं णेति ॥ १३६ ॥
१३७. मोदगभत्तमलद्धं, भेतुं^६ कवाडे घरस्स णिसिं^७ खाति ।
भाणं च भरेऊणं, आगत आवस्सगे^८ वियडे ॥ १३७ ॥
१३८. अवरो फरुसगमुंडो^९, मट्टिगपिंडे व्व^{१०} छिंदितुं सीसे ।
एगंते पव्विंधति^{११}, पासुत्ताणं विगडणा तु ॥ १३८ ॥
१३९. अवरो 'वि घाडितो'^{१२} मत्तहत्थिणा पुरकवाड^{१३} भेतूणं^{१४} ।
तस्सुक्खणित्तु दंते, वसहीबाहिं विगडणा तु^{१५} ॥ १३९ ॥
१४०. उब्भामग वडसालेण, घट्टितो केवि^{१६} पुव्व वणहत्थी ।
वडसाल भंजणाणण^{१७}, 'उस्सग्गालोयण पभाते'^{१८} ॥ १४० ॥
१४१. केसव अद्धबलं पण्णवेत्ति^{१९} मुय लिंगं^{२०} नत्थि तुह चरणं ।
'संघो व हरति लिंगं'^{२१}, न वि एगो 'मा पदोसं तु'^{२२} ॥ १४१ ॥
१४२. अवि केवलमुप्पाडे, न य लिंगं देति अनतिसेसी से ।
देसवत दंसणं वा, गेण्ह अणिच्छे पलायंति^{२३} ॥ १४२ ॥

१. °महिसिं (मु) ।

२. विगच्चियं (बृभा ५०१८) ।

३. दट्टु (भ, मु) ।

४. खइतं (भ, मु) ।

५. °स्सयं (बृभा, मु, जीभा २५२९) ।

६. भंतु (बृभा ५०१९, जीभा २५३०) ।

७. णिसिं (क) ।

८. आवासए (बृभा, जीभा) ।

९. वि फरुसमुंडो (जीभा २५३१) ।

१०. व (मु), य (क) ।

११. पाडेति (मु), अवयज्झइ (बृभा ५०२०) ।

१२. विवाडितो (दे) ।

१३. °कवाडे (दे, पा) ।

१४. भंतूणं (भ, बृभा ५०२१) ।

१५. य (क), जीभा २५३२ ।

१६. केइ (बृभा ५०२२, दे) ।

१७. °णय (दे) ।

१८. उवस्सयालो (पा), °यणा गोसे (बृभा), जीभा २५३३ ।

१९. °वेत्ति (दे) ।

२०. लिंगं (दे) ।

२१. णेच्छस्स हरइ संघो (बृभा ५०२३) ।

२२. मा गमे पदोसं (मु, दे) ।

२३. बृभा ५०२४ ।

१३६. एक किसान मांसाहारी था। प्रव्रजित होने के बाद लोगों को भैंसा मारते देखकर उसकी मांस खाने की इच्छा जागृत हो जाती है। रात्रि में वह महिषमंडल (भैंसों के बाड़े) में जाकर एक भैंसे को मारकर खा लेता है और बचे हुए मांस को उपाश्रय ले आता है।^१

१३७. एक साधु को चिरकाल तक गवेषणा करने पर भी मोदक का भोजन नहीं मिला। रात्रि में उसने एक घर के कपाट तोड़े, मोदक खाए और शेष मोदक पात्रों में भरकर उपाश्रय में ले आया। प्रातः पात्र प्रतिलेखना के समय घटना का प्रकटीकरण हुआ।^२

१३८. एक कुंभकार दीक्षित हुआ। मृत्तिकापिण्ड के छेदन के संस्कार के कारण उसने पास में सोये हुए साधुओं का शिरच्छेद कर दिया। उनके कलेवरों और सिरों को एक स्थान पर रखकर वह पुनः सो गया। प्रभातवेला में उसने स्वप्न की आलोचना की।^३

१३९. गोचराग्र के लिए गये हुए एक साधु को एक मत्त हाथी ने उछाल दिया। वह ज्यों-त्यों उपाश्रय में आया और रोषाविष्ट होकर सो गया। उसने नगरद्वार तोड़ा, उस हाथी को मारा। उसके दांत उखाड़े और उपाश्रय के बाहर रखकर पुनः सो गया। सांध्य प्रतिक्रमण के समय उसने स्वप्न की आलोचना की।^४

१४०. भिक्षाचरिका से लौटते समय एक साधु वटवृक्ष की शाखा से गाढ़ परितापना को प्राप्त हुआ। कुछ आचार्यों के अनुसार वह पूर्व भव में वनहस्ती था। रात्रि में उसने उस शाखा को उखाड़ा, उपाश्रय के बाहर लाकर रख दिया। प्रातःकाल दिशावलोकन करते हुए साधुओं को घटना का पता चला।^५

१४१. स्त्यानर्द्धि के उदय से व्यक्ति में वासुदेव के बल से आधा बल आ जाता है—ऐसी प्ररूपणा है। (वह व्यक्ति रुष्ट होकर कहीं संघ का विनाश न कर दे अतः) आचार्य सानुनय कहते हैं—साधु वेश को छोड़ दो। तुममें चारित्र नहीं है। यदि ऐसा कहने पर वह वेशत्याग नहीं करता है तो संघ एकत्र होकर उसके वेश का हरण करता है, अकेला आचार्य या अन्य अधिकारी नहीं, ताकि किसी एक के प्रति उसके मन में प्रद्वेष न हो। (क्योंकि प्रद्विष्ट होने पर वह उसको मार सकता है।)

१४२. अनतिशायी आचार्य स्त्यानर्द्धि निद्रा वाले को पुनः साधु वेश (साधुत्व) प्रदान नहीं करते, चाहे वह उस भव में केवली बनने वाला ही क्यों न हो।^६ लिंगापहार करते समय उसे कहते हैं—देशव्रत ग्रहण करो अथवा दर्शन श्रावक बन जाओ। अनुनय करने पर भी यदि वह लिंग छोड़ना नहीं चाहता तो रात्रि में उसे सोया हुआ छोड़कर शेष साधु दूसरे देश में चले जाते हैं।

१-५. विस्तार हेतु द्रष्टव्य परिशिष्ट २, कथा सं. १२-१६।

६. अवधिज्ञान आदि विशेष ज्ञानलब्धि सम्पन्न आचार्य यदि जान लें कि पुनः उसके स्त्यानर्द्धि का उदय नहीं होगा तो वे उसे पुनः दीक्षित भी कर सकते हैं। विशेष ज्ञानातिशय के अभाव में उसे लिंगप्रदान करना विहित नहीं है। चूर्णिकार लिखते हैं—जो पुण अवहिणाणादिसती सो जाणति ण पुण एयस्स थीणिद्धिणिद्वोदयो भवति, देति से लिंगं, इतरहा ण देति।

१४३. दप्पादी^१ पडिसेवण, णातव्वा होति आणुपुव्वीए।
सट्ठाणे सट्ठाणे, दुविधा दुविधा य दुविधा य॥१४३॥ नि ३५ ॥
१४४. दुविधा दप्पे कप्पे, दप्पे मूलुत्तरे पुणो दुविधा।
कप्पम्मि वि दु-विकप्पा, जतणाऽजतणा^२ य पडिसेवा॥ १४४ ॥
१४५. पुढवी आउक्काए, तेऊ वाऊ वणप्फती^३ चेव।
बिय तिय चउरो, पंचिंदिगेसु सट्ठाणपच्छित्तं^४ ॥ १४५ ॥
१४६. सरक्खादि हत्थ पंथे, 'निक्खित्ते मीस कट्टु^५ उल्ले य'^६।
गमणादि पप्पडंगुल, पमाण गहणे य करणे य॥ १४६ ॥ नि ३६ ॥
१४७. पंचादिहत्थ पंथे, निक्खित्ते लहुग मासिगं मीसे।
कट्टोल्लकरण^७ लहुगा, पप्पडगे चेव तसपाणा॥ १४७ ॥
१४८. ससिणिद्धं दुहाकम्मे, रोट्टुकुट्टे^८ य कुंडगे^९ एते।
मोत्तूणं संजोगं^{१०}, सेसा सव्वे तु पत्थिक्का॥ १४८ ॥

१. आदिसद्दातो कप्पिया वि आणुपुव्वी-गहणातो पुव्विं दप्पियं (चू)।
२. जयणा णाम तिपरियट्ठं कारुण अप्पणा पच्छा पणगादि पडिसेवणा पडिसेवति, एस जयणा (चू)।
३. वणस्सती (भ, मु)।
४. चूर्णि में इस गाथा के बाद 'छक्काय चउसु लहुया गाहा एसा गाहा जहा पुव्वं वणिया तथा दट्टुवा' इतना संकेत मिलता है। यह गाथा निभा ११७ की है।
५. कट्टुं णाम हलादिणा वाहियं (चू)।
६. निक्खित्ते सचित्त-मीस पुढवीए (भ, मु)।
७. कट्टुं णाम हलादिणा वाहियं, उल्लं णाम आउक्काएण,

- सो मीसो भवति (चू)।
८. ससिणिं (मु, भ), जत्थूदयबिंदू ण संविज्जति, तं ससिणिद्धं (चू)।
९. रोट्टो नाम लोट्टो, रलयोरेकत्वाल्लोट्टो भण्णति (चू), उक्कुट्टो णाम सचित्तवणस्सतिपत्तंकरफलाणि वा उदूक्खले छुब्भंति (चू)।
१०. कुंडगं णाम सण्हतंदुलकणियाओ कुकुसा य कुंडगा भण्णति (चू)।
११. संजोगो (भ), संजोगो णाम जेहिं सह हत्थो जुज्जति, स संजोगो भण्णति (चू)।

१४३. दर्प और कल्प प्रतिसेवना को क्रमशः स्वस्थान-स्वस्थान की अपेक्षा से (यथा प्राणातिपात के नौ स्थान, मृषावाद के चार स्थान आदि) दो-दो^१ प्रकार की जान लेना चाहिए।

१४४. प्रतिसेवना दो प्रकार की है—१. दर्पिका, २. कल्पिका। दर्प प्रतिसेवना दो प्रकार की है—१. मूलगुण में, २. उत्तरगुण में। पुनः यतना और अयतना की अपेक्षा दोनों के दो-दो प्रकार हैं। कल्पिका प्रतिसेवना भी दर्पिका प्रतिसेवना के समान दो-दो विकल्प वाली है।

१४५. पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजसकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय के विषय में स्वस्थान प्रायश्चित्त गा. ११७ के अनुसार ज्ञातव्य है।

१४६. पृथ्वीकाय की दर्पिका प्रतिसेवना दस द्वारों से ज्ञातव्य है—सरजस्क आदि हाथ^२, २. मार्ग, ३. सचित्त और हल चलाने के बाद जल से गीली मिश्र पृथ्वी पर निक्षिप्त, ४. गमन, ५. स्थान, निषीदन आदि, ६. पर्पटक (पपड़ी)^३ ७. अंगुल ८. प्रमाण ९. ग्रहण और १०. करण।^४

१४७. सरजस्क (सचित्त रजों से स्पृष्ट) हाथ से भिक्षा आदि ग्रहण करने पर पांच रात्रि-दिन का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। शेष पृथ्वीकाय सम्बन्धी हाथों—सचित्त मिट्टी, हरिताल, हिंगुल आदि से लिप्त हाथों से भिक्षा आदि ग्रहण करने,^५ सचित्त (अस्थंडिल भूमि) मार्ग से स्थंडिल में संक्रमण करने, सचित्त व मिश्र पृथ्वी पर निक्षिप्त आहार आदि ग्रहण करने पर मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। हल चलाने के बाद जल से गीली की गई भूमि मिश्र पृथ्वीकाय हो जाती है। उससे पुतला आदि बनाने पर चतुर्लघु, पृथ्वीकाय की पपड़ी पर चलने, खड़े होने आदि क्रियाएँ करने पर चतुर्लघु, अंगुल, प्रमाण, ग्रहण आदि द्वारों में चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। पपड़ी के नीचे त्रस प्राणी हो सकते हैं अतः उनकी विराधना से तन्निष्पन्न प्रायश्चित्त भी प्राप्त होता है।

१४८. सस्निग्ध हाथ, पुरःकर्म और पश्चात् कर्म युक्त हाथ, उदकार्द्र हाथ तथा पिष्ट (पीसे हुए आटे) अनाज के भूसे और चावलों के सूक्ष्म कणों (कुक्कुस) से युक्त हाथ और फलों के सूक्ष्म खण्ड युक्त हाथ—इन अप्कायिक और वनस्पतिकायिक हाथों को छोड़कर शेष ग्यारह प्रकार के हाथ पृथ्वीकायिक हाथ होते हैं।

१. मूलगुण प्रतिसेवना के विविध प्रकारों के लिए द्रष्टव्य गा. ८९ का अनुवाद।

२. पिण्डैषणा में अठारह प्रकार के हाथों का निरूपण उपलब्ध होता है—१. पुरःकर्मयुक्त हाथ, २. पश्चात्कर्मयुक्त हाथ, ३. उदकार्द्र हाथ, ४. सस्निग्ध हाथ, ५. सचित्त पृथ्वी आदि की रजों से स्पृष्ट हाथ, ६. सचित्त मिट्टी और क्षार से युक्त हाथ, ७. हरिताल युक्त हाथ, ८. हिंगुलयुक्त हाथ, ९. मैनशिल युक्त हाथ, १०-१५. अंजन, लवण, गैरिक, पीलीमिट्टी, खड़िया, सौराष्ट्र की मिट्टी से युक्त हाथ, १६-१८. पीसे हुए आटे, अनाज के भूसे या छिलके और फलों के सूक्ष्म खण्ड से सने हुए हाथ, इन अठारह प्रकार के हाथों के विशद एवं तुलनात्मक विवरण के लिए दशवैकालिक ५.१.३२-३४ का सटिप्पण अनुवाद द्रष्टव्य है।

३. पपड़ी—सरिता के दोनों तटों पर पानी से तरबतर भूमि पर से पानी के उतर जाने और धूप से सूखने पर बनी हुई तह।

४. उपर्युक्त द्वारों के विवेचन हेतु द्रष्टव्य—१. गा. १४७-१६१।

५. पृथ्वीकाय सम्बन्धी प्रतिसेवना का प्रसंग होने के कारण यहां केवल पृथ्वीकायिक हाथों से संसृष्ट पिण्डैषणा का ही प्रायश्चित्त प्रज्ञप्त है।

१४९. कर-मत्ते संजोगो^१, सरक्ख^२ पणगं तु मास लोणादी ।
अर्थंडिल संकमणे, कणहादपमज्जणे लहुगो ॥ १४९ ॥
१५०. सच्चित्तऽणंतर परंपरे य लहुगा य होंति लहुगो य ।
मीसाणंतर लहुगो, पणगं तु परंपरपतिट्ठं^३ ॥ १५० ॥
१५१. खीरदुमहेट्टपंथे, 'अभिणवकट्टोल्ल इंधणे मीसे'^४ ।
पोरिसि एग दुग तिगे, 'थोविंधण मज्झ-बहुगे य'^५ ॥ १५१ ॥
१५२. गाउग दुगुणादुगुणं, बत्तीसं जोयणाइ चरमपदं ।
चत्तारि छच्च लहुगुरु, छेदो मूलं तह दुगं च ॥ १५२ ॥
१५३. एवं ता सच्चित्ते, मीसम्मि सएण अट्टवीसेणं^६ ।
हवति^७ य अभिक्खगमणे, अट्टहि दसहिं व चरमपदं^८ ॥ १५३ ॥
१५४. पप्पडगे^९ सच्चित्ते, लहुगादी अट्टहिं भवे सपदं^{१०} ।
मास लहुगादि मीसे, दसहि पदेहिं भवे सपदं ॥ १५४ ॥

१. संजोगो णाम चउक्कभंगो कायव्वो, सो य इमो—

* ससरक्खे हत्थे ससरक्खे मत्ते ।

* ससरक्खे हत्थे णो मत्ते ।

* णो हत्थे ससरक्खे मत्ते ।

* णो हत्थे णो मत्ते ।

आदिभंगे संजोगपायच्छित्तं दो पणगा । बितिय-ततितेसु
एक्केक्कं पणगं । चउत्थो भंगो सुद्धो (चू) ।

२. प्रतियों में 'सरक्ख' पाठ मिलता है । छंद की दृष्टि से यही
पाठ ठीक लगता है अतः 'ससरक्ख' को मूल में न रखकर
'सरक्ख' पाठ मूल में रखा है ।

३. °पतिट्ठे (भ) ।

४. किट्टोल्ले इंधणे य मीसो उ (पिनि ११), कट्टोल्ला इंधणे
य मीसो य (ओनि ३३९), °इंधणं मीसं (भ) ।

५. बहुइंधण मज्झ थोवे य (पिनि, ओनि) ।

६. °सेण (दे) ।

७. होइ (दे) ।

८. चरिम° (भ) ।

९. पप्पडगो णाम सरियाए उभयतडेसु पाणिण जा रेल्लिया
भूमी सा तम्मि पाणिण ओहट्टमाणे तरिया बद्धा होउं
उण्हेण छित्ता पप्पडी भवति (चू) ।

१०. सपयं णाम पारंचियं (चू) ।

१४९. हाथ और पात्र के संयोग से चतुर्भंगी हो जाती है।^१ इसमें सरजस्क हाथ से भिक्षा ग्रहण करने पर पनक प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।^२ लवण आदि से सने हुए हाथ आदि से (शेष दस प्रकार के पृथ्वीकाय हाथों से) भिक्षा ग्रहण करने पर^३ स्थंडिल से अस्थंडिल में संक्रमण करने पर, काली मिट्टी से नीली मिट्टी में बिना प्रमार्जन संक्रमण करने पर लघुमास प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।^४

१५०. सचित्त पृथ्वीकाय पर अनन्तर निक्षिप्त^५ आहार आदि का ग्रहण करने पर चतुर्लघु और परम्पर निक्षिप्त^६ का ग्रहण करने पर मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। मिश्र पृथ्वीकाय पर अनन्तरनिक्षिप्त के लिए मासलघु और परम्परनिक्षिप्त के लिए पांच रात्रिदिन का प्रायश्चित्त विहित है।

१५१. क्षीरवृक्षों^७ के नीचे की भूमि, तत्काल की हलवाहित भूमि, जल मिश्रित पृथ्वी (मिट्टी) और कुंभकार आदि की ईंधन सहित सचित्त मिट्टी—ये पृथ्वीकाय के उदाहरण हैं। थोड़े ईंधन वाली मिट्टी एक प्रहर, मध्यम ईंधन वाली दो प्रहर और बहुत ईंधन वाली तीन प्रहर तक मिश्र रहती है, उसके बाद सचित्त हो जाती है।^८

१५२. सचित्त पृथ्वीकाय पर एक गव्यूत (कोस) चलने पर चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। (इसी क्रम से) द्विगुणित करने पर दो गव्यूत, चार गव्यूत (एक योजन), दो योजन, चार योजन, आठ योजन, सोलह योजन और बत्तीस योजन के प्रायश्चित्त क्रमशः ये हैं—चतुर्गुरु, षड्लघु, छेद, मूल, अनवस्थाप्य और पाराञ्चित।

१५३. मिश्र पृथ्वीकाय पर एक सौ अट्टाईस योजन चलने पर पाराञ्चित प्राप्त होता है अर्थात् एक गव्यूत चलने पर मासलघु, दो गव्यूत चलने पर मासगुरु—इस क्रम से वृद्धि होती है। अभीक्षण आसेवन^९—पुनः पुनः गमन करने पर आठवीं और दसवीं बार में एक गव्यूत चलने पर पाराञ्चित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है अर्थात् सचित्त पृथ्वी पर आठवीं बार में और मिश्र पृथ्वी पर दसवीं बार में चरम प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१५४. सचित्त पपड़ी पर चलने से चतुर्लघु से प्रारम्भ होकर क्रमशः आठवीं बार में पाराञ्चित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है और मिश्र पपड़ी पर मासलघु से प्रारम्भ होकर दसवीं बार में चरम प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१. चार भंग हैं—१. हाथ और पात्र दोनों सरजस्क, २. हाथ सरजस्क, पात्र अरजस्क, ३. हाथ अरजस्क, पात्र सरजस्क, ४. दोनों अरजस्क।
२. इनमें चतुर्थ भंग शुद्ध है। द्वितीय और तृतीय में पनक प्रायश्चित्त है और प्रथम भंग में संयोग (दो पनक) प्रायश्चित्त है।
३. छंद के अनुरोध (बंधाणुलोमा) से 'मास लोणादी' का कथन किया गया है। वस्तुतः यहां शेष सभी पृथ्वीकायिक हाथों का संग्रहण है। इनमें भी सरजस्क हाथ के विषय में निर्दिष्ट चतुर्भंगी और प्रायश्चित्त ज्ञातव्य है।
४. पृथ्वीकाय की प्रतिसेवना के विषय में दूसरा मार्ग द्वार है। भिक्षु जब स्थंडिल से अस्थंडिल में अथवा काली मिट्टी से नीली मिट्टी में संक्रमण करता है तो उसे विधिपूर्वक प्रतिलेखन व प्रमार्जन करके जाना चाहिए। इसके भी चार भंग हो जाते हैं—१. प्रतिलेखन-प्रमार्जन रहित, २. प्रतिलेखन सहित, प्रमार्जन रहित, ३. प्रतिलेखन रहित, प्रमार्जन सहित, ४. प्रतिलेखन प्रमार्जन सहित। इसी प्रकार सुप्रतिलेखना दुष्प्रतिलेखना के संयोगज भंग भी चार हो सकते हैं। इनमें भी उपर्युक्त चतुर्भंगी के समान प्रायश्चित्त की विविधता द्रष्टव्य है।
५. जहां पृथ्वीकाय के साथ अशन आदि का सीधा सम्बन्ध हो, वह अनन्तर निक्षिप्त कहलाता है।
६. जहां पृथ्वीकाय के साथ अशन आदि का सीधा सम्बन्ध न हो, बीच में भाजन आदि का व्यवधान हो, वह परम्पर निक्षिप्त कहलाता है।
७. क्षीर वृक्षों में वट, उम्बर, पीपल आदि मधुर वृक्ष परिगणित होते हैं।
८. कुछ आचार्यों के अनुसार एक, दो, तीन प्रहर के बाद कुंभकार की मिट्टी अचित्त हो जाती है। यहां साधारण ईंधन की अपेक्षा से उपर्युक्त विधान और असाधारण ईंधन की अपेक्षा से प्रस्तुत विधान संगत प्रतीत होता है।
९. अभीक्षण आसेवन में प्रथम प्रायश्चित्त छूट जाता है और अग्रिम की प्राप्ति हो जाती है, यथा एक गव्यूत तक सचित्त पृथ्वीकाय पर चलने से दूसरी बार में चतुर्गुरु, तीसरी बार में षड्लघु, इस प्रकार आठवीं बार में पाराञ्चित प्राप्त होता है।

१५५. ठाण-निसीय-तुयट्टण, वाउल्लगमादि^१ करणभेदे य ।
होति अभिक्खा सेवा, अट्टहि दसहिं^२ च सपदं वा^३ ॥ १५५ ॥
१५६. चतुरंगुलप्पमाणा^४, चउरो^५ दो चेव जाव चतुवीसा ।
अंगुलमादी वुड्डी, पमाण-करणे य अट्टेव^६ ॥ १५६ ॥
१५७. उवरिं तु अप्पजीवा, पुढवी सीताऽतवाऽणिलाऽभिहता ।
चउरंगुलपरिवुड्डी, तेणुवरि अहे^७ दुअंगुलिया ॥ १५७ ॥
१५८. कलमत्तादद्दामल, चतुलघु दुगुणेण^८ अट्टहिं सपदं ।
मीसम्मि दसहि सपदं, होति पमाणम्मि पत्थारो ॥ १५८ ॥
१५९. कलमादद्दामलगा^९, लहुगादी सपदमट्टवीसेणं ।
पंचेव बारसुत्तर, ऽभिक्खऽट्टहि दसहि सपदं तु^{१०} ॥ १५९ ॥
१६०. 'गहणे पक्खेवम्मि'^{११} य, एगमणेगेहि होति चतुभंगो ।
जति गहणा तति मासा, एमेव य होंति^{१२} पक्खेवे^{१३} ॥ १६० ॥

१. वाउल्लगं णाम पुरिस-पुत्तल्लगो.....आदिसद्दातो गय-
वसभातिरूवं करेति भंजेति वा (चू) ।

२. × (दे) ।

३. तु (भ, मु) ।

४. °लपमा° (भ), °माणो (पा) ।

५. अंगुलरयणा ताव भण्णति । चउरंगुलप्पमाणा चउरो त्ति
अंगुलादारब्भ जाव चउरो अंगुला अहो खणति, एस
पढमो चउक्कगो । चउरंगुला परतो पंचंगुलादारब्भ जाव
अट्टंगुला, एस बितिओ चउक्कगो । एवं णवमअंगुला-
दारब्भ जाव बारस, एस ततितो चउक्कगो । तेरसंगुला-
दारब्भ जाव-सोलसमं, एस चउत्थो चउक्कगो (चू) ।

६. अट्टे य (दे) ।

७. यहे (क) ।

८. दुगुणेहि (दे) ।

९. कलो-चणगो (चू) ।

१०. वा (दे), इस गाथा में गा. १५८ के विषय की ही
प्रकारान्तर से व्याख्या है । चूर्णि में इस गाथा के लिए
निम्न संकेत मिलता है— 'एसेव अत्थो पुणो भण्णति
अन्याचार्यरचितगाहासूत्रेण' चूँकि यह गाथा सभी
हस्तप्रतियों में मिलती है तथा मुद्रित भाष्य में भी भाष्य
गाथा के क्रम में है अतः इसे भाष्यगाथा के क्रम में
रखा है ।

११. गहणं हत्थेण, पक्खेवो पुण मुहे भायणे वा (चू) ।

१२. होति (मु), हुंति (दे) ।

१३. भायणपक्खेवे मासलहं, मुह-पक्खेवे पुण णियमा चउलहं
(चू) ।

१५५. सचित्त पृथ्वीकाय और पपड़ी पर खड़े होने, बैठने और सोने तथा सचित्त पृथ्वीकाय से पुतला आदि बनाने और बनाकर तोड़ने में प्रत्येक (क्रिया) में चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। (मिश्र पृथ्वीकाय से ये क्रियाएं करने पर मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।) इस प्रकार सचित्त पृथ्वीकाय के विषय में आठवीं बार में और मिश्र पृथ्वीकाय के विषय में दसवीं बार में सपद प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।^१

१५६. अंगुल द्वार में अंगुल से प्रारम्भ कर चतुरंगुल प्रमाण चार चतुष्क तथा उसके बाद दो-दो अंगुल की वृद्धि करने पर चौबीस अंगुल तक आठ प्रायश्चित्त स्थान बनते हैं।^२ इसी प्रकार प्रमाण और करण द्वार में भी आठवीं बार में पाराञ्चित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।^३

१५७. ऊपरी सतह की पृथ्वी शीत, आतप, वायु आदि से अभिहत होती रहती है अतः अल्पजीव वाली होती है अतः चार-चार अंगुल खनन के बाद प्रायश्चित्त में वृद्धि होती है। सोलह अंगुल के बाद दो-दो अंगुल नीचे खनन से प्रायश्चित्त में वृद्धि होती है।

१५८. चने जितनी मात्रा से लेकर आर्द्र आमलक (गीला/हरा आंवला) जितनी मात्रा में सचित्त पृथ्वीकाय ग्रहण करने पर चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। इसके बाद द्विगुणित करते हुए प्रायश्चित्त वृद्धि होती है, यथा—दो आंवले जितनी सचित्त पृथ्वी ग्रहण करने पर चतुर्गुरु।^४ इस प्रकार आठवें पद में सपद (पाराञ्चित) प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। मिश्र पृथ्वीकाय में दसवें पद में पाराञ्चित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। इस प्रकार प्रमाण द्वार में प्रायश्चित्त का प्रस्तार ज्ञातव्य है।^५

१५९. चणक (चना) से लेकर एक सौ अट्टाईस आर्द्रामलक प्रमाण सचित्त पृथ्वीकाय का प्रायश्चित्त क्रमशः चतुर्लघु से सपद प्रायश्चित्त पर्यन्त है। मिश्र पृथ्वीकाय के विषय में वह प्रमाण ५१२ आर्द्रामलक है और अभीक्षण आसेवन में दसवीं बार सपद का विधान है।

१६०. ग्रहण और प्रक्षेप^६ में एक और अनेक के विकल्प से चार भंग हो जाते हैं।^७ सचित्त पृथ्वीकाय के जितने-जितने ग्रहण और प्रक्षेप किए जाते हैं, उतने-उतने लघुमास प्रायश्चित्त प्राप्त होते हैं।^८

१. द्वारगाथा (गा. १४६) में 'गृहीत' आदि शब्द से स्थान (खड़ा होना) आदि क्रियाओं का संग्रहण किया गया है। पृथ्वीकाय और पपड़ी पर गमन के सदृश ही उन पर स्थान आदि क्रियाओं का प्रायश्चित्त द्रष्टव्य है।
२. अंगुल द्वार का अभिप्राय है—सचित्त या मिश्र पृथ्वीकाय को नीचे कितने अंगुल तक खोदा गया, यथा—एक, दो यावत् चार अंगुल नीचे सचित्त पृथ्वीकाय खोदने पर चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। यहां आठ प्रायश्चित्त स्थान हैं—४ अंगुल, ८ अंगुल, १२, १६, १८, २०, २२ और २४ अंगुल अर्थात् प्रथम बार २३, २४ अंगुल सचित्त पृथ्वी खोदने पर सपद अर्थात् पाराञ्चित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।
३. कुछ आचार्यों के अनुसार 'प्रमाण करणे य अट्टेव' पद से प्रमाण, करण और ग्रहण—इन तीनों द्वारों का संग्रहण होने से अंगुल सहित चारों द्वारों में समान रूप से आठवीं बार में पाराञ्चित प्रायश्चित्त आता है। मिश्र पृथ्वीकाय के विषय में इन चारों द्वारों में मासलघु से प्रारम्भ होकर दसवीं बार में पाराञ्चित आता है और प्रथम बार में तीस से अधिक अंगुल खोदने पर पाराञ्चित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।
४. द्विगुणित करते हुए प्रथम बार में १२८ आर्द्र आमलक प्रमाण सचित्त पृथ्वीकाय का ग्रहण सपद प्रायश्चित्त का हेतु बनता है।
५. मिश्र पृथ्वीकाय में प्रायश्चित्त का पहला पद है मासलघु। अतः प्रथम बार में ५१२ आर्द्र आमलक प्रमाण मिश्र पृथ्वीकाय ग्रहण करने पर अथवा दस बार एक आर्द्र आमलक मिश्रपृथ्वी ग्रहण करने पर पाराञ्चित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।
६. सचित्त या मिश्र पृथ्वीकाय को हाथ में लेना ग्रहण करना तथा उसे पात्र अथवा मुंह में डालना प्रक्षेप कहलाता है।
७. ग्रहण-प्रक्षेप की चतुर्भंगी है—१. एक ग्रहण, एक प्रक्षेप, २. एक ग्रहण, अनेक प्रक्षेप, ३. अनेक ग्रहण, एक प्रक्षेप, ४. अनेक ग्रहण, अनेक प्रक्षेप।
८. प्रथम भंग में दो लघुमास प्रायश्चित्त प्राप्त होते हैं, बाकी तीन भंगों में कुल ग्रहण प्रक्षेप की संख्या के समान ही लघुमास प्रायश्चित्त की संख्या तीन, चार यावत् अनेक हो सकती है। मुख प्रक्षेप के लिए चतुर्लघु प्रायश्चित्त का विधान है।

१६१. वाउल्लादीकरणे^१, लहुगा लहुगो य होति अच्चित्ते ।
परितावणादि पोयं, अधिव^२ विणासं य जं वण्णं ॥ १६१ ॥
१६२. अद्धाण कज्ज^३ संभम^४, सागारिय पडिपहे य फिडिते य ।
दीहादी य गिलाणे, ओमे जतणा य जा तत्थ ॥ १६२ ॥ नि ३७ ॥
१६३. जइतुमलाभे गहणं^५, ससरक्खकतेहि हत्थमत्तेहिं ।
तति-बितिय पढमभंगे, एमेव य मट्टिया लित्ते ॥ १६३ ॥
१६४. सागारि तुरियमणभोगतो य अपमज्जणे तहिं सुद्धो ।
मीस परंपरमादी, निक्खित्तं जाव सच्चित्तं^६ ॥ १६४ ॥
१६५. गच्छंती^७ तु दिवसतो, तलिया^८ अवणेत्तु मग्गतो^९ अभए ।
थंडिल्लाऽसति खुण्णे^{१०}, ठाणादि^{११} करेति कत्तिं^{१२} वा ॥ १६५ ॥
१६६. एमेव य पप्पडगे, सभयाऽऽगासे व चिलिमिणिनिमित्तं ।
खण्णं अंगुलमादी, आहारट्टा वऽहे बलिया ॥ १६६ ॥
१६७. जावतिया उवउज्जति, पमाणगहणे य^{१३} जाव पज्जत्तं ।
मंतेऊण व विंधति, पुत्तल्लगमादि^{१४} पडिणीए ॥ १६७ ॥

१. वाउल्लगो पुरिसपुत्तलगो (चू) ।

२. अहव (दे) ।

३. असिवादियं कज्जं भण्णति (चू) ।

४. अग्गि-उदग-चोर-बोधिगादियं संभमं भण्णति (चू) ।

५. गिण्हइ (दे) ।

६. गेण्हंति (भ, मु) ।

७. गच्छंता (दे) ।

८. तलिया—उवाहणाओ (चू) ।

९. मग्गतो—पिट्ठओ (चू) ।

१०. खुण्णं—महियं (चू) ।

११. आदिसद्दाओ निसीयणं तुयट्टणं भुंजणं वा (चू) ।

१२. कत्ति त्ति छंदडिया (सादडी) (चू) ।

१३. व (भ, मु) ।

१४. पुत्तल्लमादि (भ), जो साहु संघ चेतित-पडिणीतो तस्स पडिमा मिम्मया णामंकिता कज्जति, सा मंतेणाभि-मंतिऊणं मम्मदेसे विज्झति, ततो तस्स वेयणा भवति मरति वा (चू) ।

१६१. सचित्त पृथ्वीकाय से पुतला आदि बनाने से चतुर्लघु और अचित्त पृथ्वीकाय से पुतला आदि बनाने से (असामाचारी हेतुक) मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। परितापना आदि के कारण अन्य प्रायश्चित्त भी ज्ञेय/ग्राह्य हैं।^१ राजा का विनाश करने पर प्राप्त होने वाला अन्य प्रायश्चित्त भी ज्ञातव्य है।^२

१६२. पृथ्वीकाय की कल्पिका प्रतिसेवना नौ द्वारों से ज्ञातव्य है—१. महान् अटवी^३, २. (अशिव आदि) कार्य, ३. संभ्रम (हड़बड़ी), ४. सागारिक, ५. प्रतिपथ, ६. फिडित (मार्ग-च्युत), ७. दीर्घा (सर्प) आदि, ८. ग्लान और ९. अवम। इन नौ द्वारों में जहां-जहां जो-जो यतना घटित हो, वह-वह करणीय है।

१६३. सुदीर्घ अटवी में विहार करते हुए (मार्ग प्रतिपन्न अवस्था में) प्रयत्न करने पर भी यदि शुद्ध भिक्षा न मिले तो सरजस्क हाथ और पात्र के क्रमशः तृतीय, द्वितीय और प्रथम भंग^४ से ग्रहण करना—यह प्रथम द्वार का अपवाद पद है। इसी प्रकार मृत्तिका लिस हाथ आदि के विषय में ज्ञातव्य है।

१६४. स्थंडिल से अस्थंडिल में जाते समय 'गृहस्थ हैं', ऐसा सोचकर प्रमार्जन न करे, ग्लान आदि के कारण अत्यंत जल्दी में हो अथवा विस्मृति से प्रमार्जन न करे, तब भी शुद्ध (अप्रायश्चित्ती) है। मार्ग प्रतिपन्न अवस्था में शुद्ध आहार न मिलने पर मिश्र और परम्पर निक्षिप्त को यतनापूर्वक ले सकता है।^५

१६५. यदि कोई भय न हो तो साधु दिन में पदत्राण उतार कर सार्थ के पीछे चले। यदि स्थंडिल न हो तो सार्थिक पुरुषों अथवा उनके चतुष्पदों के द्वारा क्षुण्ण मार्ग पर गमन, स्थान आदि क्रियाएँ करे। स्थंडिल का सर्वथा अभाव हो तो चटाई बिछाकर अथवा पछेवड़ी बिछाकर उस पर स्थान आदि क्रियाएँ करे।

१६६. गमन द्वार (गा. १६५) में कथित सारी यतना पर्पटक द्वार में भी ज्ञातव्य है। अरण्य आदि में जहां भय हो, वहां बाड़ लगाने के लिए पृथ्वीकाय का खनन करना पड़ता है। इसी प्रकार खुले आकाश में अत्यधिक आतप अथवा मंडली (आहार-मंडली) आदि कारणों से पर्दा बांधना हो, वहां अंगुल, दो अंगुल यावत् चौबीस, बत्तीस अंगुल पृथ्वीकाय के खनन की अपेक्षा हो जाती है। आहार के लिए मूल प्रलंब के निमित्त भी खनन किया जा सकता है क्योंकि भूमि के नीचे रहने वाली जड़ आदि वायु, धूप आदि से शोषित नहीं होने से सरस और बलकारक होती है।

१६७. जितने प्रमाण में पृथ्वीकाय का उपयोग किया जाए, उतनी ही ग्रहण की जाए। जितनी पर्याप्त हो सके, उतनी पृथ्वीकाय के एक या अनेक (यथापेक्षा) ग्रहण-प्रक्षेप करे। गण, संघ आदि के प्रत्यनीक के मर्दन आदि के लिए उसका पुतला आदि बनाकर, अभिमंत्रित कर मर्मवेध करना आपवादिक पद है।^६

१. पुतला बनाने समय निर्माता (निर्ग्रन्थ) के हाथ आदि की परितापना, महादुःख, मूर्च्छा यावत् मृत्यु हेतुक प्रायश्चित्त का कथन किया गया है, यथा—अनागाढ परितापना हो तो चतुर्लघु यावत् मृत्यु हो जाए तो पाराञ्चित।
२. पुतले का प्रयोग दर्पिका प्रतिसेवना में परविनाश के लिए होता है। उसे अभिमंत्रित कर उसके मर्म देश में बाँधने पर दूसरे को जो परितापना आदि कष्ट होता है, उसका प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। किसी ने राजा के विनाश के लिए पुतले का निर्माण किया। राजा मर गया। युवराज तथा अमात्य को सारा वृत्तान्त ज्ञात हो गया। तब वे कुपित होकर उस मुनि का या संघ या गच्छ का वध, बंधन, मारण करा सकते हैं अथवा भक्तपान का निषेध अथवा निर्गमन को रोक सकते हैं।
३. अद्भान का अर्थ है—सुदीर्घ अरण्य, महान् अटवी। उस अवस्था में निर्ग्रन्थ के जिस-जिस प्रकार से पृथ्वीकाय की प्रतिसेवना का आपवादिक प्रसंग प्राप्त हो सकता है, वे सरजस्क हाथ आदि पूर्वोक्त द्वारों के माध्यम से वक्तव्य हैं।
४. सरजस्क हाथ और पात्र विषयक चतुर्भंगी के लिए द्रष्टव्य है गा. १४९ का प्रथम पाद टिप्पण।
५. निक्षिप्त आहार ग्रहण करने का क्रम इस प्रकार है—सर्वप्रथम मिश्र परम्पर निक्षिप्त, उसके अभाव में मिश्र पर अनन्तर निक्षिप्त। इसी प्रकार सचित्त में भी पहले परम्पर और बाद में अनन्तर निक्षिप्त ग्राह्य है।
६. जो साधु या संघ का दुष्ट प्रत्यनीक है, उसकी प्रतिमा निर्मित कर, नामांकित कर, उसको मंत्रों द्वारा अभिमंत्रित किया जाता है। फिर उस पुतले के मर्म देश को बाँधा जाता है। उस प्रत्यनीक को वेदना होती है अथवा उसकी मृत्यु भी हो सकती है। पुतलिका करने के दो प्रमुख कारण होते हैं—१. प्रत्यनीक का मर्दन तथा २. राजा आदि विशिष्ट लोगों को वश में करना।

१६८. जह चेव य अद्धाणे, 'अलाभगहणे सरक्खमादीहिं'^१ ।
तह कज्जसंभम्मि वि, बितियपदे जतण जा^२ करणं ॥ १६८ ॥
१६९. पडिवत्तीइ^३ अकुसलो^४, सागारिय घेतु तं परिट्टवे ।
दंडियमादि पडिपहे, उव्वत्तण मग्गफिडिता वा ॥ १६९ ॥
१७०. रक्खा^५ चूसणहेउं^६, भक्खणहेउं व मट्टियागहणं ।
दीहादीहि व खइते, इमाएँ जतणाएँ णातव्वं ॥ १७० ॥
१७१. दड्ढे मुत्ते छगणे, रुक्खे सुसुणाग^७ वम्मिए पंथे ।
हल-खणणकुड्डुमादी, अंगुल-खित्तादि लोणे य ॥ १७१ ॥
१७२. सत्थहताऽसति उवरिं, तु गेणहते^८ भूमि तसदयट्टाए ।
उवयारनिमित्तं वा, अह तं दूरं व खणिरुणं ॥ १७२ ॥
१७३. पुव्वखतोव्वर^९ असती, खित्तादट्टा खणेज्ज वा अगडं ।
अतरंतपरियरट्टा, हत्थादि जतंति जा करणं ॥ १७३ ॥
१७४. लोणं व गिलाणट्टा, घेप्पति मंदग्गिणं व अट्टाए ।
दुल्लभलोणे देसे, जहिं व तं होति अच्चित्तं^{१०} ॥ १७४ ॥
१७५. सीतं पउरिंधणता, अचेलगनिरोध भत्तघरवासे ।
सुत्तथजाणएणं, अप्पा-बहुगं तु नातव्वं ॥ १७५ ॥

१. 'गहणं ससरक्ख' (मु) ।

२. जाव (चू) ।

३. °त्तीय (भ), °त्तीए (पा) ।

४. कोइ साहू भिक्खाए अवइण्णो । तस्स य ससरक्खमट्टिया-
लित्तेहिं हत्थेहिं भिक्खा णिप्फेडिया । तओ स साहू चिंतयति
—“एस एत्थ धिज्जाति, तो विदू चिट्ठति, एस इमं
पुच्छिस्सति” “कीस ण गेणहसि”? अहं च पडिवत्तीए
अकुसलो, 'पडिवत्ती' प्रतिवचनं, जहा एतेण कारणेण ण
वट्ठति तथा अकुसलो उत्तरदानासमर्थ इत्यर्थः । ततो एवं

सागारिए तमकप्पियं भिक्खं घेतुं पच्छा परिट्टवेति(चू) ।

५. दीहादिणा खइए मंतेणाभिमतंरुण कडगबंधेण रक्खा
कज्जति (चू) ।

६. भूसं (मु) ।

७. °णाए (भ) ।

८. गेणहती (भ) ।

९. °खतोवर (क, भ) ।

१०. सच्चित्तं (भ, मु) ।

१६८. जिस प्रकार अटवी द्वार में भिक्षा आदि न मिलने पर सरजस्क आदि द्वारों के अपवाद और यतनाएं बताई गई हैं, कार्य और संभ्रम—इन दो द्वारों में भी करण पर्यन्त वे सभी अपवाद और यतनाएं ज्ञातव्य हैं।

१६९. उत्तर देने में अनिपुण साधु गृहस्थ के समक्ष सरजस्क हाथ आदि से भिक्षा ग्रहण कर बाद में उसे परिष्ठापित कर देता है। (अपवादपद में वह अप्रायश्चित्ती है।) प्रतिपथ से दंडिक पुरुष (आरक्षक आदि) आ रहा हो तो पैरों का प्रमार्जन किए बिना पथ से हट जाता है, अस्थंडिल में चला जाता है, इसी प्रकार मार्ग भ्रष्ट हो जाने से सचित्त पृथ्वी, पपड़ी आदि पर गमन—ये सभी अपवाद पद हैं।

१७०. सर्प आदि के द्वारा काटे जाने पर उसकी रक्षा के लिए, विष को चूसने के लिए, विषभावित प्रदेश पर लेप के लिए और उस व्यक्ति को खिलाने के लिए इस यतना से मृत्तिका का ग्रहण किया जाता है।^१

१७१. उपर्युक्त प्रयोजनों में मिट्टी का ग्रहण इस क्रम से किया जाता है—१. दग्ध प्रदेश की मिट्टी, २. गोमूत्र, गोबर आदि से भावित मिट्टी, ३. पिचुमंद (नीम), कैर, बबूल आदि कसैले वृक्षों के नीचे की मिट्टी, ४. अलसिया द्वारा आहार करके विसर्जित की हुई मिट्टी, ५. वल्मीक (बांबी) की मिट्टी, ६. जनपद आदि के लोगों द्वारा क्षुण्ण मार्ग की मिट्टी, ७. हल के लगी हुई मिट्टी, ८. खनित्र के आगे लगी हुई मिट्टी, ९. नवीन ग्राम आदि के घरों की दीवारों की मिट्टी। इन दसों ही विकल्पों से मिट्टी प्राप्त न हो सके तो अंगुल, दो अंगुल आदि नीचे खोदकर ली जा सकती है। इसी प्रकार क्षिप्तचित्त, ग्लान आदि के लिए नमक भी गाह्य है।

१७२. उपर्युक्त प्रकार की शस्त्रोपहत मिट्टी न मिलने पर त्रस प्राणियों की दया (विराधना से बचने) के लिए^२ ऊपर-ऊपर से सचित्त मिट्टी (बिना खोदे) ग्रहण की जा सकती है। उपचार^३ के लिए अनुपहत (अशस्त्रोपहत) मिट्टी अपेक्षित हो तो नीचे एक, दो अंगुल या यथापेक्ष अधिक खोदकर ली जा सकती है।

१७३. क्षिप्तचित्त, दूषितचित्त आदि को तलघर आदि में रखा जाता है। पहले से खोदा हुआ अपवरक (तलघर) न मिलने पर उसके लिए कुआं आदि खोदा जा सकता है। ग्लान अथवा उसके परिचारकों का निर्वाह न हो पाए, ऐसी अवस्था में सरजस्क हाथ आदि पूर्वोक्त विकल्पों से भी भिक्षा, औषध आदि ले सकते हैं—ऐसा करण द्वार तक ज्ञातव्य है।

१७४. जिस देश में नमक दुर्लभ है (जहां भोजन पकाते समय नमक नहीं डाला जाता, वहां ग्लान अथवा मंदाग्नि साधु के लिए नमक ग्रहण किया जाता है, पर जहां नमक अचित्त हो, वहीं ले।

१७५. शीत-प्रचुर प्रदेश (जैसे उत्तरापथ) में अल्पवस्त्र वाले अथवा अचेल रहने वाले व्यक्ति शीत निरोध (सर्दी से बचने) हेतु प्रचुर ईंधन से अग्नि जलाते हैं। उस कक्ष में रखा हुआ नमक जो धूम आदि से प्रासुक अथवा मिश्र हो जाता है अथवा जो भोजन-कक्ष में रखा हुआ है, सूत्रार्थ का ज्ञाता मुनि अल्प-बहुत्व^४ के आधार पर उस नमक को ग्रहण करे।

१. दीर्घ (सर्प) आदि विषैले जानवर से डसे जाने पर मंत्र से अभिमंत्रित कर कटकबंध से उसकी रक्षा की जाती है, मुंह में मिट्टी डालकर चूसकर डंक का विष निकाला जाता है, विष खींचने के लिए मिट्टी का लेप किया जाता है। भूखे पेट रहने पर विष का असर ज्यादा होता है अतः उसे मिट्टी खिलाई जाती है।

२. मिट्टी खोदने से उसके नीचे रहने वाले मेंढक आदि तथा ऊपर रहने वाले छोटे-छोटे त्रस प्राणियों की हिंसा संभव है।

३. उपचार आदि के लिए मंत्रित करने हेतु दग्ध आदि मिट्टी प्रयुक्त न की जा सके, वहां ग्लानापवाद के निमित्त सचित्त या मिश्र पृथ्वीकाय की प्रतिसेवना का प्रसंग आता है।

४. यदि नमक न लिया गया तो ग्लान्य बढ़ेगा, फलतः संयम विराधना अधिक होगी—ऐसा जानकर (लेने में अधिक औचित्य का निर्णय कर) गीतार्थ मुनि उपर्युक्त विकल्पों से प्राप्त अचित्तीभूत, मिश्र अथवा उनके अभाव में सचित्त नमक का भी अपवाद रूप में ग्रहण करता है।

१७६. ओमे वि गम्ममाणे, अद्धाणे जतण होति सच्चेव ।
अच्छंता व^१ अलंभे, 'पुत्तल्लऽभिचारुगाऽऽउंटा'^२ ॥ १७६ ॥
१७७. ससिणिद्धमादि सिण्होदगे य गमणे य धोव्वणे णावा ।
पमाणे य गहणकरणे, निक्खित्ते सेवती जं च ॥ १७७ ॥ नि ३८ ॥
१७८. पंचादी ससिणिद्धे^३, उदउल्ले लहुग मासिगं मीसे ।
पुरकम्म-पच्छकम्मे, लहुगा आवज्जती जं च ॥ १७८ ॥
१७९. गाउग दुगुणादुगुणं, बत्तीसं जोयणादि चरमपदं^४ ।
चत्तारि छच्च लहु-गुरु, छेदो मूलं तह दुगं च ॥ १७९ ॥
१८०. सिण्हा मीसग हेट्टोवरिं च कोसाइ अट्टवीससतं ।
'भूमुदय अंतलिक्खे'^५, चतुलहुगादी तु बत्तीसा ॥ १८० ॥
१८१. सच्चित्ते लहुगादी^६, अभिक्खगमणम्मि अट्टहिं सपदं ।
सिण्हा मीसे बुदगे^७, मासादी दसहि चरिमं तु ॥ १८१ ॥
१८२. सच्चित्तेण तु धुवणे, मुहणंतगमादिए व^८ चतुलहुगा ।
अच्चित्त धोवणम्मि वि, अकारणे उवधिनिप्फण्णं ॥ १८२ ॥
१८३. णावातारिम चतुरो, एगसमुद्धम्मि तिण्णिण य जलम्मि ।
ओयाणे^९ उज्जाणे^{१०}, तिरिच्छसंतारिमा^{११} चेव ॥ १८३ ॥

१. व (भ) ।

२. °चारका° (भ, मु), पुत्तल्लभिचारगाउंटं त्ति वाउल्लगेणं
विज्जं साहिता किंचि इड्ढिमंतं आउंटावेति, सो भत्तपाणं
दवाविज्जति (चू) ।

३. णिक्खित्ते (दे, पा) ।

४. चरिमं (भ, क) ।

५. °यमंतं° (भ, मु) ।

६. लहुमादी (मु) ।

७. मासेवुदते (दे) ।

८. वि (भ) ।

९. ओयाणे त्ति अनुस्रोतोगामिनी पानीयानुगामिनीत्यर्थः (चू) ।

१०. उज्जाणे त्ति प्रतिलोमगामिनीत्यर्थः (चू) ।

११. °च्छसंपातिमे (भ), तिरिच्छसंतारिणी नाम कूलात् कूलं
ऋजु गच्छतीत्यर्थः (चू) ।

१७६. जो यतना महान अटवी (अद्वाण द्वार गा. १७३-१७६) के विषय में निर्दिष्ट है, वही अवमौदर्य के कारण अन्य क्षेत्र में जाना हो, उस समय ज्ञातव्य है। ग्लान आदि के प्रतिबंध से वहीं रहते हुए यदि भक्तपान का लाभ न हो तो पुतले के अभिचार और आराधन के लिए पृथ्वीकाय की प्रतिसेवना का प्रसंग आता है। १७७, १७८. अप्काय की दर्पिका प्रतिसेवना दस द्वारों से ज्ञातव्य है—१. सस्निग्ध आदि हाथ^२ २. ओस में गमन, ३. उदक में गमन, ४. धावन, ५. नौका, ६. प्रमाण, ७. ग्रहण, ८. करण और ९. निक्षिप्त और १०. इनका अन्तर्भावी द्वार अर्थात् इन नौ द्वारों का आसेवन करना।^३ जो इनका आसेवन करता है वह निम्नांकित प्रायश्चित्त प्राप्त करता है—सस्निग्ध हाथ^४ से भिक्षा आदि ग्रहण करने पर पनक, उदकार्द्र हाथ से भिक्षा आदि ग्रहण करने पर लघुमास,^५ मिश्र पर अनन्तर निक्षिप्त भिक्षा आदि ग्रहण करने पर लघुमास^६ और पुरःकर्म, पश्चात्कर्म दोष का आसेवन करने पर चतुर्लघु तथा तत्सम्बन्धी अन्य प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। १७९. सचित्त जल से क्रमशः एक गव्यूत, दो गव्यूत, एक योजन, दो योजन, चार योजन, आठ, सोलह और बत्तीस योजन जाने पर चतुर्लघु, चतुर्गुरु, षड्लघु, षड्गुरु, छेद, मूल, अनवस्थाप्य और पारांचित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।^७

१८०. ओस दो प्रकार की होती है—नीचे और ऊपर। उन दोनों प्रकार की ओस तथा मिश्र जल में एक कोस चलने पर मासलघु यावत् एक सौ अट्टाईस योजन चलने पर पाराञ्चित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। जल दो प्रकार का होता है—१. भौम जल—नदी आदि भूम्याश्रित या भूमिगत स्रोतों का जल, २. अंतरिक्ष जल—वर्षा का पानी। उसमें एक कोस चलने पर चतुर्लघु यावत् बत्तीस योजन चलने पर पाराञ्चित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।^८ १८१. सचित्त जल में प्रथम बार गमन करने पर चतुर्लघु यावत् बार-बार गमन करने पर आठवीं बार में सपद—पाराञ्चित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। ओस और मिश्र जल में प्रथम बार गमन करने पर मासलघु यावत् दसवीं बार गमन करने पर चरम—पाराञ्चित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।^९

१८२. सचित्त जल से मुखानन्तक (मुखवस्त्र) आदि धोने पर चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।^{१०} अचित्त जल से भी निष्कारण वस्त्र आदि धोने पर उपधिनिष्पन्न^{११} प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१८३. चार प्रकार की नौकाओं से जल को पार किया जाता है—१. समुद्रगामिनी २. अवयान—अनुस्रोतगामिनी ३. उद्यान—प्रतिस्रोतगामिनी और ४. तिर्यक्संतारिणी—एक किनारे से सीधी दूसरे किनारे जाने वाली। इनमें प्रथम समुद्र में तथा अंतिम तीन नदी आदि में चलती है।

१. पुतला बनाकर विद्या के प्रयोग से किसी समृद्ध व्यक्ति को प्रसन्न किया जाता है या किसी ऋद्धिमंत्र की आराधना की जाती है, जो उन्हें उस दुर्भिक्ष काल में भक्तपान दिलवाए।
२. ईषद् आर्द्र हाथ, जिनसे जल बिन्दु नहीं झरते, सस्निग्ध हाथ कहलाते हैं। आदि शब्द के द्वारा पिण्डैषणा विषयक अठारह हाथों में से प्रथम तीन का पश्चानुपूर्वी से ग्रहण किया गया है।
३. उपर्युक्त द्वारों के विवेचन हेतु द्रष्टव्य गा. १७८-१८६।
४. सस्निग्ध हाथ और पात्र के संयोग से चार भंग हो जाते हैं। उसमें प्रथम भंग में हाथ और पात्र दोनों सस्निग्ध होने पर पनक द्विक, द्वितीय और तृतीय भंग में क्रमशः केवल हाथ और पात्र सस्निग्ध होने पर पनक प्रायश्चित्त प्राप्त होता है तथा अंतिम भंग शुद्ध है।
५. उदकार्द्र हाथ के विषय में भी उपर्युक्त चतुर्भंगी तथा उसी क्रम से लघुमासद्विक तथा एक-एक लघुमास प्रायश्चित्त ज्ञातव्य है।
६. निक्षिप्त द्वार में सचित्त और मिश्र के साथ अनन्तर और परम्पर के संयोग से चतुर्भंगी हो जाती है। उनमें मिश्र जल पर परम्पर निक्षिप्त भिक्षा आदि का ग्रहण करने पर पनक प्रायश्चित्त, अनन्तर निक्षिप्त का ग्रहण करने पर मासलघु, सचित्त पर अनन्तर निक्षिप्त का ग्रहण करने पर चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।
- ७., ८. प्रायश्चित्त योजना के लिए गा. १५२ का अनुवाद द्रष्टव्य है।
९. प्रायश्चित्त योजना के लिए गा. १५३ का अनुवाद द्रष्टव्य है।
१०. सचित्त जल से प्रक्षालन करने पर आठवीं बार पारांचित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। मिश्रजल के विषय में भी यही विधान है।
११. उपधि (उपकरण) के अनुसार प्राप्त होने वाला प्रायश्चित्त उपधि निष्पन्न प्रायश्चित्त कहलाता है, जैसे जघन्य उपधि धोने से पनक प्रायश्चित्त, मध्यम उपधि से मासलघु और उत्कृष्ट उपधि से चतुर्लघु।

१८४. तिरियोयाणुज्जाणे, समुद्दजाणी य चेव नावाए।
चतुलहुगा अंतगुरू, जोयणअद्धद्ध जा सपदं ॥ १८४ ॥
१८५. संघट्टे मासादी, लहुगा दगलेव^१ लेवउवरिं च।
कुंभे दतिए तुंभे^२, उडुपे पण्णी^३ य एमेव ॥ १८५ ॥
१८६. कलमादद्दामलगा^४, करगादी^५ सपदमट्टुवीसेणं।
एमेव य दवउदगे^६ बिंदूमद्दंजली^७ वुड्डी ॥ १८६ ॥
१८७. जति गहणा तति मासा, पक्खेवे चेव होंति चउभंगो।
कुडुंभगादीकरणे^८, लहुगा तस रायगहणादी ॥ १८७ ॥
१८८. अद्धाण-कज्ज-संभम, सागारिय पडिपहे य फिडिते य।
दीहादी य गिलाणे, ओमे जतणा य जा जत्थं ॥ १८८ ॥ नि ३९ ॥
१८९. ससिणिद्धे उदउल्ले, पुरपच्छा माण-गहण निक्खित्ते।
गमणे य मही य जहा, तहेव आउम्मि बितियपदं ॥ १८९ ॥
१९०. उवरिमसिण्हा कप्पे, हेट्टिल्लीए य तलियमवणेत्ता।
एमेव दुविधमुदए, धुवणमगीतेसु गुलियादी^९ ॥ १९० ॥

१. तू लेव (दे), तु लेप (मु)।

२. तुंभे त्ति मच्छियजालसरिसं जालं काऊण अलाबुगाण
भरिज्जति, तम्मि आरूढेहिं संतरणं कज्जति (चू)।

३. पण्णि त्ति पण्णिमया महंता भारगा बज्जंति, ते जमला
बंधेउ ते य अवलंबिउं संतरणं कज्जति (चू)।

४. °मामद्दं (भ)।

५. उदगपासाणा वासे पडंति ते करगा भण्णति, आदिसद्दाओ
हिमं वा कढिणं (चू)।

६. दगउं (क)।

७. बिंदुमातंजली (भ, मु), °मादंजली (दे)।

८. °गादिकं (भ), कोडुं (पा), कुडुंभगो—जलमंडुओ
भण्णति आदिसद्दाओ मुरवण्णतरं वा सद्दं करेति (चू)।

९. तत्थ (दे)।

१०. दगंगुलिगा पुण वक्को भण्णति उदस्सि भाविय पोत्ता
वा (चू)।

१८४. तिर्यक्संतरिणी, अवयान, उद्यान और समुद्रगामिनी—इन चारों नौकाओं के प्रयोक्ता को चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। अंतिम (समुद्रगामिनी) नौका का प्रयोग करने पर प्राप्त प्रायश्चित्त तप और काल दोनों से गुरु होता है।^१ नौका द्वारा आधा योजन जाने पर चतुर्लघु यावत् आधे-आधे योजन की वृद्धि से चार योजन जाने पर पाराञ्चित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।^२

१८५. विशेष प्रयोजन के बिना अर्धजंघाप्रमाण सचित्त जल^३ में चलने से लघुमास आदि^४ प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। नाभिप्रमाण सचित्त जल में चलने से चतुर्लघु तथा नाभि प्रमाण से अधिक जल में चलने पर भी चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। कुम्भ, दृति (मशक), तुम्बा, उडुप और पण्णी (घास के सहारे तैरना)^५ का प्रयोग करने पर भी चतुर्लघु आदि^६ प्रायश्चित्त प्राप्त होते हैं।

१८६. करक (ओले), हिम आदि ठोस जल के विषय में चने जितनी मात्रा से लेकर आर्द्र आमलक जितनी मात्रा में सचित्त अप्काय का ग्रहण करने पर चतुर्लघु के क्रम से एक सौ अट्ठाईस आमलक जितने अप्काय के ग्रहण से पाराञ्चित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। द्रव जल के विषय में चने की तुलना बिंदुमात्र जल से तथा आर्द्र आमलक की अंजलिप्रमाण जल से करते हुए प्रस्तुत प्रायश्चित्त वृद्धि ज्ञातव्य है।^७

१८७. सचित्त जल का जितनी बार ग्रहण किया जाता है, उतने ही लघुमास प्रायश्चित्त प्राप्त होते हैं। ग्रहण के साथ प्रक्षेप का संयोजन करने से चार भंग हो जाते हैं।^८ सचित्त जल के कुडुंभग(जलमंडूक) आदि बनाने से चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है, त्रस प्राणियों की विराधना,^९ राजग्रहण^{१०} आदि दोष उत्पन्न होते हैं।

१८८. अप्काय की कल्पिका प्रतिसेवना नौ द्वारों से ज्ञातव्य है—१. महान् अटवी, २. कार्य, ३. संभ्रम, ४. सागारिक, ५. प्रतिपथ, ६. फिडित (मार्ग-च्युत), ७. दीर्घा (सर्प) आदि, ८. ग्लान और ९. अवम। इन नौ द्वारों में जहां-जहां जो-जो यतना घटित हो, वह वहां करणीय है।

१८९. महान् अटवी नामक प्रथम द्वार में सस्निग्ध, उदकार्द्र, पुरःकर्म, पश्चात्कर्म, प्रमाण, ग्रहण, निक्षिप्त और गमन के विषय में जो-जो अपवाद एवं यतना पृथ्वीकाय (के प्रथम द्वार) में बताई गई हैं, वे ही अप्काय के विषय में ज्ञातव्य हैं।

१९०. ऊपर से ओस गिरती हो तो वर्षाकल्प—पछेवड़ी अच्छी तरह ओढ़कर तथा नीचे की ओस में (यतना हेतु) पदत्राण को उतारकर चले। यही विधि दोनों प्रकार के जल (भौम जल और अंतरिक्ष जल) के विषय में ज्ञातव्य है। जहां ग्लान आदि कारणों में सचित्त जल से प्रक्षालन करना हो, वहां अगीतार्थ के समक्ष गुटिका (छाल) आदि से यतना करें।

१. प्रथम तीन नौका के प्रयोग से प्राप्त होने वाला चतुर्लघु क्रमशः तप से गुरु, काल से गुरु और दोनों से लघु होता है।
२. अभीक्षण आसेवन में क्षेत्र वृद्धि के समान चतुर्गुरु, षड्लघु इस क्रम से आठवीं बार में पाराञ्चित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।
३. संघट्ट आदि तीनों सामयिक संज्ञाएं हैं। विवरण हेतु द्रष्टव्य गा. १९५।
४. निष्कारण अर्धजंघा प्रमाण जल में बार-बार गमन करने पर दसवीं बार में पाराञ्चित प्रायश्चित्त तथा लेप और उससे अधिक जल में आठवीं बार में पाराञ्चित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।
५. कुम्भ आदि जलसंतरण के विविध प्रकार हैं, यथा—कुम्भ (घड़े) के सहारे अथवा चार काष्ठ का चतुष्कोण बनाकर उसके चारों कोनों पर घड़े बांध दिये जाते हैं, फिर उस पर चढ़कर या उसके सहारे तैरना। हवा भरी हुई मशक के सहारे तैरना। मत्स्य-जाल की तरह जाल बनाकर उसमें तुंबे डाल दिये जाते हैं, उसके सहारे तैरना। उडुप—छोटी नौका के सहारे जल पार करना। घास के बड़े-बड़े भार बांधकर उनको दोनों तरफ लगाकर उसके अवलम्बन से संतरण करना।
६. कुंभ आदि का प्रयोग करने पर भी आठवीं बार में सपद प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।
७. ठोस जल में ओले, हिम आदि की चने जितनी मात्रा द्रव जल में बिंदुमात्र जल के साथ तुलनीय है। इसमें आठवीं बार में सपद प्रायश्चित्त आता है। मिश्रजल में भी ठोस और द्रव जल के विषय में प्रमाण का स्वरूप सचित्त जल के समान है। प्रायश्चित्त का क्रम मासलघु से प्रारम्भ होकर पांच सौ बारह आर्द्रामलक अथवा अंजलि जल ग्रहण से प्रथम बार में और अभीक्षण आसेवन में दसवीं बार में सपद प्रायश्चित्त तक पहुंचता है।
८. ग्रहण और प्रक्षेप के अर्थ एवं चतुर्भंगी के लिए गा. १६० के पादटिप्पण द्रष्टव्य हैं।
९. जलमंडूक आदि बनाते समय पूतरक (जल में रहने वाले द्वीन्द्रिय प्राणी) आदि की विराधना हो सकती है।
१०. कोई साधु जलमंडूक बनाता है, उससे यह सीखने के लिए राजा उसे बन्दी बनाकर अपने पास रख लेता है।

१९१. जंघातारिम कत्थइ, कत्थइ बाहाहि अप्प न तरेज्जा ।
कुंभे दतिए तुंभे, णावा^१ उडुपे य पण्णी य ॥ १९१ ॥
१९२. एत्तो एगतरेणं, तरियव्वं कारणम्मि जातम्मि ।
एतेसि विवच्चासे, चातुम्मासे भवे लहुगा ॥ १९२ ॥
१९३. नवाऽनवे विभासा तु, भाविताऽभाविते^२ ति य ।
तदण्णभाविते चेव, उल्लाणोल्ले^३ य मग्गणा ॥ १९३ ॥
१९४. असती य परिरयस्सा, दुविधे तेणेव सावए दुविधे ।
संघट्टण लेवुवरिं, दुजोयणा हाणि जा णावा ॥ १९४ ॥
१९५. जंघद्धा संघट्टो, नाभी लेवो परेण लेवुवरिं ।
एगो जले थलेगो^४, निप्पगलण^५ तीरमुस्सग्गो ॥ १९५ ॥
१९६. 'निब्भयऽगारत्थीणं'^६, तु मग्गतो चोलपट्टमुस्सारे ।
सभए अत्थग्घे वा, ओत्तिण्णेसुं^७ घणं पट्टं ॥ १९६ ॥
१९७. दगतीरे ता चिट्ठे, निप्पगलो जाव चोलपट्टो तु ।
सभए पलंबमाणं, गच्छति काएण अफुसंतो^८ ॥ १९७ ॥
१९८. असति गिहि णालियाए^९, आणक्खेउं पुणो वि पडियरणं^{१०} ।
एगाभोग पडिग्गह^{११}, केई सव्वाणि 'ण य'^{१२} पुरतो^{१३} ॥ १९८ ॥

१. बंधाणुलोमा मज्झे णावा गहणं कतं (चू) ।

२. भावियाभाविय ति उदगभाविता अभाविता य, जा उदके
छूढपुव्वा सा उदगभाविया, इतरा अभाविया (चू) ।

३. उल्लाणोल्ल ति उल्ला तिंता, अणोल्ला सुक्का (चू) ।

४. थलमिहागासं भण्णति सामइगसण्णाए (चू) ।

५. °गले (ओभा ३४) ।

६. निभएऽगारिं (भ, ओनि ३४), निब्भयं जत्थ चोरभयं णत्थि
तत्थ (चू) ।

७. उत्तीण्णेसुं (दे) ।

८. ओनि ३५ ।

९. आयप्पमाणातो चउरंगुलाहिगो दंडो णालिया भण्णति (चू) ।

१०. परियं (मु) ।

११. सर्वाण्येव पात्रकाणि अधोमुखानि घनेन चीरेण बध्यन्ते
तरणार्थमिति । एस ताव सामण्णेण नदीए अत्थग्घाए
गच्छंतस्स विही भणिओ (ओनिटी) ।

१२. णो (दे) ।

१३. ओनि ३६ ।

१११. कहीं पर जंघातारिम^१—जंघा से तरने योग्य जल थाह वाला होता है और कहीं अथाह। अथाह जल को अपनी भुजाओं से पार न करे।^२ कुंभ, मशक, तुम्बा, उडुप, पण्णी और नौका का प्रयोग करे।

११२. कारण (आपवादिक परिस्थिति) में इनमें से एक के द्वारा जल को पार करे। क्रम का विपर्यास^३ करने पर प्रत्येक में चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

११३. नौका के विषय में नवीन-प्राचीन, भावित-अभावित, तज्जलभावित-अन्यजलभावित, गीली-सूखी आदि विकल्पों से मार्गणा करनी चाहिए।^४

११४. जहां दो योजन तक परिरय—परिधि^५ न हो या उस पर दो प्रकार के स्तेन^६ या श्वापद (जंगली जानवर^७) हों तो जल संघट्ट से जाए। यदि डेढ़ योजन तक संघट्ट न हो या दोषयुक्त हो तो लेप से जाए और यदि एक योजन तक लेप न हो तो आधा योजन लेपोपरि जल से जाए। इस प्रकार दो योजन की हानि^८ से नौका से जाए।

११५. संघट्ट का अर्थ है—अर्धजंघा प्रमाण जल। नाभि प्रमाण जल लेप और उससे अधिक जल लेपोपरि कहलाता है। एक पांव को जल में रखें, एक को स्थल अर्थात् आकाश (ऊपर अधर) में। इस विधि से जल पार करने के बाद पूरा जल निष्प्रगलित हो जाए—झर जाए, तब तट पर आकर ऐर्यापथिक कायोत्सर्ग करे।

११६. जहां नाभिप्रमाण या उससे अधिक जल हो तथा (चोर आदि का) भय न हो, वहां चोलपट्ट (कटिवस्त्र) को ऊपर करता हुआ गृहस्थों के पीछे-पीछे चले।^९ सभय अर्थात् चोराकुल प्रदेश अथवा अथाह जल में चोलपट्ट को सघन बांधकर कम से कम गृहस्थों की आधी संख्या जल में उतरने पर (मध्य में) जल में उतरे।

११७. (जहां भय न हो) पानी के तट पर तब तक रुके, जब तक चोलपट्ट से पानी टपकना (झरना) बन्द न हो जाए। यदि भय हो तो चोलपट्ट को (हाथ या डंडे पर) लटकता हुआ, शरीर से अस्पृष्ट रखता हुआ चले।

११८. यदि सार्थिक गृहस्थ न हों तो नालिका (आत्मप्रमाण से चार अंगुल बड़ा डंडा) से परीक्षा कर अर्थात् जल की गहराई को माप कर जल में उतरे। नालिका न हो तो कुशल व्यक्ति जल को माप कर आए तब जाएं—जल में उतरें। अथाह जल में यतना—उपकरण और पात्र को एक साथ बांध कर एक तरफ करे। कुछ आचार्यों के अनुसार सारे उपकरणों को एक साथ बांधकर नौका में आरोहण करे। नौका में आगे से न चढे और न पीछे से चढे, मध्य से आरोहण करे।

१. जंघातारिम में संघट्ट, लेप और लेपोपरि तीनों प्रकार के जल का ग्रहण हुआ है।

२. अथाह जल को भुजाओं से तैरते समय बहुत पानी—अपकाय का उपघात होता है।

३. गाथा १११ में कुंभ आदि का जो क्रम निर्दिष्ट है, उसका विपर्यास (विपरीतता) करने पर प्रत्येक में चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

४. सहज नौका न मिले तो मुनि के लिए चलने वाली नौका का प्रयोग किया जाता है। वह नई हो तो पुरानी से न जाए क्योंकि पुरानी नौका विघ्नयुक्त होती है। नई नौका यदि उस जल से भावित मिल जाए तो अभावित और अन्यजलभावित से न जाए। उस जल से भावित नौका यदि गीली मिल जाए तो सूखी नौका से न जाए क्योंकि सूखी नौका पानी ज्यादा खींचती है।

५. जहां दो योजन चलने पर स्थल मार्ग—नदी, तट, सेतुबन्ध आदि हों, वहां नौका से न जाए।

६. चोर के दो प्रकार हैं—शरीर स्तेन और उपधिस्तेन।

७. श्वापद के दो प्रकार हैं—चतुष्पद (सिंह आदि) और परिसर्प (नाग आदि)।

८. दो योजन की हानि का अर्थ है—दो योजन तक सर्वथा स्थलमार्ग का अभाव या स्तेन, श्वापद, भययुक्त मार्ग एवं भिक्षा, वसति आदि के अभाव आदि दोषों वाला स्थल मार्ग हो तो नौका का प्रयोग विहित है, अन्यथा नहीं।

९. मग्गतो अर्थात् पीछे-पीछे। भय रहित प्रदेश में गृहस्थों के पीछे चोलपट्ट को ऊपर करता हुआ चले ताकि अपकाय का अधिक उपघात न हो।

१९९. ठाणतिगं^१ मोत्तूणं, उवउत्तो^२ 'तत्थ ठाति ऽणाबाहे'^३ ।
दति उडुवे तुंबेसु य, एस विधी होति संतरणे ॥१९९ ॥
२००. कंजियं^४-आयामाऽसति, संसट्टुसिणोदगेसु^५ वा असती ।
फासुमुदगं तसजढं, तस्सऽसति तसेहि जं रहितं ॥२०० ॥
२०१. तुवरे^६ फले य पत्ते, रुक्खे सिल तुप्पं^७ मद्दणादीसु ।
पासंदणे पवाते, आतवतत्ते 'वहे अवहे'^८ ॥ २०१ ॥
२०२. जड्डे खग्गे^९ महिसे, गोणे गवए^{१०} य सूयर-मिगे य ।
उप्परिवाडी गहणे^{११}, चातुम्मासा भवे लहुगा ॥२०२ ॥
२०३. जह चेव य पुढवीए, कज्जे संभम-सगार-फिडिते य ।
ओमम्मि वि तह^{१२} चेव तु, पडिणीयाउट्टणं काउं ॥२०३ ॥
२०४. विसकुंभ^{१३} सेय मंते, अगदोसधघंसणादिदीहादी ।
फासुगदवस्स^{१४} असती, गिलाणकज्जट्ट इतरं पि ॥ २०४ ॥
२०५. सागणिए निक्खित्ते, संघट्टण-तावणा य निव्ववणा^{१५} ।
तत्तो य^{१६} इंधणे संकमे य करणं च जणणं च^{१७} ॥ २०५ ॥ नि ४० ॥

१. देवताट्टाणं कूयट्टाणं निज्जामगट्टाणं (चू) ।

२. उवउत्तो ति णमोक्कारपरायणो सागारपच्चक्खाणं पच्चक्खाउ य ट्ठाति (चू) ।

३. ठाति तत्थणाबाहे (भ, मु) ।

४. कंजियं देसीभासाए आरनालं भण्णति (चू) ।

५. गवंगरसभायणिकक्रेयणं जं तं संसट्टुसुणोदगं भण्णति अहवा कोसलविसयादिसु सल्लोयणो विणस्सणभया सीतोदगे छुब्भति तत्तम्मि य ओदणे भुत्ते तं अंबीभूतं जइ अतसागतो घेप्पति, एतं वा संसट्टुसुणोदं (चू) ।

६. तुवरसद्धो रुक्खसद्धे संबज्झति तुवरवृक्ष इत्यर्थः (चू) ।

७. तुप्पो पुण मययकलेवर वसा भण्णति (चू) ।

८. उत्क्रमस्तु बंधानुलोम्यात् पुव्वं आयवतत्तं अप्पोदगं अवहं घेप्पति । असइ आयवतत्तं वहं घिप्पइ (चू) ।

९. खग्गो एग्गसिंगी अरण्णे भवति (चू) ।

१०. गोणागिती गवओ (चू) ।

११. गमणे (दे) ।

१२. तिह (पा) ।

१३. विसकुंभो ति लूता भण्णति (चू) ।

१४. °दगस्स (मु) ।

१५. निव्वावे (भ, मु) ।

१६. × (भ) ।

१७. चा (क) ।

१९९. निर्ग्रन्थ नौका के तीन स्थानों^१ को छोड़कर अनाबाध स्थान में उपयोगपूर्वक^२ बैठे। मशक, उडुप और तुम्बे के द्वारा जल-संतरण में भी यही विधि है।^३

२००. कांजी और अवश्रामण (चावल आदि का पानी) न मिले तो संसट्टसुनोदक (गोरस के पात्रों को धोया हुआ पानी या खट्टा पानी^४) ले, वह भी न मिले तो त्रस प्राणी रहित प्रासुक जल^५ ले, उसके अभाव में त्रस रहित किया हुआ प्रासुक जल ले।^६

२०१. प्रासुक जल ग्रहण करने में क्रम इस प्रकार है—जिसमें तुवर (कसैला) वृक्ष गिर गया हो^७, जिसमें तुवर फल अथवा तुवर पत्र आदि गिरे हों^८, जो तुवर शिला से परिणत हो^९, जो मृत कलेवर की वसा से परिणत हो गया हो, जो हाथी से मर्दित आदि हो^{१०}, वह आतप (धूप) से तप्त जल जो अल्प मात्रा में हो, वह आतप तप्त जल जो अधिक मात्रा में हो, जो कुंड, तालाब आदि से बहकर निकला हो, जो धारा-प्रपात से प्राप्त हो।

२०२. हाथी, खड्ग—गेंडा (एक सींग वाला आरण्यक पशु), भैंस, गाय, गवय (रोझ) शूकर और मृग के मर्दित जल को उत्क्रम से^{११} ग्रहण करने पर चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२०३. कार्य, संप्रम, सागारिक, फिडित और अवम के विषय में जो अपवाद और यतना पृथ्वीकाय में बताई गई हैं, वे ही यहां ज्ञातव्य हैं। प्रत्यनीक के आकुंचन (आकर्षण) के लिए करण किया जाए, वहां भी अद्धाण आदि के समान अपवाद और यतना की आयोजना (प्रयोग) करनी चाहिए।

२०४. विसकुंभ (मकड़ी) के काटने पर होने वाले विषैले फोड़े के सेक (सिंचन) के लिए, मंत्र के लिए^{१२} अगद औषध के पीसने या विषघातक जड़ आदि को घिसने के लिए जल का ग्रहण करना दीर्घा (सर्प) आदि द्वार^{१३} में वक्तव्य है। ग्लान-कार्य के लिए प्रासुक जल न मिलने पर प्रासुकेतर (मिश्र या सचित) जल ग्रहण करना पड़ता है।

२०५. तेजस्काय की दर्पिका प्रतिसेवना नौ द्वारों से ज्ञातव्य है—१. साग्निक (अग्नियुक्त), उपाश्रय, २. निक्षिप्त, ३. संघट्टण, ४. तापन (शरीर या हाथ-पैर आदि तपाना), ५. निर्वापन (बुझाना), ६. ईधन (अग्नि में ईधन डालना या निकालना), ७. संक्रमण (अग्नि का स्थानान्तरण), ८. करण (अलातचक्र आदि करना), ९. जनन।^{१४}

१. तीन स्थान—१. आगे का स्थान, २. कूप स्थान—जहाज का मध्य स्थान, जहां पाल बांधा जाता है और ३. निर्यामक का स्थान—ये साधु के लिए वर्च्यस्थान माने गए हैं।
२. उपयोगपूर्वक बैठने का अर्थ है—सागार प्रत्याख्यानपूर्वक नमस्कार मंत्र का पारायण करते हुए बैठना।
३. मशक आदि में नौकागत तीन स्थान नहीं होते, अतः उनका वर्जन करना उस विषय में अवाच्य है।
४. कौशल आदि देशों में जल में नमक और चावल डाले जाते हैं। चावल खा लिए जाने पर बचा हुआ खट्टा पानी संसट्टसुनोदक कहलाता है।
५. बावड़ी आदि का पानी, जो सहजतया प्रासुक और त्रस रहित हो।
६. प्रासुक पानी यदि त्रसयुक्त हो तो गलने (पानी छानने के कपड़े) से छानकर साफ किया हुआ हो, वह ग्रहण करे। सर्वथा अभाव की स्थिति में त्रसरहित सचित जल ग्रहण करना विहित है।
७. तुवर शब्द को वृक्ष का विशेषण बनाने पर यह अर्थ प्राप्त होता है कि वह जल जिसमें कोई तुवर वृक्ष हरीतकी आदि का पत्र, फल आदि गिर गया हो और परिणत हो गया हो। वृक्ष शब्द को अलग रखने से उसका 'वृक्ष कोटर में परिणत जल'—ऐसा अर्थ ग्राह्य है।

८. हरीतकी आदि तुवरफल और पलाश आदि तुवर पत्तों से परिणत जल।
९. जिस शिला पर कोई कसैली छाल आदि पीसी गई हो अथवा शिला शब्द को तुप्प से सम्बद्ध करें तो उसका अर्थ होगा मृत कलेवर की चर्बी से युक्त शिला।
१०. पूर्वोक्त तुवरादि प्रासुक जल के न मिलने पर किस क्रम से अन्य जलों को ग्रहण करना चाहिए, इसे प्रदर्शित करने के लिए आदि शब्द का प्रयोग किया गया है।
११. आरण्यक पशुओं के द्वारा मर्दित जल के ग्रहण-क्रम का जो निर्देश है, वह पूर्व के अभाव में अपर के ग्रहण के रूप में निर्दिष्ट है। ग्रहण द्वार के विषय में ज्ञातव्य है कि जितना मिश्र अथवा सचित जल ग्रहण करना अनिवार्य हो उतना ही ले। असंस्तरण (अनिर्वाह) की अपेक्षा से अनेक ग्रहण-प्रक्षेप भी प्रयोक्तव्य हैं।
१२. विषैले जन्तु के काटने पर अथवा अन्य किसी रोग की अवस्था में अभिमंत्रित करने के लिए जल का प्रयोग।
१३. दीर्घा आदि द्वार में सर्प या इसी प्रकार के विषैले या विषरहित जन्तुओं के काटने पर जलग्रहण की जो आपवादिक स्थितियां उत्पन्न होती हैं, उनका ग्रहण किया गया है।
१४. उपर्युक्त द्वारों के विवेचन हेतु द्रष्टव्य—१. गा. २०६-२१९।

२०६. सव्वमसव्वरयणिओ^१, जोती दीवो य होति एक्केक्को ।
दीवमसव्वरयणिए, लहुगो सेसेसु लहुगा तु ॥२०६॥
२०७. पंचादी^२ निक्खित्ते, असव्वराति लहुमासिगं^३ मीसे ।
लहुगा य सव्वरातिय, जं वा आवज्जती जत्थ^४ ॥ २०७ ॥ नि ४१ ॥
२०८. उवकरणे पडिलेहा, पमज्जणाऽऽवास पोरिसि मणे य ।
निक्खमणे य पवेसे, आवडणे चेव पडणे य^५ ॥ २०८ ॥ नि ४२ ॥
२०९. पेह पमज्जण वासग अग्गी, ताणि अकुव्वतो जा परिहाणी ।
'पोरिसिभंगमभंजण जोती'^६ होति मणे तु रतिव्वऽरती वा^७ ॥ २०९ ॥
२१०. जइ उस्सग्गे ण कुणति, तति मासा सव्वअकरणे लहुगा ।
वंदण थुती अकरणे, मासो संडासगादिसु य ॥ २१० ॥
२११. आवस्सिगा निसीहिग, पमज्ज आसज्ज अकरणे इमं तु ।
पणगं पणगं लहु-लहु, आवडणे लहुग जं चऽण्णं ॥ २११ ॥
२१२. सच्चित्तमीसअगणी, निक्खित्ते^८ संतऽणंतरे चेव ।
सोधी जह पुढवीए, तावण दारस्सिमा वक्खा^९ ॥ २१३ ॥
२१३. सेहस्स विसीदणता, ओसक्कतिसक्कणऽण्णहिं^{१०} णयणं ।
विज्झाविरुण तुयट्टण, अहवा वि भवे पलीवणता ॥ २१२ ॥

१. इस गाथा के प्रारंभ में चूर्णिकार ने 'अस्य सिद्धसेनाचार्यो व्याख्यां करोति' का उल्लेख किया है ।
२. पंच त्ति पणगं (चू) ।
३. तेमा^३ (दे) ।
४. तत्थ (भ), इस गाथा के प्रारंभ में चूर्णिकार ने 'इमा भद्दबाहुसामिकता प्रायश्चित्तव्याख्यानगाथा' का उल्लेख किया है ।
५. बृभा ३४३४, इस गाथा के प्रारंभ में चूर्णिकार ने 'एयस्स इमा भद्दबाहुसामिकता वक्खाणगाहा' का उल्लेख किया है ।

६. °भंगे अभंगि सजोई (बृभा ३४३६) ।
७. व्व (भ), इस गाथा में रथोद्धता छंद का प्रयोग हुआ है ।
८. निक्खित्ते (दे) ।
९. दे प्रति में २१२ और २१३ की गाथा में क्रमव्यत्यय है । चूर्णिकार ने भी इसी क्रम में व्याख्या है अतः प्रति के आधार पर गाथा का क्रम रखा है ।
१०. उस्सक्कतिसक्कण त्ति लहुं विज्झाउ त्ति जलमार्णिधणाणं उक्कट्टुणा उस्सक्कणा भण्णति । जलउ त्ति तेसिं चेव समीरणा अतिसक्कणा भण्णति (चू) ।

२०६. ज्योति और दीप दोनों ही सार्वरात्रिक और असार्वरात्रिक^१ दो प्रकार के होते हैं। असार्वरात्रिक दीप युक्त वसति में रहने पर लघुमास तथा शेष^२ में चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२०७. मिश्र अग्नि पर परम्पर निक्षिप्त^३ का ग्रहण करने पर पनक, असार्वरात्रिक प्रदीप युक्त वसति में रहने तथा मिश्र अग्नि पर अनन्तरनिक्षिप्त देय को ग्रहण करने पर लघुमास प्रायश्चित्त एवं सार्वरात्रिक प्रदीप व दोनों प्रकार की ज्योति से युक्त वसति में रहने तथा सचित्त अग्नि पर अनन्तरनिक्षिप्त देय ग्रहण करने पर चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है तथा इन सभी पदों में अन्य जो प्रायश्चित्त प्राप्त हो, वह यथायोग्य ग्राह्य है।^४

२०८. संघट्टन (स्पर्श, चालन या घर्षण) द्वार के नौ अवान्तर द्वार हैं—१. उपकरण-प्रतिलेखना, २. प्रमार्जना, ३. आवश्यक, ४. पौरुषी, ५. मन, ६. निष्क्रमण, ७. प्रवेश, ८. आपतन और ९. पतन।

२०९. उपकरणों की प्रतिलेखना, वसति की प्रमार्जना एवं आवश्यक करने से अग्नि की विराधना होती है।^५ (विराधना भय से) प्रतिलेखना आदि न करे तो जो परिहानि होती है, उसका प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।^६ पौरुषी भंग करने से तन्निष्पन्न^७ तथा भंग न करने से अग्नि की विराधना का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। मन में रति—राग और अरति—द्वेष हो तो तन्निष्पन्न प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।^८

२१०. (अग्नि विराधना के भय से) जितने उत्सर्ग—कायोत्सर्ग नहीं करता, उतने लघुमास तथा सम्पूर्ण आवश्यक न करने से चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।^९ आवश्यक—काल में करणीय जितने वन्दनक एवं स्तुतियां नहीं देता, उतने लघुमास और करने पर भी लघुमास प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। संडासक^{१०} का प्रमार्जन न करने और करने—दोनों अवस्थाओं में लघुमास प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२११. निष्क्रमण करते समय आवस्सही, प्रवेश करते समय निस्सही, आते-जाते प्रमार्जन न करना तथा आसज्ज (एक विशेष क्रिया)^{११} न करने पर क्रमशः प्रथम दो में पनक और अन्तिम दो में लघुमास प्रायश्चित्त प्राप्त होता है तथा आपतन (स्खलन) और पतन में चतुर्लघु तथा अन्य प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।^{१२}

२१२-२१३. सचित्त और मिश्र अग्नि पर परम्पर और अनन्तर निक्षिप्त वस्तु ग्रहण करने पर प्रायश्चित्त पृथ्वीकायवत् ज्ञातव्य है। तापन आदि^{१३} द्वारों की व्याख्या इस प्रकार है—शीत से विषादग्रस्त शैक्ष स्वयं को अथवा हाथ-पैरों को अग्नि में तपा लेता है। अग्नि को शीघ्र बुझाने के लिए ईंधन निकालने और देर तक जलती रखने के लिए अन्य ईंधन का प्रक्षेप कर देता है। शयनीय स्थान के अभाव अथवा आग लग जाने के भय से अग्नि को अन्यत्र ले जाता है। आग लगने के भय से सोते समय छार, धूली आदि से अग्नि को बुझा देता है। अलातचक्र आदि करने (घुमाने) से आग लग सकती है।

१. सारी रात जलने वाला दीपक और ज्योति सार्वरात्रिक और दूसरा असार्वरात्रिक हैं।
२. शेष में सार्वरात्रिक प्रदीप और दोनों प्रकार की ज्योति युक्त वसति का ग्रहण हुआ है।
३. आदिनिक्षिप्त में मिश्र अग्नि पर परम्पर निक्षिप्त का ग्रहण किया गया है, क्योंकि निक्षिप्त पद के चार विकल्पों में आपवादिक स्थिति में सर्वप्रथम वही ग्राह्य है।
४. जं वा.....जत्थ—इत्यादि सर्व द्वारों के लिए सामान्य पद है अतः साग्निक, निक्षिप्त आदि द्वारों में जहां संघट्टन, आत्म विराधना, त्रसकाय विराधना आदि से जो-जो प्रायश्चित्त प्राप्त हों, वे-वे यहाँ गृहीतव्य हैं।
५. साग्निक उपाश्रय में उपकरणों की प्रतिलेखना करने से मासलघु और उस अग्नि में छेदनक गिरे तो चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।
६. उपकरण की प्रतिलेखना न करने पर असामाचारी निष्पन्न लघुमास अथवा उपधिनिष्पन्न प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। उपाश्रय की अथवा आते-जाते समय उपाश्रय की प्रमार्जना न करे तो मासलघु और प्रमार्जना करने में छेदनक (अति

- सूक्ष्म वस्त्रावयव) गिरने से चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।
७. सूत्र पौरुषी भंग करने से लघुमास, अर्थपौरुषी भंग करने से गुरुमास, सूत्र नष्ट करने से चतुर्लघु और अर्थ नष्ट करने से चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।
८. ज्योतियुक्त वसति में रहने पर मन में सुखानुभूति हो तो चतुर्गुरु और कष्टानुभूति हो तो चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।
९. अग्निकाय की विराधना के भय से आवश्यक में करणीय कायोत्सर्ग, वन्दना, स्तुति आदि का प्रयोग न करना, कम बार करना जिस प्रकार दोषयुक्त है, उसी प्रकार इनका प्रयोग करते समय अग्निकाय की विराधना होती है अतः यथावत् उनका पालन भी दोष है।
१०. संडासक—ऊरुसंधि, जांघ और ऊरु के बीच का भाग।
११. सचित्त अर्धमागधी कोश—आसज्ज—क्रिया विशेष।
१२. आपतन और पतन से षट्काय की विराधना तथा आत्मविराधना (हड्डी टूटना आदि) हो सकती हैं अतः तन्निष्पन्न प्रायश्चित्त भी प्राप्त होता है।
१३. प्रस्तुत गाथा में तापन आदि पांच द्वारों की कुछ उत्क्रम से व्याख्या की गई है। इनका प्रायश्चित्त गा. २१५ में निर्दिष्ट है।

२१४. गाउय दुगुणादुगुणं, बत्तीसं जोयणाइ चरिमपदं ।
दट्टूण व^१ वच्चंते, तुसिणीय पदोस उड्डुहे ॥ २१४ ॥
२१५. संघट्टणादिएसुं, जणणावज्जेसु चउलहू होंति ।
छप्पदिकादिविराधण, इंधण तसपाणमादीयं^३ ॥ २१५ ॥
२१६. अभिणवजणणे मूलं, सट्टाणणिसेवणे^३ य चतुलहुगा ।
'संघट्टण परितावण'^४, लघुगुरुगतिवायणे^५ मूलं ॥ २१६ ॥
२१७. जदि ते जणणे^६ मूलं, हते वि नियमुप्पत्ती य तं चेव ।
इंधणपक्खेवम्मि वि^७, तं चेव य^८ लक्खणं जुत्तं ॥ २१७ ॥
२१८. अवि य हु^९ जुत्तो दंडो, उवघाते न तु^{१०} अणुग्गहे^{११} जुज्जे ।
अणुकंपा पावतरी, निक्किवता^{१२} सुंदरी किह^{१३} णु ॥ २१८ ॥
२१९. उज्जाल^{१४} झंपगा^{१५} णं^{१६}, उज्जालो वण्णितो हु^{१७} बहुकम्मो ।
कम्मर इव पउत्तो, बहुदोसतरो न भंजंतो ॥ २१९ ॥
२२०. बितियपदमसति दीहे, गिलाण-अद्धाण-सावए ओमे ।
सुत्तत्थजाणएणं, अप्पाबहुगं तु नातव्वं ॥ २२० ॥ नि ४३ ॥

१. य (क) ।

२. °दीया (भ, मु), आदिशब्दात् थावरा वि (चू) ।

३. °वगे (मु) ।

४. संघट्ट परीता° (क) ।

५. °गुरु अति° (भ) ।

६. जणिण (क) ।

७. अपि पदार्थसंभावने (चू) ।

८. च शब्दो लक्षणअविशेषाभिधायी (चू) ।

९. हु शब्दो दंडावधारणे (चू) ।

१०. तु शब्दो प्रतिषेधावधारणे स्तोत्रप्रायश्चित्तप्रदानविशेषणे वा (चू) ।

११. अणुग्गहे त्ति अणुवघाते उज्जालनेत्यर्थः (चू) ।

१२. णिक्किविया (दे) ।

१३. कह (दे) ।

१४. उक्काल (दे) ।

१५. झंपको णिव्वावको (चू) ।

१६. णं शब्दो वाक्यालंकारार्थः (चू) ।

१७. तु शब्दो निश्चितार्थावधारणे (चू) ।

२१४. प्रमाद से अथवा प्रतापन करते हुए यदि एक कोस तक आग लग जाए तो चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। इस प्रकार गव्यूत से दुगुना-दुगुना (द्विगुणित) करते हुए बत्तीस योजन तक आग लग जाने पर चरमपद—पारांचित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।^१ देवकुल आदि जलने के बाद साधुओं को चुपचाप जाते देखकर गृहस्थ प्रद्विष्ट हो सकते हैं, जिनशासन का उड्डुह (निन्दा) कर सकते हैं।^२

२१५. जनन द्वार को छोड़कर संघट्टन आदि सभी द्वारों का सामान्य प्रायश्चित्त चतुर्लघु है। आग में तापते हुए षट्पदिका (जूं) की विराधना, ईंधन डालने से त्रस प्राणी (उद्देहिका आदि) तथा स्थावर जीवों की विराधना होने पर तन्निष्पन्न प्रायश्चित्त भी प्राप्त होता है।

२१६. नवीन (नए सिर से) अग्नि जलाने पर मूल प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। जहां गृहस्थों द्वारा प्रज्वलित अग्नि हो, वहां अपने स्थान में रहते हुए अग्निकाय का संघट्टन न करता हुआ सेवन करे तो चतुर्लघु प्रायश्चित्त का विधान है। पृथ्वीकाय से त्रसकाय पर्यन्त किसी भी जीव के संघट्टन और परितापन में लघु गुरु तथा अतिपातन (वध) में मूल प्रायश्चित्त का विधान है।

२१७. यदि नवीन अग्नि जलाने पर मूल प्रायश्चित्त आपको इष्ट है तो बुझाने पर भी वही प्रायश्चित्त देना चाहिए क्योंकि पूर्व आग बुझाने पर गृहस्थ नियमतः अन्य आग जलाएगा ही। इसी प्रकार ईंधन का प्रक्षेप करने पर भी वही अर्थात् उत्पत्तिलक्षण (जनन में दिया जाने वाला) प्रायश्चित्त उचित है। अर्थात् जनन के समान निर्वापन और ईंधन-प्रक्षेप में भी मूल प्रायश्चित्त देना उचित है।

२१८. अपि च (इसके अतिरिक्त) उपघात में दण्ड देना उचित है न कि अनुग्रह में। अनुकम्पा पापतर (अधिक सदोष) और निष्कृपा (हिंसा) अधिक सुन्दर (श्रेष्ठ) कैसे? (प्रश्नकर्ता के अनुसार अग्निकायिक जीवों की उत्पत्ति से उनका विनाश ज्यादा प्रायश्चित्त का कार्य है।)

२१९. प्रश्नकर्ता के उपर्युक्त (गा. २१७, २१८ में वर्णित) प्रश्नों का समाधान प्रस्तुत करते हुए आचार्य कहते हैं— अग्नि पैदा करने वाले और बुझाने वाले दोनों में प्रज्वालक को बहुकर्मा बताया गया है।^३ जैसे शस्त्रों (आयुधों) का निर्माण करने वाला कम्मार (लोहकार) आयुधभंजक (शस्त्र तोड़ने वाले व्यक्ति) से अधिक दोषभाक् होता है।

२२०. तेजस्काय की कल्पिका प्रतिसेवना छह द्वारों से ज्ञातव्य है—१. अभाव, २. दीर्घा (सर्प), ३. ग्लान, ४. अद्धाण (महान् अटवी), ५. श्वापद और ६. अवम।^४ सूत्रार्थ का ज्ञाता मुनि अल्पबहुत्व^५ के आधार पर आपवादिक प्रतिसेवना का प्रयोग करे।

१. प्रस्तुत गाथा के पूर्वाद्ध में जिस प्रायश्चित्त का विधान है। उसके हेतु का स्पष्ट निर्देश नहीं है। अग्नि में तापते समय या प्रमादतः प्रदीपनक हो जाए तो प्रस्तुत प्रायश्चित्त का विधान है। प्रायश्चित्त योजना के लिए द्रष्टव्य है—निभा गा. १५२ का अनुवाद।
२. प्रमाद आदि से देवकुल आदि में आग लग गई और अपराधभय से साधु यदि अपने उपकरण लेकर चुपचाप चले जाएँ तो लोग निन्दा कर सकते हैं—जरूर इन्हीं ने आग लगाई है, तभी चुपचाप जा रहे हैं। वे उनसे रुष्ट होकर उन्हें या अन्य साधुओं को भक्तपान, उपाश्रय आदि देने से इन्कार कर सकते हैं।
३. भगवई ७/२२७, २२८।
४. चूर्णिकार ने इन छह द्वारों को एक पंक्ति में स्थापित कर उनके नीचे क्रमशः साग्निक आदि पूर्ववर्णित द्वारों की भेदोपभेद सहित स्थापना का निर्देश दिया है अर्थात् साग्निक आदि द्वारों के साथ संयोजना पूर्वक इन छह द्वारों से तेजस्काय की कल्पिका प्रतिसेवना का विवेचन किया गया है।
५. अल्पबहुत्व का अभिप्राय है—किस आपवादिक परिस्थिति में कौन-से विकल्प में कम दोष लगेगा और कौन-से विकल्प में अधिक, यह विचार करना।

२२१. अद्भाणनिग्गतादी, असतीए जोतिरहितवसधीए ।
दीवमसव्वे सव्वे, असव्वसव्वे य जोतिं मि^१ ॥२२१॥
२२२. कडगो य^२ चिलिमिली^३ वा, असती सभए बहिं य जं अंतं^४ ।
ठागासति सभयम्मि व^५, विज्झातऽगणिम्मि पेहेंति ॥ २२२ ॥
२२३. णिंता न पमज्जंती, मूगा वा संति^६ वंदणगहीणं ।
पोरिसि वा बाहि मणे, ण^७ सेहा य देंति अणुसट्ठिं ॥ २२३ ॥
२२४. आवासबाहि असती^८, ठित वंदण विगड जतण थुतिहीणं^९ ।
सुत्तथ बाहि अंतो, चिलिमिणि^{१०} कारुण व झरंति^{११} ॥ २२४ ॥
२२५. नाणुज्जोया^{१२} साधू, दव्वुज्जोतम्मि मा हु सज्जित्था^{१३} ।
जस्स व^{१४} न एति निद्दा, स पाउय निमिल्लिओ गिम्हे ॥ २२५ ॥
२२६. तुसिणी अतिंति णिंति व, उम्मुगमादी^{१५} कओइ^{१६} अछिवंता ।
सेहा य जं ति दूरे, जग्गंति य जा धरति जोतिं^{१७} ॥ २२६ ॥
२२७. अद्भाणादि^{१८} अतिनिद्दा, पेल्लितो गीतोसक्किउं^{१९} सुयति ।
सावगभय उस्सक्कण^{२०}, तेणभए होति भयणा तु ॥ २२७ ॥
२२८. अद्भाणविवित्ता^{२१} वा, परकड असती सयं तु जालेति ।
सूलादी व तवेउं^{२२}, कतकज्जे छारमक्कमणं^{२३} ॥ २२८ ॥

१. मि इत्ययं निपातः (चू) ।

२. व (भ) ।

३. °मिलिं (क) ।

४. अंतमिति जुण्णं, अचोरहरणीयमित्यर्थः (चू) ।

५. वि (दे) ।

६. संतु (भ, मु) ।

७. ण वा (मु) ।

८. मसती (दे) ।

९. हीणसद्धो पत्तेयं संबज्जति (चू) ।

१०. °मिलि (मु, भ) ।

११. सरंति (भ) ।

१२. °ज्जोवा (भ) ।

१३. °त्थ (दे) ।

१४. वि (भ, मु) ।

१५. °मातिं (दे), उम्मुगं अलायं आदिशब्दादग्निशकटिका
गृह्यते (चू) ।

१६. कओ वि (दे) ।

१७. जोती (भ) ।

१८. °णादी (मु) ।

१९. °क्कियं (भ, मु) ।

२०. उस्सि° (भ) ।

२१. विवित्त (भ) ।

२२. तावेउं (मु) ।

२३. छार अक्क° (दे) ।

२२१. अद्वाण—महान अटवी से निर्गत आदि^१ और विकाल वेला में ग्राम प्राप्त मुनियों को यदि ज्योति (अग्नि) रहित वसति का अभाव हो (उपलब्ध न हो) तो उस वसति में रहे, जहां सारी रात दीपक न जले। वैसी वसति न मिलने पर क्रमशः सार्वरात्रिक दीपयुक्त, असार्वरात्रिक ज्योतियुक्त तथा सार्वरात्रिक ज्योतियुक्त वसति में रहे।^२ (निक्षिप्त द्वार का अपवाद इसमें संभव नहीं, अतः उसका यहां निर्देश नहीं है।)

२२२. अद्वाण आदि अवस्थाओं में ज्योतियुक्त उपाश्रय में रहे तो बांस की कनात डाले। उसके अभाव में चिलिमिली बीच में स्थापित कर वस्त्रों का प्रतिलेखन करे। कटक-चिलिमिली न हो तो प्रतिलेखना वसति के बाहर करे। चोर आदि का भय हो, वहां अन्त्य (जीर्ण) वस्त्रों की प्रतिलेखना बाहर करे। बाहर स्थान न हो अथवा स्तेन आदि का भय हो तो अग्नि बुझने पर प्रतिलेखना करे।

२२३. वसति से निष्क्रमण और प्रवेश के समय भूमि का प्रमार्जन नहीं करे, आवश्यक मौन एवं वन्दनरहित करे। सूत्रपौरुषी और अर्थपौरुषी बाहर करे और बाहर स्थान न हो तो मन से उनकी अनुप्रेक्षा करे। ज्योतियुक्त उपाश्रय में राग करने वाले शैक्षों (अगीतार्थ) मुनियों को अनुशिष्टि (शिक्षा) दे।^३

२२४. यदि बाहर स्थान हो तो बाहर यथावत् (अन्यूनातिरिक्त) आवश्यक करे। बाहर स्थान न हो तो जो जहां है, वह वहीं प्रतिक्रमण करे, (द्वादशावर्त) वन्दन और स्तुति मंगल न करे (मन में करे), आलोचना भी वर्षाकल्प (पछेवड़ी) से प्रावृत हो निश्चेष्ट/वहीं बैठे-बैठे करे। सूत्र व अर्थ पौरुषी बाहर करे या चिलिमिली लगाकर करे, चिलिमिली न हो तो मन से अनुप्रेक्षा करे।

२२५. साधु स्वयं ज्ञानोद्योत (भाव-प्रकाश) से सम्पन्न होते हैं। अतः तुम्हें द्रव्य-प्रकाश में राग नहीं करना चाहिए। जिसको प्रकाश में नींद न आए (अतः द्वेष का प्रसंग हो) वह कल्प (पछेवड़ी) से प्रावृत होकर सोए, ग्रीष्मकाल हो तो आंखें बन्द कर ले (पर द्वेष न करे)।

२२६. निष्क्रमण और प्रवेश मौनपूर्वक करते हैं अर्थात् आवस्सही, निस्सही का उच्चारण नहीं करते। निर्गमन और प्रवेश में उल्मुक (अलात) आदि का स्पर्श नहीं करते, ताकि आपतन, पतन न हो। शैक्ष (अगीतार्थ) को ज्योति से दूर रखा जाए अथवा गीतार्थ और वृषभ तब तक जागृत रहें, जब तक ज्योति जले, ताकि शैक्ष तापन न कर सके।

२२७. मार्ग परिश्रान्ति (थकावट) अथवा अतिनिद्रा से ग्रस्त होने के कारण यदि गीतार्थ को सोना हो तो यतना पूर्वक^४ अलात को दूर कर सोए। श्वापद का भय हो, वहां उसका उत्सर्पण (निकट रख) कर सोए। स्तेन भय की अवस्था में अवसर्पण-उत्सर्पण की भजना है।^५

२२८. यदि अटवी में मार्ग भ्रष्ट—रास्ता भटक गए हों तो शीत आदि से बचने हेतु परकृत—गृहस्थ द्वारा जलाई हुई अग्नि का सेवन कर सकता है। परकृत अग्नि न मिले तो स्वयं ईंधन प्रक्षेप का प्रसंग आ सकता है। शूल आदि में तपाने के लिए स्वयं अग्नि जला सकता है। कार्य समाप्त होने पर उस पर राख डाल दे।

१. आदि शब्द से अध्याहृत दस अवस्थाओं का निर्देश देते हुए चूर्णिकार ने एक गाथा उद्धृत की है—

असिवे ओमोयरिए, रायभए खुहिय उत्तमट्टे य। फिडिय गिलाण तिसेसे, देवया चेव आयरिए ॥ चू. पृ. ८०

२. दीपक और ज्योति की चतुर्भंगी में पूर्व विकल्प के अभाव में ही उत्तर विकल्प ग्राह्य हैं।

३. गीतार्थ शैक्ष को क्या अनुशिष्टि दें, उसका निर्देश गा. २२५ के पूर्वार्द्ध में दिया गया है।

४. गीतार्थ अलात आदि का उत्सर्पण, अवसर्पण इस प्रकार करे कि शैक्ष उसे न जान पाए।

५. चोर दो प्रकार के होते हैं—१. आक्रान्तिक चोर अग्नि जलती देखकर आक्रमण करते हैं। २. अनाक्रान्तिक चोर प्रकाश होने पर ये जाग्रत हैं, ऐसा सोचकर नहीं आते। अतः अपेक्षा के अनुसार अवसर्पण या उत्सर्पण करे।

२२९. सावगभय आणेंति व, सोतुमणा वावि बाहि णीणेंति ।
बाहिं पलीवणभया, छारे तस्सऽसति निव्वावे ॥ २२९ ॥
२३०. दीहं छेदण डक्को, य^१ केण जग्ग किरियट्टया दीहे ।
आहार-तवणहेतुं, गिलाणकरणे इमा जतणा ॥ २३० ॥
२३१. खीरुण्होद विलेवी, उत्तरनिक्खत्त पत्थकरणं तु ।
कायव्वं गिलाणस्स^२, अकरण गुरुगा य आणादी ॥ २३१ ॥
२३२. गमणादि णंत मुम्मुर^३, इंगाले इंधणे य निव्वावे ।
आगाढ अंछणादी^४, जलणं करणं च संविगो ॥ २३२ ॥
२३३. ठागाऽसति^५ अचियत्ते, गुज्झंगाणं पयावणे चेव ।
आतपरस्सा दोसा, आणण निव्वावणे न तहिं ॥ २३३ ॥
२३४. अद्धानम्मि विवित्ता, सीतम्मि पलंबपागहेतुं वा ।
परकड असती य सयं, 'जालेंति व'^६ सावगभए वा ॥ २३४ ॥
२३५. निग्गच्छति वाहरती, छिड्डे पडिसेव करण फूमे^७ य ।
दारुग्घाडकवाडे^८, संधी^९ वत्थे य छीयादी^{१०} ॥ २३५ ॥ नि ४४ ॥
२३६. सुप्पे य तालियंटे^{११}, हत्थे मत्ते य चेलकण्णे य ।
'अच्छि फूमण पव्वाग'^{१२}, नालिया^{१३} चेव पत्ते य^{१४} ॥ २३६ ॥ नि ४५ ॥
२३७. संखे^{१५} सिंगे करतल, वत्थी दतिए अभिक्खपडिसेवी ।
पंचेव य छीतादी, लहुगो लहुगा य अट्टेव ॥ २३७ ॥

१. व (भ) ।

२. गिलाणट्टा (मु, भ), °स्सा (पा) ।

३. मुम्मुरो अगणिकणिया सहितो सोम्होच्छारो (चू) ।

४. अंछणं ति ओसक्कणं (चू) ।

५. °सग (दे) ।

६. जालंती (दे, पा) ।

७. फूमेति ति घम्मदितो अण्णतरमंगं फूमति, भत्तपाणमुण्हं वा (चू) ।

८. उग्घाडसद्धो उभयवाची दारे कवाडे य (चू) ।

९. संधी दोण्हं घराणं अंतरा छिंडी वा (चू) ।

१०. छेयादी (भ) ।

११. तालवटे (भ) ।

१२. अच्छिफुमे पव्वए (भ, मु), पव्वए ति वंसो भण्णति तस्स मज्झे पव्वं भवति (चू) ।

१३. णालिय ति अपव्वा भवति, सा पुण लोए 'मुरली' भण्णति (चू) ।

१४. गाथा के उत्तरार्ध में अनुष्टुप् छंद है ।

१५. संखो जलचरप्राणिविशेषः (चू) ।

२२९. श्वापद का भय हो, वहां अन्य स्थान से अग्नि लाते हैं, सोने के इच्छुक हों तो उस स्थान से उसे बाहर ले जाते हैं, बाहर प्रदीपनक (आग लगने) का भय हो तो वहीं पर क्षार से ढक देते हैं अथवा अन्य प्रकार से बुझा सकते हैं।

२३०. सर्प आदि से दष्ट स्थान पर दागने, उस स्थान का छेदन करने^१, किस प्राणी ने काटा है यह जानने, जहर ऊपर न चढ़ जाए अतः जगाए रखने के लिए तथा इसी प्रकार की अन्य चिकित्सा के लिए ज्योति अथवा प्रदीप को प्रज्वलित रखा जा सकता है। ग्लान का आहार गर्म करने हेतु यह यतना करणीय है।

२३१. ग्लान के लिए दूध गर्म करना हो, उष्णोदक या विलेपन द्रव्य तैयार करना हो तो उपचुल्ली (छोटे चुल्हे) पर रखकर किया जा सकता है।^१ पथ्य तैयार करने के लिए पूर्वकृत अग्नि न होने पर ईंधन प्रक्षेप भी करणीय है क्योंकि ग्लान का वैयावृत्य न करने से गुरुचौमासी प्रायश्चित्त तथा आज्ञाभंग आदि दोषों का प्रसंग आता है।^१

२३२. यदि शूल, विसूचिका आदि रोगों में शूल आदि को तपाना हो तो गमन आदि (कार्य) किए जा सकते हैं। यदि स्थानाभाव आदि^२ के कारण जाना शक्य न हो तो स्थविर आदि^३ णंतक—वस्त्र को गर्म कर ले आए। उससे कार्य न हो सके तो मुर्मुर्—अग्निकण युक्त सूक्ष्म छार, उसके अभाव में अंगारे ले आए।^१ अंगारे से प्रयोजन सिद्ध न हो, प्रचुर अग्नि अपेक्षित हो तो कारण में ईंधन प्रक्षेप भी किया जा सकता है। कार्य-सम्पन्नता पर उसे बुझा दिया जाए। आगाढ़ कारण में अवषष्कन आदि^४ तथा प्रत्यनीक के अभिचार (उच्चाटन आदि) हेतु 'करण' आदि संविग्न के लिए अपवाद है।

२३३. गृहस्थ के घर साधु बैठकर तपा सके—ऐसा स्थान न हो अथवा वहां बैठकर तपाने से गृहस्थ को अप्रीतिकर लगे अथवा गुह्य अंगों (जिनको गृहस्थ के सामने न तपाया जा सके) को तपाना हो अथवा वहां आत्मसमुत्थ या परसमुत्थ दोषों^५ की संभावना हो तो अग्नि का आनयन करे, प्रयोजन पूरा होने पर बुझा दे, पर वहां न जाए।

२३४. अटवी में भटक गए हों, शीत से बचने हेतु^६, प्रलंब को पकाने हेतु^७ और श्वापद भय की स्थिति में परकृत अग्नि न हो, उस स्थिति में स्वयं भी अग्नि जला सकते हैं।^१

२३५-२३७. वायुकाय की दर्पिका प्रतिसेवना के अनेक प्रकार हैं—गर्मी से अभिभूत होकर घर से बाहर निकलना, दूसरे को बुलाना (आओ-आओ यहां ठंडी हवा है), खिड़की या बरामदे में खड़े होकर वायु का प्रतिसेवन, अपूर्व (नई) खिड़की आदि का निर्माण, फूंक लगाना, स्थगित या अपूर्व द्वार का उद्घाटन, पूर्वकृत द्वार को खोलना, किवाड़ खोलना, संधि (दो घरों के बीच का स्थान) में वायुसेवन करना, वस्त्र से हवा करना, अविधि से छींक आदि लेना, सूर्प (छाज) से हवा करना, तालवृत्त (ताड़पत्र का पंखा), हाथ, पात्र और वस्त्र के कोने से हवा करना, आंख को फूंक मारना, पर्वमय बांस बजाना, मुरली बजाना, पत्र (पद्मिनीपत्र आदि) से हवा करना, शंख और सींग बजाना, करतल शब्द करना या हाथ से शंख बजाना, वस्ती (वैद्यशाला में मिलने वाली चर्ममय नलिका) में हवा भरना, मशक में हवा भरना। छींक आदि में पनक एवं शेष में लघुमास और चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। अभीक्ष्ण प्रतिसेवन से चतुर्लघु प्रायश्चित्त वाले स्थानों में आठवीं बार में सपद-पाराञ्चित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१. छेदन तथा साध्य, असाध्य रोग की पहचान अंधकार में संभव नहीं, अतः प्रकाश के लिए ज्योति आदि का अपवाद है।
२. चुल्हे में ईंधन डालने पर उसकी ज्वाला सहज रूप से छोटे चुल्हे पर रखी वस्तु को गर्म कर देती है।
३. छोटे चुल्हे और सहज प्रज्वलित अग्नि न मिलने पर आगाढ़ कारण में स्वयं अग्नि आनयन एवं ईंधन प्रक्षेप करके भी औषध-निर्माण कर सकता है।
४. स्थानाभाव आदि कारणों के लिए द्रष्टव्य गा. २३३।
५. स्त्री-उपसर्ग की संभावना न हो सके, अतः इन्द्रियनिग्रह में निःशंक छोटे साधु अथवा स्थविर ही गृहस्थ के घर जाएं।
६. प्रातिहारिक अंगारे प्रयोजनपूर्ण होने पर पुनः वहीं रख आए।
७. मुर्मुर्, अंगारे आदि न हों अथवा अत्यल्प हों और आगाढ़ कारण हो, तभी अग्नि को अवषष्कन स्थानान्तरण, अग्नि जलाना आदि कार्य विहित हैं।
८. गृहस्थ के घर में युवतियां होती हैं, अतः इन्द्रियनिग्रह में असमर्थ साधु के आत्मसमुत्थ दोष आदि का प्रसंग हो सकता है। गृहस्थ-युवतियां साधु के उपसर्ग निमित्तों को पैदा करे अथवा गृहस्थ ईर्ष्यावश उनके आगमन आदि को सहन न कर सके तो परसमुत्थ दोषों—उड्डुह आदि का प्रसंग आता है।
९. अटवी आदि में अत्यधिक शीत के समय कपड़े पूरे न हों तो परकृत अग्नि में तापन, आनयन आदि का अपवाद निर्दिष्ट है।
१०. अटवी या अवम की आगाढ़ परिस्थिति में फल-पाचन का विकल्प ज्ञातव्य है।
११. सिंह आदि श्वापदों का भय हो, वहां भी अग्नि प्रतिसेवना का प्रसंग आ सकता है।

२३८. निग्गच्छ फूम^१ हत्थे, मत्ते पत्ते य चेलकण्णे य ।
करतल -साहा^२ य लहू, सेसेसु य होंति चतुलहुगा ॥२३८ ॥
२३९. जति छिड्डा तति मासा, जा तिण्णी चउलहू तु तेण परं ।
एवं ता करणम्मी^३, पुव्वकता सेवणे चेव ॥२३९ ॥
२४०. कमढगमादी^४ लहुगो, कासे य^५ वियंभिण्ण पणगं तु ।
एक्केक्कपदातो पुण, पसज्जणा^६ 'होतऽभिक्खणतो'^७ ॥२४० ॥
२४१. वास-सिसिरेसु वातो, बहिया सीतो गिहेसु य^८ स उम्हो ।
विवरीतो पुण गिम्हे, दिय-राती^९ सत्थमण्णोण्णं ॥२४१ ॥
२४२. एमेव देहवातो^{१०}, बाहिरवातस्स होति सत्थं तु ।
वियणादि समुत्थो वि य, सउप्पत्ति^{११} सत्थमण्णस्स ॥२४२ ॥
२४३. संपातिमादिघातो, आउवघातो य फूम वीयंते ।
दंडिगमादी गहणं, खित्तादी बहिरकरणं व^{१२} ॥२४३ ॥
२४४. बितियपदे सेहादी, अद्धाण-गिलाणऽतिक्कमे ओमे ।
सण्णा य उत्तिमट्ठे, अणधीयासे^{१३} य देसे य ॥२४४ ॥ नि ४६ ॥
२४५. सव्वे वि पदे सेहो, करेज्ज 'ऽणाभोगतो असेहो वि'^{१४} ।
'सत्थो वच्चति तुरियं'^{१५}, अत्थं व उवेति आदिच्चो ॥२४५ ॥
२४६. पढमालिकरण^{१६} वेला, फिट्ठति^{१७} सूरत्थमेति वा ओमे ।
विधुणाति फूमणेण व^{१८}, सीयावण होति उभए वी^{१९} ॥२४६ ॥

१. फूमे (भ, मु) ।

२. साहा साहुली वृक्षसालेत्यर्थः (चू) ।

३. 'मिं (क, दे) ।

४. कमढं साहुजणपसिद्धं आदिशब्दातो कंसभायणादी (चू) ।

५. च सद्दाओ छित्त-ऊससिय-नीससिएसु अविहीए पणगं (चू) ।

६. × (क) ।

७. स होज्ज अभि° (क), होति भि° (भ) ।

८. तु (दे) ।

९. रादी (क, दे) ।

१०. देहवाओ त्ति सरीरवातः, सो य च्छीयादिसु संखसिगपूरणे

वा दितियादीपूरणे वा भवति (चू) ।

११. °प्पत्ती (दे) ।

१२. वा (मु), य (क) ।

१३. अणधीयासे (मु), अणहि° (दे), अणाहि° (पा) ।

१४. × (दे), अणा° (भ) ।

१५. अद्धाणे चलति सेहो (पा) ।

१६. °मालिकरणे (मु) ।

१७. × (भ) ।

१८. वा (मु) ।

१९. वि (मु) ।

२३८. घर से निकलने, फूंक देने, हाथ, पात्र, पत्र व वस्त्र के एक देश (कोने) से हवा करने, हाथ से शंख बजाने और वृक्ष की शाखा आदि^१ से हवा करने में मासलघु और शेष में चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२३९. तीन बार तक खिड़की, बरामदा आदि करे तो प्रत्येक बार जितनी खिड़की आदि करे, उतने मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होते हैं, उसके पश्चात् चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। पूर्वकृत खिड़की आदि में वायु की प्रतिसेवना करने का प्रायश्चित्त भी इसी के समान है।

२४०. कमढक (तुम्बे जैसा पात्र) आदि से हवा करने से लघुमास और खांसी, जम्हाई आदि अविधि से करने पर पनक प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। प्रत्येक पद में बार-बार आसेवन करने पर अपने-अपने पद से आगे का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२४१. वर्षा और शिशिर ऋतु में घर के बाहर की वायु शीतल और अन्दर की वायु सोष्म—गर्म होती है। ग्रीष्म काल में इससे विपरीत अर्थात् बाहर की गर्म और अन्दर की वायु शीतल होती है। दिन में वायु उष्ण और रात्रि में शीतल होती है। अतः ये परस्पर शस्त्र होती हैं अर्थात् बाहर और अन्दर की वायु तथा रात और दिन की वायु एक-दूसरे के लिए अर्थात् परस्पर वायुकायिक जीवों के लिए शस्त्र होती हैं।

२४२. इसी प्रकार शारीरिक वायु अर्थात् शरीर के अन्दर की वायु (छींक, जम्हाई आदि से उठने वाली तथा शंख, श्रृंग, मशक आदि में भरने वाली वायु) बाह्य हवा का शस्त्र है। व्यजन (तालवृन्त आदि विभिन्न पंखे) आदि से उठने वाली हवा भी अपनी-अपनी विधि से उत्पन्न होती हुई अन्य वायु के विनाश का कारण है, शस्त्र है।

२४३. पंखे आदि से हवा करने पर संपातिम प्राणियों (मक्खी आदि) का घात होता है—संयम विराधना होती है। फूंक लगाने से और पंखा झलने से आत्मोपघात—शरीर विराधना होती है।^२ दंडिक पुरुष (पुलिस आदि) अच्छे शंख बजाने वाले को पकड़ लेते हैं।^३ क्षिप्तचित्तता आदि हो सकती है, बधिरता का निमित्त बन सकता है।^४

२४४. वायुकाय की कल्पिका प्रतिसेवना (अपवाद पद) आठ द्वारों से ज्ञातव्य है—१. शैक्ष आदि, २. महान् अटवी, ३. ग्लानातिक्रमण, ४. अवम, ५. संज्ञा (संकेत), ६. उत्तमार्थ (अनशन), ७. असहिष्णुता, ८. देश।

२४५. अज्ञान के कारण शैक्ष और अनाभोग के कारण अन्य साधु निर्गमन आदि उपर्युक्त (गा. २३५-२३७ में वर्णित) द्वारों का सेवन कर लेता है। सार्थ शीघ्र जा रहा हो अथवा सूर्य अस्त हो रहा हो तो अद्धान-प्रतिपन्न (अटवी में विहरमाण) अवस्था में गर्म आहार आदि को पंखे आदि से हवा करके ठंडा कर लेता है ताकि शीघ्र खाया जा सके।

२४६. ग्लान की वैयावृत्य करने वाला प्रथमालिका—नाश्ता करता है। उस समय भक्तपान गर्म होता है, वह स्वयं शीतल हो, तब तक वैयावृत्य का काल अतिक्रान्त हो जाता है अतः पंखे आदि से शीघ्र ठंडा करके खा लेता है। अवम (दुर्भिक्ष) काल में सूर्यास्त के समय उष्ण आहार मिले, स्वयं ठंडा हो, उतना समय न हो—ऐसी अवस्था में पंखे से हवा करके अथवा फूंक देकर भक्तपान को ठंडा कर लेता है।

१. शाखा के पश्चाद् च शब्द से शाखाभंग—डाल के टुकड़े, मोरपंख और मोरपिच्छी का ग्रहण किया गया है।

२. फूंक लगाने से मुंह सूख जाता है, पंखा झलने से हाथ दुखने लगता है—यह आत्मविराधना है।

३. किसी राजा आदि को शंखवादक की अपेक्षा है, वह अच्छे शंखवादक साधु को पकड़वा लेता है, उत्पन्नजित कर देता है।

४. अत्यधिक हर्ष, गर्व आदि के कारण क्षिप्त, दूष अथवा उन्मत्त हो सकता है, यक्षावेश हो सकता है। अत्यधिक शंख आदि बजाने से कान का पर्दा फट सकता है आदि।

२४७. सण्णा सिंगगमादी, मिलणट्ट विहे^१ महल्लसत्थे वा ।
सेसेसु वि^२ अभिधारण, कवाडमादीणि वुग्घाडे ॥ २४७ ॥
२४८. बीयादि^३ सुहुम^४ घट्टण^५, निक्खित्त परित्तऽणंतकाए य ।
गमणादिकरण छेदण, दुरूहण पमाण गहणे य^६ ॥ २४८ ॥ नि ४७ ॥
२४९. पंचादी लहुगुरुगा, लहुगा गुरुगा परित्तऽणंताणं ।
गाउय जा बत्तीसा^७, चतुलहुगादी य चरमपदं^८ ॥ २४९ ॥ नि ४८ ॥
२५०. पणगं तु बीय घट्टे, उक्कुट्टे^९ सुहुमघट्टणे मासो ।
सेसेसु पुढविसरिसं, मोत्तूणं छेदणदुरूहे ॥ २५० ॥
२५१. छेदण पत्तच्छेज्जं^{१०}, दुरूहण खेवादि^{११} जत्तिया कुणति ।
पच्छित्ता तु अणंते, गुरुगा लहुगा परित्तेसु ॥ २५१ ॥
२५२. अट्टग सत्तग दस णव, वीसा तह अउणवीस जा सपदं ।
सच्चित्त मीस हरिते, परित्तऽणंते य बीयादी^{१२} ॥ २५२ ॥
२५३. अद्धाण-कज्ज-संभम, सागारिय पडिपहे य फिडिते य ।
दीहादी य गिलाणे, ओमे जतणा य जा जत्थ^{१३} ॥ २५३ ॥ नि ४९ ॥

१. विहमद्धाणं (चू) ।

२. तु (भ, मु) ।

३. धुतादि (दे), बित्तितादि (पा), आदिसद्दा दसविहो वणस्सती (चू) ।

४. सुहुमं ति पुप्फा (चू) ।

५. घट्टणसद्दो सव्वेसु पत्तेयं (चू) ।

६. चसद्दा पक्खेवो य (चू) ।

७. बत्तीसं (क) ।

८. चरिमं (भ, मु), इस गाथा के लिए चूर्णिकार ने 'चिरंतन-गाथा' का संकेत किया है । इसका प्रमाण है कि गा. २५० की व्याख्या में चूर्णिकार ने 'एतस्स चिरंतनगाहापायस्स

सिद्धसेनाचार्यः स्पष्टेनाभिधानेनार्थमभिधत्ते' (चू) इस उल्लेख से स्पष्ट है कि गा. २४९ निर्युक्ति की गाथा है और गाथा २५० सिद्धसेनाचार्य की व्याख्यापरक गाथा है ।

९. उक्कुट्ट (दे), सचेयणवणस्सती उदूहले छुण्णो पीसणीए वा पिट्ठो स रसो उक्कुट्ठो भण्णइ (चू) ।

१०. °छेज्जे (मु) ।

११. खेवा तु (मु) ।

१२. आदिसद्दाओ जत्थ-जत्थ वि पणगं तत्थ-तत्थ वि एयं चेव (चू) ।

१३ तत्थ (मु) ।

२४७. विह अर्थात् अटवी में एक-दूसरे से बिछुड़ गए हों, वहां मिलने के लिए अथवा बड़े सार्थ में संकेत के लिए सींग आदि बजाया जा सकता है।^१ अनशन स्थित व्यक्ति के गर्मी या परिदाह (जलन) के कारण द्वार-उद्घाटन आदि के द्वारा वायु प्रतिसेवना हो सकती है। कोई साधु असहिष्णु हो—गर्मी सहन न कर सके अथवा उत्तरापथ जैसे अत्युष्ण प्रदेश में भी द्वार, कपाट आदि खोलने का कार्य किया जा सकता है।

२४८. वनस्पतिकाय की दर्पिका प्रतिसेवना नौ द्वारों से ज्ञातव्य है—१. बीज आदि का^२ स्पर्श या घर्षण, २. सुहुम (पुष्प) का स्पर्श या घर्षण, ३. निक्षिप्त—परित्त और अनन्त वनस्पति पर, ४. गमन आदि, ५. करण, ६. छेदन, ७. आरोहण, ८. प्रमाण और ९. ग्रहण।

२४९. बीज का स्पर्श या घर्षण कर आहार ग्रहण करने पर लघुगुरु पनक (पांच रात्रि दिन) का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।^३ परित्तकायिक और अनन्तकायिक पुष्प का स्पर्श या घर्षण करने से क्रमशः लघुपनक एवं गुरुपनक प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। अथवा इसका सम्बन्ध निक्षिप्त द्वार से जोड़ा जाए तो क्रमशः परित्त वनस्पति और अनन्त वनस्पति पर निक्षिप्त आहार ग्रहण करने पर चतुर्लघु और चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।^४ एक गव्युत तक वनस्पति पर गमन करने पर चतुर्लघु यावत् बत्तीस योजन तक वनस्पति पर गमन करने पर पाराञ्चित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।^५

२५०. बीज का स्पर्श या घर्षण करने पर लघुगुरु पनक प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। उक्कुट्ट (उदूखल आदि में कूटे या पीसे हुए फलों के टुकड़े) से संसृष्ट भिक्षा और पुष्पों के स्पर्श से मासिक प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।^६ छेदन और आरोहण इन दो द्वारों को छोड़कर शेष द्वारों में^७ पृथ्वीकाय की प्रतिसेवना के समान^८ प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२५१. छेदन द्वार में जितने पत्रों का छेदन करता है तथा आरोहण करते समय हाथ-पैर के जितने प्रक्षेप करता है (जितनी बार हाथ-पैर रखता है) उतने ही चौमासी प्रायश्चित्त प्राप्त होते हैं—अनन्त वनस्पति के विषय में गुरु और परित्त वनस्पति के विषय में लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२५२. सचित्त वनस्पतिकाय हरित आदि यदि परित्त वनस्पति हो तो आठवीं बार में और अनन्त वनस्पति हो तो सातवीं बार में सपद (पाराञ्चित) प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। मिश्र वनस्पतिकाय हरित आदि यदि परित्तकायिक हों तो दसवीं बार में और वही अनन्तकायिक हो तो नवीं बार में सपद प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। परित्त वनस्पतिकायिक बीजों के अभीक्षण आसेवन में बीसवीं बार में और अनन्त वनस्पतिकायिक बीजों के अभीक्षण आसेवन में उन्नीसवीं बार में सपद (पाराञ्चित) प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।^९

२५३. वनस्पतिकाय की कल्पिका प्रतिसेवना नौ द्वारों से ज्ञातव्य है—१. महान् अटवी, २. कार्य, ३. संभ्रम, ४. सागारिक, ५. प्रतिपथ, ६. फिडित (मार्गच्युत), ७. दीर्घा (सर्प) आदि, ८. ग्लान और ९. अवम। इन नौ द्वारों में जहां-जहां, जो-जो यतना घटित हो, वह वहां करणीय है।^{१०}

१. अटवी में बड़े सार्थ के साथ गमन करते समय एक-दूसरे से बिछुड़ जाते हैं। अतः संकेत के लिए शृंग आदि बजाना पड़ता है।
२. आदि पद से वनस्पति की दसों अवस्थाएं ग्राह्य हैं—मूल, कन्द, स्कन्ध, त्वचा, शाखा, प्रवाल, पत्र, पुष्प, फल और बीज।
३. अनन्तकायिक बीज का स्पर्श होने से गुरु पनक और परित्तकायिक बीज का स्पर्श होने से लघु पनक प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।
४. उपर्युक्त प्रायश्चित्त अनन्तर निक्षिप्त का ग्रहण करने पर निर्दिष्ट है। परम्पर निक्षिप्त का प्रायश्चित्त बीज के स्पर्श के समान है।
५. उपर्युक्त प्रायश्चित्त परित्त वनस्पति विषयक हैं। अनन्त वनस्पति पर एक गव्युत चलने पर चतुर्गुरु यावत् सोलह योजन तक चलने पर पाराञ्चित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।
६. अनन्तकायिक वनस्पति के उक्कुट्ट से संसृष्ट हाथ अथवा पात्र से भिक्षा लेने पर गुरुमास तथा परित्त वनस्पति के उक्कुट्ट से संसृष्ट हाथ और पात्र से भिक्षा लेने पर लघुमास प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। पुष्प सूंघने के विषय में भी स्पर्श का प्रायश्चित्त उक्कुट्ट के समान ज्ञातव्य है।
७. शेष में करण, छेदन, आरोहण, प्रमाण और ग्रहण—इन पांच द्वारों का ग्रहण हुआ है।
८. करण आदि द्वारों के प्रायश्चित्त के लिए द्रष्टव्य गा. १५८-१६१।
९. उपर्युक्त हरित परित्त वनस्पति आदि में प्रायश्चित्त का प्रारम्भ क्रमशः चतुर्लघु, चतुर्गुरु, मासलघु, मासगुरु, लघुपनक और गुरुपनक से होता है।
१०. वनस्पतिकाय की कल्पिका प्रतिसेवना विषयक विभिन्न द्वारों के लिए द्रष्टव्य गाथा १६२ के पादटिप्पण।

२५४. पत्तेगे साधारण, थिराऽथिरऽवकंत^१ तह अणवकंते।
तलिगा-विभास कती, मगगतों, खुण्णे य ठाणादी ॥ २५४ ॥
२५५. सावग तेणभए^२ वा, 'पंथे फिडिता'^३ पलंबकज्जे वा।
दुरुहेज्ज छेदकरणं, 'पडिणीयाऽऽउंट'^४ ऽगीतेसु ॥ २५५ ॥
२५६. फासुगजोणिपरित्ते^५, एगट्टिगऽबद्ध^६ भिण्णऽभिण्णे य।
बद्धट्टिगे वि एवं, एमेव य होति बहुबीए ॥ २५६ ॥
२५७. एमेव होति उवरिं, एगट्टिग तह य होति^७ बहुबीए।
साधारणस्सऽभावा, आदीए बहुगुणं जं च ॥ २५७ ॥
२५८. संसत्तपंथ-भत्ते, सेज्जा-उवधी य फलग-संथारे।
संघट्टण-परितावण, लहु-गुरु अतिवायणे मूलं ॥ २५८ ॥ नि ५० ॥
२५९. संकप्पे पदभिंदण^८, पंथे पत्ते तहेव^९ आवण्णे।
चत्तारि छच्च लहुगुरु, सट्टाणं चेव^{१०} आवण्णे ॥ २५९ ॥
२६०. बिय तिय चउरो पंचिंदिएहि घट्ट-परिताव-उद्ववणे।
चतुलहुगादी मूलं, एगदुगे तीसु चरिमं तु^{११} ॥ २६० ॥

१. थिरो णाम दढसंघयणो, अथिरो अदढसंघयणो। अवकंतो
णाम जनेनागच्छगच्छमाणेन मलितेत्यर्थः (चू)।

२. °भया (भ, मु)।

३. पंथं किडिता (दे)।

४. परिणी° (दे), °याउट्ट (मु), °याअट्ट (भ)।

५. °जोणिय° (दे), जीवउप्पत्तिट्टाणं जोणी भवति (चू)।

६. एगट्टि त्ति एगबीयं जहा अंबगो अबद्धो अट्टिल्लगो जस्स तं

अबद्धट्टियं अनिष्पन्नमित्यर्थः (चू)।

७. होंति (दे)।

८. पदभिंदणमिति गृहीतोपकरणो प्रयातः (चू)।

९. तह शब्दो पादपूरणे, एव शब्दो प्रायश्चित्तावधारणे (चू)।

१०. च पूरणे एवमवधारणे (चू)।

११. तु शब्दो अभिक्खासेवनप्रदर्शनार्थः (चू)।

२५४. वनस्पति दो प्रकार की होती है—प्रत्येक और साधारण। इनके पुनः सचित और मिश्र की अपेक्षा से दो-दो भेद हो जाते हैं। मार्ग में स्थित वनस्पति के संहनन की अपेक्षा पुनः दो प्रकार होते हैं—स्थिर (दृढसंहनन वाली) और अस्थिर (अदृढ—कमजोर संहनन वाली)। पुनः उनके दो-दो प्रकार हैं—लोगों के गमनागमन से आक्रान्त तथा अनाक्रान्त, मार्गागमन सप्रत्यपाय (बाधायुक्त) और निष्प्रत्यपाय (निर्बाध) के भेद से पुनः दो प्रकार का होता है। विकल्प योजना से इनके बत्तीस भंग बनते हैं^१ जिनमें सप्रत्यपाय सोलह भंग वर्जनीय हैं। निष्प्रत्यपाय गमन करना हो तो कांटे आदि से आत्मोपघात हो, वहां तलिका (पदत्राण) के विकल्प से लोगों के पीछे-पीछे गमन करे। स्थान (खड़ा होना, बैठना) आदि क्षुण्ण स्थंडिल में^२ करे। स्थंडिल न हो तो चटाई आदि बिछाकर बैठे या सोए।

२५५. महान अटवी आदि में जहां श्वापद या स्तेन भय हो, रास्ता भटक जाने पर आगामी गांव आदि को देखने के लिए तथा फल ग्रहण करने हेतु वृक्षारोहण का अपवाद संभव है। प्रत्यनीक का अभिभव करने के लिए कदली स्तम्भ के छेदन^३ का प्रसंग उपस्थित हो सकता है। गच्छ अगीतार्थमिश्र^४ हो, वहां फल आदि को विकरण करके लाया जाए।

२५६. वृक्ष से नीचे गिरे हुए फलों को ग्रहण करते समय यह यतना ज्ञातव्य है—वे फल, जिनकी योनि नष्ट हो चुकी हो, जो प्रत्येक वनस्पतिकायिक एवं एकास्थिक (एक गुटली वाले) हो, अनिष्पन्न (गुट्टी रहित) हो और भिन्न हो, (अखण्ड न हो) सर्वप्रथम उसे ग्रहण करें। ऐसा फल न मिलने पर क्रमशः द्वितीय विकल्प में अभिन्न, तीसरे और चौथे विकल्प में बद्धास्थिक (गुट्टी युक्त) भिन्न और अभिन्न का ग्रहण करे। इसी प्रकार बहुबीज फल के विषय में भी यही चतुर्भंगी ज्ञातव्य है।^५

२५७. नीचे गिरे हुए फलों के समान वृक्ष के ऊपर स्थित फलों के भी एकास्थिक, बह्वस्थिक आदि की अपेक्षा बत्तीस भंग हो जाते हैं। इन बत्तीस भंगों से भी यदि प्रासुकयोनिक साधारण वनस्पतिकायिक फल न मिले और सचित फल लेना पड़े तो जो बहुगुण—अधिक लाभप्रद^६ हो, उसे ग्रहण करे।

२५८. त्रसकायः दर्पिका प्रतिसेवना—जिस देश (क्षेत्र) में मार्ग, भक्त (आहार), शय्या, उपधि, फलक और संस्तारक द्वीन्द्रिय आदि जीवों से संसक्त हो जाते हैं, दर्प से वहां गमन करे तो क्रमशः द्वीन्द्रिय आदि जीवों के संघट्टन (हिलाना-डुलाना), परितापन और अतिपात (वध) में लघु, गुरु और मूल प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।^७

२५९. संसक्त विषय (क्षेत्र) में जाने का संकल्प करता है, उपकरण लेकर जाने के लिए तैयार हो जाता है,^८ उस मार्ग पर बढ़ जाता है, उस क्षेत्र में पहुंच जाता है। इन चार पदों का क्रमशः चतुर्लघु, चतुर्गुरु, षड्लघु और षड्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। द्वीन्द्रिय आदि जीवों के संघट्टन आदि से प्राप्त होने वाला स्वस्थान प्रायश्चित्त भी प्राप्त होता है।

२६०. द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय के संघट्टन, परितापन और अपद्रावण (अतिपात) में क्रमशः चतुर्लघु से प्रारम्भ कर मूल प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। एक पञ्चेन्द्रिय के वध से मूल, दो के वध से अनवस्थाप्य और तीन के वध से पाराञ्चित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। अभीक्षण आसेवन में भी यही विधि ज्ञातव्य है।

१. बत्तीस भंगों में सर्वप्रथम मिश्र प्रत्येकजीवी एवं स्थिर संहनन वाली वनस्पति पर आक्रान्त मार्ग से और उसके अभाव में अस्थिर संहनन वाली वनस्पति पर गमन अनुज्ञात है। मिश्र प्रत्येक वनस्पति वाली चतुर्भंगी के अभाव में मिश्र अनन्तकायिक वनस्पति और सचित प्रत्येक एवं सचित अनन्तकायिक वनस्पति वाले विकल्प क्रमशः प्रयोक्तव्य है। भंग रचना हेतु द्रष्टव्य—नि. भा. चू., पृ. ८९।

२. अटवी में जहां अचित् स्थंडिल न मिले और सार्थ पड़ाव डाल दे, वहां निर्ग्रन्थ गवय आदि के क्षुण्ण मार्ग का उपयोग कर सकता है।

३. जो साधु या संघ का दुष्ट प्रत्यनीक है, उसके समक्ष कृतकरण (दक्ष) निर्ग्रन्थ भृकुटि चढ़ाकर कदली स्तम्भ का छेदन करता है और कहता है—यदि प्रत्यनीकता से बाज नहीं आया तो इसी प्रकार सिर काट दूंगा।

४. जहां अधिकांश साधु अगीतार्थ हो, वहां उनके प्रत्यय के लिए फल आदि को कटवाकर के ही उनके समक्ष लाएं, अखण्ड न लाएं।

५. प्रत्येक वनस्पति के समान साधारण में भी इसी प्रकार अष्टभंगी करणीय है। पुनः ये ही सोलह भंग अप्रासुक फलों के विषय में ज्ञातव्य हैं।

६. पूर्वोक्त ६४ विकल्पों का अतिक्रमण कर फल ग्रहण करने जितना आगाढ़ कारण हो तो सचित के विषय में इन विकल्पों का क्रम देखने की अपेक्षा नहीं, परित्त या अनन्त, एकास्थिक या बहुबीजक, जो उस परिस्थिति में अधिक औचित्यपूर्ण या गुणकारक हो, उसे ग्रहण किया जा सकता है।

७. द्वीन्द्रिय आदि के संघट्टन आदि का प्रायश्चित्त इस तालिका से ज्ञातव्य है—

प्राणी	संघट्टन	परितापन	अतिपात
द्वीन्द्रिय	चतुर्लघु	चतुर्गुरु	षड्लघु
त्रीन्द्रिय	चतुर्गुरु	षड्लघु	षड्गुरु
चतुरिन्द्रिय	षड्लघु	षड्गुरु	छेद
पञ्चेन्द्रिय	षड्गुरु	छेद	मूल

८. जाने की इच्छा करना संकल्प तथा जाने के लिए तैयार हो जाना पदभेद है।

२६१. मुङ्ग^१ उवङ्ग^२ मक्कोडगा य संबुक्क^३ जलुगसंखणगा^४ ।
एते उ उभयकालं, वासासण्णे य^५ णेगविधा ॥ २६१ ॥
२६२. दधितक्कंबिलमादी, संसत्ता सत्तुगा तु^६ जहियं तु ।
मूङ्गमच्छियासु य, अमेह उड्ढादि संसत्ते^७ ॥ २६२ ॥
२६३. ठाण-निसीय^८-तुयट्टण, निक्खमण^९ पवेस हत्थ^{१०} निक्खेवो ।
'उच्चत्तणमुल्लंघादिकासु चेद्वासु उ वर्धन्ति'^{११} ॥ २६३ ॥
२६४. जा^{१२} चेद्वा सा सव्वा, संजमहेतुं तु^{१३} होति समणाणं ।
संसत्तुवस्सए पुण, पच्चक्खमसंजमकरी तु ॥ २६४ ॥
२६५. छप्पइ^{१४} दोसा जग्गण, अजीर-गेलण्ण तासि परितावे ।
ओदणपडिते भुत्ते^{१५}, उड्ढं डउरादिया^{१६} दोसा ॥ २६५ ॥
२६६. संसत्तेऽपरिभोगो^{१७}, परिभोगामंतरेण अधिकरणं ।
भत्तोवधि-संथारे, पीढगमादीसु^{१८} दोसा उ ॥ २६६ ॥
२६७. संसत्तेसु तु भत्तादिगेषु सव्वेसिमे भवे दोसा ।
संघट्टादि^{१९} पमज्जण, अपमज्जण सज्जघातो य ॥ २६७ ॥
२६८. वेंटियगहनिक्खेवे^{२०}, निच्छुभणे आयवात^{२१} छायं तो^{२२} ।
संथारए निसेज्जा^{२३}, ठाणे य णिसीयण-तुयट्टे^{२४} ॥ २६८ ॥ नि ५१ ॥

- | | |
|---|---|
| १. मुयंग (दे) । | १४. छप्पति त्ति जूआ भण्णति (चू) । |
| २. उवइति (दे), उवयी (भ, मु) । | १५. भत्तो (दे) । |
| ३. संबुक्का अणट्टिया मंसपेसी दीर्घा पृष्टिप्रदेशे आवर्तक-
डाहं भवति (चू) । | १६. दउरा (दे), डउयरं जलोयरं भण्णति (चू) । |
| ४. संखणगा श्लक्षणा संखागारा भवति (चू) । | १७. °उ परि (भ) । |
| ५. च पूरणे अकालवर्ष बहुप्राणिसंमूर्च्छने वा (चू) । | १८. °माईसु (दे) । |
| ६. य (दे), तु शब्दो आगंतुकतदुत्थप्राणिभेदप्रदर्शने (चू) । | १९. संघट्टादि त्ति संघट्टणं फरिसणं, आदिसद्दातो परितावणोद्दवणं
एते (चू) । |
| ७. संसत्तं (दे) । | २०. वेंटिय त्ति उवकरणलोली भण्णइ (चू) । |
| ८. णिसीयण (मु) । | २१. आतवातो (मु) । |
| ९. निक्खेवे (दे) । | २२. ते (क, पा) । |
| १०. अहवा हत्थगो रयहरणं भण्णति (चू) । | २३. °ज्जाए (मु) । |
| ११. °त्तणमुल्लंघण, चिद्वा सेज्जादि-सूववेति (भ, मु) । | २४. तुवट्टे (दे), णिसीयणं उवविसणट्टाणं, तुयट्टणं सुवणट्टाणं
(चू) । |
| १२. जा इति कारणिककायक्रियाप्रदर्शनेत्यर्थः (चू) । | |
| १३. ति (भ, मु) । | |

२६१. कुछ क्षेत्रों में उभयकाल (वर्षाकाल एवं वर्षातिरिक्त काल) में, कुछ क्षेत्रों में वर्षा के आसन्नकाल (प्रावृट्) में भूमि पर जल गिरते ही मार्ग चींटियों, उद्देहिका, मकोड़े, शम्बूक (घोंघा), जौक और छोटे शंखों से भर जाता है—संसक्त हो जाता है—ऐसे मार्ग पर निष्कारण गमन मार्ग विषयक दर्प-प्रतिसेवना है।

२६२. जिस क्षेत्र में दही, छाछ, खट्टी राब, चावल, सत्तू आदि (भोज्य पदार्थ) चींटियों और मक्खियों से संसक्त होते रहते हैं तथा तदुत्थ रसज प्राणियों से संसक्त होते हैं, वहां संयमविराधना होती है। चींटियों से संसक्त आहार करने से मेधा का उपघात और मक्खियों से संसक्त आहार करने से वमन होता है—यह संसक्त भोजन से होने वाली आत्मविराधना है।

२६३. प्राणियों से संसक्त उपाश्रय में रहने से ऊर्ध्वस्थान (खड़ा रहना), बैठना, सोना, बाहर जाना, अन्दर आना, हाथ आदि को रखना या रजोहरण आदि उपकरणों को रखना, करवट लेना, देहली आदि को लांघना आदि संयमोपयोगी क्रियाओं में भी प्राणिवध होता है।

२६४. साधु की जो चेष्टा (क्रिया) होती है, वह सारी संयमहेतुक होती है। संसक्त उपाश्रय में तो वे प्रत्यक्षतः असंयमकारी होती है।

२६५. जिस क्षेत्र में उपकरण—वस्त्र आदि जूओं से संसक्त हो जाते हैं, वहां अनेक दोषों की संभावना रहती है, जैसे—जूएँ जब रेंगती हैं या काटती हैं तब रात को नींद नहीं आती, अनिद्रा से अजीर्ण और अजीर्ण से अनेक व्याधियां पैदा हो जाती हैं।^१ खुजली करते समय जूओं को परिताप हो सकता है—पीड़ा पहुंच सकती है। यदि वे भोजन में गिर जाएं और उस भोजन को खा लिया जाए तो वमन, जलोदर आदि रोग हो सकते हैं।

२६६. प्राणियों से संसक्त फलक, संस्तारक आदि अपरिभोग्य हो जाते हैं। जो उपकरण परिभोग में न आए, वह अधिकरण है।^२ भक्त, उपधि, संस्तारक, पीठ-फलक आदि संसक्त होने पर सदोष हैं।

२६७. (अथवा) आहार आदि संसक्त हों, उन सभी में ये परिताप आदि दोष हैं। यदि संसक्त वसति आदि का प्रमार्जन किया जाए तो संघट्टन आदि दोष होते हैं। यदि प्रमार्जन न किया जाए तो सद्य-वर्तमान में प्राणिघात होता है।

२६८. उपकरणों की गठरी को लेने, रखने में, क्षेड आदि विसर्जन करने में, उपकरणों को धूप से छाया अथवा छाया से धूप में संक्रामित करने में,^३ संस्तारक और निषद्या (स्वाध्याय निमित्त बैठने का स्थान) पर खड़े होने, बैठने अथवा शयन करने में यदि विधिपूर्वक प्रतिलेखन, प्रमार्जन न किया जाए तो पृथ्वी पर संसक्त प्राणियों के संघट्टन आदि दोषों के कारण प्रायश्चित्त प्राप्त होता है और प्रतिलेखन, प्रमार्जन न किया जाए या विधिवत् न किया जाए तो तन्निष्पन्न प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१. जूओं से संसक्त वस्त्र पहनने से खुजली होती है, खुजलाने से घाव हो जाते हैं। फलतः ग्लान्य अवस्था में प्रयुक्त प्रतिसेवना से प्राप्तव्य प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२. चूर्णिकार ने प्रस्तुत प्रसंग में उपकरण और अधिकरण का विवेक करने वाली एक गाथा उद्धृत की है—

जं जुज्जति उवकारे, उवकरणं तं से होइ उवकरणं।

अतिरेगं अहिकरणं, अजओ य जयं परिहरंतो॥ —चू.पृ. ९३

३. उष्णयोनिक जीवों को छाया में डालने पर विराधना होती है और शीतयोनिक (छाया में पैदा होने वाले) जीवों को धूप में डालने पर विराधना होती है अतः छाया से आतप और आतप से छाया में उपकरणों को डालना विधिसम्मत नहीं।

२६९. परिठावण-संकामण, पप्फोडण-धोव्व-तावणे अविधी ।
तसपाणम्मि चउव्विह, णातव्वं जं जहिं कमति ॥ २६९ ॥
२७०. 'अप्पडिलेहऽपमज्जण'^१, सुद्धं सुद्धेण वेंटियादीसु ।
तिगमासिग^२ तिगपणगे, लहु^३ काल तवोभए जं च ॥ २७० ॥
२७१. 'निक्कारणे य^४ अविधी, विधीय कज्जे अविधिए ण कप्पे'^५ ।
संकप्पादी तु पदा, कज्जम्मि विधीए कप्पंति ॥ २७१ ॥
२७२. पाणादिरहितदेसे, असिवोमादी^६ तु^७ कारणा होज्जा ।
अच्छित्तु बोलेउमणा, व कुज्ज^८ संसत्तसंकप्पं ॥ २७२ ॥
२७३. जं वेलं संसज्जति^९, तं वेलं मोत्तु निब्भए जंति ।
सत्थे तु तलिय^{१०} पिट्ठतो, अक्कंत थिरादिसंजोगा ॥ २७३ ॥
२७४. ठाण^{११}-निसीय-तुयट्टण^{१२}, गहितेतर जग्ग जतण सुवणं वा ।
अब्भास^{१३} थंडिले वा, उवकरणं सो व अन्नत्थ ॥ २७४ ॥
२७५. जह चेव पुढविमादी^{१४}, सुवणे जतणा तहेव उ^{१५} तसेसु ।
नवरि पमज्जित्तु उवधिं^{१६}, मोत्तूण करेति ठाणादी ॥ २७५ ॥

१. अप्पडिलेह अप्पमज्जण त्ति सत्तभंगा गहिया (चू) ।

२. तियमासए (भ) ।

३. लहुगं (मु) ।

४. × (भ) ।

५. निक्कारणे अविधि, विधी य वावि कज्जे अविधिए ण कप्पे (मु) ।

६. आदिसद्दातो आगाढरायदुट्ठं वा होज्ज (चू) ।

७. तु सद्दो अवधारणे (चू) ।

८. कुज्जा (दे, पा) ।

९. संकज्जति (दे) ।

१०. तलिय त्ति उवाहणातो (चू) ।

११. ठाणं उस्सग्गो भण्णति (चू) ।

१२. तुयट्टणं निवज्जणं (चू) ।

१३. अब्भासे (दे) ।

१४. णमादि (दे) ।

१५. × (मु) ।

१६. उवही (दे, क) ।

२६९. वस्त्रों में संसक्त जूओं को परिष्ठापित करने, एक वस्त्र से दूसरे वस्त्र में संक्रान्त करने, जूओं को गिराने के लिए वस्त्र को प्रस्फोटित करने (झाड़ने), संसक्त वस्त्र को धोने, धूप या अग्नि में तपाने—इन सभी क्रियाओं में प्रत्येक में चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है, आपवादिक परिस्थिति में ऐसे क्षेत्र में जहां उपधि आदि संसक्त हों, जाना आवश्यक हो फिर भी अविधि से उपर्युक्त क्रियाएं करने पर चार प्रकार के त्रस प्राणियों—द्वीन्द्रिय आदि के संघट्टन आदि के कारण जो प्रायश्चित्त उचित हो, वह वहां ज्ञातव्य है।

२७०. उपकरणों की गठरी आदि को भूमि पर प्रतिलेखन, प्रमार्जन किए बिना रखने से, प्रतिलेखन न कर, प्रमार्जन करके रखने पर, प्रतिलेखन करने और प्रमार्जन न करने से (इन तीन भंगों में) लघुमास प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। दुष्प्रतिलेखन—दुष्प्रमार्जन, दुष्प्रतिलेखन—सुप्रमार्जन, सुप्रतिलेखन—दुष्प्रमार्जन (इन तीन भंगों) में पनकलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। सातवां—सुप्रतिलेखन—सुप्रमार्जन भंग शुद्ध है, उसमें यदि प्राणियों की विराधना न हो, तब भी कायनिष्पन्न प्रायश्चित्त आता है क्योंकि निष्कारण असंयम क्षेत्र में जाना सदोष कार्य है। उपर्युक्त दोनों त्रिक में प्रथम में काललघु, द्वितीय में तपलघु और तृतीय भंग में काल और तप दोनों से लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२७१. अविधि से जाए या विधिपूर्वक, निष्कारण असंयमक्षेत्र में गमन हेतु संकल्प, पदभेद आदि कुछ भी करना विधिसम्मत नहीं। कार्य (अशिव, अवमौदर्य, आगाढ़ राजद्वेष आदि विशेष परिस्थितियां जिनमें संयम क्षेत्र को छोड़ने की अनिवार्यता हो जाए) में भी अविधि से संकल्प, पदभेद आदि करना विधिसम्मत नहीं। अशिव आदि के कारण विधिपूर्वक असंयमक्षेत्र में जाना विधिसम्मत है—यह कल्प प्रतिसेवना है।

२७२. द्वीन्द्रिय आदि जीवों से रहित क्षेत्र में यदि अशिव, अवम, आगाढ़ राजद्वेष आदि कारण उत्पन्न हो जाएं तो साधु जीव संसक्त क्षेत्र (असंयम क्षेत्र) में रहने के लिए अथवा उसे लांघकर आगे जाने के लिए संसक्त क्षेत्र में गमन आदि की इच्छा (संकल्प) करे।

२७३. जहां कोई भय न हो, उस क्षेत्र में, जिस समय मार्ग जीवों से संसक्त हो, उस समय का वर्जन कर (अन्य समय में) गमन करे। जहां भय हो, वहां सार्थ के पीछे—पीछे, उपानह (पदत्राण) उतारकर सार्थ द्वारा क्षुण्ण मार्ग पर स्थिर आदि संयोगों से अनुज्ञात—प्रथम विकल्प^१ से गमन करे।

२७४. जहां भूमि त्रस प्राणियों से संसक्त हो, वहां रुकना हो तो पूरी रात उपकरण लिए खड़ा रहे। खड़ा न रह सके तो वैसे ही उपकरण सहित बैठे। पूरी रात बैठना संभव न हो तो उपकरण सहित जागृत अवस्था में लेटे। पूरी रात जागरण शक्य न हो तो यतनापूर्वक^२ सोए। यदि उपकरण सहित सोने जितना स्थंडिल न हो तो स्वयं निकटवर्ती स्थंडिल में सोए और उपकरणों को अन्यत्र रखे।

२७५. शयन विषयक जो यतना पृथिवीकाय की कल्पिका प्रतिसेवना के विषय में निर्दिष्ट है^३, वही त्रस संसक्त पृथिवी पर भी ज्ञातव्य है। केवल इतना विशेष है कि पृथिवीकाय सचित्त होती है अतः वहां प्रमार्जना विहित नहीं है। यहां पृथ्वी अचित्त है अतः जो उस पर आश्रित त्रस जीव हैं, उनको प्रमार्जित कर वहां उपकरण रखे, स्थान, निषीदन आदि करे।

१. संकल्प आदि में आदि पद से संकल्प, पदभेद आदि गाथा २५९ में गृहीत चारों पदों तथा परिष्ठापन आदि से गाथा २५९ में गृहीत सभी पदों का यथोचित रूप से ग्रहण किया जा सकता है।

२. सभय-निर्भय, आक्रान्त-अनाक्रान्त पथ, स्थिर-अस्थिर संहनन वाले त्रस प्राणियों से संसक्त तथा रात्रि-दिन के विविध सांयोगिक सोलह भंग होते हैं। उनमें निर्भय क्षेत्र में, आक्रान्त पथ से, दिन में, स्थिर संहनन वाले त्रस प्राणियों से संसक्त मार्ग से गमन—यह प्रथम भंग अनुज्ञात है।

३. शयन में यतना का निर्देश देते हुए चूर्णिकार लिखते हैं—उद्वर्तन, परावर्तन, आकुंचन, प्रसारण आदि क्रियाएं भूमि का प्रतिलेखन, प्रमार्जन कर करे।

४. द्रष्टव्य गा. १६५।

२७६. जत्थ तु^१ न वि लग्गंती^२, उवङ्गमादी^३ तहिं तु ठवयंति ।
संसप्पगेसु^४ भूमिं, पमज्जिउं छारठाणे वा ॥ २७६ ॥
२७७. बिय-तिय-चउरो पंचिंदिगेसु अक्कंत तह अणक्कंत ।
थिरनिब्भएतरेसु य, संजोगा दिवसरत्तिं च^५ ॥ २७७ ॥
२७८. पत्ताणमसंसत्तं, उसिणं पउरं तु उसिण असतीए ।
सीतं मत्तग पेहित, इतरत्थ^६ छुभंत सागरिए ॥ २७८ ॥
२७९. तिण-वति^७ झुसिरट्टाणे^८, जीवजढे चक्खुपेहिते निसिरे ।
मा^९ तस्संसियघातो^{१०}, ओदणभक्खी तसासिसु वा ॥ २७९ ॥
२८०. तद्विवसकताण तु सत्तुगाण गहिताण चक्खुपडिलेहा ।
तेण परं नववारे, असुद्ध णिसिरेतरे भुंजे ॥ २८० ॥
२८१. रयताण^{११} पत्तबंधे, पइरित्तुच्छल्लियं^{१२} पुणो पेहे ।
'ऊरणिग आगरा ऽसति'^{१३}, कप्परथेवेसु^{१४} छायाए ॥ २८१ ॥
२८२. दोण्णि उ पमज्जणाओ, उडुम्मि वासासु ततिय मज्झणहे ।
वसहि बहुसो पमज्ज व, अतिसंघट्ट^{१५}ण्णहिं गच्छे ॥ २८२ ॥
२८३. मुङ्गमादी^{१६} णगरग^{१६}, कुडमुह छारेण वावि लक्खेति ।
चोदेति^{१७} य अण्णोण्णं, विसेसतो सेह अयगोले ॥ २८३ ॥

१. तु सद्दो थंडिलावधारणे (चू) ।

२. लग्गंति (मु) ।

३. उवङ्ग त्ति उदेहिया आदिसद्दातो य धण्णकारिकमकोट-
कादयः (चू) ।

४. संसप्पंतीति संसप्पगा उस्सरंति त्ति वुत्तं भवति (चू) ।

५. वा (क) ।

६. इतरेत्थ (दे) ।

७. वती—वाडी (चू) ।

८. झुसिरसद्दो एतेष्वेव प्रत्येकं । अहवा तिण कट्टसंकरो जत्थ
तं झुसिरट्टाणं भण्णति (चू) ।

९. मा इत्ययं शब्दः प्रकृतार्थावधारणे अविधिपरित्याग-

प्रतिषेधप्रदर्शने च (चू) ।

१०. तण्णस्सियं (भ) ।

११. रयहरण (भ) ।

१२. °ल्लिं तु (पा), उच्छल्लिउं त्ति एकपाश्वे नयित्वा (चू) ।

१३. °णिगा आगराऽसति (क), जत्थ घरट्टादिसमीवेसु बहुं
जव-भुसुट्टं सो आगरो भण्णति (चू) ।

१४. कप्पिरं (क, दे) ।

१५. °मादि (मु), मुङ्गा पिपीलिका, आदिसद्दातो मक्कोडगादि
(चू) ।

१६. नगरं घरं आश्रयेत्यर्थः (चू) ।

१७. चोयंति (क) ।

२७६. वस्त्र, उपकरण आदि उस स्थान पर रखे, जहां उन पर उद्देहिका, मकोड़े आदि न लगें। यदि बिल आदि से मकोड़े आदि संसर्पग (सरकने वाले) प्राणी आ रहे हों तो भूमि का प्रमार्जन कर आस-पास राख डाल दें या क्षारस्थान (राखमय भूमि) का प्रमार्जन कर वहां उपकरण रखें।

२७७. यदि त्रस जीवों से असंसक्त मार्ग न मिले तो उस मार्ग से जाए, जो स्थिर संहनन वाले द्वीन्द्रिय प्राणियों से संसक्त हो, पर जनक्रान्त और निर्भय हो। आक्रान्त मार्ग के अभाव में अनाक्रान्त और उसके अभाव में अस्थिर संहनन वाले प्राणियों से संसक्त मार्ग से भी जा सकता है। ये चार विकल्प दिन में गमन के हैं।^१ इसी प्रकार रात्रि में गमन के चार विकल्प होते हैं। द्वीन्द्रिय के समान त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय विषयक आठ-आठ विकल्प हो जाते हैं। निर्भय के समान सभय मार्ग से भी बत्तीस विकल्प बनते हैं।^२

२७८. यदि ऐसे देश में पहुंच गए हों, जहां भक्तपान त्रस जीवों से संसक्त होता हो तो ऐसा आहार ग्रहण करे जो प्रचुर उष्ण और असंसज्जिम (संसक्त न होने वाला) हो। यदि उष्ण आहार न मिले तो ठंडा आहार मात्रक (छोटे पात्र) में लेकर प्रत्युपेक्षा करे, फिर गृहस्थ न देख सके, वैसे (उस प्रकार से) पात्र में डाल दे।

२७९. पात्र में गृहीत आहार यदि संसक्त हो तो घास, बाड़ आदि जीवरहित झुसिरस्थानों में चक्षु से अच्छी तरह देखकर उसका परिष्ठापन करे। ताकि ओदनभक्षी चींटियों, मकोड़ों आदि त्रस प्राणियों को खाने वाले (कुत्ते आदि) प्राणियों द्वारा उन तदाश्रित (आहार में संसक्त) त्रस प्राणियों का घात न हो।

२८०. जिस क्षेत्र में सत्तू संसक्त हों, वहां तद्दिवसकृत—उसी दिन पीसे हुए सत्तू का ग्रहण करे तो चक्षुप्रतिलेखना करे अर्थात् पात्रस्थ सत्तू को भलीभांति देखे। यदि वह सत्तू तद्दिवसकृत नहीं है, दो, तीन दिन पूर्व पीसा गया है तो रजस्त्राण पर फैलाकर नौ बार प्रतिलेखना करे। नौ बार प्रतिलेखन करने के बाद जो शुद्ध न हो, उसका परिष्ठापन करे, शुद्ध हो, उसका परिभोग करे।

२८१. सत्तू प्रतिलेखन विधि—रजस्त्राण पर पात्रबंध को बिछाकर उस पर सत्तू को फैलाए। पुनः उस सत्तू को एक पार्श्व में ले जाए (फटके)। इससे जो और्णिक जन्तु उस पात्रबन्ध पर चिपक जाएं, उन्हें यतनापूर्वक कप्पर (कपाल आदि) पर रखे। पुनः इसी विधि से सत्तू की प्रतिलेखना करे। इस प्रकार नौ बार प्रतिलेखना करने के बाद जो और्णिक जन्तु कप्पर पर रखे हैं, उन्हें चक्की के पास बने बस के ढेर (आगर) में परिष्ठापन करे। यदि आगर न हो तो कप्पर पर थोड़ा सत्तू डालकर उन जीवों सहित उसे छाया में परिष्ठापित करे।

२८२. ऋतुबद्ध (वर्षातिरिक्त) काल में दिन में दो बार और वर्षाकाल में तीसरी बार मध्याह्न में वसति का प्रमार्जन करे। (यह सामान्य विधि है) जहां वसति संसक्त होती हो, वहां अनेक बार प्रमार्जन करे। यदि दिन में दो या तीन बार से वसति असंसक्त हो जाए तो अनेक बार प्रमार्जन न करे। यदि अनेक बार प्रमार्जन करने से त्रस प्राणियों का संघट्टन अधिक होता हो तो अन्य वसति में चला जाए।

२८३. जहां कीटिकानगर या बहुत अधिक मकोड़े आदि हों, उस स्थान को कुटमुख (घड़े का गला) रखकर या राख डालकर उपलक्षित करे। अनुपयोगपूर्वक उधर जाते हुए तथा विशेषतः शैक्ष अथवा निर्धर्मा (धर्म के विषय में अल्पज्ञ) हो, उन्हें परस्पर यतना की प्रेरणा देते रहें क्योंकि शैक्ष आदि अयःगोलक के समान होते हैं।

१. दिन में द्वीन्द्रिय प्राणियों से संसक्त मार्ग की चतुर्भंगी है—१. स्थिर आक्रान्त, २. अस्थिर आक्रान्त, ३. स्थिर अनाक्रान्त, ४. अस्थिर अनाक्रान्त। त्रीन्द्रिय आदि में भी इसी प्रकार सर्वत्र भंग योजना ज्ञातव्य है।

२. कुल चौसठ विकल्पों में मुख्यतः वही क्रम है, जो पूर्वोक्त चार विकल्पों में बताया गया है। यदि उत्क्रम में अल्पतर दोष हो तो उसका भी प्रयोग किया जा सकता है।

२८४. अतिरेगोवधिगहणं, सततुवभोगेण मा हु संसज्जे^१।
महुरोदगेण धुवणं, अभिक्ख मा छप्पदा मुच्छे ॥ २८४ ॥
२८५. कायल्लीणं काउं, तहिं संकामेतरं तु^२ तस्सुवरिं।
अधवा कोणा^३ कोणं, मेलेउं ईसि घट्टेति ॥ २८५ ॥
२८६. फलगादीणि अभिक्खणं^४, पमज्जणा हेट्ट उवरि कातव्वा।
मा य हु^५ संसज्जेज्जा^६, तेण अभिक्खं पयावेज्जा ॥ २८६ ॥
२८७. वेंटियमादीगेसुं^७, जतणाकारी तु सव्वहिं सुज्जे।
अजयस्स सत्तभंगा, सट्टाणं चेव आवण्णे ॥ २८७ ॥
२८८. पोग्गल असती समितं, भगंदले छोढु णिसिरति^८ अणुणे।
किमिकुट्टादिकिमी वा^९, पिउडादि^{१०} छुभंति णीणेतुं ॥ २८८ ॥
२८९. संसत्त-पोग्गलादी^{११}, पिउडे पोमे^{१२} तहेव चम्मे य।
आयरिण्ण गच्छम्मी^{१३}, बोहियतेणे^{१४} य कोंकणणे ॥ २८९ ॥
२९०. दुविधो य मुसावाओ, लोइय-लोउत्तरो समासेणं।
दव्वे खेत्ते काले, भावम्मि य^{१५} होति कोधादी^{१६} ॥ २९० ॥ नि ५२ ॥
२९१. विवरीतदव्वकहणे, दव्वभूतो^{१७} य दव्वहेतुं वा।
खेत्तनिमित्तं जम्मि व, खेत्ते 'काले वि एमेव'^{१८} ॥ २९१ ॥ नि ५३ ॥

१. संसज्ज (दे)।

२. तु पूरणे (चू)।

३. कोणं (मु, क), कोणमिति कण्णं (चू)।

४. अभिक्खं (दे, भ)।

५. हु शब्दो यस्मादर्थे (चू)।

६. संसपेज्जा (भ, क)।

७. विंटियं (दे)।

८. णिहरंति (चू)।

९. या (दे)।

१०. पिउडं पुण उज्झं भण्णति (चू)।

११. °लमाई (भ)।

१२. पउमे (दे), पोमं ति कुसुंभयं (चू)।

१३. °म्मिं (दे)।

१४. बोहियतेणे य त्ति जे मेच्छा माणुसाणि हरंति ते बोहियतेणा भण्णंति (चू)।

१५. च सद्दो मूलभेदावधारणे (चू)।

१६. आदिसद्दातो माणमायालोभा (चू)।

१७. दव्वभूतो णाम अणुवउत्तो, भावशून्येत्यर्थः (चू)।

१८. एमेव काले वि (दे)।

२८४. जिस क्षेत्र में उपधि संसक्त होती हो, वहां चोलपट्ट आदि अतिरिक्त उपधि का ग्रहण किया जाए ताकि निरन्तर उपयोग के कारण वह संसक्त न हो सके। उसे बार-बार मीठे जल से या उष्ण जल से धोए ताकि उसमें जूं संमूर्च्छित (पैदा) न होने पाएं।

२८५. जिस वस्त्र को धोना हो, वह यदि जूं आदि से संसक्त हो तो जो वस्त्र नहीं धोना हो, पहले उसे शरीर पर सीधा (अनन्तरित) धारण करे, उसके ऊपर उस धोने वाले वस्त्र को धारण कर उन जूं आदि प्राणियों को संक्रान्त करे। अथवा दोनों (प्रक्षालनीय और अप्रक्षालनीय) वस्त्रों के कोनों को साथ मिलाए, फिर धीरे से उन त्रस प्राणियों को दूसरे वस्त्र पर संक्रान्त करे, हाथ से उठाकर न रखे।

२८६. यदि फलक आदि संसक्त हो जाएं तो फलक आदि का ऊपर नीचे से बार-बार प्रमार्जन करना चाहिए। उन्हें धूप में बार-बार प्रतापित करता रहे ताकि वे पुनः संसक्त न हों।

२८७. उपकरणों की गठरी आदि को जो यतनापूर्वक उठाता रखता है (आदान-निक्षेप करता है) वह सर्वथा शुद्ध—अप्रायश्चित्ती है। अयतना से ग्रहण निक्षेप के सात भंग होते हैं जिनका स्वरूप एवं प्रायश्चित्त पूर्ववत् ज्ञातव्य है।^१ अयतना से ग्रहण निक्षेप करते हुए द्वीन्द्रिय आदि जिन प्राणियों का संघट्टन, परितापन होता है, तत्सम्बन्धी प्रायश्चित्त भी प्राप्त होता है।^२

२८८. किसी साधु के भगंदर आदि के कृमि निकालने हों, उसकी विधि यह है—पुद्गल (मांस) लेकर उसे भगंदर में प्रवेश कराए ताकि उसके कृमि उस मांस पर चिपक जाए। यदि मांस न मिले तो आटे को मधु और घृत मिलाकर मर्दित करे और उस पिण्ड को भगंदर में डाले। जब भगंदरकृमि उस पिण्ड से चिपक जाए तो उन्हें निकालकर छाया में विसर्जित करदे। कुष्ठकृमि, व्रणकृमि आदि को भी निकालकर छाया में आर्द्र कलेवर या कचरे के ढेर^३ में विसर्जित करे।

२८९. भिक्षार्थ घूमते हुए साधु को संसक्त पुद्गल (फल का गुदा) आदि मिल गया, उसे भी उसी प्रकार कचरे के ढेर, कुसुम्भे से रंगे हुए वस्त्र (पोम) अथवा आर्द्र चर्म पर परिष्ठापित करे। द्वितीय पद में आचार्य अथवा गच्छ (की रक्षा) हेतु बोधिकस्तेन (अपहरणकर्ता या म्लेच्छ डाकू) की विराधना की जा सकती है^४ जैसे कोंकणदेशीय निर्ग्रन्थ ने गच्छरक्षा हेतु तीन सिंहों को आहत कर दिया।^५

२९०. मृषावाद संक्षेप में दो प्रकार का होता है—लौकिक और लोकोत्तरिक। उनके पुनः चार-चार भेद हैं—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। क्रोध आदि (कषाय चतुष्क) भाव मृषावाद के हेतु हैं।

२९१. विपरीत द्रव्य का कथन करना, यथा गाय को अश्व कहना, द्रव्यभूत अर्थात् अनुपयुक्त अवस्था में बोला गया अलिक वचन अथवा द्रव्य (हिरण्य आदि) के लिए बोला गया अलिक वचन द्रव्यमृषावाद है। क्षेत्र (की प्राप्ति) के निमित्त असत्य बोलना क्षेत्र मृषावाद है। अथवा जिस क्षेत्र में मृषा बोलता है, विपरीत क्षेत्र का कथन करना अथवा अनुपयुक्त अवस्था में क्षेत्र का प्ररूपण करना क्षेत्र मृषावाद है। काल मृषावाद का प्ररूपण भी द्रव्य आदि के समान ही है, केवल काल के निमित्त मृषावाद नहीं होता।

१. अयतना से ग्रहण निक्षेप में कथित सात भंगों के लिए दृष्टव्य गा. २६८ की चूर्णि।

२. द्वीन्द्रिय आदि के संघट्टन आदि के स्वस्थान प्रायश्चित्त के लिए दृष्टव्य गा. २५८ का अनुवाद एवं पादटिप्पण।

३. दे. श. को.—पिउडं—कचरे का ढेर।

४. कोई दुष्ट प्रत्यनीक आचार्य या किसी साधु का वध या अपहरण करे, संघ का अहित करे और बार-बार समझाने पर भी न माने तो उसका व्यपरोपण विधि सम्मत माना गया है।

५. विस्तार हेतु द्रष्टव्य परिशिष्ट २, कथा सं. १७।

२९२. कोधम्मि पिता पुत्ता, धण्णं माणम्मि माय उवधिम्मि ।
लोभम्मि कूडसक्खी, निकखेवगमादिणो लोगे^१ ॥ २९२ ॥ नि ५४ ॥
२९३. कोहेण ण एस पिता, मम त्ति पुत्तो ण एस वा मज्झं ।
हत्थो कस्स बहुस्सति^२ पूएसु^३ घरा छुभति धण्णं ॥ २९३ ॥
२९४. सस एलासाढे मूलदेव खंडा य जुण्णउज्जाणे ।
सामत्थण^४ को भत्तं, अक्खातं जो ण सदहत्ति ॥ २९४ ॥
२९५. चोरभया गावीओ, पोट्टलगे बंधिऊण आपेमि ।
तिलअतिरूढकुहाडे^५, वणगत मलणे^६ य तेल्लोदा ॥ २९५ ॥
२९६. वणगयपाडण^७ कुंडिय, छम्मासा हत्थिलगगणं^८ पुच्छे ।
रायरयग मो वादे, जहि पेच्छति^९ ते इमे वत्था ॥ २९६ ॥
२९७. सुहुमो य बादरो वा^{१०}, दुविधो लोगुत्तरो समासेणं ।
सुहुमो लोगुत्तरिओ, नातव्व इमेहि ठाणेहिं ॥ २९७ ॥ नि ५५ ॥
२९८. पयला उल्ले मरुगे, पच्चक्खाणे य गमण-परियाए ।
समुद्देस संखडि^{११} खुडुगे^{१२} य परिहारिय^{१३} मुहीओ^{१४} ॥ २९८ ॥ नि ५६ ॥
२९९. अवस्सगमणं दिसासु^{१५}, एगकुले चेव एगदव्वे य ।
पडियाइक्खिय^{१६} गमणं, 'पडियाइक्खित्तु भुंजणयं'^{१७} ॥ २९९ ॥ नि ५७ ॥

१. इस गाथा के प्रारंभ में चूर्णिकार ने 'भावमुसावातस्स भद्दबाहुसामिकता वक्खाणगाहा' का उल्लेख किया है ।
२. बहुसइ (चू), °स्सती (दे), बहुसइ त्ति बहुधण्णकारी (चू) ।
३. पूए उ (भ) ।
४. °थणे (मु) ।
५. °कुहाड (दे) ।
६. मलणा (मु) ।
७. °धाडण (दे) ।
८. हत्थं (क) ।
९. पेच्छइ (मु), पेच्छह (भ) ।

१०. वि य (दे) ।
११. संखडी (दे, भ) ।
१२. खुदए (भ) ।
१३. °हारीय (भ) ।
१४. जीभा ८८२, वृभा ६०६६ ।
१५. दिस्सासू (भ, मु) ।
१६. °इक्खित्ता (क), पडियाखित्ता (वृभा ६०६७) ।
१७. °क्खित्ता य भुंजणं (मु), गाथा का उत्तरार्ध जीभा (८८३) में इस प्रकार है—
एमादी तु पदेहिं, मुसं तु लहुसं वए साहू ॥

२९२. क्रोध में मृषा बोलने का उदाहरण है पिता पुत्र। मान में मृषावाद के लिए धान्य का उदाहरण ज्ञातव्य है।^१ उपधि—उपकरण के विषय में मायापूर्ण कथन मायाहेतुक मृषावाद तथा लोक में जो निक्षेपक (गिरवी) आदि के विषय में कूटसाक्षी दी जाती है, वह लोभहेतुक मृषावाद है।

२९३. पिता से रुष्ट पुत्र क्रोध में कहता है—यह मेरा पिता नहीं है। अथवा पिता कहता है—यह मेरा पुत्र नहीं है। यह क्रोधहेतुक मृषावाद है। दो कृषकों में विवाद हो गया। विवाद का विषय था—किसका हाथ अधिक शक्तिसम्पन्न है अर्थात् किसके हाथ से ज्यादा अनाज पैदा होता है। उनमें एक कृषक अभिमानी था। उसने शर्त हारने के भय से खलिहान से लाए गए साफ धान्य में घर से लाकर अतिरिक्त धान्य मिला दिया। इस दृष्टान्त में उस (मानी) कृषक का यह कहना कि देखलो! मेरे हाथ से ज्यादा धान्य पैदा हुआ—मानहेतुक मृषावाद है।^२

२९४-९६. मायाहेतुक मृषावाद के विषय में शशक, एलाषाढ़ और मूलदेव नामक तीन धूर्तों एवं खंडपाणा नामक धूर्ता के आख्यान हैं। उज्जयिनी के जीर्णोद्धान में उन चारों ने पर्यालोचन किया^३—हमें भोजन कौन देगा? मूलदेव—जो दूसरे के द्वारा कथित आख्यान पर विश्वास न करे, वही सब को भोजन दे। एलाषाढ़—अटवी में चोरों के भय से गायों को पोटली में बांधकर गांव में ले आया। (इत्यादि विस्तृत कथा कही, अन्य तीनों ने महाभारत, श्रुति आदि के प्रमाणों से उसे सत्यापित कर दिया।) शशक बोला—एक बार हमारे खेत में इतना बड़ा तिल का वृक्ष पैदा हुआ कि उसे कुहाड़ से काटना पड़ा। एक वनहस्ती ने उसे चक्रवत् घुमा दिया। फलतः उन तिलों से तैलौदा नदी बह निकली। (इत्यादि विस्तृत कथा कही और शेष तीनों ने उसका सत्यापन किया।) इसके पश्चात् मूलदेव ने कहा—मैं छत्र और कमण्डलु हाथ में लेकर जा रहा था। एक वनहस्ती ने मेरा पीछा किया। उससे बचने हेतु मैं उस कमण्डलु की नलिका से कमण्डलु के भीतर चला गया। वहां भी वह वनहस्ती छह महिने तक मेरा पीछा करता रहा। छह महिने बाद मैं और हाथी तो बाहर आ गए, पर उस हाथी की पूंछ उस कमण्डलु की नलिका में अटक गई। (इत्यादि विस्तृत कथा कही और शेष तीनों ने उसका सत्यापन किया।) इसके पश्चात् खण्डपाणा ने कहा—मैं राजा के धोबी की पुत्री हूँ। मैं और मेरे पिता हजार पुरुषों को साथ लेकर नदी पर कपड़े धोने गए। महावात के कारण सुखाए हुए कपड़े उड़ गए। मैंने देखा—आप लोग ही वे दास हैं और ये ही वे वस्त्र, जो आपने पहन रखे हैं। यदि मेरी बात सत्य है तो वस्त्र दे दीजिए, अन्यथा सबको भोजन।^४

२९७-२९९. लोकोत्तर मृषावाद^५ संक्षेप में दो प्रकार का है—सूक्ष्म और बादर। सूक्ष्म लोकोत्तर मृषावाद इन पन्द्रह स्थानों (निम्नांकित पदों) से ज्ञातव्य है—प्रचला, आर्द्र, मरुक (ब्राह्मण), प्रत्याख्यान, गमन, पर्याय, समुद्देश, संखंडी (भोज), क्षुल्लक, परिहारी, (अश्व) मुखी स्त्रियां, अवश्यगमन, दिशा, एक कुल में गमन और एक द्रव्य का भोग।^६ गमन का निषेध करके गमन और भोजन का प्रत्याख्यान (निषेध) करने के बाद भोजन करना—ये लोकोत्तर भाव मृषावाद हैं।^७

१. क्रोध हेतुक मृषावाद के लिए द्रष्टव्य गा. २९३।

२. विस्तार हेतु द्रष्टव्य परिशिष्ट २, कथा सं. १८।

३. दे. श. को.—सामर्थ्य—पर्यालोचन।

४. विस्तार हेतु द्रष्टव्य परिशिष्ट २, कथा सं. १९।

५. लोकोत्तर मृषावाद के चार भेद हैं—जैसे सचित द्रव्य को अचित द्रव्य कहना। क्षेत्रतः—लोकाकाश को अलोक कहना। कालतः—अवसर्पिणी को उत्सर्पिणी कहना। भावतः—क्रोध, मान आदि से अभिभूत वचन।

६. उपर्युक्त द्वारों के विवेचन हेतु द्रष्टव्य गा. ३००-३१६।

७. गा. २९९ के तृतीय पाद का सम्बन्ध पांचवे द्वार (गमन) और चतुर्थ पाद का सम्बन्ध चौथे द्वार (प्रत्याख्यान) के साथ है।

३००. पयलासि^१ किं दिवा ? न पयलामि लहु दोच्च^२ निणहवे गुरुगो ।
अण्णद्दाइत णिणहवें, लहुगा गुरुगा बहुतराणं^३ ॥ ३०० ॥
३०१. निणहवणे निणहवणे, पच्छित्तं वड्ढती^४ तु जा सपदं ।
लहुगुरुमासो सुहुमो, लहुगादी 'बादरो होति'^५ ॥ ३०१ ॥
३०२. 'किं वच्चसि वासंते, ण गच्छे नणु'^६ वासबिंदवो एते ।
भुंजंति णीह मरुगा, कहिं ति नणु सव्वगेहेसुं^७ ॥ ३०२ ॥
३०३. भुंजसु पच्चक्खातं, ममं^८ ति तक्खणपभुंजितो^९ पुट्ठो ।
किं च ण मे पंचविधा, पच्चक्खाता अविरती उ^{१०} ॥ ३०३ ॥
३०४. वच्चसि नाहं वच्चे, तक्खण वच्चंत पुच्छितो भणति ।
सिद्धंतं ण वि जाणह^{११}, नणु 'गम्मति गम्ममाणं तु'^{१२} ॥ ३०४ ॥
३०५. दस एतस्स य मज्झ य, पुच्छित परियाग बेति तु छलेणं ।
'मज्झ नव त्ति पवंदित'^{१३}, भणाति बे पंचगा दस उ ॥ ३०५ ॥
३०६. वट्टति उ समुद्देसो, किं अच्छह कत्थ एस^{१४} गगणम्मि ।
वट्टति संखडीओ, घरेसु नणु आउखंडणता^{१५} ॥ ३०६ ॥
३०७. खुड्डुग! जणणी ते^{१६} मता, परुण्ण जियति त्ति एव भणितम्मि ।
माइत्ता सव्वजिया, भविंसु तेणेस^{१७} 'माता ते'^{१८} ॥ ३०७ ॥

१. °लामि (दे) ।

२. बितिय (जीभा ८८४) ।

३. बृभा ६०६८ ।

४. वड्ढुए (बृभा ६०६९), वड्ढुति (दे) ।

५. बादरे होंति (मु), जीभा ८८५ ।

६. किं नीसि वासमाणे ण णीमि नणु (बृभा ६०७०) ।

७. °गेहेहिं (भ, मु), जीभा ८८६ ।

८. महं (दे) ।

९. °परिभुं (दे) ।

१०. बृभा ६०७१, जीभा ८८७ ।

११. जाणसि (भ, मु, बृभा ६०७२) ।

१२. जीभा ८८८, 'चलमाणे चलिए' इस सिद्धान्त की विस्तृत व्याख्या हेतु देखें भगभा. १, पृ. २१-२३ ।

१३. °य वंदिते (भ, मु, जीभा ८८९), मम नव पवंदियम्मिं (बृभा ६०७३) ।

१४. एह (मु) ।

१५. बृभा ६०७४, जीभा ८९० ।

१६. तु (दे) ।

१७. तेणास (दे) ।

१८. ते माता (बृभा ६०७५), जीभा ८९१ ।

३००. एक साधु दूसरे साधु से—दिन में क्यों ऊँघ रहे हो? वह कहता है—मैं नहीं ऊँघ रहा। इस प्रकार अपलाप करने वाले को मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। पुनः वह ऊँघना शुरू कर दे और दूसरे साधु के दूसरी बार कहने पर भी अपलाप करे, उसे मासगुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। दूसरा साधु अन्य साधु को दिखाए और वह तीसरा साधु कहता है—आर्य! क्या नींद ले रहे हो? वह पुनः अपलाप करता है (कि मैं नहीं ऊँघ रहा)। उसे चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। दूसरा साधु पुनः दो-तीन साधुओं को दिखाता है और उसके बावजूद भी वह उनका अपलाप करता है—उसे चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

३०१. इस प्रकार पुनः—पुनः निह्वन (अपलाप) करने से क्रमशः प्रायश्चित्त वृद्धि होते-होते दसवीं बार में सपद प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। जिस मृषावाद से लघुमास और गुरुमास प्रायश्चित्त प्राप्त हो, वह सूक्ष्म मृषावाद है। शेष—चतुर्लघु आदि प्रायश्चित्त स्थान वाले मृषावाद बादर मृषावाद हैं—ऐसी प्ररूपणा है।

३०२. एक साधु ने किसी प्रयोजन से वर्षा में प्रस्थान किया। दूसरे ने पूछा—क्या वर्षा में जा रहे हो? वह बोला—नहीं, मैं वर्षा में नहीं जा रहा। ऐसा कहकर वह जाने लगता है। दूसरा कहता है—अरे! मृषा बोल रहे हो? वह कहता है—नहीं। यह वर्षा नहीं, वर्षा (जल) के बिन्दु हैं। उसका यह कथन छलनापूर्ण होने के कारण मृषावाद है। एक साधु बाहर से लौटकर बोलता है—चलो, ब्राह्मण भोजन कर रहे हैं। अन्य साधु पात्र लेकर भिक्षार्थ जाने हेतु उससे पूछते हैं—कहाँ जाएं? ब्राह्मण कहां भोजन कर रहे हैं? वह उत्तर देता है—सब अपने-अपने घरों में खाना खा रहे हैं।

३०३. आहार के लिए आमन्त्रित किए जाने पर साधु बोला—आप आहार करें। मेरे त्याग है। ऐसा कहकर वह तत्काल आहार करने बैठ गया। पहले साधु ने पूछा—अभी तो आपने कहा था कि मेरे प्रत्याख्यान है। दूसरे ने उत्तर दिया—हां, क्या मेरे पांच प्रकार की अविरति (प्राणातिपात आदि) का प्रत्याख्यान नहीं है अर्थात् है ही।

३०४. चैत्यवन्दन आदि के लिए जाते हुए साधु ने पूछा—चल रहे हो क्या? दूसरा साधु बोला—नहीं? मैं नहीं चल रहा। उसके प्रस्थान करते ही वह भी उसके पीछे चलने लगा। पहले ने पुनः पूछा—तुमने तो निषेध किया था, अब क्यों आए? दूसरा बोला—अरे! आप सिद्धान्त नहीं जानते। शास्त्र (भगवती सूत्र) में गम्यमान का ही गमन प्रतिपादित है। जिस समय तुमने पूछा था, मैं उस समय स्थिर था, चल कहां रहा था?

३०५. वन्दना के इच्छुक साधु ने दूसरे साधु से पूछा—आपका संयमपर्याय कितने वर्षों का है? (आपको दीक्षित हुए कितने वर्ष हो गए?) वह बोला—हम दोनों का पर्याय दस वर्ष का है। प्रथम साधु ने कहा—मुझे नौ वर्ष हुए हैं, ऐसा कहकर वन्दना करने पर दूसरा साधु बोला—नहीं-नहीं वन्दनीय आप हैं। हम दोनों का संयम पर्याय पांच-पांच वर्ष है, अतः कुल दस वर्ष है।

३०६. कोई साधु कायिकी भूमि में गया। उसने गगन में राहुग्रास देखा। वह आकर बोला—आर्यो! समुद्देश हो रहा है। बैठे क्यों हो? आओ चलें। साधुओं ने पात्र लिए और पूछने लगे—कहां समुद्देश हो रहा है? उसने छलपूर्वक उत्तर दिया—देखो! गगन में राहु के द्वारा सूर्य का समुद्देश हो रहा है। एक साधु बाहर से आते ही बोला—आज तो गांव में बहुत-सी संखड़ियां (भोज) हैं। अन्य साधुओं ने पूछा—कहां? उसने उत्तर दिया—अपने-अपने घरों में संखड़ी हो रही है। दूसरे साधुओं ने पूछा—उनको संखड़ी क्यों कहें? अर्थात् अपने-अपने घरों में भोजन बन रहा है 'उसे भोज कहना लोकप्रसिद्ध नहीं।' उसने उत्तर दिया—प्रत्येक घर में रन्धन आदि आरम्भों के द्वारा क्या पृथ्वीकायिक आदि जीवों के आयुष्य का खण्डन (आयुषि संखंड्यन्ते इति संखड़ी) नहीं हो रहा है, फिर वे संखड़ियां (भोज) क्यों नहीं।

३०७. उपाश्रय के समीप कुतिया का शव पड़ा देखकर एक साधु एक बाल साधु को बोला—अरे! तेरी मां मर गई। वह रोने लगा। उसे रोते देख वह पुनः बोला—रोओ मत, जिन्दा है। ऐसा कहने पर वह बाल साधु व अन्य साधु उसे पूछने लगे—यह क्या हुआ? पहले तुमने ऐसा क्यों कहा? वह मृषावादी साधु बोला—यह कुतिया भी तुम्हारी मां रह चुकी है। स्वयं भगवान ने कहा है कि प्रत्येक जीव के सभी जीव मां, पिता, भाई, बहिन रह चुके हैं। अतः यह कुतिया भी तुम्हारी माता है।

३०८. ओसण्णे ददूणं, दिट्ठा परिहारिग त्ति लहु कहणे।
कत्थुज्जाणे गुरुगो, 'अदिट्ठ-दिट्ठेसु'^१ लहु-गुरुगा ॥ ३०८ ॥
३०९. छल्लहुगा य नियत्ते, आलोएंत्तम्मि छग्गुरू होंति।
परिहरमाणा वि कहं, अप्परिहारी भवे छेदो^२ ॥ ३०९ ॥
३१०. खाणुगमादी^३ मूलं, सव्वे तुब्भेगऽहं तु अणवट्ठो।
सव्वे वि बाहिरा पवयणस्स तुब्भे त्ति पारंची^४ ॥ ३१० ॥
३११. भणति य दिट्ठ नियत्ते^५, 'आलोयामं ति'^६ घोडगमुहीओ।
'किं मणुस्सा सव्वेगो'^७, सव्वे बाहिं पवयणस्स ॥ ३११ ॥
३१२. मासो लहुगो गुरुगो, चउरो मासा हवंति लहु-गुरुगा।
छम्मासा लहु-गुरुगा, छेदो मूलं तह दुगं च^८ ॥ ३१२ ॥
३१३. गच्छसि न ताव गच्छं, 'किं खु ण जासि त्ति'^९ पुच्छितो भणति।
वेला न ताव जायति, परलोगं वावि मोक्खं वा^{१०} ॥ ३१३ ॥
३१४. कतरिं^{११} दिसं गमिस्ससि, पुव्वं अवरं गतो भणति पुट्ठो।
किं वा न होति पुव्वा, इमा दिसा अवरगामस्स^{१२} ॥ ३१४ ॥
३१५. अहमेगकुलं गच्छं, वच्चह बहुकुलपवेसणे पुट्ठो।
भणति कहं दोण्णि कुले, एगसरीरेण पविसिस्सं^{१३} ॥ ३१५ ॥

१. वयंतदिट्ठेसु (बृभा ६०७६), 'दिट्ठे य (जीभा ८९२)।
२. बृभा ६०७७, जीभा ८९३, गा. ३०९ से ३३० तक की
गाथाओं के पाठांतर नहीं हैं, क्योंकि दे प्रति का ८ वां
पत्र लुप्त है।
३. खाणुमादी (भ), उड्ढायति द्वयं कट्ठं खाणुगं भणति,
आदिसदातो कंटग-गड्ढादि परिहरंति (चू)।
४. जीभा ८९४, बृभा ६०७८ में इस गाथा के स्थान पर
निम्न गाथा मिलती है—
किं परिहरंति णणु खाणु-कंटए सव्वे तुब्भे हं एगो।
सव्वे तुब्भे बहि पवयणस्स पारंचीओ होति ॥
इस गाथा के बाद बृभा (६०७९) में किं छागलेण...

अतिरिक्त गाथा मिलती है।
५. णियट्ठे (जीभा ८९५)।
६. 'मं तु (भ), यहां 'आलोए आमं' में संधि हुई है।
७. माणुस सव्वे एगे (बृभा ६०८०)।
८. बृभा ६०८१।
९. तक्खण वच्चंत (जीभा ८९७)।
१०. बृभा ६०८४।
११. कतरं (भ)।
१२. बृभा ६०८५।
१३. बृभा ६०८६।

३०८-१०. किसी ने अवसन्न साधुओं को देखा। उपाश्रय में आकर उसने अन्य साधुओं से कहा—मैंने पारिहारिक साधुओं को देखा। छल के अभिप्राय से (जिससे दूसरे यह जानें कि इसने पारिहारिक तप वाले परिहारविशुद्धचारित्री को देखा है) ऐसा कहने से मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। कहां देखा? पूछने पर उद्यान में देखा—ऐसा कहे तो गुरुमास प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। उन साधुओं को देखने के इच्छुक साधु उस उद्यान में पहुंच गए तो चतुर्लघु और उनको देख लिया, उस स्थिति में मृषावादी साधु द्वारा अपने मृषा कथन की निकाचना का प्रायश्चित्त है—चतुर्गुरु। वे साधु वहां से लौट आए, फिर भी वह अपने मृषा कथन की निकाचना करे—उस पर दृढ़ रहे तो षड्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। अन्य साधु गुरु के पास आए, ईर्यापथिकी आलोचना की और बोले—हम अमुक साधु के द्वारा छले गए। उनके आलोचना करने पर भी वह वैसे ही कहता रहे (मृषा बोलता रहे) तो षड्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। साधुओं ने पूछा—वे परिहार योग्य हैं, फिर पारिहारिक कैसे हुए? मृषावादी बोला—वे परिहार करते हैं, फिर अपारिहारिक कैसे होंगे? ऐसे पुनः-पुनः उत्तर देने वाले को छेद प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। मृषावादी कहता है—वे साधु भी टूट, कांटे, गड्ढे आदि का परिहार करते हैं अतः पारिहारिक हैं—यह कहने से मूल प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। पुनः सब साधु उस मृषावादी साधु से कहते हैं—अरे कितने धृष्ट हो! इतना होने पर भी उत्तर देते जा रहे हो। वह मृषावादी पुनः बोलता है—आप तो सब एक हो गए हो। पर मैंने तो ठीक ही कहा था—इत्यादि कहने से अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। वह मृषावादी अपने ज्ञानमद से सब पर आक्षेप लगाता हुआ कहता है—आप सब प्रवचन-बाह्य हैं। सिद्धान्त नहीं समझते—इत्यादि आक्षेप लगाने से पारांचित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

३११. उद्यान में एक साधु ने कुछ घोड़ियां (वडवा) देखीं। उपाश्रय में आया। विस्मित मुद्रा बनाकर बोला—अहो! आज मैंने एक आश्चर्य देखा। साधुओं ने पूछा—क्या देखा? वह बोला—घोड़े जैसे मुंह वाली स्त्रियां। (पहला पद) उद्यान में देखी। (दूसरा पद) देखने के अभिप्राय से साधु चलने लगे। (तीसरा पद) वडवा को देखते हैं। (चौथा पद) वहां से लौट आते हैं। (पांचवां पद) गुरु के पास आलोचना करते हैं। (छठा पद) पुनः उत्तर प्रदान करना कि—हां, वे सब घोड़े के समान दीर्घ और अधोमुख स्त्रियां हैं अतः मैंने ठीक ही कहा था। (सातवां पद) दूसरे साधु पूछते हैं—पर वे स्त्रियां कहां हैं? वह पुनः उत्तर देता है तो क्या पुरुष हैं? (स्त्रीलिंग ही तो हैं) (आठवां पद) आप सब तो एक हो गए। (नवां पद) आप सब प्रवचन-बाह्य हैं। (दसवां पद)

३१२. उपर्युक्त अश्वमुखी स्त्रियां नामक द्वार में वर्णित दस पदों के प्रायश्चित्त क्रमशः लघुमास, गुरुमास, चतुर्लघु, चतुर्गुरु, षड्लघु, षड्गुरु, छेद, मूल, अनवस्थाप्य और पारांचित हैं।

३१३. एक साधु ने दूसरे साधु से पूछा—चलोगे? (भिक्षाचर्या के लिए चलोगे?) उसने उत्तर दिया—अवश्य। पहले साधु ने कहा—ठीक है। तब उठो चलें। उसने कहा—नहीं, अभी नहीं जाता। पहले ने पूछा—क्यों? दूसरा—क्योंकि अभी तक परलोक या मोक्ष जाने का काल नहीं आया।

३१४. भिक्षा हेतु किस दिशा में जाओगे? ऐसा पूछने पर दूसरा बोला—पूर्व में। जैसे ही पहला साधु पश्चिम दिशा में प्रस्थित हुआ, दूसरा भी उसके पीछे चलने लगा। पहला बोला—तुम तो कह रहे थे, 'पूर्व में जाऊंगा', पश्चिम में कैसे आए? दूसरा बोला—इससे पश्चिम दिशावर्ती गांव के लिए यह पूर्व दिशा नहीं है क्या, अर्थात् है ही।

३१५. 'आओ आर्य! भिक्षा के लिए चलें।' एक साधु के ऐसा बोलने पर दूसरा बोला—आप चलें, मुझे तो एक ही घर (कुल) में जाना है। उसे अनेक घरों में जाते देख पहले ने पूछा—आप तो कह रहे थे मुझे एक घर में जाना है, फिर अनेक घरों में प्रवेश कैसे? दूसरा बोला—एक शरीर से युगपत् अनेक घरों में कैसे जा सकता हूं। अतः एक मैं ही जा रहा हूं।

३१६. वच्चह एगं दव्वं, घेच्छं णेगगह पुच्छितो भणति।
गहणं तु लक्खणं पुग्गलाण णऽण्णेसि तेणेगं^१ ॥३१६॥
३१७. अणिकाचिते लहुसगो, णिकाइए बादरो य वत्थादी।
ववहार दिसा खेत्ते, कोधादी^२ सेवती जं च ॥३१७॥ नि ५८ ॥
३१८. कंदप्पा परवत्थं, णूमेऊणं न साहती पुट्टो।
जं वा निग्गह पुट्टो, भणेज्ज दुट्ठंतरप्पा^३ वा ॥३१८॥
३१९. कोहेण व माणेण व, माया लोभेण सेवितं जं तु।
सुहुमं व बादरं वा, सव्वं तं बादरं जाण ॥३१९॥
३२०. लहुगो लहुगा गुरुगा, अणवट्टप्पो य होति आदेसो।
तिण्हं एगतराए, पत्थारपसज्जणं कुज्जा ॥३२०॥
३२१. उड्डाहरक्खणट्ठा, संजमहेतुं च बोहिगे तेणे।
खेत्तम्मि व पडिणीए, सेहे^४ वा खिप्प लोए वा ॥३२१॥ नि ५९ ॥
३२२. भुंजामु कमढगादिसु^५, मिगादि^६ न वि पास अहव तुसिणीए।
बोहिग गहण दियादी^७, तेणेसु व एस सत्थो त्ति ॥३२२॥
३२३. भिक्खुगामादि^८ उवासग, पुट्टो दाणस्स नत्थि णासो त्ति।
एस समत्तो लोगो, सक्को अभिधारते^९ छत्तं ॥३२३॥

१. बृभा ६०८७, जीभा ९००।

२. कोहादी आविट्ठो मुसं भासति, सो सव्वो बादरो मुसावातो दट्टव्वो (चू)।

३. अंतरप्पा चेतो चित्तमिति एगट्ठं (चू)।

४. सेहो पक्खजाभिमुहो आगतो पव्वतितो वा (चू)।

५. कमढगं णाम करोडगागारं अद्दंणेण कज्जति, आदिसद्दातो

करोडगं चैव घेप्पति (चू)।

६. आदिसद्दातो सुअराती (चू)।

७. दियादि त्ति अब्राह्मणोपि ब्राह्मणोऽहमिति ब्रवीति (चू)।

८. भिक्खुगा रत्तपडा, आदिसद्दातो परिव्वायगादि (चू)।

९. यऽभिधा^० (मु), 'रती (भ)।

३१६. 'भिक्षा के लिए चलें।' ऐसा सुन दूसरा साधु बोला—आप चलें। मैं तो केवल एक द्रव्य ही लूंगा। भिक्षा में अनेक द्रव्यों का ग्रहण करते देख पहले ने पूछा—आर्य! आपने तो कहा था, एक ही द्रव्य लूंगा, फिर? उसने उत्तर दिया—छह द्रव्यों में केवल पुद्गल-द्रव्य को ही ग्रहण कर रहा हूं।

३१७. अनिकाचित मृषावाद^१ (सामान्य रूप से बोला गया मृषा वचन) लघुस्वक अर्थात् सूक्ष्म मृषावाद है। निकाचित मृषावाद बादर मृषावाद है। जैसे वस्त्रादि को छिपाने के बाद सामूहिक पूछने पर न बोलना सूक्ष्म मृषावाद और व्यक्तिशः पूछने पर न कहना बादर मृषावाद है। अथवा क्रोध आदि के कारण सेवित वह मृषावाद जो व्यवहार को अन्यथा करता है, दिशापहार करता है^२ अथवा आभाव्य क्षेत्र नहीं देता, वह बादर मृषावाद है।

३१८. किसी साधु ने कन्दर्पवश (मजाक में) दूसरे साधु का वस्त्र छिपा लिया। वह साधु सबसे पूछता है पर वह (छिपाने वाला) बोलता नहीं—यह अनिकाचित मृषावाद है। किसी अन्य साधु ने उसे बता दिया कि अमुक ने तुम्हारा वस्त्र छिपाया है। उसके बाद वह निश्चय होने पर उस (छिपाने वाले) साधु से पूछता है, फिर भी वह सदोष (मायापूर्ण) अभिप्राय से बोलता है, यह बादर मृषावाद है।

३१९. वह मृषावचन, जो क्रोध, मान, माया अथवा लोभ से बोला जाता है, चाहे वह सूक्ष्म है या बादर—उस सारे मृषावाद को बादर मृषावाद ही जानना चाहिए।

३२०. सूक्ष्म मृषावाद का प्रायश्चित्त है—लघुमास। बादर मृषावाद का प्रायश्चित्त चतुर्लघु और दिशापहार का प्रायश्चित्त चतुर्गुरु है। सूत्रादेश के अनुसार साधर्मिक स्तैन्य का प्रायश्चित्त है—अनवस्थाप्य। इस प्रकार मृषावाद के तीन प्रकार हो जाते हैं—जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। तीनों में से किसी प्रकार का मृषावाद बोले, प्रसंग से दोष और आरोपणा का विस्तार किया जाता है। यदि प्रथम बार में जघन्य मृषावाद बोलता है तो निकाचना आदि पदों में उसके आगे के प्रायश्चित्त की आरोपणा होती है। इसी प्रकार मध्यम और उत्कृष्ट मृषावाद के विषय में ज्ञातव्य है।

३२१. मृषावाद की कल्पिका प्रतिसेवना सात द्वारों से ज्ञातव्य है—१. उड्डाह (लोकोपवाद) से रक्षा हेतु, २. संयम के लिए, ३. बोधिक (म्लेच्छों) से गृहीत होने पर, ४. स्तेन गृहीत होने पर, ५. प्रत्यनीक क्षेत्र में, ६. शैक्षनिमित्त, ७. शैक्ष के लोच के निमित्त।^३

३२२. कोई ब्राह्मण पूछे कि आप लोग आहार किसमें करते हैं? उड्डाह रक्षा के लिए भिक्षु कहता है—हम कमढक (कटोरे के आकार का पात्र) अथवा कटोरे में खाते हैं। कोई शिकारी पूछे—भगवन्! क्या आपने इधर मृग आदि को देखा। संयम रक्षा हेतु मुनि कहता है—नहीं। अथवा वह मौन रह जाता है। म्लेच्छों से घिर जाने पर ब्राह्मण न होने पर भी स्वयं को ब्राह्मण बताना, चोरों से घिर जाने पर सार्थ न आते हुए भी पीछे सार्थ आ रहा है—यह कहना क्रमशः तृतीय और चतुर्थ द्वार विषयक कल्पिका प्रतिसेवना है।

३२३. वैदिक संन्यासी (भगवां वेशधारी), परिव्राजक आदि से भावित क्षेत्र में श्रद्धालु पूछें—भगवन्! संन्यासी को दान देने का कुछ फल मिलता है या नहीं? साधु कहते हैं—दिया हुआ दान व्यर्थ नहीं जाता। कोई शैक्ष दीक्षा लेने हेतु आए। उसके ज्ञातिजन उसे पुनः ले जाना चाहें, विपरिणत करना चाहें और पूछें कि वह कहां है? तो जानते हुए भी न बताए। शैक्ष लोच में असहिष्णु हो जाए, उस समय कहे कि यह लो, लोच खत्म हो गया। अथवा यह कहे कि देखो! इन्द्र छत्र धारण किए खड़ा है—इत्यादि कहना शैक्ष के लोच विषयक मृषावाद की कल्पिका प्रतिसेवना है।

१. निभा १ चू. पृ. १११; केणति साहुणा कस्सति साहुस्स कंदप्पा वत्थं णूमियं.....एवं वत्थहारिणी अवलवंतस्स अणिकातियं वयणं भवति।

२. निभा ३ चू. पृ. २९; दिशेति व्यपदेशः प्रव्रजनकाले उपस्थापनाकाले वा। यो आचार्य उपाध्यायो वा व्यपदिश्यते सा तस्य दिशा इत्यर्थः। तस्यापहारी—तं परित्यज्य अन्यमाचार्य उपाध्यायं वा प्रतिपद्यते।

३. द्वारों के विस्तार हेतु द्रष्टव्य गा. ३२२, ३२३।

३२४. दुविधं च होति तेष्णं, लोइय-लोउत्तरं समासेणं ।
दव्वे खेत्ते काले, भावम्मि य होति कोधादी^१ ॥३२४॥ नि ६० ॥
३२५. महिसादिछेत्तजाते, जहियं वा जच्चिरं विवच्चासं ।
मच्छरऽभिमाण धण्णे, दग माया लोभओ सव्वं^२ ॥३२५॥ नि ६१ ॥
३२६. दुपद-चउप्पदमादी, सच्चित्ताचित्त होति वत्थादी^३ ।
मीसे सचामरादी, 'वत्थूमादी तु'^४ खेत्तम्मि ॥३२६॥
३२७. जाइयवत्था अमुगे^५, काले दाहं न देति पुण्णे वि ।
एसो उ विवच्चासो, जं च परक्कप्पणो कुणति ॥३२७॥
३२८. कोहा गोणादीणं, अवहारं कुणति बद्धवेरो तु^६ ।
माणे कस्स बहुसती^७, परधण्ण स वत्थु पक्खेवो ॥३२८॥
३२९. वारग सारणि अण्णावदेस पादेण णिक्क^८ भेत्तूणं ।
लोभेण वणिगमादी, सव्वेसु निवत्तती लोहो ॥३२९॥
३३०. सुहुमं च बादरं वा, दुविधं लोगुत्तरं समासेणं ।
तण-डगल-छार^९-मल्लग, लेवित्तिरि^{१०} य^{११} अविदिण्णे ॥३३०॥ नि ६२ ॥
३३१. अविदिण्ण पाडिहारिय, सागारिय पढमखेत्तगहणे^{१२} य ।
साधम्मियऽण्णधम्मिय, कुल-गण-संघे य तिविधं तु ॥३३१॥ नि ६३ ॥

१. चूर्णि में इस गाथा के लिए 'एसा चिरंतणगाहा' का उल्लेख है ।
२. चूर्णिकार ने इस गाथा के लिए उल्लेख किया है—'एयाए चिरंतणगाहाए इमा भद्दबाहुसामिकया चेव वक्खणगाहा' ।
३. आदिसद्दातो हिरण्णादी (चू) ।
४. वत्थूमादीओ (चू) ।
५. दमुए (भ, मु) ।

६. तु शब्दो कोहतेण्णावधारणे (चू) ।
७. बहुस्सति (भ, मु) ।
८. णिक्का—सारणी (चू) ।
९. अगणिपरिणामियमिंधणं च्छारो भण्णति (चू) ।
१०. लेवो भायणरंगणो (चू) ।
११. चसद्दाओ कुडमुहादयो घेप्पंति (चू) ।
१२. 'मगहणखेत्ते (भ, मु) ।

३२४. स्तैन्य संक्षेप में दो प्रकार का होता है—१. लौकिक और २. लोकोत्तर। उनके पुनः चार-चार भेद हैं—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। क्रोध आदि (कषाय चतुष्क) भाव अदत्तादान (स्तैन्य) के हेतु हैं।

३२५. परकीय द्रव्य महिष आदि का अपहरण द्रव्य अदत्तादान है। क्षेत्र का अपहरण क्षेत्र अदत्तादान है। जिस काल में अथवा जितने काल तक विपर्यास पूर्वक दूसरे की वस्तु का भोग किया जाए, वह काल अदत्तादान है। मात्सर्य—क्रोध के कारण वस्तु का अपहरण, मान में धान्यप्रक्षेप आदि और माया में जल की सारिणी का उदाहरण है। कूट तोल-माप आदि के द्वारा व्यापारी वर्ग जो अदत्त ग्रहण करता है, वह सारा लोभहेतुक अदत्तादान का उदाहरण है।^१

३२६. लौकिक द्रव्यस्तैन्य सचित्त, अचित्त और मिश्र के भेद से तीन प्रकार का होता है। दूसरे के द्विपद (दास आदि), चतुष्पद (गाय, भेंस आदि) तथा अपद (आम्र आदि) का अपहरण सचित्त द्रव्यस्तैन्य, वस्त्र आदि का अपहरण अचित्त और चामर सहित अश्व आदि का अपहरण मिश्रद्रव्य स्तैन्य है। वास्तु—तलघर, प्रासाद आदि का अपहरण क्षेत्र स्तैन्य है।

३२७. अमुक समय तुम्हें लौटा दूंगा—ऐसा कहकर मांगे गए वस्त्र आदि को कालावधि पूर्ण होने पर भी न देना—काल का विपर्यास है। इस प्रकार काल का विपर्यास कर जितने समय तक परकीय वस्तु को अपनी बनाता है—स्वयं रखता है, वह काल अदत्तादान है।

३२८. वैर के कारण क्रोध से दूसरे की गाय आदि का अपहरण करना क्रोधहेतुक अदत्तादान है। मानहेतुक अदत्तादान—दो कृषकों में विवाद हो गया—किसके हाथ से अधिक अनाज पैदा होता है। समान धान बोया गया। कहीं मैं हार न जाऊँ, ऐसा सोच उसने दूसरे के धान्य का अपहरण कर स्वयं के धान्य में मिला लेना, यह मानहेतुक स्तैन्य है।

३२९. बहुत से कृषक एक खेत में बारी-बारी से पानी देते हैं। उनमें एक कृषक अन्य कृषक की बारी में किसी बहाने से (न दिख सके ऐसे स्थान में स्थित होकर) पैर से सारणी को फोड़ देता है, ताकि उसका पानी भी स्वयं की क्यारी में आ सके—यह मायाहेतुक स्तैन्य है। लोभ के कारण व्यापारी आदि दूसरों की आंख बचाकर कूट तोलमाप आदि करते हैं—वह लोभहेतुक स्तैन्य है। अथवा क्रोध आदि से होने वाले सारे ही स्तैन्य में लोभ अन्तर्भूत ही रहता है।

३३०. लोकोत्तर स्तैन्य संक्षेप में दो प्रकार का है—१. सूक्ष्म और २. बादर।^२ अदत्त तृण (घास), मिट्टी का ढेला, राख, शराव (सिकोरा), लेप आदि को लेना तथा स्वल्पकाल के लिए भी बिना अनुज्ञा कहीं विश्राम आदि के लिए ठहरना लोकोत्तर स्तैन्य है।

३३१. लोकोत्तर स्तैन्य निम्नांकित ग्यारह द्वारों से ज्ञातव्य है—१. गुरुअदत्त, २. प्रातिहारिक, ३. सागारिक (शय्यातर), ४. प्रथम समवसरण (वर्षाकाल) में ग्रहण, ५. परक्षेत्र में ग्रहण, ६. साधर्मिक, ७. अन्यधार्मिक, ८. कुल, ९. गण, १०. संघ और ११. त्रिविध द्रव्य।^३

१. विस्तार हेतु द्रष्टव्य, गा. ३२८-३२९।

२. सूक्ष्म स्तैन्य का अर्थ है—स्वल्प। स्वल्प मात्रा अथवा स्वल्प मूल्य वाली वस्तु का ग्रहण। अथवा जिसमें पनक प्रायश्चित्त आए, वह सूक्ष्म स्तैन्य है। बहुमात्रा या बहुमूल्य वस्तु का ग्रहण अथवा जिसमें लघुमास या उससे अधिक प्रायश्चित्त प्राप्त हो, वह बादर स्तैन्य है।

३. उपर्युक्त द्वारों के विवेचन हेतु द्रष्टव्य, गा. ३३३-३३९।

३३२. तण-डगल^१-छार-मल्लग, पणगं लेवित्तिरेसु^२ लहुगो तु।
दव्वादविदिण्णे पुण, 'जिणेहि जह उवधिनिप्फण्णं'^३ ॥३३२॥
३३३. लद्धं न निवेदेती, परिभुंजति वाऽनिवेदितमदिण्णं।
तत्थोवधिनिप्फण्णं, अणवट्टप्पो व आदेसा ॥३३३॥
३३४. पडिहारियं अदेते^४, गिहीण उवधीकतं तु पच्छत्तं।
'सागारिसंतियं वा'^५, जं भुंजति असमणुण्णातं ॥३३४॥
३३५. गुरुगा तु समोसरणे, परखेत्ते^६ऽचित्त उवधिनिप्फण्णं।
सच्चित्ते चतुगुरुगा, मीसे संजोग पच्छत्तं ॥३३५॥
३३६. साधम्मिया^७ य तिविधा, तेसिं तेण्णं तु^८ चित्तमच्चित्तं^९।
खुड्ढादी^{१०} सच्चित्ते, गुरुग उवधिणिप्फण्णमच्चित्ते^{११} ॥३३६॥
३३७. एते च्चिय पच्छत्ता, कुलम्मि दोहि गुरुगा मुणेतव्वा।
तवगुरुगा तु गणम्मी, कालगुरू होति संघम्मि ॥३३७॥
३३८. एते चेव गिहीणं, तवकालविसेसवज्जिता होंति।
डगलादिखेत्तवज्जं^{१२}, पुव्वुत्तं तं पि य गिहीसु ॥३३८॥
३३९. सच्चित्तादी तिविधं, अहवा उक्कोस-मज्झिम-जहण्णं।
आहारोवधि-सेज्जा, तिविधं वेदं दुपक्खे वि^{१३} ॥३३९॥
३४०. कोहेण व माणेण व, माया लोभेण सेवितं जं तु।
सुहुमं व बादरं वा, सव्वं तं बादरं होति^{१४} ॥३४०॥

१. डगलग (मु)।

२. °त्तिरीसु (मु)।

३. जिणेहि उवधीणि° (मु)।

४. अदेते (दे)।

५. सागारियं ति जं वा (दे)।

६. परक्खित्ते (मु)।

७. समाणधम्मिया साहम्मिया स्वप्रवचनं प्रतिपन्नेत्यर्थः (चू)।

८. तु शब्दो यच्छब्दे तच्छब्दे च द्रष्टव्यः (चू)।

९. °मचित्तं (मु)।

१०. आदिसद्दातो अखुड्ढो वि (चू)।

११. गाथा के उत्तरार्ध में छंदभंग है।

१२. आदिसद्दातो तणच्छार-मल्लग-पीढ-फलग-संधारगा
य घेप्पति(चू)।

१३. वी (भ)।

१४. होंति (दे)।

३३२. घास, ढेला, राख और शराव को अदत्त ग्रहण करने से पनक प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। अदत्त लेप ग्रहण करने तथा वृक्ष आदि के नीचे अनुज्ञा बिना विश्राम करने का प्रायश्चित्त है—लघुमास। अदत्त प्रतिविशिष्ट द्रव्य का ग्रहण करने पर भगवान् ने उपधिनिष्पन्न प्रायश्चित्त का प्ररूपण किया है।^१

३३३. भिक्षा आदि के लिए निर्गत साधु कोई उपकरण आदि ले आया। उसने आचार्य, उपाध्याय आदि को निवेदन नहीं किया। निवेदन किए बिना उसका परिभोग कर लिया। इसमें उसे उपधिनिष्पन्न प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। अथवा सूत्रादेश से उसे अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

३३४. गृहस्थ से प्रातिहारिक उपकरण लाए और उन्हें न लौटाए तथा अनुज्ञा के बिना शय्यातर के उपकरणों का परिभोग करे तो उपधिनिष्पन्न प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

३३५. प्रथम समवसरण अर्थात् वर्षाकाल में भगवान् द्वारा अननुज्ञात वस्त्र आदि उपधि को ग्रहण करने पर चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। दूसरे के (अन्यगच्छीय) क्षेत्र में अचित्त उपधि ग्रहण करने पर उपधिनिष्पन्न, सचित्त उपधि ग्रहण करने पर चतुर्गुरु और मिश्र उपधि ग्रहण करने पर संयोग प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

३३६. साधर्मिक के तीन प्रकार हैं—१. साधु, २. पार्श्वस्थ आदि, ३. श्रावक।^१ उनसे सम्बन्धित स्तैन्य दो प्रकार का होता है—सचित्त और अचित्त। सचित्त (बालक आदि) का अपहरण करने पर चतुर्गुरु और अचित्त उपधि (आदि का) अपहरण करने पर उपधिनिष्पन्न प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

३३७. साधर्मिक स्तैन्यविषयक प्रायश्चित्त ही कुल स्तैन्य में ज्ञातव्य है। केवल कुल स्तैन्य में वे प्रायश्चित्त तप और काल दोनों से गुरु होते हैं। वे ही प्रायश्चित्त गणस्तैन्य में तप गुरु और काल लघु तथा संघस्तैन्य में कालतः गुरु और तप से लघु होते हैं।

३३८. गृहस्थ साधर्मिक के विषय में भी पूर्वोक्त प्रायश्चित्त ही ज्ञातव्य हैं, केवल उन्हें तप और काल से विशेषित नहीं किया जाता। ढेला आदि परगच्छीय क्षेत्र में ग्रहण करना अवर्ज्य है अर्थात् उनको ग्रहण करने का प्रायश्चित्त नहीं। जो पूर्व गाथा (गा. ३३२) में पनक प्रायश्चित्त कहा गया, वह गृहस्थ साधर्मिक के अदत्त की अपेक्षा से है, परक्षेत्र की अपेक्षा से नहीं।

३३९. साधु और साध्वी—दोनों ही पक्षों में द्रव्यविषयक स्तैन्य के तीन-तीन प्रकार हो जाते हैं—१. सचित्त, २. अचित्त और ३. मिश्र। अथवा—१. उत्कृष्ट, २. मध्यम, ३. जघन्य। अथवा १. आहार, २. उपधि और ३. शय्या। ये सभी प्रकार के स्तैन्य पुनः सूक्ष्म और बादर के भेद से दो-दो प्रकार के हो जाते हैं।

३४०. वह अदत्तादान, जिसका आसेवन क्रोध, मान, माया अथवा लोभ के कारण किया जाए, चाहे वह सूक्ष्म हो या बादर, उस सारे अदत्तादान को बादर अदत्तादान ही जानना चाहिए।

१. जघन्य उपकरण के अदत्त ग्रहण का पनक, मध्यम उपकरण का मासिक और उत्कृष्ट उपकरण का चातुर्मासिक प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२. लिंग और प्रवचन से भंग रचना करने पर चतुर्भंगी में प्रथम तीन भंग साधर्मिकों के और चौथा भंग अन्यधार्मिक (लिंग और प्रवचन दोनों से असाधर्मिक) का बनता है। अथवा त्रिविध साधर्मिक में साधु, साध्वी एवं श्रावक का ग्रहण किया जा सकता है।

३४१. पंचादी लहु-लहुगा, गुरु अणवद्वो व होति आदेसा ।
चउणहँ एगतराए, पत्थारपसज्जणं^१ कुज्जा ॥ ३४१ ॥
३४२. असिवे ओमोदरिए, 'रायदुट्टे'^२ भए व गेलण्णे ।
दव्वाऽसति वोच्छेदे, असंविगो^३ वावि आगाढे ॥ ३४२ ॥ नि ६४ ॥
३४३. असिवगहिता^४ तणादी, 'अलभंताऽसंथरे'^५ सयं गिण्णे ।
एमेव चउ अदिण्णे, पडिहारिय पढमखेत्ते य ॥ ३४३ ॥ नि ६५ ॥
३४४. असिवगहित त्ति काउं, ण देंति दुक्खं ठिता व^६ णिच्छोढुं^७ ।
अवि य ममतं छिज्जति, छेवगगहितोवभुत्तेसुं^८ ॥ ३४४ ॥
३४५. साधम्मियत्थलीसुं^९, जाय अदेंते^{१०} भणावण गिहीसुं ।
असती पगासगहणं, बलवति दुट्टेसु छण्णं^{११} पि ॥ ३४५ ॥
३४६. साधम्मियत्थलाऽसति, सिद्धगिहे^{१२} सावगऽण्णतित्थीसु ।
उक्कोस-मज्झिम जहण्णगम्मि जं अप्पदोसं तु ॥ ३४६ ॥
३४७. एमेव गिहत्थेसु वि, भद्गमादीसु पढमतो गिण्णे^{१३} ।
अभियोगाऽसति^{१४} ताले^{१५}, ओसावणि^{१६} अंतधाणादी^{१७} ॥ ३४७ ॥
३४८. एमेव य ओमम्मि वि, 'रायदुट्टे'^{१८} भए व गेलण्णे ।
अगदोसधादि दव्वं, कल्लाणगं^{१९} हंसतेल्लादी^{२०} ॥ ३४८ ॥

१. पत्थारो णाम कुल-गण-संघविणासो भण्णति (चू) ।

२. रायदुट्टे (मु, पा) ।

३. संविं (पा) ।

४. असिवं मारी भण्णति (चू) ।

५. °भंत असं (दे) ।

६. य (भ) ।

७. णिच्छुभिओ (दे) ।

८. छेयगं (भ), असिवं च्छेवगं भण्णति (चू) ।

९. थली—देवद्रोणी (चू) ।

१०. अदत्ते (मु) ।

११. च्छण्णं (मु) ।

१२. सिद्धगए (भ, मु), णियमा सुक्कंवरधरो खुरमुंडो ससिही असिही वा णियमा अडंडगो अपत्तगो य सिद्धपुत्तो भवति (चू) ।

१३. गेण्णे (दे) ।

१४. अभियोगो वसीकरणं तं पुण विज्जा-चुण्ण-मंतादीहिं (चू) ।

१५. तालुग्घाडणीए विज्जाए तालगाणि विहाडेऊण (चू) ।

१६. ओसावण (भ, मु) ।

१७. जेणंजणविज्जादिणा अद्दिस्सो भवति, तं अंतद्धानं भण्णति (चू) ।

१८. रायदुट्टे (मु) ।

१९. कल्लाणगं वा घृतं (चू) ।

२०. हंसो पक्खी भण्णति, सो फाडेऊण मुत्तपुरीसाणि णीह-रिज्जंति ताहे सो हंसो दव्वाण भरिज्जति ताहे पुणरवि सो सीविज्जति, तेण तदवत्थेण तेल्लं पच्चति, तं हंसतेल्लं भण्णति । आदिसहातो सतपाग-सहस्सपागा य तेल्ला घेप्पंति (चू) ।

३४१. क्रोध आदि से आसेवित जघन्य अदत्तादान का पनक, मध्यम का मासलघु और उत्कृष्ट का चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। सचित्त अदत्त का ग्रहण करने पर चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। अथवा सूत्रादेश से इन सभी का प्रायश्चित्त है अनवस्थाप्य। इसके अतिरिक्त इन चारों में से एक का आसेवन करने पर भी राजा आदि प्रस्तार अर्थात् कुल, गण या संघ का विनाश कर सकते हैं।

३४२. अदत्तादान की कल्पिका प्रतिसेवना इन आठ द्वारों से ज्ञातव्य है—१. अशिव (मारी आदि), २. अवमौदरिका (दुर्भिक्ष), ३. राजद्वेष, ४. भय, ५. ग्लान्य (रोग), ६. द्रव्य का अभाव, ७. सूत्रार्थ व्यवच्छेद, ८. असंविग्न इत्यादि आगाढ़ प्रयोजनों में स्तैन्य द्वितीय पद (अपवाद) है।

३४३. महामारी आदि के समय यदि याचित घास, ढेला आदि न प्राप्त हो तो भिक्षु उन्हें अदत्त ले सकता है। अशिवगृहीत क्षेत्र में अशक्यता की स्थिति में अशन आदि भी ग्रहण किए जा सकते हैं। इसी प्रकार अशिवगृहीत होने पर प्रातिहारिक, शय्यातर सम्बन्धी एवं परक्षेत्र सम्बन्धी अदत्त के अपवाद ज्ञातव्य हैं।

३४४. जिस समय साधु घास आदि उपकरण प्रातिहारिक रूप में लाए, उस समय अशिव नहीं था। प्रत्यर्पण का काल आने से पूर्व वे अशिवग्रस्त हो गए। वे उन्हें पुनः गृहस्थों को नहीं लौटाते, क्योंकि उनका उपयोग करने से कहीं गृहस्थ अशिवग्रस्त न हो जाएं। मुनियों ने अशिवकाल में कष्ट भोगे हैं, इनका उपभोग किया है, यह सोचकर गृहस्थ उनका स्पर्श तक नहीं करते। ये अशिवग्रस्त साधुओं के द्वारा उपभुक्त हैं अतः गृहस्थों का उन घास आदि के प्रति ममत्व छिन्न हो जाता है।

३४५. अशिवग्रस्त क्षेत्र में अथवा अशिवमुक्त होते ही किसी ऐसे क्षेत्र में जहां आहार आदि दुर्लभ हों, वहां पर्याप्त आहारादि न मिलने पर साधर्मिकों की सत्रशाला में आहार आदि की याचना करे। यदि पार्श्वस्थ देना न चाहें तो गृहस्थों के द्वारा कहलवाए कि यह देवद्रोणी सबके लिए है, फिर क्यों नहीं देते? फिर भी यदि न दें तो स्वयं उनके सामने ग्रहण कर लें। यदि वे पार्श्वस्थ राजा आदि बलवान लोगों से आश्रयप्राप्त अथवा दुष्ट हों तो आहार आदि प्रच्छन्न रूप में ले।

३४६. यदि साधर्मिकों की सत्रशाला न हो तो गृहस्थों में सबसे पहले सिद्धपुत्र^१ से आहार आदि ग्रहण करे। सिद्धपुत्र न हो तो श्रावक अथवा अन्यतीर्थिक गृहस्थों से भी अदत्त आहार आदि लिया जा सकता है। आहार आदि ग्रहण करने में ज्ञातव्य है कि सभी स्थानों में पहले जघन्य का ग्रहण हो, फिर मध्यम और उत्कृष्ट का, अथवा जहां जो अल्पदोष युक्त हो, उसका ग्रहण किया जाए।

३४७. जिस प्रकार सिद्धपुत्र, श्रावक आदि गृहस्थों के विषय में अदत्त ग्रहण का क्रम है, उसी प्रकार अन्यतीर्थिक (मिथ्यादृष्टि) गृहस्थों में सर्वप्रथम यथाभद्रक गृहस्थ से आहारादि ग्रहण करे, पश्चात् अन्य से। प्रकट या अप्रकट में अदत्तग्रहण करने की यतना यह है कि उन्हें विद्या, चूर्ण आदि के द्वारा वश में करके ग्रहण करे। वशीकरण (अभियोग) न हो तो तालोद्घाटिनी से ताला खोलकर ले या अवस्वापिनी से नींद दिलाकर ले या अंजन आदि से अन्तर्हित होकर अदत्त का ग्रहण करे।

३४८. अशिव द्वार के अन्तर्गत जो प्रातिहारिक, शय्यातर सम्बन्धी आदि द्वारों के अपवाद निरूपित हैं, वे ही यथायोग्य अवम, राजद्वेष, भय एवं ग्लान्य द्वार के अन्तर्गत वक्तव्य हैं। आगाढ़ रोगी के स्वास्थ्य लाभ हेतु जो अगद, औषध आदि द्रव्य अथवा कल्याणक घी, हंसतैल^२ आदि दुर्लभ द्रव्य अपेक्षित हों और गवेषणा के बाद भी न मिले तो अभियोग आदि पूर्वोक्त क्रम^३ से गृहीतव्य हैं।

१. सिद्धपुत्र—भार्यासहित या भार्यारहित वह गृहस्थ जो नियमतः श्वेत वस्त्र धारण करता है, सिर का क्षुर से मुंडन करता है, शिखायुक्त या शिखारहित होता है तथा जो पात्र और डंडा नहीं रखता, वह सिद्धपुत्र कहलाता है।

२. हंसतैल—हंस के शरीर से मूत्र, पुरीष आदि निकालकर उसे औषधीय द्रव्यों से भर दिया जाता है, उसका सीवन कर, उसे तैल में पकाने से जो तैल तैयार होता है, वह हंसतैल कहलाता है।

३. अभियोग, तालोद्घाटिनी, अवस्वापिनी एवं अन्तर्धान विद्या—यह क्रम है।

३४९. पत्तं^१ वा उच्छेदे, गिहि-खुडुगमादिगं तु वुग्गाहे^२ ।
निद्धम्म 'खुडुमखुडुगं वा जततु'^३ त्ति एमेव^४ ॥ ३४९ ॥
३५०. तेसु तु तमणुण्णातं, अणणुण्णातगहणे विसुद्धो तु ।
किं तेणं अस्संजमपंके^५ खुत्तं^६ तु^७ कडुंते ॥ ३५० ॥
३५१. सुहसीलतेणगहिते, भवपल्लिं^८ तेण जगडितमणाहे^९ ।
जो कुणति कूवियत्तं, सो वण्णं कुणति तित्थस्स ॥ ३५१ ॥
३५२. मेहुण्णं पि य तिविधं, दिव्वं माणुस्सगं तिरिच्छं वा^{१०} ।
दव्वे खेत्ते काले, भावम्मि य होति कोधादी ॥ ३५२ ॥ नि ६६ ॥
३५३. रूवे रूवसहगते, दव्वे खेत्ते य जम्मि खेत्तम्मि ।
दुविधं छिण्णमछिण्णं, जहियं वा जच्चिरं कालं ॥ ३५३ ॥
३५४. जीवरहितो तु देहो, पडिमाओ भूसणेहि वा विजुत्तं^{११} ।
रूवमिह^{१२} सहगतं पुण, जीवजुत्तं भूसणेहिं वा ॥ ३५४ ॥
३५५. कोधादी मच्छरता, अभिमाण पदोसऽकिच्च पडिणीए^{१३} ।
तच्चण्णिगि अमणुस्से^{१४}, रूय^{१५} घण उवसग्ग कप्पट्ठी ॥ ३५५ ॥
३५६. कोहादिसमभिभूतो, जो तु अबंभं निसेवति मणूसो^{१६} ।
चउअण्णतरा मूलुप्पत्ति^{१७} तु सव्वत्थ पुण लोभो ॥ ३५६ ॥
३५७. सेहुब्भामग भिक्खुणि^{१८}, अंतर वयभंग वियडणा कोवे ।
अट्ठितोभासमणिच्छं, सएज्झि 'अपुमो त्ति'^{१९} माणम्मि ॥ ३५७ ॥

१. पत्तं णाम सुत्तत्थ-तदुभयस्स ग्रहण-धारणाशकेत्यर्थः (चू) ।
२. विवरीयं गाहते वुग्गाहते, मा गिहवासे रम इति वुत्तं भवति (चू) ।
३. खुडुग ऽखुडुगं वा जयतु (दे), खुडुगमखु (भ) ।
४. तेमेव (क) ।
५. असंजम (मु) ।
६. खुत्तं तु खुत्तो णिसण्णो (चू) ।
७. ते (दे) ।
८. बहुप्राण्युपमदो यत्र सा पल्ली (चू) ।
९. जगडितो प्रेरितो (चू) ।

१०. च (दे, मु) ।
११. विजुत्तं (दे) ।
१२. रूवम्मि वि (दे) ।
१३. पडिणीयग्गहणातो लोभो घेप्पति (चू) ।
१४. अमणुस्से त्ति णपुंसगं (चू) ।
१५. रूय (भ, मु), रूये त्ति रोगे (चू) ।
१६. मणुस्सो (भ, मु) ।
१७. 'पत्ती (भ, दे) ।
१८. भिक्खुणि (मु) ।
१९. अपुमं ति (क) ।

३४९. सूत्रार्थ व्यवच्छेद की स्थिति हो तो सूत्र और अर्थ को ग्रहण और धारण करने में समर्थ^१ गृहस्थ-बालक आदि को व्युद्ग्राहित किया जा सकता है—अपहृत किया जा सकता है। इसी प्रकार पार्श्वस्थ^२ आदि के शैक्ष अथवा अशैक्ष को भी संयम योगों में उद्यम करो—इत्यादि निरूपण से उनसे उपरत किया जा सकता है—विपरिणत कर अपहरण किया जा सकता है।

३५०. पार्श्वस्थ आदि के शिष्य का ग्रहण उनकी अनुज्ञा पूर्वक करे। यदि वे अनुज्ञा न दें तो अननुज्ञात (अदत्त) का ग्रहण करने पर भी निर्ग्रन्थ विशुद्ध हैं क्योंकि असंयम रूपी कीचड़ में निमग्न व्यक्ति को निकालने में स्तैन्य क्या? अर्थात् वहां वह असंयममय जीवन जीता। अतः वहां से व्युद्ग्राहित करना संयम का हेतु होने से अशुद्ध नहीं।

३५१. सुखशीलता (सुविधावाद) रूपी स्तेन से गृहीत एवं संसार रूपी पल्ली की ओर ले जाए जाते हुए अनाथ व्यक्ति को जो मुक्त करवाता है^३, वह तीर्थ की प्रभावना करता है।

३५२. मैथुन तीन प्रकार का होता है—१. दिव्य, २. मानुषिक, ३. तिर्यच सम्बन्धी। प्रत्येक के पुनः चार-चार भेद हैं—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। क्रोध आदि (कषायचतुष्क) भाव मैथुन के हेतु हैं।

३५३. द्रव्य मैथुन के दो प्रकार हैं—१. रूप—आभूषण रहित स्त्री अथवा अचेतन स्त्रीशरीर। २. रूपसहगत—आभूषण युक्त स्त्री अथवा सचेतन स्त्रीशरीर। जिस क्षेत्र में मैथुन का सेवन किया जाए अथवा वर्णन किया जाए वह क्षेत्र मैथुन है। काल मैथुन दो प्रकार का है—१. छिन्न (सीमित), २. अच्छिन्न (अपरिमित) अथवा जितने काल तक मैथुन का सेवन किया जाए या जिस काल में मैथुन का वर्णन किया जाए, वह काल मैथुन है।

३५४. प्रतिमाओं का जीव रहित शरीर अथवा आभूषण रहित स्त्रीशरीर रूप कहलाता है। जीवयुक्त स्त्रीशरीर अथवा आभूषण युक्त स्त्रीशरीर रूपसहगत कहलाता है।

३५५. भाव मैथुन में क्रोध, मान, माया और लोभ से होने वाला मैथुन ज्ञातव्य है।^४ क्रोधहेतुक मैथुन में बौद्धभिक्षुणी, मानहेतुक मैथुन में अमनुष्य—नपुंसक का दृष्टान्त, मायाहेतुक मैथुन में रोग और मानहेतुक मैथुन में दधिनिमित्त जाने वाली बालिका को उपसर्ग इत्यादि दृष्टान्त ज्ञातव्य हैं।^५

३५६. क्रोध आदि से अभिभूत (आर्त) होकर जो मनुष्य मैथुन का सेवन करता है उसमें मैथुन की उत्पत्ति में क्रोध आदि में से कोई एक उसका हेतु होता है, पर मैथुन भाव के उत्पन्न होने पर लोभ सर्वत्र विद्यमान रहता है।

३५७. एक शैक्ष भिक्षा हेतु दूसरे गांव गया। अटवी में उसने एक बौद्ध भिक्षुणी को देखा। यह आर्हत-प्रत्यनीक है—ऐसा सोच वह क्रोधित हो गया। मैं इसका व्रत भंग करूंगा।—ऐसा सोच उसने प्रतिसेवना की। उपाश्रय में पहुंच उसने गुरु के समीप आलोचना की—भगवन्! मैंने क्रोध के कारण मैथुन सेवन कर लिया।^६ अमनुष्य—उपाश्रय की पड़ोसिन एक सुन्दर साधु में आसक्त हो गई। वह पुनः पुनः उससे प्रतिसेवना की याचना करती। बहुत बार कहने पर भी जब साधु ने उसकी इच्छा पूरी नहीं की तो उसने कहा—निश्चय ही तुम नपुंसक हो, तभी रूप, यौवन युक्त मेरे प्रति तुम आकृष्ट नहीं होते। स्त्री के इन वचनों से उसका अहंकार जागृत हो गया। उसने मैथुन सेवन कर लिया—यह मानहेतुक प्रतिसेवना है।^७

१. प्रस्तुत संदर्भ में पात्र का अर्थ है—सूत्रार्थ ग्रहण करने में समर्थ।

२. निभा १ चू पृ. १२२; णिग्गतधम्मा णिद्धम्मा पासत्था इति।

३. कूवियत्तं-मुक्तता (दिलाना)। कूविय—मोषव्यावर्तकः—चुराई हुई वस्तु की खोज करने वाला।

४. निभा १ चू पृ. १२३; कोहादिग्गहणाओ भावदारं सूचितं। मच्छर त्ति कोहेण.....पदोसो त्ति माणेगद्धितं..... रागकिच्चमिति यावत् एस माया घेप्पति। पडिणीयग्गहणातो लोभो घेप्पति।

५. दृष्टान्तों के लिए द्रष्टव्य गा. ३५७-३५९।

६, ७. विस्तार हेतु द्रष्टव्य परिशिष्ट २, कथा सं. २०, २१।

३५८. विरहाऽलंभे सूलप्पयावणा^१ एव^२ सेवती मायी ।
सेज्जातरकप्पट्टी, गोउल दधि^३ अंतरा खुड्डु ॥ ३५८ ॥
३५९. उप्पात 'अणिच्छे पितु'^४, परसु छेद जुण्ण गणिगिहे^५ ततिओ ।
आदि पुमं ततोऽपुमं^६, इत्थीवेदे य छिड्डुम्मि ॥ ३५९ ॥
३६०. मेहुण्णं पि य तिविधं, दिव्वं माणुस्सगं^७ तिरिच्छं च ।
पडिसेवण आरोवण, तिविधे दुविधे य जा भणिता^८ ॥ ३६० ॥
३६१. दिव्वादितिगं उक्कोसगाइ एक्केक्कगं तु तं तिविधं ।
तिपरिग्गहमेक्केक्कं, सममत्तऽममत्तओ दुविधं ॥ ३६१ ॥
३६२. पडिमाजुत देहजुतं, पडिमा सण्णिहित एतरा दुविधं ।
देहा तु दिव्वबज्झा^९, सचेतणमचेतणा होंति ॥ ३६२ ॥
३६३. रागदोसाणुगता, तु दप्पिया कप्पिया^{१०} तु तदभावा ।
आराधगो^{११} तु कप्पे, विराधगो^{१२} होति दप्पेणं ॥ ३६३ ॥ नि ६७ ॥
३६४. कामं^{१३} सव्वपदेसु वि^{१४}, उस्सग्गऽववायधम्मया जुत्ता ।
मोत्तुं मेहुणभावं^{१५}, न विणा सो रागदोसेहिं^{१६} ॥ ३६४ ॥
३६५. संजमजीवियहेतुं, कुसलेणालंबणेण वऽण्णेणं ।
भयमाणे उ अकिच्चं, हाणी-वड्डी व पच्छित्ते^{१७} ॥ ३६५ ॥ नि ६८ ॥

१. सूलुप्पां (दे), सूलं रोगविकारो (चू) ।

२. देव (दे) ।

३. दहि (दे) ।

४. अणिच्छ प्पितु (मु), ऽणिच्छप्पितु (भ) ।

५. गणिगिहे (दे, भ) ।

६. °अपुमं (दे, मु) ।

७. °सग (क) ।

८. बृभा (४९४१) में इस गाथा का उत्तरार्ध इस प्रकार है—
ठाणाइं मोत्तूणं, पडिसेवणि सोधि सच्चेव ।

९. दिव्वबज्झत्ति मणुय-तिरियाण सचेयणा अचेयणा य
भवन्ति (चू) ।

१०. कारणपुव्वगो कप्पो (चू) ।

११. आराधणा (बृभा), °धतो (भ) ।

१२. विराधणा (बृभा ४९४३) ।

१३. कामशब्दः इच्छार्थे अनुमतार्थे च इह तु अनुमतार्थे
द्रष्टव्यः (चू) ।

१४. अविस्सदो अवधारणे (चू) ।

१५. °णधम्मं (भ, मु) ।

१६. बृभा ४९४४ ।

१७. पच्छित्ता (भ), बृभा ४९४५ ।

३५८. साधु समुदाय बड़ा था, एकान्त दुर्लभ था। एक साधु ने गुरु से शूल तपाने के लिए गृहस्थ के घर जाने की आज्ञा ली। वहां जाकर मैथुन सेवन किया—यह मायापूर्वक मैथुन सेवन है।^१ एक आचार्य का शिष्य कपिल शय्यातर की पुत्री में आसक्त हो गया। एक बार वह लड़की दही लाने गोकुल गई। कपिल को वह गांव और गोकुल के बीच मिल गई।

३५९. कपिल ने कन्या की इच्छा के बिना उसके साथ प्रतिसेवना की। उसका योनिभेद हो गया, खून बहने लगा। सारा वृत्तान्त सुनकर पिता ने परशु से कपिल के अण्डकोष एवं लिंग का छेदन कर दिया। एक वृद्ध वेश्या के पास रहते हुए उसके तृतीय अर्थात् नपुंसक वेद का उदय हो गया। कालान्तर में उसके वृषणदेश पर भग उत्पन्न हो गया। इस प्रकार लोभवश मैथुनसेवन करने वाले कपिल के एक जन्म में तीनों वेदों का उदय हो गया।^२

३६०. दिव्य, मानुषिक एवं तिरश्चीन—इन तीनों प्रकार के मैथुन के पुनः तीन-तीन भेद हो जाते हैं—उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य। पुनः उनके दो-दो भेद होते हैं—प्रतिमायुक्त और देहयुक्त। इन अठारह भेदों वाले मैथुन की प्रतिसेवना का प्रायश्चित्त गुरुचौमासी प्रज्ञप्त है।

३६१. दिव्य आदि तीन प्रकार के मैथुन के उत्कृष्ट आदि तीन-तीन भेद होते हैं। पुनः उनके तीन-तीन भेद होते हैं—१. अन्तःपुर^३, २. कौटुम्बिक और ३. प्राजापत्य (लोक)। उनके पुनः दो-दो भेद होते हैं—१. सममत्व और २. अममत्व। (ये भेद प्रायः अचेतन विषयक हैं।)

३६२. मैथुन के दो प्रकार हैं—प्रतिमा के साथ प्रतिसेवना और देह के साथ प्रतिसेवना। प्रतिमा दो प्रकार की होती है—सन्निहित (देवाधिष्ठित) और असन्निहित। दिव्य देह को छोड़कर शेष दो (मनुष्य और तिर्यच) देह दो-दो प्रकार के होते हैं—सचेतन और अचेतन। (दिव्य देह अचेतन नहीं होता क्योंकि जीववियुक्त होते ही वह प्रदीप-ज्वाला के समान शीघ्र विनष्ट हो जाता है।)

३६३. राग और द्वेष के कारण दोष का आसेवन करना दर्पिका प्रतिसेवना है और राग-द्वेष के अभाव में कारणवश दोष का आसेवन करना कल्पिका प्रतिसेवना है। कल्पिका प्रतिसेवना करने वाला ज्ञान आदि का आराधक होता है और दर्पिका प्रतिसेवना करने वाला उनका विराधक होता है।

३६४. भले ही सारे पद (मूलगुण और उत्तरगुण) उत्सर्ग और अपवाद लक्षण वाले हों, मैथुन को सापवाद मानना युक्त नहीं क्योंकि वह राग-द्वेष के अभाव में नहीं होता।

३६५. संयम जीवन के लिए कुशल (आत्मविशुद्धिकारक) आलम्बन से अथवा अन्य आलम्बन से अकृत्य का सेवन करने पर प्रायश्चित्त में हानि होती है अर्थात् अल्प प्रायश्चित्त प्राप्त होता है और असंयम जीवन के लिए अकुशल आलम्बन से अकृत्य का सेवन करने से प्रायश्चित्त में वृद्धि होती है अर्थात् बहुततर प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१, २. विस्तार हेतु द्रष्टव्य परिशिष्ट २, कथा सं. २२, २३।

३. दे.श.को.—तुडिय-अन्तःपुर।

३६६. गीतत्थो^१ जतणाए, कडजोगी कारणम्मि निद्दोसो।
एगेसिं गीत कडो, अरत्तऽदुद्धो तु जतणाए^२ ॥३६६॥
३६७. जदि सव्वसो अभावो, रागादीणं^३ हवेज्ज निद्दोसो।
जतणाजुतेसु तेसुं^४, अप्पतरं होति पच्छित्तं^५ ॥३६७॥
३६८. सामत्थं^६ निव अपुत्ते, सचिव मुणी धम्मलक्ख वेसणता।
'अणहबियतरुणरोधो'^७, एगेसिं^८ पडिमदायणता^९ ॥३६८॥
३६९. सुद्धुल्लसिते^{१०} भीते^{११}, पच्चक्खाणे पडिच्छ गच्छ थेर विदू।
मूलं छेदो 'छग्गुरु, चउगुरु लघुमास गुरु-लहुगो'^{१२} ॥३६९॥ नि ६९॥
३७०. निरुवहतजोणिथीणं^{१३}, विउव्वणं हरिसमुल्लसणं^{१४} मूलं।
भय रोमंचे छेदो, परिणणं^{१५} काहं^{१६} ति छग्गुरुगा ॥३७०॥
३७१. मा सीदेज्ज पडिच्छा, गच्छो फिट्टेज्ज^{१७} थेर संपेच्छं^{१८}।
गुरुणं वेयावच्चं, 'काहं ति'^{१९} 'य सेवतो'^{२०} लहुगो ॥३७१॥

१. गीतो अत्थो जेण गीतत्थो गृहीतार्थ इत्यर्थः (चू)।

२. बृभा ४९४६।

३. आदिसद्दातो दोसो मोहो य घेप्पति (चू)।

४. तेसु तु (दे, भ, बृभा ४९४७)।

५. बृभा (४९४८) में निम्न गाथा अतिरिक्त मिलती है—
कुलवंसम्मि पहीणे, रज्जं अकुमारगं परे पेल्ले।
तं कीरतु पक्खेवो, एत्थ य बुद्धीएँ पाधणं ॥

६. सामत्थणं—संप्रधारणम् (चू), सामत्थणं पर्यालोचनम् (बृभाटी)।

७. अणघा णिरोगा अणुवहयपंचेदियसरीरा बीया इति सबीया (चू)।

८. एतेसिं (क)।

९. 'दावणया (दे), बृभा ४९४९, बृभा में इस गाथा के बाद दो गाथाएं और हैं—

तरुणीण य पक्खेवो, भोगेहिं निमंतणं च भिक्खुस्स।

भोतुं अणिच्छमाणे, मरणं च तहिं ववसियस्स ॥

ददूण तं विससणं, सहसा साभावियं कइतवं वा।

विगुरुक्खिया य ललणा, हरिसा भयसा य रोमंचो ॥

बृभा ४९५०, ४९५१

१०. सुद्धुल्लं (बृभा), सुद्धुल्लुं (भ)।

११. सीते (क)।

१२. छग्गुमास चउर गुरु-लहु लहुगुमासो (बृभा ४९५२)।

१३. °त्थीणं (मु), पंचपंचासण्हं वरिसाणं उवरि उवहयजोणी इत्थिया भवति (चू)।

१४. °ल्लसिते (बृभा ४९५३)।

१५. परिणणं (मु, भ)।

१६. कालं (मु), काहिं (दे, पा)।

१७. फिट्टेज्ज (मु, पा)।

१८. संपेच्छं (बृभा ४९५४)।

१९. काहिंति (दे)।

२०. णिसेवगो (दे)।

३६६. गीतार्थ (श्रुत से परिणत) और कृतयोगी^१ निर्ग्रन्थ ज्ञान आदि के निमित्त यतनापूर्वक अकृत्य का सेवन करते हुए भी निर्दोष होते हैं।^२ कुछ आचार्यों के मतानुसार गीतार्थ और कृतयोगी निर्ग्रन्थ रागद्वेष रहित चित्त से यतनापूर्वक अकृत्य-प्रतिसेवन करें तो शुद्ध हैं।^३

३६७. यदि राग, द्वेष और मोह का सर्वथा अभाव हो तो अकृत्य-सेवन को निर्दोष कहा जा सकता है। ऐसा संभव न हो तो यतनापूर्वक सेवन करने पर अल्पतर प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। अतः यतना अपेक्षित है।

३६८. निःसन्तान राजा ने मंत्री के साथ विमर्श किया। मंत्री ने नियोग विधि से सन्तान प्राप्ति का परामर्श दिया। मंत्री ने निरोग एवं अविनष्टबीज अर्थात् सन्तानोत्पत्ति में सक्षम तरुण साधुओं को अन्तःपुर में धर्मकथा करने के छद्म से प्रवेश प्रदान किया। उन्हें बलात् भोग भोगने में नियुक्त किया। भोग भोगने से इन्कार करने वाले का राजाज्ञा से सिरच्छेद कर दिया गया। कुछ आचार्यों के अनुसार—जिस साधु ने भोगों की अनिच्छा व्यक्त की, उसके समक्ष लाक्षारस से भरी हुई प्रतिमा का सिरच्छेद करते हुए कहा गया कि यदि तुम राजाज्ञा का पालन नहीं करोगे तो यही गति तुम्हारी भी होगी। इस प्रकार उनसे बलात् मैथुन सेवन करवाया गया।^४

३६९. उपर्युक्त परिस्थिति में जो-जो मनःस्थिति होती है, उसके आधार पर अधोलिखित भिन्न-भिन्न प्रायश्चित्त ज्ञातव्य हैं—

१. जिसका सिरच्छेद कर दिया गया, वह शुद्ध है।
२. चलो, इस बहाने से स्त्री की प्राप्ति होगी—इस उल्लसित मनःस्थिति का प्रायश्चित्त है—मूल।
३. यदि राजाज्ञा नहीं मानूंगा तो मरना पड़ेगा—इस भीत मानसिकता का प्रायश्चित्त है—छेद।
४. अभी मैं आलोचना—प्रत्याख्यान रहित करूंगा। दोष सेवन के बाद प्रायश्चित्त, प्रत्याख्यान सहित पंडित मरण प्राप्त करूंगा—इसका प्रायश्चित्त है—षड्गुरु।
५. जीवित रहूंगा तो प्रतीच्छकों को वाचना दूंगा—चतुर्गुरु।
६. जीवित रहूंगा तो गच्छ की सारणा-वारणा करूंगा—चतुर्लघु।
७. जीवित रहूंगा तो स्थविरो की वैयावृत्य करूंगा—मासगुरु।
८. जीवित रहूंगा तो ज्ञानसम्पन्न आचार्य का वैयावृत्य करूंगा—मासलघु।

३७०, ३७१. पूर्वोक्त गाथा में निरूपित मनःस्थितियों के प्रायश्चित्त का पुनर्कथन

मनःस्थिति	प्रायश्चित्त
१. निरुपहत योनि (गर्भधारण करने में समर्थ) स्त्री को वस्त्रालंकारों युक्त देखने से हर्षयुक्त रोमांच	मूल
२. मरण भय से रोमांच	छेद
३. प्रत्याख्यान युक्त मरण हेतु प्रतिसेवना	षड्गुरु
४. प्रतीच्छक अवसन्न न हो अतः प्रतिसेवना	चतुर्गुरु
५. गच्छ नष्ट न हो, अतः प्रतिसेवना	चतुर्लघु
६. स्थविरो का वैयावृत्य हो सके अतः प्रतिसेवना	मासगुरु
७. आचार्यों का वैयावृत्य करूंगा अतः प्रतिसेवना	मासलघु

१. कृतयोगी के लिए द्रष्टव्य गा. ७७ के पाद-टिप्पण।

२. गीतार्थ, कृतयोगी, सालम्बन एवं यतनापूर्वक—इस चतुष्पदी के वैकल्पिक भंग सोलह होते हैं, जिनमें केवल प्रथम भंग निर्दोष है।

३. प्रस्तुत भंग रचना में पांच पद (गीतार्थ, कृतयोगी, अरक्त, अद्विष्ट, यतनापूर्वक) होने से वैकल्पिक भंग बत्तीस बनते हैं।

४. विस्तार हेतु द्रष्टव्य परिशिष्ट २, कथा सं. २४।

३७२. लहुगो य होति^१ मासो, दुब्भिकखऽविसज्जणा य साधूणं ।
णेहाणुरागरत्तो, खुड्डो 'वि य'^२ नेच्छते गंतुं ॥ ३७२ ॥
३७३. असती गच्छविसज्जण, देसक्खंधाउ खुड्डोसरणं ।
णीसा भिकख विभागो, पवसितपति दाण-सेवा य^३ ॥ ३७३ ॥
३७४. भिकखं पि य परिहायति, भोगेहि निमंतणा य साधुस्स ।
गिण्हति एगंतरियं^४, लहुगा गुरुगा चउम्मासा^५ ॥ ३७४ ॥
३७५. पडिसेवंतस्स^६ तहिं, छम्मासा छेद होति मूलं च ।
अणवट्टप्पो पारंचिय^७, आपुच्छा^८ य तिविधम्मि ॥ ३७५ ॥
३७६. वसहीए दोसेणं, दट्टुं सरिउं व पुव्वभुत्ताइं ।
तेगिच्छ^९ सद्दमादी, असज्जणा तीसु वी^{१०} जतणा^{११} ॥ ३७६ ॥
३७७. दुविधो परिग्गहो पुण, लोइय-लोगुत्तरो समासेणं ।
दव्वे खेत्ते काले, भावम्मि य होति^{१२} कोधादी ॥ ३७७ ॥ नि ७० ॥
३७८. सच्चित्तादी^{१३} दव्वे, खेत्तम्मि गिहादि जच्चिरं कालं ।
भावे तु^{१४} कोधमादी, कोहे सव्वस्स हरणादी^{१५} ॥ ३७८ ॥ नि ७१ ॥

१. होति (भ) ।

२. चिय (बृभा ४९५५) ।

३. बृभा (४९५६) में इस गाथा के स्थान पर निम्न गाथा मिलती है—

कालेणोसणसोधिं, पयहति परितावितो दिगिंछाए ।

अलभंते चिय मरणं, असमाही तित्थवोच्छेदो ॥

४. एक्कंतं (बृभा ४९५७) ।

५. य चउमासा (भ, मु) ।

६. °सेवंतस्स (भ) ।

७. °चिया (दे) ।

८. य पुच्छा (दे, बृभा ४९५८) ।

९. तेगिच्छा (मु), तेगिच्छ (भ) ।

१०. वि (दे) ।

११. बृभा ४९५९ ।

१२. होति (दे) ।

१३. आदिग्गहणातो अच्चित्तमीसे (चू) ।

१४. तुशब्दो परिग्गहवाचकः (चू) ।

१५. आदिसद्दातो डंडेति अवकारिणो वा अवहरेंति कोहेण (चू) ।

३७२-७५. दुर्भिक्ष आदि उत्पन्न होने पर अथवा उत्पन्न होने की संभावना से जंघाबल से परिक्षीण आचार्य अपने संघ का विसर्जन कर देते हैं। यदि वे साधुओं को विसर्जित न करें तो उन्हें असामाचारी निष्पन्न मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।^१ एक शिष्य गुरु के प्रति अत्यन्त स्नेहानुराग वाला है अतः वह नहीं जाना चाहता। अथवा भक्तपान का अभाव देखकर आचार्य ने उसे भेज दिया, पर वह शिष्य देशान्त (सीमा) तक जाकर लौट आता है। वहां आचार्य के निश्रागृह में जितनी भिक्षा उपलब्ध होती है, आचार्य उसका अधिक भाग शिष्य को दे देते हैं। शिष्य सोचता है—इस प्रकार तो मेरे कारण आचार्य को प्रत्युत् क्लेश ही हो रहा है—ऐसा सोचकर वह गुरु से पूछकर अकेला गोचरी जाता है।

इस क्रम में वह प्रोषितपतिका युवती के घर पहुंचता है। वह साधु से कहती है—यदि आप मेरे साथ प्रतिसेवना करें तो मैं आपको भिक्षा दे सकती हूँ। साधु ने सोचा—यदि इसकी बात नहीं मानूंगा तो आहार के अभाव में मर जाऊंगा। यदि जीवित रहूंगा तो प्रायश्चित्त करके शुद्ध हो जाऊंगा, दीर्घकाल तक संयम का पालन करूंगा। ऐसा सोच वह एक दिन के अन्तराल से भिक्षा ग्रहण करता है और प्रतिसेवना भी करता है। उसके प्रथम प्रतिसेवन का प्रायश्चित्त है चतुर्लघु। इस प्रकार एकान्तर प्रतिसेवना के क्रम से चतुर्गुरु, षड्लघु, षड्गुरु यावत् चौदहवें दिन पारांचित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। (यदि निरन्तर मैथुन सेवन करता है तो दूसरे दिन ही मूल प्रायश्चित्त प्राप्त हो जाता है।) प्रायश्चित्त वृद्धि के क्रम निदर्शन के पश्चात् अगला प्रश्न है—तीन प्रकार की मैथुनाभिलाषा क्यों उत्पन्न होती है ?

३७६. मैथुनाभिलाषा की उत्पत्ति के मुख्यतः तीन हेतु हैं—१. शय्या-दोष,^२ २. स्त्रीरूप का दर्शन, ३. पूर्वभुक्त का स्मरण।^३ मैथुनेच्छा उत्पन्न हो जाने पर निर्विगय आदि के द्वारा मोहचिकित्सा की जाए। उससे मोहोपशम न हो तो शब्द आदि विषयक यतना की जाए^४ परन्तु दिव्य आदि तीनों प्रकार के मैथुन के विषय में गृह्य न बने।

३७७. परिग्रह संक्षेप में दो प्रकार का होता है—१. लौकिक और २. लोकोत्तर। प्रत्येक के पुनः चार-चार भेद हैं—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। क्रोध आदि (कषाय चतुष्क) भाव परिग्रह है।

३७८. सचित्त, अचित्त आदि द्रव्य^५ का मूर्च्छापूर्वक परिग्रहण द्रव्य परिग्रह है। गृह आदि^६ क्षेत्र परिग्रह हैं। जितने काल तक द्रव्य आदि का परिग्रहण किया जाता है, वह काल परिग्रह है।^७ क्रोध आदि के कारण द्रव्य आदि को ग्रहण करना भाव-परिग्रह है। किसी से रुष्ट होने पर राजा उसका सर्वस्व हरण कर लेता है—यह क्रोधहेतुक भाव परिग्रह का उदाहरण है।

१. यदि दुर्भिक्ष आदि के समय स्वयं ग्रामानुग्राम परिव्रजन करने में अक्षम आचार्य संघ को विसर्जित न करें तो उन्हें आज्ञाभंग आदि दोष लगते हैं। वे साधु भोजन के अभाव में एषणा आदि के दोष लगाते हैं अथवा कोई कालधर्म को प्राप्त हो जाता है, अतः उन्हें संघ को विसर्जित कर देना चाहिए।
२. स्त्री, पशु आदि से संसक्त उपाश्रय में रहने से मैथुनेच्छा उत्पन्न हो सकती है।
३. गृहस्थ अवस्था में स्त्री के साथ जिन भोगों को भोगा या उसके हास्य आदि की स्मृति से भी अकाम्य इच्छा पैदा हो सकती है।
४. जहां पर स्त्रियों के शब्द सुनाई दें, उनकी आलिंगन आदि चेष्टाएं दिखाई दें, वहां तरुण को स्थविर मुनियों के साथ रखा जाए, जिससे वह उपशांत हो जाए।
५. द्रव्य परिग्रह में सचित्त, अचित्त और मिश्र तथा सचित्त द्रव्य में पुनः द्विपद, चतुष्पद और अपद आदि भेद लौकिक द्रव्य स्तैत्य (गा. ३२९) के समान वक्तव्य है।
६. क्षेत्र परिग्रह में वास्तु के खात, उच्छृत और खातोच्छृत आदि भेद भी किये जा सकते हैं। अथवा जिस क्षेत्र में परिग्रह का निरूपण किया जाए, वह भी क्षेत्र परिग्रह है।
७. जिस काल में परिग्रह का निरूपण किया जाए, अथवा जितने काल तक परिग्रह का निरूपण किया जाए, वह भी काल-परिग्रह है।

३७९. दोगच्च वइओं माणे, धणिमं^१ पूइज्जति त्ति अज्जिणत्ति।
माया निधाणमादी, सुवण्ण-दुव्वण्णकरणं वा^२ ॥३७९॥ नि ७२ ॥
३८०. सुहुमो य बादरो वा^३, दुविधो लोगुत्तरो समासेणं।
कागादि साण-गोणे, कप्पट्ठग-रक्खण ममत्ते ॥ ३८० ॥ नि ७३ ॥
३८१. सेहादी पडिकुट्ठे^४, सच्चित्तेऽणेसणादि^५ अच्चित्ते^६।
'ओरालिए हिरण्णे'^७, छक्कायपरिग्गहे जं च ॥३८१॥ नि ७४ ॥
३८२. पंचादी लहुगुरुगा, एसणमादीसु^८ जेसु ठाणेसु।
गुरुगा हिरण्णमादी, छक्कायविराधणे जं च^९ ॥३८२॥ नि ७५ ॥
३८३. गिहिणोऽवरज्झामाणे, सुण-मज्जारादि अप्पणो वावि।
वारेऊण ण कप्पति, जिणाण थेराण तु गिहीणं ॥३८३॥
३८४. काकनिवारण लहुगो, जाव ममत्तं तु लहुग सेसेसु।
मज्झसवासादि^{१०} त्ति व, तेण लहू रागिणो गुरुगा ॥३८४॥
३८५. भेदअडयालसेहे, दुरूवहीणा तु ते भवे पिंडे।
घडितेतरमोरालं, वत्थादिगतं^{११} ण उ गणेंति ॥३८५॥
३८६. ओगासे^{१२} संथारो, उवस्सय^{१३} कुल-गाम-णगर-देस-रज्जे^{१४} य।
चत्तारि छच्च लहु-गुरु, छेदो मूलं तह दुगं च^{१५} ॥३८६॥

१. वणिमं (भ)।

२. च (दे)।

३. य (मु), या (भ)।

४. °कुट्ठो (मु)।

५. अणेसं (मु), आदिसद्दातो वा वत्थ-पाद-सेज्जा
घेप्पंति (चू)।

६. अचित्तग्गहणातो वा अतिरित्तोवहिग्रहणं करोति (चू)।

७. घडियरूवं द्रविणं ओरालियं भण्णति, अघडियरूवं पुण
हिरण्णं भण्णति (चू)।

८. आदिसद्दातो ओरालिए वि चउगुरुगा (चू)।

९. चूर्णिकार ने इस गाथा के लिए 'चिरंतणा पायच्छित्त
गाहा' का संकेत किया है।

१०. मज्झसवासा—एगग्गामणिवासिनः (चू)।

११. गतशब्दो धर्मोपकरणभेदावधारणे द्रष्टव्यः। अहवा गगारो
आदिसद्दे पविट्ठो 'वत्थातिगं', तगारेण वत्थादिगाण
णिद्देसो (चू)।

१२. ओगासो पडिस्सगस्सेगदेसो (चू)।

१३. उवस्सते (दे)।

१४. रायणभोत्ती रज्जं भण्णति, सा पुण भोत्ती एगविसओ
अणेगविसओ वा होज्ज (चू)।

१५. वा (दे)।

३७९. कोई अभिमानी दरिद्रता से पराभूत होकर धनोपार्जन करता है अथवा लोक में धन की पूजा होती है अतः खूब धनार्जन करता है—यह मानहेतुक परिग्रह है। धन को निधान आदि में छिपाता है, निक्षिप्त करता है—यह मायाहेतुक परिग्रह है। अथवा मेरे आभूषणों का कोई हरण न कर ले, ऐसा सोचकर सुवर्ण को दुर्वर्ण (नकली जैसा) बना देना मायाहेतुक परिग्रह है। क्रोध आदि से होने वाला कोई भी परिग्रह लोभ के बिना नहीं होता, अतः उसका पृथक् कथन नहीं किया गया है।

३८०, ३८१. लोकोत्तर परिग्रह संक्षेप में दो प्रकार का है—सूक्ष्म और बादर। उनके पुनः चार-चार भेद होते हैं—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। मुनि के पानी को कौए पी रहे हैं या कुत्ते, शृगाल आदि उसके आहार आदि को नुकसान पहुंचा रहे हैं, कुत्ता काट रहा है, बैल आदि उपाश्रय को खराब कर रहे हैं—इन सबका निवारण करना—दूर हटाना द्रव्य परिग्रह है। शय्यातर के बच्चे को ममत्वपूर्वक रखना या उसकी रक्षा करना, स्वजन आदि पर ममत्व करना भी द्रव्य परिग्रह है। प्रतिक्रुष्ट (अयोग्य) शिष्य को दीक्षा देना सचित्त द्रव्य परिग्रह है। अनेषणीय आहार, वस्त्र आदि का ग्रहण, अतिरिक्त उपधि का ग्रहण, घटित और अघटित स्वर्ण आदि का ग्रहण आदि अचित्त द्रव्य परिग्रह है। सचित्त छह जीवनिकाय का ग्रहण भी सचित्त द्रव्य परिग्रह है। इन सबका जो प्रायश्चित्त है, वह अग्रिम गाथा से ज्ञातव्य है।

३८२. एषणा आदि जिन-जिन स्थानों के पनक, चतुर्लघु, चतुर्गुरु आदि जो-जो प्रायश्चित्त प्रज्ञप्त हैं, वे-वे उसी प्रकार ज्ञातव्य हैं। हिरण्य आदि (आभूषण और अघटित दोनों प्रकार के स्वर्ण) का प्रायश्चित्त चतुर्गुरु है। षट्काय विराधना का प्रायश्चित्त जो पूर्व (गा. ११७ में) प्रज्ञप्त है, वही ज्ञातव्य है।

३८३. गृहस्थ गृहस्थ का अपराध कर रहे हों (कुछ द्रव्य आदि बिगाड़ रहे हों), कुत्ते, बिल्ली आदि स्वयं के भी आहार आदि को हानि पहुंचा रहे हों, जिनकल्पिक साधु को उनका निवारण करना भी नहीं कल्पता। स्थविरकल्पी मुनि स्वयं के आहार आदि का अपराध करने वाले कुत्ते आदि का निवारण कर सकता है, पर गृहस्थ के अपराधियों का नहीं।

३८४. आहार आदि से कौए को हटाता है, उसे मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। कुत्ते, गाय आदि का निवारण तथा शय्यातर के बच्चे आदि का ममत्वपूर्वक रक्षण करने से चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। अपने ग्रामवासियों या स्वजनों के प्रति ममत्व करने से चतुर्लघु और रागपूर्वक बच्चे को रखने से चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

३८५. अप्रब्राजनीय (दीक्षा के अयोग्य) शैक्ष के अड़तालीस भेद हैं।^१ अनेषणीय पिण्ड (आहारादि) के दो रूपहीन अर्थात् पूर्वोक्त अड़तालीस से दो कम करने पर छियालीस भेद होते हैं।^२ घटित स्वर्ण (आभूषण आदि) और इतर (अघटित) स्वर्ण क्रमशः ओराल और हिरण्य के अन्तर्गत हैं। वस्त्र आदि धर्मोपकरणों को परिग्रह में नहीं गिना गया है। बहुमूल्य वस्त्र आदि अथवा ममत्वबुद्धि से परिभुक्त वस्त्र आदि भी परिग्रह हैं।

३८६. क्षेत्र परिग्रह—प्रवात (हवादार) और रमणीय अवकाश (उपाश्रय का एक देश), संस्तारक भूमि, उपाश्रय, कुल, ग्राम, नगर, देश और राज्य पर ममत्व करना क्षेत्रपरिग्रह है। इनका प्रायश्चित्त क्रमशः चतुर्लघु, चतुर्गुरु, षड्लघु, षड्गुरु, छेद, मूल, अनवस्थाप्य और पारांचित है।

१. दीक्षा के अयोग्य अड़तालीस प्रकार के शैक्ष हैं—

निभा १ चू. पृ. १३२ अट्टारस पुरिसेसुं, वीसं इत्थीसु, दस णपुंसेसुं। पव्वावणा अणरिहा, भणिया माणेण एते उ ॥

२. अनेषणीय पिण्ड—

सोलसमुग्गमदोसा, सोलसमुप्पायणाए दोसा उ। दस एसणाए दोसा, संजोयणमादि पंचेव ॥

.....एत्थ मीसजायं अञ्जोयर-सरिसं कारुण केडिज्जति अतो छायालीसं।

३८७. कालातीते काले, कालविवच्चास 'कालतोऽकाले'^१।
लहुगो लहुगा गुरुगा, सुद्धपदे^२ सेवते^३ जं च ॥३८७॥
३८८. भावम्मि रागदोसा, उवधीमादी^४ ममत्त निक्खित्ते।
पासत्थ ममत्त परिग्गहे य, लहुगा गुरुगा य जे जत्थ^५ ॥३८८॥
३८९. मम सीस कुलिच्च गणिच्चओ व 'मम भाइ-भगिणिपुत्तो त्ति'^६।
तेसु^७ ममत्त करंते^८, पच्छित्ते मग्गणा होत्ति^९ ॥३८९॥
३९०. उवधिममत्ते लहुगा, तेणभया^{१०} निक्खिवेंति ते चेव।
ओसण्णगिही लहुगा, सच्छंदित्थीसु चउगुरुगा ॥३९०॥
३९१. अणभोगे^{११} गेलण्णे, अद्धाणे दुल्लभऽट्टजाते य।
सेहे गिलाणमादी, मज्जाया ठावणुड्डाहो ॥३९१॥ नि ७६ ॥
३९२. अणभोगे^{१२} गेलण्णे, अद्धाणे दुल्लभुत्तिमट्टोमे।
सेहे गिलाणमादी, पडिक्कमे विज्ज 'दुट्टे य'^{१३} ॥३९२॥ नि ७७ ॥
३९३. सव्वपदाऽणाभोगा, गेलण्णोसधपदावणे वारे।
कागादि^{१४} अधिपडंते^{१५}, दव्वममत्तं च बालादी^{१६} ॥३९३॥
३९४. अतरंत पडियरण^{१७} व^{१८}, पडिकुट्टा तप्पे^{१९} अहव वेज्जस्स।
तेसऽट्टायमणेसिं, विज्ज-हिरण्णं विसे^{२०} कणगं ॥३९४॥

१. °अकाले (दे), कालओ त्ति ण उडुबद्धे काले विहरति,
अकाले त्ति वासाकाले विहरइ (चू)।

२. सुद्धपदं णाम जइ वि अवराहं ण पत्तो तहा वि पच्छित्तं
भवतीत्यर्थः (चू)।

३. सेवती (मु)।

४. आदिसद्दातो उवग्गहिओ घेप्पंति (चू)।

५. गाथा के तृतीय चरण में वृत्तछंद है।

६. मम भाति भाइणिज्जो त्ति (भ, मु)।

७. एमेव (भ, मु, दे)।

८. करंते (भ, मु)।

९. होंति (दे)।

१०. °भिया (दे, भ)।

११. अणा° (दे, पा, भ)।

१२. अणा° (भ)।

१३. दुट्टीया (दे)।

१४. आदिसद्दातो साण-गोणा णिवारेति (चू)।

१५. अहिप° (मु)।

१६. आदिसद्दातो अबाले वि ताव रक्खणं कुज्जा गिलाणट्टाय-
मिति गेलण्णट्टा वा (चू)।

१७. पडियरणे (दे), पडियरगा गिलाणवावारवाहगा (चू)।

१८. वगारो समुच्चये (चू)।

१९. × (मु)।

२०. वसे (दे)।

३८७. कालपरिग्रह—कालातीत प्रवास (ऋतुबद्ध काल में एक मास और वर्षाकाल में चार मास के अतिरिक्त रहना) कालपरिग्रह है। काल का विपर्यास अर्थात् विहार-काल (ऋतुबद्ध काल) में विहार न करना और अकाल (चातुर्मास) में विहार करना भी कालपरिग्रह है अथवा दिन में विहार न कर रात्रि में विहार करना—यह भी काल का विपर्यास है। ऋतुबद्ध (शेषकाल) में अतिरिक्त प्रवास करने पर मासलघु, वर्षाकाल में अतिरिक्त प्रवास करने पर चतुर्लघु और कालविपर्यास करने पर चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है, यदि वह शुद्ध है अर्थात् अन्य किसी दोष का आसेवन नहीं किया है। कालातीत प्रवास या कालविपर्यास करता हुआ इसके साथ यदि वह संयम या आत्मविराधना या प्रवचन की अप्रभावना आदि करता है तो तन्निष्पन्न प्रायश्चित्त भी प्राप्त होता है।

३८८. भावपरिग्रह—राग और द्वेष से उपकरणों को ग्रहण करना, रखना (निक्षेप करना) और उनके प्रति ममत्व रखना भावपरिग्रह है। पार्श्वस्थ, यथाच्छन्द आदि तथा स्त्रियों के प्रति ममत्व करना, उनका परिग्रहण करना भी भावपरिग्रह है। द्वेष और राग के अनुसार लघु और गुरु प्रायश्चित्त जो जहां प्राप्त होता है, वह वहां ज्ञातव्य है।

३८९, ३९०. जो साधु पार्श्वस्थ आदि के प्रति मेरा शिष्य है, मेरे कुल का है, मेरे गण का है, मेरा भाई है, मेरा भागिनेय है—इत्यादि ममत्वभाव रखता है, उसके लिए प्रायश्चित्त की मार्गणा इस प्रकार है—उपधि पर ममत्व करने से, चोर के भय से उसको छिपाकर रखने से तथा अवसन्न एवं गृहस्थों पर ममत्व रखने से चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। यथाच्छन्द और स्त्रियों पर ममत्व करने से चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

३९१, ३९२. परिग्रह की कल्पिका प्रतिसेवना निम्नांकित द्वारों से ज्ञातव्य है—(क) **द्रव्यपरिग्रह**—१. अनाभोग^१, २. ग्लान्य, ३. महान अटवी, ४. दुर्लभ और ५. अर्थजात, (ख) **क्षेत्रपरिग्रह**—१. शैक्ष, २. ग्लान आदि, ३. मर्यादा, ४. स्थापना कुल और ५. उड्डाह (निन्दा), (ग) **कालपरिग्रह**—१. अनाभोग, २. ग्लान्य, ३. महान अटवी, ४. दुर्लभ द्रव्य, ५. उत्तमार्थ (अनशन) और ६. अवम, (घ) **भावपरिग्रह**—१. शैक्ष, २. ग्लान आदि, ३. प्रतिक्रमण, ४. विद्या और ५. द्विष्ट (राजद्वेष)।

३९३. काक आदि (गा. ३८०, ३८१ में निरूपित षट् जीवनिकाय परिग्रह पर्यन्त) सारे पद यदि निर्ग्रन्थ अनाभोग (अत्यन्त विस्मृति) के कारण आसेवन करे, तो वह शुद्ध है। ग्लान के लिए औषध आदि को धूप में गर्म करने के लिए रखा और उस पर कौए मंडराने लगे, कुत्ता आदि आ जाएं तो उसका निवारण करना तथा ग्लान के लिए कोई द्रव्य अपेक्षित हो, उसे प्राप्त करने के लिए बच्चे आदि को रखना ग्लान हेतुक द्रव्य परिग्रह के अपवाद हैं।

३९४. ग्लान अथवा उसके परिचारकों की सेवा अथवा ग्लान के लिए वैद्य आदि की सहायता प्राप्त करने हेतु अप्रव्राजनीय (अयोग्य) को भी दीक्षित करना तथा ग्लान अथवा उसके परिचारकों या वैद्य के निमित्त अनेषणीय आहार आदि का भी ग्रहण करना, वैद्य के (वेतन आदि के) लिए हिरण्य तथा विषग्रस्त की चिकित्सा हेतु^२ घटित स्वर्ण (आभूषण आदि) का ग्रहण करना ग्लान हेतुक द्रव्य कल्पिका प्रतिसेवना है।

१. निभा १ चू., पृ. १३७, अणाभोगो अत्यन्तविस्मृतिः।

२. कोई साधु विषग्रस्त हो जाए तो सोने को पानी में घिसकर उस पानी को पिलाने से वह विषमुक्त हो जाता है।

३९५. कायाण वि उवओगो^१, गिलाणकज्जे व वेज्जकज्जे वा ।
एमेव य अद्धाणे, सेज्जातरभत्तदाइसु वा ॥ ३९५ ॥
३९६. दुक्खं कप्पो वोढुं, तेण हिरण्णं कताकतं गिण्हे^२ ।
पडिकुट्टा वि य तप्पे^३, एसण काया असंथरणे ॥ ३९६ ॥
३९७. दुल्लभदव्वं दाहिति, तेण निवारे ममत्तमादी^४ वा ।
पडिकुट्टेसणघातं, ओराल कओ व काया^५ वा ॥ ३९७ ॥
३९८. एमेव अट्टजातं, दाहंतो वारणा ममत्तं वा ।
पडिकुट्टव्व तदट्टा, काया पुण जातरूवादी^६ ॥ ३९८ ॥
३९९. वुत्तं दव्वऽववातं^७, अधुणा खेत्ताववायओ वोच्छं ।
सेहे गिलाणमादी, मज्जाया ठावणुड्डुहे^८ ॥ ३९९ ॥
४००. ओवासादिसु सेहो, ममत्त पडिसेहणं व कुज्जाहि ।
एमेव गिलाणे वी, णेह ममं तत्थ पउणिस्सं ॥ ४०० ॥
४०१. सागारिअदिण्णेसु व, ओवासादिसु^९ निवारते^{१०} सेहे ।
ठवणाकुलेसु^{११} ठवितेसु, वारए अलस-णिद्धम्मे ॥ ४०१ ॥
४०२. उड्डाहं व कुसीला, करेति जहियं ततो निवारंति ।
अच्छंतेसु वि तहियं, पवयणहीला य उच्छेदो^{१२} ॥ ४०२ ॥
४०३. जो तु अमज्जाइल्ले, निवारते तत्थ किं ममत्तं तु ।
होज्ज सिया^{१३} ममकारो, जदि तं ठाणं सयं सेवे ॥ ४०३ ॥

१. उवभोगो (भ) ।

२. गेण्हे (दे, मु), गेण्ह (भ) ।

३. कप्पे (भ) ।

४. °मादि (भ), आदिसद्दातो कप्पट्टुगादि रक्खति (चू) ।

५. काया व त्ति दुल्लभदव्वट्टया वा सच्चित्तकाया गेण्हेज्जा (चू) ।

६. आदिसद्दातो रूप-तंब-सीसग-तउगादी धाउवायप्पओगा उप्पायतीत्यर्थः (चू) ।

७. दव्वावातं (भ, मु) ।

८. इस गाथा पर चूर्ण नहीं है ।

९. आदिसद्दाओ उवस्सओ घेप्पति (चू) ।

१०. निवारते (भ, दे) ।

११. ठवणकुला अतिशयकुला भण्णंति येष्वाचार्यादीनां भक्तमानीयते (चू) ।

१२. वोच्छेदो (दे) ।

१३. सिया आसंकाए अवधारणे वा (चू) ।

३९५. ग्लान अथवा वैद्य के लिए छह कार्यों (लवण आदि) का उपयोग/उपभोग भी हो सकता है। ग्लान द्वार के समान (महान अटवी) द्वार में भी काक आदि से सम्बद्ध अपवाद ज्ञातव्य हैं। महान अटवी में शय्यातर अथवा दानश्राद्ध सार्थिक (गृहस्थ) के विषय में भी काक आदि अपवाद ज्ञातव्य हैं। उनमें प्रीति उत्पन्न होगी और वे अधिक प्रतितर्पण करेंगे—भक्तपान का सहयोग देंगे, ऐसा सोचकर उनके बच्चे को रखना, उसकी रक्षा करना महान अटवी हेतुक अपवाद है।

३९६. दीर्घ अटवी में परिव्रजन करते हुए यदि अद्धाण कल्प का वहन करना भी दुष्कर हो जाए तो घटित अथवा अघटित स्वर्ण का ग्रहण, भक्त, पान, विश्रामणा (शुश्रूषा) आदि के लिए अयोग्य को दीक्षा देना, असंस्तरण के कारण अनेषणीय का ग्रहण, पर्याप्त आहार आदि का अभाव में काय अर्थात् प्रलम्ब आदि का उपयोग भी अपवाद हैं।

३९७. कोई श्रावक आदि दुर्लभ द्रव्य (शतपाक आदि) देगा—इसलिए उसके प्रति अपराध करने वाले (भोजन आदि को खाने वाले) कौए, कुत्ते आदि का निवारण करना, उसके बच्चे आदि को रखना अथवा ममत्व करना, दुर्लभ द्रव्य प्राप्त करने में समर्थ अयोग्य को दीक्षा देना,^१ एषणा सम्बन्धी नियमों का पालन न करना, दुर्लभ द्रव्य को खरीदने के निमित्त से घटित स्वर्ण या प्रवाल आदि सचित्त काय का उपयोग करना—ये दुर्लभद्रव्य हेतुक कल्पिका प्रतिसेवना है।

३९८. अर्थजात का अर्थ है—विभिन्न प्रकार के अर्थ (पदार्थ)। दुर्लभ द्रव्य के समान अर्थजात के उत्पादन के लिए भी शय्यातर आदि के भोजन आदि से कौए आदि को हटाना, बच्चे को रखना, उसके प्रति ममत्व करना, प्रतिक्रुष्ट (अयोग्य) को दीक्षा देना, एषणा दोषों का आसेवन करना, जातरूप (स्वर्ण) आदि के उत्पादन हेतु धातुपाषाण, मृत्तिका आदि सचित्त निकाय का प्रयोग करना—ये अर्थजातहेतुक द्रव्यपरिग्रह के अपवादपद हैं।

३९९. द्रव्यापवाद का कथन किया जा चुका है। अब शैक्ष, ग्लान आदि, मर्यादा, स्थापना और उड्डाह—इन द्वारों के माध्यम से क्षेत्रापवाद का कथन करूंगा।

४००. अज्ञान के कारण शैक्ष का उपाश्रय, संस्तारक भूमि आदि पर ममत्व करना, मेरे इस स्थान के समीप कोई न आए—इस प्रकार प्रतिषेध करना शैक्ष विषयक अपवाद हैं। ग्लान अथवा उपसर्ग प्राप्त साधु मुझे अमुक स्थान पर ले जाएं, मैं वहां स्वस्थ हो जाऊंगा आदि कहना ग्लान विषयक अपवाद हैं।

४०१. उपाश्रय के वे भाग, जो शय्यातर के द्वारा अनुज्ञात नहीं हैं, वहां से अमर्यादित (मर्यादाहीन) शैक्ष को हटाना, स्थापना कुलों में जाने वाले आलसी और निर्धर्मा साधुओं को रोकना—क्षेत्र सम्बन्धी अपवाद हैं।

४०२. जिस क्षेत्र, गांव, नगर आदि में रहने से पार्श्वस्थ, कुशील आदि लोग उड्डाह (निन्दा) करें अथवा उन पार्श्वस्थ आदि के रहने से जिस क्षेत्र में प्रवचन की अप्रभावना हो, भक्तपान, वसति, शिष्य आदि का उच्छेद हो, वहां संघ आदि को प्रवास का निषेध करना—क्षेत्रपरिग्रह सम्बन्धी अपवाद है।

४०३. जो मर्यादा (व्यवस्था) का अतिक्रमण करता है, उसका निवारण करने में ममत्व कैसा? अर्थात् उपर्युक्त परिस्थिति में किसी को अमुक गांव आदि में रहने से ममत्व का दोष नहीं लगता। यदि उस स्थान में उन्हें रोककर स्वयं रहे तो ममत्व हो सकता है।

१. किसी गृहस्थ का पुत्र नपुंसक है। वह लोकोपवाद आदि के कारण शर्म महसूस करता हुआ साधु से कहे—यदि आप मेरे पुत्र को दीक्षित करें तो जिन दुर्लभ द्रव्यों की आपको अपेक्षा है, वे सब मैं आपको दे सकता हूँ।

४०४. अणभोगा^१ अतिरित्तं, वसेज्ज अतरंत^२ तप्पडियरा वा ।
अद्धाणम्मि वि^३ वरिसे, वाघाते दूरमग्गे^४ वा ॥ ४०४ ॥
४०५. धुवलंभो वा दब्बे, कइवयदिवसेहि^५ वसति अतिरित्तं ।
उडुवतिरेगो^६ वासो, वासविहारे विवच्चासो ॥ ४०५ ॥
४०६. सहपडियरो^७ परिण्णी^८, वास तदट्ठा व गम्मते वासे ।
संथरमसंथरं वा, ओमे वि भवे विवच्चासो ॥ ४०६ ॥
४०७. सेज्जादिगेषु उभयं^९, करेज्ज सेहोवधिम्मि^{१०} व ममत्तं ।
अविकोवियत्तणेण तु^{११}, इतरगिहत्थेषु वि ममत्तं ॥ ४०७ ॥
४०८. जो पुण तट्ठाणाओ^{१२}, निवत्तते^{१३} तस्स कीरति ममत्तं ।
संविग्गपक्खिओ वा, कज्जम्मि व जो तु पडितप्पे^{१४} ॥ ४०८ ॥
४०९. पासत्थादिममत्तं, अतरंतो भेसयट्ठया कुज्जा ।
अतरंताण करिस्सति, माणसिविज्जट्ठया^{१५} वितरो^{१६} ॥ ४०९ ॥
४१०. पगतीय सम्मतो साधुजोणिओ^{१७} तं सि अम्ह आसण्णो ।
सद्धावण्णण^{१८} वितरे, विज्जट्ठा तूभयं^{१९} सेवे ॥ ४१० ॥
४११. परिसं^{२०} व रायदुट्ठे, सयं च उवचरति तं तु रायाणं ।
अण्णो व^{२१} जो पदुट्ठो, सलद्धि णीए व तं एवं ॥ ४११ ॥

१. अणा (भ, पा, दे), अणाभोगो अत्यन्तविस्मृतिः (चू) । १३. णियत्तति (चू), °त्तती (भ) ।
२. अतरंतो (भ, मु) । १४. दे प्रति में गाथा का केवल प्रथम चरण है ।
३. व (दे) । १५. माणसिविज्जा णाम मणसा चिंतिऊण जं जावं करेति, तं लभति (चू) ।
४. °मग्गं (क) । १६. यह गाथा दे प्रति में नहीं हैं ।
५. कतिवयं (भ) । १७. साधुजोणीओ णाम साधुपाक्षिकः आत्मनिंदकः उद्यत-
६. उडुव (दे) । प्रशंसाकारी (चू) ।
७. सप्पडिं (भ, दे) । १८. सव्वद्धावण (दे) ।
८. परिण्णी अणसणोवविट्ठो (चू) । १९. उभयं णाम पासत्थ-गिहत्था (चू) ।
९. उभयं णाम राग-दोसा (चू) । २०. पडिसं (दे) ।
१०. सेहो अगीयत्थो अभिणवदिक्खिओ वा (चू) । २१. वा (मु, भ, दे) ।
११. तु सद्धो विकप्पदरिसणे गीयत्थो वि कुज्जा (चू) ।
१२. °णाए (क) ।

४०४. अनाभोग के कारण ऋतुबद्धकाल अथवा वर्षावास की सम्पन्नता का ज्ञान न हो और अतिरिक्त प्रवास कर ले, रोगी अथवा उसके परिचारक विहार करने में असमर्थ हों, मार्ग में वर्षा के कारण काल का विपर्यास हो जाए, किसी व्याघात (विघ्न) के कारण बीच में रुकना पड़े और बाद में वर्षा प्रारम्भ हो जाए, अथवा अत्यन्त दूरी के कारण मासकल्प आदि के क्षेत्र में समय पर न पहुँच पाए—इत्यादि कारणों से कालातिक्रमण होना कालपरिग्रह का अपवाद है।

४०५. मासकल्प या वर्षाकल्प पूरा होने के बाद किसी दुर्लभ द्रव्य की प्राप्ति निश्चित हो तो उसके लिए अतिरिक्त वास करना, दुर्लभ द्रव्य की प्राप्ति हेतु ऋतुबद्ध काल में अधिक रहना और वर्षाकाल में विहार करना—यह काल विपर्यास भी परिग्रह की कल्पिका प्रतिसेवना है।

४०६. परिण्णी (अनशन करने वाला) तथा उसके परिचारक अतिरिक्त वास करें अथवा वर्षाकाल में तदर्थ विहार करें—यह उत्तमार्थ हेतुक कल्पिका प्रतिसेवना है। अवम (दुर्भिक्ष) काल में जहां संस्तरण हो, वहां अतिरिक्त वास तथा असंस्तरण के कारण वर्षाकाल में विहार करना अथवा कार्तिक, मृगशिर आदि महीनों में असंस्तरण की स्थिति होने वाली है अथवा वर्षा के कारण मार्ग दुर्गम हो सकता है अतः वर्षाकाल में भी विहार किया जाए—यह कालविपर्यास भी अवम हेतुक कल्पिका प्रतिसेवना के अन्तर्गत है।

४०७. अकोविदत्व (अज्ञान) के कारण शैक्ष—अगीतार्थ मुनि या नव दीक्षित मुनि शय्या, ग्राम आदि में राग, द्वेष कर लेता है, उपधि पर ममत्व कर लेता है। इतर अर्थात् पार्श्वस्थ, गृहस्थ आदि पर ममत्व कर लेता है। इसी प्रकार गीतार्थ मुनि भी कर सकता है।

४०८. पहले कोई व्यक्ति पार्श्वस्थ था। अब वह उससे निवृत्त हुआ है। गीतार्थ मुनि का उसके प्रति ममत्व हो सकता है। अथवा संविग्नपाक्षिक होने पर भी जो संयम के प्रति पूर्णतः उद्यत नहीं है, उसके प्रति भी ममत्व हो सकता है अथवा जो पार्श्वस्थ ज्ञान, दर्शन आदि में सहायक बनता है, उसके प्रति ममत्व हो जाए। इस प्रकार गीतार्थ मुनि पार्श्वस्थ आदि में ममत्व करता है।

४०९. औषध आदि की प्राप्ति के लिए ग्लान का पार्श्वस्थ आदि के प्रति ममत्व हो जाता है। मैं ग्लान होऊंगा, तब यह मेरी सेवा करेगा अथवा मेरे परिचारकों के लिए उपयोगी होगा—इस कारण से भी ग्लान का ममत्व हो जाता है। यह मुझे मानसी विद्या^१ देगा। ऐसा सोचकर ग्लान मुनि ममत्व कर लेता है। अग्लान मुनि भी ऐसा कर लेता है।

४१०. कोई पार्श्वस्थ पार्श्वस्थता से प्रतिक्रमण करना (लौटना) चाहता है, उसे कहा जाता है तुम तो स्वभाव से ही हमारे प्रिय हो अथवा तुम सदा से ही साधुयोनिक—स्वयं के शिथिलाचार की निन्दा करने वाले और उद्यतविहारी साधुओं की प्रशंसा करने वाले रहे हो। अथवा तुम हमारे निकट सम्बन्धी हो, कुलीन हो इसलिए हम तुम्हें कह रहे हैं। अब उद्यम करो, संयम जीवन दुष्कर है, दुर्लभ है, प्रयत्न करो—इत्यादि वचनों से उसमें संयम के प्रति श्रद्धा पैदा की जाती है। विद्या, मंत्र आदि के निमित्त पार्श्वस्थ और गृहस्थ दोनों की सेवा करना अथवा ग्लान के उपचार आदि के लिए पार्श्वस्थ अथवा गृहस्थ वैद्य की सेवा करना ताकि वे उसकी चिकित्सा अच्छी तरह करें—भावपरिग्रह की कल्पिका प्रतिसेवना है।

४११. कोई राजा प्रद्विष्ट हो गया। उसे अनुकूल बनाने के लिए उसकी परिषद् की अथवा उस व्यक्ति की सेवा करनी पड़ती है जो उसे उपशान्त कर सके। अथवा स्वयं साधु जो उपशामन लब्धि सम्पन्न हो, वह उसकी सेवा करे। इसी प्रकार मंत्री, ग्राम प्रधान आदि भी यदि प्रद्विष्ट हो जाएं तो उपशामन लब्धिसम्पन्न साधु उनकी निकटता से सेवा कर शान्त करे—इत्यादि भावपरिग्रह के अपवाद हैं।

१. मानसीविद्या—मन में चिंतन कर विद्या का जाप करने पर इच्छित वस्तु प्राप्त हो जाती है।

४१२. 'रातीभक्त चउव्विह'^१, चउरो मासा भवंतऽणुग्घाता ।
आणादिणो^२ य दोसा, आवज्जण^३ संकणा जाव ॥४१२॥ नि ७८ ॥
४१३. गहण-गवेसण-भोयण, णिसिरण सव्वत्थ संजमायाए^४ ।
उभयविरुद्धगहणं, संचयदोसा अचिंता य ॥४१३॥ नि ७९ ॥
४१४. रयमादि मच्छिविच्छिय, पिवीलिगा रसग-पुप्फ-बीयादी^५ ।
विस-गर^६-कंटगमादी^७, गरहितविगती^८ य न वि देहे ॥४१४॥
४१५. साणादीभक्खणता, मक्कोडग-कंटविद्ध संकाए ।
उवगो विसमे पडणं, विगलिंदिय आयघातो वा^९ ॥४१५॥
४१६. गोणादी व अभिहणे, उग्गमदोसा य रत्ति न विसोधे ।
दव्वादी 'ण वि'^{१०} जाणे, एमादि गवेसणे^{११} दोसा ॥४१६॥
४१७. कंटऽट्टि-मच्छि-विच्छुग, विसगर-'कंदादि ए य'^{१२} भुंजंतो ।
तमसम्मि उ ण वि जाणे, उभयस्स य णिसिरणे दोसा ॥४१७॥
४१८. संजमदेहविरुद्धं, न जाणती^{१३} ठवितें सन्निधी दोसा ।
दिय-रातो य अडंते, सुत्तथाणं तु परिहाणी ॥४१८॥
४१९. अणभोगे^{१४} गेलण्णे, अद्धाणे दुल्लभुत्तिमट्टोमे ।
गच्छाणुकंपयाए, सुत्तथविसारदायरिए ॥४१९॥ नि ८० ॥

१. राईभक्ते चउव्विहे (मु, पा) ।

२. आदिग्रहणातो अणवत्थमिच्छते जणयति, पच्छित्तं च से चउलहुयं (चू) ।

३. आवज्जण त्ति रातो गहभोयणे अचक्खुविसएण पाणातिवायं आवज्जति जाव परिग्गहं पि आवज्जति (चू) ।

४. उभयदोसा उ (भ, मु), चूर्णि में 'उभयदोसा उ' की व्याख्या है ।

५. आदिसद्दाओ ससणिद्धमट्टियादिहत्थेहिं वा गेणहेज्जा (चू) ।

६. अणेगाणं उवविसदव्वाणं णिगरो अकालघायगो गरो

भण्णति (चू) ।

७. आदिसद्दाओ अट्टियसक्करा ण पस्सति (चू) ।

८. गरहियविगतीओ मज्जमंसादिया य (चू) ।

९. य (दे) ।

१०. य ण (भ, मु) ।

११. °सणा (भ) ।

१२. °दिएसु (भ) ।

१३. याणती (भ, मु) ।

१४. अणा° (दे, भ, पा) ।

४१२. रात्रिभोजन के चार प्रकार होते हैं।^१ उनका आसेवन करने से गुरुचौमासी प्रायश्चित्त^२ तथा आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोष प्राप्त होते हैं। चक्षु का विषय न होने के कारण रात्रिभोजन का आसेवन करने वाले के प्राणातिपात आदि दोष लगते हैं यावत् उनके प्रति शंका भी हो सकती है।

४१३. रात्रिभोजन के आसेवन से जो संयम और आत्मविराधना हो सकती है, वह इन सात द्वारों से ज्ञातव्य है—१. ग्रहणैषणा, २. गवेषणा, ३. भोजन अर्थात् परिभोगैषणा, ४. परिष्ठापनिका, ५. उभय (द्रव्य और शरीर) विरुद्ध द्रव्य का ग्रहण, ६. संचय दोष और ७. सूत्रार्थ का अचिन्तन (पर्यालोचन का अभाव)^३। ग्रहण आदि चारों द्वारों में आत्म और संयम—उभय विराधना सम्बन्धी दोषों की संभावना रहती है।

४१४. रात्रि में अंधकार के कारण सचित्त रज, सस्निग्ध आदि अकल्प्य (पृथ्वीकाय, अप्काय आदि से स्पृष्ट) हाथों से आहार ग्रहण हो सकता है, मक्खी, बिच्छू, चींटी आदि से व्यतिमिश्र (मिश्रित) आहार का ग्रहण हो सकता है, रसज (दही आदि में पैदा होने वाले) प्राणियों से संसक्त, सचित्त पुष्प और बीजों से युक्त आहार को ग्रहण किया जा सकता है। रात्रि में गृहीत आहार विष, गर,^४ कांटे आदि से युक्त हो सकता है, मद्य, मांस आदि गर्हित विषय से युक्त हो सकता है अतः रात्रि में आहार ग्रहण न करे।

४१५. रात्रि में आहार की गवेषणा करते समय कुत्ते आदि काट सकते हैं, मकोड़े के काटे जाने पर या कांटा चुभ जाने पर सर्प की शंका हो सकती है,^५ खड्डे, निम्नोन्नत भूमिभाग आदि के कारण गिर सकता है, चींटी आदि विकलेन्द्रिय प्राणी गमनागमन के दौरान मर सकते हैं। कुत्ते आदि तथा विकलेन्द्रिय आदि के कारण आत्मघात (शारीरिक कष्ट) भी हो सकता है।

४१६. अंधकार में गाय, भैंस आदि चोट पहुंचा सकती है। रात्रि में उद्गम दोषों की विशोधि नहीं हो पाती। अंधकार के कारण ग्राह्य-अग्राह्य आदि द्रव्यों^६ का पता नहीं चलता—इत्यादि गवेषणा दोषों की संभावना होने से रात्रिभोजन ग्राह्य नहीं।

४१७. अंधकार में आहार करते समय पता नहीं चलता। फलतः आहार के साथ कांटा, अस्थि (गुठली) आदि गले में जाकर अटकना, मक्खी निगल जाने से वल्गुलिका व्याधि होना, आहार के साथ बिच्छू, विष, गर और हानिकारक कंद आदि खाए जाने से आत्म-संयम विराधना हो सकती है। कायिकी संज्ञा आदि के व्युत्सर्ग में भी आत्म-संयम विराधना आदि दोषों की संभावना रहती है।

४१८. अंधकार के कारण दिखाई न देने के कारण संयम विरुद्ध और शरीर के लिए अकारक (हानिकारक) द्रव्य अथवा विरुद्ध द्रव्य—दूध और छाछ को एक साथ ग्रहण आदि दोष संभव हैं। रात्रि में आहार लाए और यदि उपर्युक्त दोषों से बचने हेतु साधु उसे दिन में खाए तो रात को लाकर रखने से संचय, सन्निधि आदि दोष लगते हैं। दिन और रात में भिक्षाटन करने से सूत्र और अर्थ का परावर्तन नहीं हो पाता, फलतः सूत्र और अर्थ की हानि होती है।

४१९. रात्रिभोजन की कल्पिका प्रतिसेवना आठ द्वारों से ज्ञातव्य है—१. अनाभोग, २. ग्लान्य, ३. महान अटवी, ४. दुर्लभ द्रव्य, ५. उत्तमार्थ (अनशन), ६. अवम, ७. गच्छानुकम्पा और ८. सूत्रार्थ विशारद आचार्य।

१. रात्रिभोजन के चार प्रकार—१. दिन में ग्रहण, दिन में भुक्त, २. दिन में ग्रहण, रात्रि में भुक्त, ३. रात्रि में ग्रहण, दिन में भुक्त, ४. रात्रि में ग्रहण, रात्रि में भुक्त।
२. उपर्युक्त चतुर्विध रात्रि भोजन से प्राप्त प्रायश्चित्त में से प्रथम भंग में तप और काल दोनों से लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है जबकि शेष तीनों भंगों में दोनों से गुरु प्रायश्चित्त।
३. उपर्युक्त द्वारों के विवेचन हेतु द्रष्टव्य, गा. ४१४-४१८।
४. अनेक विषसदृश द्रव्यों का समूह, अकालघाती जहर गर कहलाता है।
५. विषैले सर्प के डस जाने की शंका से भी विष का प्रभाव हो सकता है और कदाचित् सर्प के काटने पर भी मकोड़े ने काटा है—ऐसा सोचकर लापरवाही हो सकती है।
६. आदि शब्द से क्षेत्र, काल और भाव तीनों का ग्रहण किया जा सकता है—अंधकार में प्रतिषिद्ध आदि क्षेत्र, अनुपयुक्त काल और अप्रिय द्रव्य के ग्रहण का प्रसंग हो सकता है।

४२०. लेवाडमणाभोगा, न धोत परिवासिमासए व कतं ।
धरति त्ति व उदितो त्ति व, गहणादियणं व उभयं वा ॥ ४२० ॥
४२१. आगाढमणागाढे, गेलण्णादिसु^१ चतुक्कभंगो तु ।
दुविहम्मि वि^२ गेलण्णे, गहणविसोधी^३ इमा तेसु ॥ ४२१ ॥
४२२. वोच्छिण्णमडंबे^४ दुल्लभे व जतणा तु पढमभंगेणं ।
सूलाऽहिअग्गितण्हादिगेसु^५ बितिओ भवे भंगो ॥ ४२२ ॥
४२३. एमेव य विवरीतो, ततिओ चरिमो तु^६ दोन्नि वी रत्ती^७ ।
आगाढमणागाढे, पढमो सेसा तु आगाढे ॥ ४२३ ॥
४२४. पडिसिद्ध-समुद्धारो, गमणं चउरंगं^८ दवियजुत्तेणं^९ ।
दाणादिवाणिग समाउलेण दियभोगिसत्थेणं ॥ ४२४ ॥
४२५. पडिसेधे वाघाते, अतियत्तियमादिएहि^{१०} खइते वा ।
पडिसेधकोऽतियंतो, करेज्ज देसे व^{११} सव्वे वा^{१२} ॥ ४२५ ॥
४२६. ओमे तिभागमद्धे, तिभागमायंबिले अभत्तट्टे^{१३} ।
'छट्ठादेगुत्तरिया, छम्मासा संथरे जेणं^{१४} ॥ ४२६ ॥
४२७. बत्तीसादी जा लंबणो तु खमणं व^{१५} न वि य से हाणी ।
आवासगेसु अच्छउ, जा छम्मासा न^{१६} अण्णेसिं ॥ ४२७ ॥
४२८. एस गमो वंजणमीसएण^{१७} आयंबिलेण एसेव ।
एसेव य उभएण वि, देसीपुरिसे समासज्ज ॥ ४२८ ॥

१. ण्णादीसु (दे), आदिसद्दातो अगिलाणो वि पढम-बितिय-परिसहेहि अभिभूतो (चू) ।
२. ति (क) ।
३. विसोही (दे) ।
४. वोच्छिण्णमडंबं णाम जत्थ दुजोयणब्भंतरे गामघोसादी णत्थि (चू) ।
५. सूलाइं (भ) ।
६. तु शब्दो रात्रौ ग्रहणभोगावधारणे (चू) ।
७. रत्तिं (दे), रत्ति (भ) ।
८. चउरंगं अश्वा गौः सगड पाइक्का (चू), चूर्णिकार ने चतुरंग के और भी अनेक विकल्प बताए हैं ।

९. जुत्तग्गहणं चतुर्णामपि समवायप्रदर्शनार्थं (चू) ।
१०. आदिसद्दातो चोरेहि वा मुसितं, भिल्लपुलिंदादीहिं वा अद्धेल्लियं (चू) ।
११. य (दे) ।
१२. य (दे) ।
१३. चउत्थे य (चू), चउत्थादी (निभा ३९१५) ।
१४. णिम्मिस्से मिस्से वा, परित्तकायम्मि जा जतणा (निभा) ।
१५. वा विकप्पदर्शने, खमणं सिय करेति सिय णो करेति (चू) ।
१६. न य (भ) ।
१७. वंजणं उल्लणं दधिगादि (चू) ।

४२०. विस्मृति के कारण पात्रबन्ध आदि का लेप बिना धोये रह जाए तो रात्रिभोजन का अतिचार लगता है। अथवा अनाभोग से होने वाले रात्रिभोजन के चार विकल्प हैं—१. किसी द्रव्य का मुंह में परिवासित रह जाना। २. अभी सूर्य अस्त नहीं हुआ है, यह सोचकर कुछ ग्रहण करना। ३. सूर्य उदित हो गया है, यह सोचकर कोई द्रव्य खा लेना। ४. द्रव्य लेना और खाना।

४२१. ग्लान्य दो प्रकार का होता है—आगाढ़ और अनागाढ़। दोनों प्रकार के रोगों से (अथवा बुभुक्षा आदि परीषहों से) अभिभूत साधु चतुर्विध रात्रिभोजन की प्रतिसेवना कर लेता है, उसके लिए ग्रहण और विशोधि का क्रम यह (अग्रे विवक्षित) है।

४२२. व्यवच्छिन्न मडंब—जहां दो योजन के मध्य कोई ग्राम आदि न हो, उसमें ग्लान आदि के लिए औषध आदि मिलना दुष्कर हो, मुनि यतनापूर्वक प्रथम भंग (दिन में गृहीत, दिन में भुक्त) का आचरण करते हैं—औषध आदि को परिवासित रखते हैं। किसी के अचानक उदरशूल आदि तीव्र वेदना उदित हो जाए, व्याधि के कारण भयंकर जठराग्नि अथवा तृषा का उदय हो जाए, सांप डस जाए—इत्यादि सद्यस्क परिस्थितियों में द्वितीय भंग (दिन में ग्रहण की हुई औषध आदि को रात में ग्रहण) का आसेवन होता है।

४२३. उपर्युक्त शूल आदि कारणों में तृतीय भंग का आसेवन तब करना पड़ता है, जब वह क्षीर आदि वस्तु दिन में उपलब्ध न हो। इन्हीं परिस्थितियों में कभी-कभी औषध आदि का ग्रहण और आसेवन दोनों रात्रि में होते हैं, तब चतुर्थभंग की प्रतिसेवना होती है। इनमें प्रथम भंग का आसेवन आगाढ़ और अनागाढ़—दोनों प्रकार के ग्लान्य में संभव है, पर शेष तीन केवल आगाढ़ ग्लान्य में ही आसेव्य हैं।

४२४. जहां सुभिक्ष हो, असंस्तरण की स्थिति न हो, वहां अद्धाण-परिव्रजन प्रतिषिद्ध है। अशिव आदि के कारण परिव्रजन अनिवार्य हो, वहां अश्व, गौ, शकट और पदाति—इन चार अंगों वाले, अशनादि द्रव्यों को साथ लेकर चलने वाले दानश्राद्ध, अणुव्रती तथा दिन में भोजन करने वाले वणिकों से समकुल सार्थ के साथ परिव्रजन करना अनुज्ञात है।

४२५. सार्थ के साथ गमन करते हुए भी साधुओं को इन कारणों से कदाचित् शुद्ध आहार पर्याप्त न मिले— १. प्रतिषेध—कोई प्रत्यनीक जो सार्थ में प्रभु है अथवा अतिथि है, वह साधुओं को भिक्षा देने का देश (आंशिक) अथवा सर्व (पूर्ण) निषेध कर दे। २. वर्षा आदि व्याघात उत्पन्न हो जाने से पाथेय खत्म हो जाए। ३. सार्थ में बहुत आगन्तुकों के आ जाने के कारण आहार की अल्पता हो जाए।

४२६-२८. उपर्युक्त कारणों से यदि साधु को एषणीय आहार पर्याप्त मात्रा में न मिले, तो वह अवम (कुछ कम—१, २, ३ कवलहीन आदि) खाकर रह जाए, पर अनेषणीय की इच्छा न करे। अवम आहार न मिले तो त्रिभागहीन आहार ($\frac{३२ \times २}{३}$ कवल) करे, उतना भी न मिले तो आधा आहार (१६ कवल) करे, उतना भी न मिले तो एक तिहाई $\frac{३२}{३}$ भाग आहार कर ले, पर अनेषणीय न ले। आचाम्ल अर्थात् व्यंजनरहित आहार के विषय में भी यही क्रम है। यावत् उपवास, बेला, तेला इस प्रकार एक-एक दिन की वृद्धि करते हुए छह महिने की तपस्या कर ले पर शक्यता हो तो अनेषणीय की इच्छा न करे। एक व्यक्ति का पूर्ण आहार बत्तीस कवल है। मुनि क्रमशः ३१, ३०, २९ इस क्रम से एक कवल भी शुद्ध आहार करे। अनेषणीय आहार न करे। यदि शुद्ध आहार सर्वथा न मिले और उपवास करने पर आवश्यक योगों की हानि न हो तो उपवास करे और एषणीय ३२ कवल यावत् १ कवल से पारणा कर ले। यदि पारणे में एक कवल भी एषणीय प्राप्त न हो तो बेला, तेला यावत् छहमासी तप करे, अनेषणीय ग्रहण न करे। उपर्युक्त क्रम व्यंजन (दूध, शाक आदि) युक्त आहार के विषय में निर्दिष्ट है। व्यंजनमिश्र अर्थात् कुछ आहार व्यंजनयुक्त और कुछ व्यंजनरहित तथा आचाम्ल भोजन के विषय में भी यही क्रम है। यदि अनेक साधुओं के लिए व्यंजनमिश्र पर्याप्त आहार मिले तो सिंधु आदि देशों के जो साधु आचाम्ल आहार न कर सकें, उन्हें व्यंजनयुक्त और शेष कोंकणदेशीय आदि साधुओं को आचाम्ल आहार दे दिया जाए—यह भोजनविषयक यतना है। इस प्रकार धृति और संहनन दोनों से युक्त साधु अनेषणीय ग्रहण न करे, भले ही छहमासी तप करना पड़े।

४२९. छम्मासिगपारणगे, पमाणमूणं व कुणति आहारं।
अवणेत्ता वेक्केक्कं, निरंतरं वच्च भुंजंतो ॥ ४२९ ॥
४३०. आवासगपरिहाणी^१, पडुपण्णे ऽणागते^२ व कालम्मि।
गच्छे व अप्पणो वा, दुक्खं जीविय^३ परिच्चइउं ॥ ४३० ॥
४३१. गच्छे अप्पाणम्मि य, असंथरे संथरे य चतुभंगो।
पणगादिअसंथरणे, दुक्कोडि^४ जा कम्म निसिभत्तं ॥ ४३१ ॥
४३२. एसणमादी^५ भिण्णो^६, संजोगा^७ रुद्ध^८ परकडे दिवसं।
जतणा मासिगठाणा^९, आदेसे चतुलहू ठाणा^{१०} ॥ ४३२ ॥ नि ८१ ॥
४३३. ससणिद्ध सुहुम ससरक्ख^{११} बीय घट्टादि पणग संजोगा।
जा तं भिण्णमतीतो, रुद्धादि निकेयणे गिण्हे ॥ ४३३ ॥
४३४. ताहे पलंबभंगे, चरिमतिगे परकडे^{१२} दिया गिण्हे।
ताहे मासियठाणातो^{१३} आदेसा इमे होंति ॥ ४३४ ॥
४३५. आदिग्गहणेणं उग्गमो य उप्पादणा य गहिताइं।
संजोगजा तु वुड्डी, दुगमादी जाव भिण्णो उ^{१४} ॥ ४३५ ॥

१. आवस्सगं (चू)।

२. अणागते (मु)।

३. जीतं (भ, मु)।

४. दुक्कोडि (दे)।

५. आदिसद्दातो उप्पायण-उग्गमा घेप्पति (चू)।

६. भिण्णो त्ति भिण्णमासो गहितो (चू)।

७. संजोगज (पा, भ)।

८. रुद्धो त्ति रुद्धघरं महादेवायतनमित्यर्थः (चू), भद् (पा)।

९. °यट्ठणा (पा, मु)।

१०. × (भ)।

११. ससरक्ख त्ति सच्चित्तपुढविरएण दव्वं हत्थो मत्तो वा उग्गुडितेत्यर्थः (चू)।

१२. परि° (भ)।

१३. °यट्ठणा य (चू)।

१४. इस गाथा के बाद चूर्णिकार ने 'भाष्यकारो व्याख्यां करोति' का तथा गा. ४४३ के प्रारम्भ में इस गाथा के लिए 'एसणमादीभिण्णे त्ति जा एस गाहा वक्खाणिता एस भाष्यकारसत्त्वा इयं तु भद्रबाहुस्वामिकृता गतार्था एव द्रष्टव्या' का संकेत किया है।

४२९. छह मास की तपस्या के पारणे में यदि एषणीय आहार पर्याप्त मिल जाए तो प्रमाण युक्त अथवा न्यून आहार करे। यदि उसे लगे कि आहार न करने से अथवा छह मास की तपस्या के बाद आहार करने पर भी मेरे आवश्यक योगों की परिहानि संभव है तो वह उतनी तपस्या न करे। एक-एक दिन घटाता हुआ उपवास करे और यदि उससे भी आवश्यक योगों की परिहानि होती हो तो निरन्तर आहार करता हुआ परिव्रजन करे।

४३०, ४३१. यदि वर्तमान में तथा भविष्यकाल में आवश्यक करणीय योगों से परिहानि नहीं होती हो तो जो प्राप्त एषणीय है, उसी से काम चलाए। अनेषणीय का ग्रहण न करे। गच्छ, स्वयं या आचार्य का बुभुक्षित अवस्था में जीवन-त्याग करना कष्टप्रद होता है—ऐसी अवस्था में संस्तरण और असंस्तरण की अपेक्षा से चतुर्भंगी हो जाती है। इनमें प्रथम तीन भंग असंस्तरण के हैं। सर्वथा असंस्तरण में पनक परिहानि के क्रम से पहले विशुद्धिकोटिक आहार ग्रहण करे यावत् अविशुद्धिकोटिक, आधाकर्म और अन्ततः निशिभक्त का ग्रहण भी एतद्विषयक अपवाद है।

४३२. इस गाथा का अक्षरार्थ इस प्रकार है—एषणा आदि^१, भिन्न-भिन्न मास, संयोग—पंच, दस यावत् भिन्न मास, इनके संयोग। रुद्र—रुद्रधर, महादेवायतन, परकृत—गृहस्थों के लिए कृत, दिवस—रुद्र आदि देवों के उन विशिष्ट दिनों में निवेदित, मास आदि स्थानों में यतना करने का निर्देश जैसे मासस्थान अतीत हो गया, तब मुनि को चतुर्लघु स्थान प्राप्त आहारादि आदेशान्तर से ग्रहण करना होता है। यह इसका संक्षेपार्थ है। विस्तृतार्थ आगे की गाथाओं में द्रष्टव्य है।

४३३. एषणा दोषों में पनक प्रायश्चित्त वाले स्थान क्रमशः ये हैं—१. सचित्त जल से सस्निग्ध हाथ, २. पुष्प युक्त भिक्षा, ३. सचित्त पृथ्वीकाय से सना हुआ द्रव्य, हाथ या पात्र, ४. शालि आदि बीजों के संघट्टन पूर्वक दी जाने वाली भिक्षा। इनके परस्पर संयोग^२ से प्राप्त भिक्षा दस रात्रिदिन यावत् भिन्न मास प्रायश्चित्त वाली भिक्षा के अन्तर्गत आती है, जैसे सस्निग्ध और सरजस्क दोनों दोषों से युक्त, सस्निग्ध, सरजस्क और बीजसंघट्टन से युक्त आदि। भिन्न मास प्रायश्चित्त वाली भिक्षा का भी अतिक्रमण करना पड़े तो शिव, दुर्गा आदि के मन्दिर के निवेदनापिण्ड (नैवेद्य) को ग्रहण किया जा सकता है।

४३४. जब रुद्रधर (शिवमंदिर) आदि से भी भिक्षा न मिले तब प्रलम्ब सम्बन्धी चार भंगों^३ में अंतिम तीन भंगों से आहार ग्रहण करे। उनमें भी सर्वप्रथम गृहस्थों द्वारा अपने भोजन के साथ उपस्कृत प्रलम्ब को दिन में ग्रहण करे। यदि वे न मिलें तो अनुपस्कृत प्रलम्बों को पूर्वोक्त विधि से ग्रहण करे। इस प्रकार भी आहार न मिले तो पिण्डविशोधि विषयक जो लघुमासिक प्रायश्चित्त स्थान हैं, उनमें भी पहले विशोधिकोटिक विकल्पों से भिक्षा ग्रहण करनी चाहिए और उनके अभाव में अविशोधिकोटिक विकल्पों से। इसी क्रम से गुरुमास आदि विकल्पों के विषय में विधि वक्तव्य है।

४३५. एषणा के साथ आदि पद से उद्गम और उत्पादना का ग्रहण किया गया है। संयोगज भंगों से होने वाली वृद्धि का क्रम इस प्रकार है—द्विक संयोग से द्विक अर्थात् दस रात्रिदिन का प्रायश्चित्त यावत् त्रिक, चतुष्क और पंचक संयोग से क्रमशः पन्द्रह रात दिन यावत् भिन्नमास की प्राप्ति होती है।

१. आदि शब्द की व्याख्या के लिए देखें, गाथा-४३५।

२. संयोगज भंग इस प्रकार हैं—१. सस्निग्ध और सरजस्क, २. सस्निग्ध, सरजस्क और बीज संघट्टन, ३. संस्निग्ध, सरजस्क, बीजसंघट्टन और सूक्ष्म (पुष्प) युक्त भिक्षा, ४. सस्निग्ध, सरजस्क, बीजसंघट्टन, सुहुम पाहुड़िया और इत्वर स्थापित।

३. प्रलम्बविषयक चतुर्भंगी—भावतो अभिन्न द्रव्यतो अभिन्न, भावतो अभिन्न द्रव्यतो भिन्न, भावतो भिन्न द्रव्यतो अभिन्न, भावतो भिन्न, द्रव्यतो भिन्न।

४३६. इंदिय सलिंग णाते, भयणा कम्मेण पढम-बितियाणं ।
भोयण 'कम्मे भयणा'^१, विसोधिकोडीतरे दूरे ॥४३६ ॥
४३७. लिंगेण पिसितगहणे, णाते कम्मं वरं न पिसितं तु ।
वरमण्णाए पिसितं, न तु^२ कम्मं जीवघातो त्ति ॥४३७ ॥
४३८. एवं चिय पिसितेणं, पलंबभंगाण पढम-बितियाणं ।
निसिभत्तेण वि एवं, णाताऽणाते भवे^३ भयणा ॥४३८ ॥
४३९. एमेव य कम्मेण वि, भयणा भंगाण पढम-बितियाणं ।
एमेवाऽऽदेसदुगं, भंगाणं रातिभत्तेणं ॥४३९ ॥
४४०. कम्मस्स भोयणस्स य, कम्मं सेयं न भोयणं राओ ।
कम्मं व सज्जघातो, न तु भत्तं तो वरं भत्तं ॥४४० ॥
४४१. अह दूरं गंतव्वं, तो कम्मं वरतरं ण णिसिभत्तं ।
अब्भासे निसिभत्तं, सुद्धमसुद्धं व न तु कम्मं ॥४४१ ॥
४४२. जदि वि य विसोधिकोडी, कम्मं वा^४ तं भवेज्ज णिसिभत्तं ।
वरमब्भासं^५ तं चिय, ण य कम्ममभिक्ख जियघातो^६ ॥४४२ ॥
४४३. एसणमादी रुद्धादि, विसोही^७ मूल^८ इंदियविघाते^९ ।
परकडदिवसे^{१०} लहुगो, तव्विवरीते सयंकरणं^{११} ॥४४३ ॥ नि ८२ ॥

१. × (दे) ।

२. व (भ) ।

३. × (दे) ।

४. ता (भ) ।

५. °भासे (भ) ।

६. जीव° (मु) ।

७. व सोही (भ), विसोहि त्ति विसोहिकोडी (चू) ।

८. मूले त्ति पलंबभंगा सूतिता जम्हा ते मूलगुणोवघाती (चू) ।

९. इंदियविभागे त्ति पाढंतरं बेइंदियमंसं जाव पंचेंदियमंसं—
एस विभागो, विघाए त्ति विणासो मारणमित्यर्थः
बेइंदियादीणं विघाते मंसं भवति (चू) ।

१०. परा गृहस्थाः (चू) ।

११. सयंकरणं णाम कारावणमित्यर्थः (चू), इस गाथा के
लिए चूर्णिकार ने 'इयं तु भद्रबाहुस्वामिकृता गतार्था
एव द्रष्टव्या' (चू) ।

४३६. प्रस्तुत गाथा का अक्षरार्थ इस प्रकार है—इन्द्रिय—द्वीन्द्रिय यावत् पञ्चेन्द्रिय। स्वलिंग=जैनसाधु का ज्ञात—वह क्षेत्र, जहां लोग जानते हैं कि साधु मांस नहीं खाते आदि। कर्म—आधाकर्म युक्त भोजन। भोजन=अद्धानकल्प अर्थात् रात्रिभोजन। विशोधिकोटिक—अल्पदोष दुष्ट आहार। महान् अटवी में परिव्रजन करते हुए साधु को कभी द्वीन्द्रिय आदि^१ जीवों का मांस ग्रहण करना पड़े, आधाकर्म लेना पड़े अथवा निशिभक्त लेना पड़े—इस विषय में होने वाले विभिन्न विकल्पों का विस्तारार्थ अग्रिम गाथाओं में प्रस्तुत है। ४३७. ज्ञात क्षेत्र में स्वलिंग से मांस ग्रहण करने से उद्बुह होता है। उसकी अपेक्षा आधाकर्म लेना ठीक है। अज्ञात क्षेत्र में परिनिष्ठित मांस लेना अल्प दुष्ट है, आधाकर्म नहीं, क्योंकि वह सद्यः जीवोपघाती है। ४३८. द्वीन्द्रिय आदि का पिशित ग्रहण करें या प्रथम और द्वितीय भंग से प्रलम्ब—इस वैकल्पिक स्थिति में भी पूर्वोक्त क्रम ही ज्ञातव्य है। केवल इतना विशेष है कि यदि परित्तकाय प्रलम्ब उपलब्ध हो तो अनन्तकाय का ग्रहण न करे। निशिभक्त एवं पिशित ग्रहण की वैकल्पिक स्थिति में भी ज्ञात और अज्ञात की भजना के साथ पूर्वोक्त क्रम ही द्रष्टव्य है। ४३९. पिशित और आधाकर्म में ज्ञात और अज्ञात क्षेत्र की अपेक्षा से जैसे भजना की जाती है, वैसे ही आधाकर्म और प्रलम्बभंग में मूल-उत्तर-गुण-आनुपूर्वी और प्रायश्चित्तानुपूर्वी की अपेक्षा भजना ज्ञातव्य है।^२ आधाकर्म और प्रलम्बभंग के समान प्रलम्ब और रात्रिभोजन में भी ये ही दो आदेश करणीय हैं अर्थात् निशिभक्त अल्पदोष युक्त है।^३ ४४०. आधाकर्म और निशिभोजन में आधाकर्म को श्रेय (अल्पदुष्ट) माना गया है निशिभक्त को नहीं।^४ अथवा आधाकर्म सद्यः जीवोपघाती होने से अधिक दूषित है, रात्रिभोजन नहीं, अतः रात्रिभोजन श्रेय है।^५ ४४१. यदि महान् अटवी में सुदूर गन्तव्य हो (काफ़ी लम्बा मार्ग तय करना हो) तो आधाकर्म श्रेय है, निशिभक्त नहीं। किन्तु गन्तव्य निकट हो तो शुद्ध अथवा अशुद्ध निशिभक्त ग्राह्य है, आधाकर्म नहीं क्योंकि आधाकर्म सद्यः जीवोपघाती है। ४४२. निशिभक्त चाहे विशोधिकोटिक हो या अविशोधिकोटिक, यदि गन्तव्य निकट है (सुदूर नहीं चलना है) तो निशिभक्त ग्राह्य है। आधाकर्म ग्राह्य नहीं क्योंकि आधाकर्म अभीक्षण जीवोपघाती है। ४४३. एषणमादी भिण्णे आदि गाथा की भद्रबाहुस्वामीकृत व्याख्या यह है—एषणा आदि दोषों से दूषित भिक्षा भी पहले वही ग्राह्य है, जो अल्पतम दोषयुक्त हो। उनमें भिन्न मास प्रायश्चित्त पर्यन्त दोष युक्त भिक्षा भी न मिले, तब शिवमंदिर आदि में गृहस्थों के द्वारा अपने लिए स्थापित प्रलम्ब आदि को ग्रहण किया जाए और उसके अभाव में द्वीन्द्रिय आदि के पिशित को। क्योंकि परकृत भिक्षा का ग्रहण करने पर लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है, इसके विपरीत स्वयं करने से अनुमति, दूसरों से कराने आदि के दोष भी लगते हैं।

१. पिशित भी द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय के क्रम से ग्राह्य है, उत्क्रम से नहीं।
२. आधाकर्म का ग्रहण करने से उत्तरगुण का घात होता है, जबकि परित्त अथवा अनन्तकायिक प्रलम्ब का प्रथम और द्वितीय भंग से ग्रहण करने पर मूलगुण का घात होता है अतः मूलोत्तरगुणानुपूर्वी की अपेक्षा आधाकर्म प्रवर (अल्पदुष्ट) है। परित्त वनस्पति को प्रथम द्वितीय भंग से ग्रहण करने पर चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है जबकि आधाकर्म ग्रहण करने से चतुर्गुरु अतः प्रायश्चित्तानुपूर्वी के क्रम से परित्तवनस्पति का ग्रहण अल्पदुष्ट है। परन्तु जहां आधाकर्म और अनन्तवनस्पति के मध्य विकल्प हो, वहां आधाकर्म अल्पदुष्ट है क्योंकि वह उत्तरगुणोपघाती एवं परोपघाती है जबकि तृतीय और चतुर्थ भंग से गृहीत भी साधारण वनस्पति मूलगुणोपघाती एवं स्वयं सद्योपघाती है।
३. प्रलम्बग्रहण से चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है और रात्रि भोजन में चतुर्गुरु। दोनों मूलगुणोपघाती होते हुए भी निशिभक्त परोपघाती है जबकि प्रलम्बग्रहण सद्यघाती, अतः निशिभक्त को अल्पदुष्ट माना गया है।
४. निशिभोजन मूलगुणोपघाती होने के कारण अधिक दूषित माना गया है।
५. विशोधिकोटिक की दृष्टि से अद्धानकल्प—निशिभक्त को आधाकर्म से अधिक दोषयुक्त माना गया है, क्योंकि निशिभक्त दो दोषों से युक्त होता है जबकि आधाकर्म नहीं। अथवा यदि विशोधिकोटिक हो तो अद्धानकल्प—निशिभोजन श्रेय है क्योंकि आधाकर्म सद्यःघाती है। अथवा अद्धानकल्प सकृत्घाती है और आधाकर्म तीक्ष्णघाती। अद्धानकल्प चिरकालोपघाती है और आधाकर्म सद्यकालोपघाती, अतः अद्धानकल्प श्रेयस्कर है।

४४४. अविसुद्ध पलंबं वा, वीसुं गेण्हतर लद्धं तं निसिरे ।
अण्णेहि वावि लद्धे, ऽणुवट्ठाविताण वा देंति ॥४४४ ॥
४४५. बायालीसं^१ दोसे, हिदयपडे सुतकरेण वियरेत्ता^२ ।
पणगादी गुरुगंतो^३, पुव्वऽप्पतरे^४ भयसु दोसे ॥४४५ ॥
४४६. लिंगेण कालियाए, मीसाणं^५ कालियाय गुरुलिंगे ।
सुद्धाण दियाऽलिंगे, अलाभए दोसु वी तरणं ॥४४६ ॥ नि ८३ ॥
४४७. गिहिणात पिसित लिंगे, अगीतणाता णिसिं तदुभए वी ।
अग्गीतगिहीणाते, दिवसतो^६ गुरुगा तु^७ परलिंगे ॥४४७ ॥
४४८. अजतणकारिस्सेवं, कज्जे परदव्वलिंगकारिस्स ।
गुरुगा मूलमकज्जे, परलिंगं सेवमाणस्स ॥४४८ ॥
४४९. एतेसिं असतीए, ताहे गहणं तमस्सतीए तु ।
लिंगदुग णातऽणाते, गीतमगीतेहिं^८ भयणा तु^९ ॥४४९ ॥
४५०. फासुगपरित्तमूले^{१०}, दिवसतो^{१०} लिंगे विसोधिकोडी य ।
सप्पडिवक्खा एते, कायव्वा^{११} आणुपुव्वीए ॥४५० ॥
४५१. अद्धाणमसंथरणे^{१२}, चउसु वि भंगेसु होति जतणा तु ।
दोसु अगीते जतणा, दोसु तु सभ्भावपरिकहणा^{१३} ॥४५१ ॥

१. बायालेसण (भ) ।

२. विरएत्ता (भ, मु), वियरेत्ता (दे) ।

३. गुरु अंतं (भ, मु), गंतं (पा) ।

४. जत्थ अप्पतरं पायच्छित्तं सो पुव्वं दोसो भतियव्वो
सेवितव्येत्यर्थः (चू) ।

५. मीसाणं ति अगीयत्थेहिं मीसा (चू) ।

६. य (क) ।

७. तीयमतीतेहि (दे) ।

८. इस गाथा पर चूर्णि नहीं लिखी गई है ।

९. फासुयं ववगयजीवियं परित्तं संखेयासंखेयजीवं मूले ति
मूलगुणा मूलपलंबा वा (चू) ।

१०. दिवसतो ति उदिते जाव अणत्थंते (चू) ।

११. णेतव्वा (मु) ।

१२. रणा (दे) ।

१३. परिकहणा णाम पण्णवणा (चू) ।

४४४. जहां पर उद्गम आदि दोषों से मुक्त और युक्त दोनों प्रकार के प्रलम्ब मिलें, वहां दोनों को अलग-अलग ग्रहण करे। बाद में यदि विशुद्ध प्रलंब पर्याप्त मात्रा में मिल जाए तो पूर्वगृहीत अशुद्ध प्रलंबों का परित्याग कर दे। अन्य साधु-संघाटकों को यदि पर्याप्त मात्रा में शुद्ध प्रलम्ब न मिले तो जो अनुपस्थापित (सामायिक चारित्र वाले) साधु हों, उन्हें अशुद्ध प्रलम्ब दे दे और शेष (छेदोपस्थाप्यचारित्री) शुद्ध प्रलम्ब को ग्रहण करें।

४४५. उद्गम आदि के बयालीस दोषों को श्रुतज्ञान रूपी हाथ से हृदय रूपी पट पर फैलाकर जो दोष अल्पतर प्रायश्चित्त वाले हैं, अपेक्षित होने पर पहले उनका सेवन करें, बाद में अधिक प्रायश्चित्त वाले दोषों का। पिण्ड-प्रस्तार में पनक से लेकर चतुर्गुरु पर्यन्त प्रायश्चित्तों का कथन किया गया है।

४४६. स्वलिंग (जैन साधु के वेश) में रात्रि में अशनादि ग्रहण करने पर चतुर्गुरु प्रायश्चित्त आता है। जहां गच्छ में गीतार्थ और अगीतार्थ दोनों हों, वहां चाहे स्वलिंग से ग्रहण करें या परलिंग से, रात्रिभोजन ग्रहण करने पर चतुर्गुरु प्रायश्चित्त आता है। जहां केवल गीतार्थ हों, वहां दिन में परलिंग (अन्यतीर्थिक वेश) में अशनादि ग्रहण करने से चतुर्गुरु प्रायश्चित्त आता है। अशन आदि की सर्वथा अनुपलब्धि हो तो प्रासुक और अप्रासुक दोनों से ही स्वयं का एवं गच्छ का निस्तारण करना पड़ता है।

४४७. जहां गृहस्थों को यह ज्ञात हो कि साधु को रात्रिभोजन नहीं कल्पता, वहां स्वलिंग से रात्रि में आहार ग्रहण करने पर तथा जहां यह ज्ञात हो कि साधु मांस ग्रहण नहीं करते, वहां स्वलिंग से मांस ग्रहण या भोग करने पर चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। यदि (जिस संघ में) अगीतार्थ साधुओं को यह ज्ञात हो जाए कि इन्होंने यह अशन आदि रात में ग्रहण किया है, वहां स्वलिंग और परलिंग दोनों से ही रात्रिभोजन का प्रायश्चित्त चतुर्गुरु है। यदि गृहस्थों और अगीतार्थ साधुओं को यह ज्ञात हो जाए कि इन्होंने परलिंग से अशन आदि ग्रहण किया है, वहां दिन में अशन आदि ग्रहण करने का प्रायश्चित्त चतुर्गुरु है तो रात्रि की तो बात ही क्या? यदि सभी साधु गीतार्थ हों और दिन में स्वलिंग से आहार आदि मिलता हो तो परलिंग से ग्रहण करने पर चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

४४८. कार्य अर्थात् अशिव आदि में विशेष प्रयोजन होने पर अयतनापूर्वक परलिंग करने वाले और कार्य के बिना (निष्प्रयोजन) परद्रव्यलिंग करने वाले—इन दोनों के लिए चतुर्गुरु प्रायश्चित्त का विधान है।

४४९. निष्कर्षतः दिन में निर्दोष अशन आदि की उपलब्धि न होने पर रात्रि में उसका ग्रहण किया जा सकता है। पर रात्रि में अशन आदि ग्रहण करते समय भी स्वलिंग और परलिंग के विषय में ज्ञात और अज्ञात क्षेत्र में तथा गीतार्थ और अगीतार्थ के विषय में भजना ज्ञातव्य है।

४५०. गहन अटवी में यदि प्रासुक, परित्तयोनिक, मूल प्रलम्ब आदि को दिन के समय स्वलिंग से ग्रहण करने पर स्वयं का और गच्छ का संस्तरण न हो सके तो क्रम से इनके प्रतिपक्ष अप्रासुक, अनन्तयोनिक, मूल या अग्रप्रलम्ब को स्वलिंग या परलिंग से जो अल्पतर दोष दुष्ट हों, उन्हें ग्रहण करें। उसके अभाव में मूल और उत्तरगुणों का अपराध करने वाले अविशोधिकोटिक आहार का ग्रहण हो—यह अद्वाणविषयक असंस्तरण की यतनाविधि है।

४५१. गहन अटवी में असंस्तरण की अवस्था में रात्रिभोजन विषयक चारों ही भंगों में यतना करणीय है। प्रथम और तृतीय भंग से रात्रिभक्त ग्रहण करते समय अगीतार्थ साधुओं से यतना की जाए अर्थात् उस विधि से ग्रहण किया जाए कि उन्हें ज्ञात न हो सके। और द्वितीय तथा चतुर्थ भंग का आसेवन करना हो तो उन्हें यथार्थ बताते हुए समझाया जाए कि अधिक संयम साधना के लिए कभी-कभी अल्प संयम का त्याग करना पड़ता है। यदि जीवित रहेंगे तो हम प्रायश्चित्त करके इस दोष की विशुद्धि कर लेंगे और भविष्य में दीर्घकाल तक संयम साधना कर सकेंगे इत्यादि।

४५२. दुल्लभदव्वे पढमो, हवेज्ज भंगो परिण्णचउरो वि ।
ओमे वि^१ असंथरणे, जह^२ अद्धाने तहा चउरो ॥४५२ ॥
४५३. गच्छाणुकंपणट्ठा, सुत्तथविसारदे य आयरिए ।
तणुसाधारणहेतुं^३, समाधिहेतुं तु चउरो वि ॥४५३ ॥
४५४. सन्निहिमादी^४ पढमो, बितिओ अवरणहसंखडीए तु ।
उस्सूरभिक्खहिंडण, भुंजंताणेव अत्थमितो ॥४५४ ॥
४५५. वइगादि^५ भिक्खुभावित, सलिंगेणं तओ^६ ततियओ भंगो ।
चरिमो तु णिसि बलीए^७, दिय पेसण^८ रत्ति भोजिसु^९ वा ॥४५५ ॥
४५६. पिंडे उग्गम उप्पादणेसण^{१०} संजोयणा पमाणे य^{११} ।
इंगाल धूम कारण, अट्ठविधा पिंडणिज्जुत्ती^{१२} ॥४५६ ॥ नि ८४ ॥
४५७. पिंडस्स परूवणता, पच्छित्तं चेव जत्थ जं होति ।
आहारोवधिसेज्जा, एक्केक्के अट्ठठाणाइं ॥४५७ ॥
४५८. असिवे ओमोदरिए, रायहुट्ठे भये व गेलण्णे ।
अद्धानरोधए वा, कप्पिया य तीसु वी जतणा ॥४५८ ॥ नि ८५ ॥
४५९. कारणपडिसेवा वि^{१३} य, सावज्जा^{१४} निच्छए अकरणिज्जा ।
बहुसो वियारइत्ता, अधारणिज्जेसु अत्थेसु ॥४५९ ॥

१. व (दे) ।

२. अध (मु) ।

३. साहारणं णाम बलावट्ठंभकरणं (चू) ।

४. सं इत्ययमुपसर्गः णिही ठावणं सन्निही (चू) ।

५. बितिगादि (क) ।

६. तो (चू), तु (भ, मु) ।

७. बलि असिवादिप्पसमणणिमित्तं कूरो कज्जति (चू) ।

८. णेसण (क), दिया पेसण ति आगाढकारणे आयरिएण कोति साहू पेसिओ, सो दिवसभुक्खित्तो रातो पच्चागओ, ताहे अणहियासस्स जाणि रातीए भुंजंति कुलाणि तेसु

घेतुं रातो चेव दिज्जति(चू) ।

९. भोयिसु (भ, मु), रत्ति भोजिसु व ति जत्थ जणवतो राओ भुंजति, जहा उत्तरावहे, तत्थ साहवो कारणट्ठिता चरिमभंणं सफलं करंति (चू) ।

१०. °सणा (भ, पा, पंकभा ७६८) ।

११. या (भ) ।

१२. पिनि १ ।

१३. अविशब्दात् किमंग पुण अकारणपडिसेवा (चू) ।

१४. सावज्जा णाम बंधात्मिका (चू) ।

४५२. दुर्लभ द्रव्य-शतपाक आदि कारण उत्पन्न होने पर तत्काल न मिल पाएं तो उसमें प्रायः प्रथम भंग से रात्रिभोजन का ग्रहण होता है। अनशनस्थ व्यक्ति की समाधि के लिए रात्रिभोजन के चारों ही भंगों की संभावना हो सकती है। अवम अर्थात् दुर्भिक्ष के कारण पर्याप्त अशनादि न मिलें तो अद्वाण द्वार के समान ही रात्रिभोजन के चारों भंगों की समायोजना करणीय है।

४५३. सबाल वृद्ध गच्छ की अनुकम्पा तथा सूत्रार्थ विशारद आचार्य के शरीर के बल को यथावत् रखने के लिए अथवा गण और आचार्य की समाधि के लिए रात्रिभोजन के चारों ही विकल्प आसेव्य हैं।

४५४. अकस्मात् कारण उत्पन्न होने पर काम आ सके—इसलिए सन्निधि (घी आदि का संचय) करने में रात्रिभक्त का प्रथम भंग—दिन में ग्रहण, दिन में भोग संभव है। कहीं अपराह्न में संखड़ी (भोज) हो, अथवा दिन का अपर भाग भिक्षा के लिए गमन का काल हो तो जब तक साधु आहार करते हैं, तब तक दिन अस्त हो जाता है अतः वहां रात्रिभोजन का द्वितीय भंग संभव है।

४५५. कहीं-कहीं गोकुल आदि में सूर्योदय से पूर्व भिक्षा की वेला होती है और वह यदि भिक्षुभावित हो तो वहां स्वलिंग से तृतीय भंग से रात्रिभोजन के ग्रहण की संभावना होती है, भिक्षुभावित न हो तो परलिंग से सूर्योदय से पूर्व भिक्षा ग्रहण कर सूर्योदय के पश्चात् उसका भोग किया जाता है। अशिवोपशमन आदि के निमित्त कहीं-कहीं पर रात्रि में बलि (प्रसाद आदि) किया जाता है और रात्रि में ही उसका भोग करना होता है, वहां अशिव आदि से विनाश के भय से साधु रात्रिभक्त के चतुर्थ विकल्प का आसेवन करते हैं। अथवा आगाढ़ कारण में आचार्य ने किसी साधु को कहीं भेजा। वह दिन भर का भूखा रात को लौटा। यदि वह भूख सहन न कर सके तो जिन कुलों में रात्रिभोजन होता है, वहां से ग्रहण कर उसे आहार करवाया जाता है। अथवा किसी विशेष कारण से रात्रिभोजी जनपदों—उत्तरापथ आदि में प्रवास करने वाले साधुओं के भी रात्रिभोजन के चतुर्थ विकल्प के प्रतिसेवन का प्रसंग आ सकता है।

४५६. पिण्ड की निर्युक्ति अर्थात् व्याख्या के आठ कोण हैं—१. आहार का उद्गम, २. उत्पादन, ३. एषणा, ४. संयोजन, ५. प्रमाण, ६. अंगार, ७. धूम और ८. कारण।

४५७. पिण्ड (आहार) विषयक सम्पूर्ण प्ररूपणा पिण्डनिर्युक्ति नामक ग्रन्थ से ज्ञातव्य है। पिण्ड के विषय में होने वाले अतिचारों के विषय में जो-जो प्रायश्चित्त हैं, वे-वे बृहत्कल्पपीठिका^१ से ज्ञातव्य हैं। आहार के समान ही उपधि और शय्या के विषय में उद्गम आदि आठ-आठ स्थान हैं।

४५८. निम्नांकित परिस्थितियों में यतना (पनक परिहानि से चतुर्गुरु प्रायश्चित्त पर्यन्त) पूर्वक आहार, उपधि और शय्या का ग्रहण करना उत्तरगुण विषयक कल्पिका प्रतिसेवना है—१. अशिव, २. अवमौदरिका, ३. राजद्वेष, ४. म्लेच्छ आदि का भय, ५. ग्लान्य, ६. अद्वाण (अटवी) में निर्गत और ७. नगरावरोध।

४५९. कारण (अशिव) आदि में भी प्रतिसेवना करना सावद्य है अतः निश्चयनय से अकरणीय है। फिर भी अशिव आदि के उत्पन्न होने पर बहुत प्रकार से अल्पबहुत्व^२ (दोष सेवन और हानि-लाभ के अल्पबहुत्व) का विचार करके जो अपहारणीय (अकरणीय) अर्थ है, उनमें प्रवृत्त होना चाहिए। अथवा अवधारणीय अर्थात् ज्ञान, दर्शन, चारित्र के संधान हेतु कोई अन्य उपाय न हो तो अकरणीय अर्थात् प्रतिसेवना में प्रवृत्त होना चाहिए।

१. बृभा. पीठिका गा. ५३३-५४०।

२. अल्पबहुत्व की व्याख्या हेतु द्रष्टव्य—नि.भा. २२० का पादटिप्पण।

४६०. जदि वि य समणुण्णाता, तह वि य दोसो ण वज्जणे दिट्ठो ।
दढधम्मया हु एवं, नाभिक्खणिसेव निद्दयता ॥४६०॥
४६१. जे सुत्ते अवराहा, पडिकुट्ठा ओहतो य सुत्तत्थे ।
कप्पंति कप्पियपदे, मूलगुणे उत्तरगुणे य ॥४६१॥ नि ८६ ॥
४६२. हत्थादिवायणंतं, सुत्तं ओहो तु पेढिया होति ।
विधिसुत्तं वा ओहो, जं वा ओहे समोतरति ॥४६२॥
४६३. दप्प-अकप्प-निरालंब, चियत्ते अप्पसत्थ वीसत्थे ।
अपरिच्छ अकडजोगी, अणाणुतावी य णीसंके^१ ॥४६३॥ नि ८७ ॥
४६४. वायामवग्गणादी, निक्कारणधावणं तु दप्पो तु ।
कायाऽपरिणतगहणं, अकप्पो जं वा अगीतेणं^२ ॥४६४॥
४६५. संसारगडुपडितो, 'णाणादवलंबितुं समारुभति'^३ ।
मोक्खतडं जह पुरिसो, वल्लिविताणेण^४ विसमाओ^५ ॥४६५॥
४६६. णाणादीपरिवुड्डी, न भविस्सति मे असेवतो^६ बितियं ।
तेसिं पसंधणट्ठा, सालंबनिसेवणा एसा^७ ॥४६६॥
४६७. निक्कारणपडिसेवा^८, अपसत्थालंबणा य जा सेवा ।
अमुगेण वि आयरियं, को दोसो वा निरालंबा ॥४६७॥
४६८. जं सेवितं तु बितियं, गेलण्णादिसु^९ असंथरंतेणं ।
हट्ठो वि पुणो तं चिय, चियत्तकिच्चो निसेवंतो^{१०} ॥४६८॥
४६९. बल-वण्ण-रूवहेतुं, फासुगभोई वि होति अपसत्थो^{११} ।
किं पुण जो अविमुद्धं, निसेवते वण्णमादऽट्ठ^{१२} ॥४६९॥

१. णिस्संके (भ, मु), जीभा ५८९, व्यभा ४४६२ ।

२. जीभा ५९० ।

३. °दवलंबितं समारुभति (दे) ।

४. वियाणं णामं अणेगाणं संघातो (चू) ।

५. जीभा ५९१ ।

६. असेवितो (दे), असेवते (मु) ।

७. होति (जीभा ५९२) ।

८. जा पुण णिक्कारणओ (जीभा ५९३) ।

९. °ण्णादी° (दे, पा) ।

१०. जीभा ५९४ ।

११. अप्प° (मु) ।

१२. °मातट्ठा (दे), जीभा ५९५ ।

४६०. यद्यपि अशिव आदि कारणों में प्रतिसेवना अनुज्ञात है तथापि उनका वर्जन करने पर भी आज्ञाभंग आदि दोष नहीं देखा जाता (होता)। अपितु प्रतिसेवना न करने वाले की दृढ़धर्मिता होती है। वह दोष के अभीक्षण सेवन से तथा प्राणियों के प्रति निर्दयता के दोष से बचता है।

४६१, ४६२. सूत्र में जो अपराध (दोष) प्रतिक्रष्ट (प्रतिषिद्ध) हैं तथा ओघ—उत्सर्ग रूप में जो सूत्र अथवा अर्थ के द्वारा निवारित (निषिद्ध) हैं, अपवाद पद में मूल और उत्तरगुण में वे कल्पते (विधिसम्मत) हैं। यहाँ सूत्र शब्द से हस्तकर्म सूत्र (निशीथ १/१) से लेकर वाचनासूत्र (निशीथ १९/३७) का ग्रहण किया गया है। ओघ शब्द के तीन अर्थ हो सकते हैं—१. निशीथ पीठिका, २. विधिसूत्र अर्थात् आचारांग आदि विधिनियामक सूत्र। ३. जो ओघ अर्थात् उत्सर्गपद में समवतरित होता है अर्थात् सम्पूर्ण कालिकश्रुत।

४६३. दर्पिका निम्नांकित दस द्वारों से ज्ञातव्य है—१. दर्प, २. अकल्प, ३. निरालंब, ४. चियत्त (त्यक्तकृत्य), ५. अप्रशस्त, ६. विश्वस्त, ७. अपरीक्ष्य, ८. अकृतयोगी (एषणाभाव), ९. अननुतापी और १०. निःशंक^१

४६४. व्यायाम (लाठी घुमाना आदि), वल्गन (मल्लकुशती) आदि तथा निष्कारण धावन दर्प है। अपरिणत (सचित्त) पृथ्वीकाय आदि को अथवा उनसे सरजस्क आदि हाथ या पात्र आदि से ग्रहण करना अथवा जो अगीतार्थ के द्वारा अकल्प्य आहार आदि लाये गए हैं, उनका भोग करना अकल्प्य है।

४६५. जिस प्रकार लताओं के संघात का सहारा लेकर व्यक्ति विषम स्थान को पार कर देता है, उसी प्रकार संसाररूपी गढे में गिरा हुआ व्यक्ति ज्ञान आदि के सहारे मोक्षरूपी तट पर आरोहण कर लेता है।

४६६. यदि मैं अपवाद पद का आसेवन नहीं करता तो मेरे ज्ञान, दर्शन, चारित्र की वृद्धि नहीं हो पाएगी, यह सोचकर उनके संधान के लिए जो अपवाद सेवन किया जाता है, वह सालंब प्रतिसेवना है।

४६७. निरालंब प्रतिसेवन के दो प्रकार हैं—१. निष्कारण अर्थात् ज्ञान आदि आलम्बनों के बिना दोष सेवन करना, २. अप्रशस्त आलम्बनपूर्वक दोष सेवन करना, जैसे—अमुक ने अमुक दोष सेवन किया तो मैं भी करूँ तो क्या दोष है ?

४६८. ग्लान्य आदि के समय अशक्यता की स्थिति में जिस अपवाद का आसेवन किया गया, उसी का आसेवन हृष्ट (स्वस्थ/समर्थ) होने पर भी करने वाला त्यक्तकृत्य (त्यक्त चारित्र) कहलाता है।

४६९. बल, वर्ण अथवा रूप की प्राप्ति हेतु मुनि यदि प्रासुक आहार भी करे, तब भी वह अप्रशस्त प्रतिसेवी है, फिर वर्ण आदि के लिए जो अविशुद्ध (आधाकर्म आदि) आहार ग्रहण करे, उसकी तो बात ही क्या ? अर्थात् वह तो अप्रशस्त प्रतिसेवी है ही।

१. उपर्युक्त द्वारों के विवेचन हेतु है, गा. ४६४-४७३।

४७०. सेवंतो तु अकिच्चं, लोगे लोउत्तरम्मि वि विरुद्धं ।
परपक्ख-सपक्खे वा, वीसत्था सेवणमलज्जे^१ ॥ ४७० ॥
४७१. अपरिक्खितुमायवए, निसेवमाणो तु^२ होति अपरिच्छं ।
तिगुणं जोगमकाउं, बितियासेवी अकडजोगी^३ ॥ ४७१ ॥
४७२. बितियपदे जो तु परं, तावेत्ता णाणुत्पपते^४ पच्छा ।
सो होति अणणुतावी, किं पुण दप्पेण सेवित्ता ॥ ४७२ ॥
४७३. करणे भए य संका, करणे^५ कुव्वं न संक^६ ति कुतो त्ति^७ ।
इहलोगस्स न भायति, परलोगे वा भए एसा ॥ ४७३ ॥
४७४. मूलं दससु असुद्धेसु, जाण सोधिं च दससु सुद्धेसु ।
सुद्धमसुद्धवतिकरे, पण्णट्टुविदू तु अण्णतरे ॥ ४७४ ॥
४७५. सालंबो^८ सावज्जं, निसेविउं^९ णाणुत्पपते पच्छा ।
जं वा पमादसहितो, एसा मीसा तु पडिसेवा ॥ ४७५ ॥
४७६. दप्पेण होंति लहुगा, सेसा काहं ति परिणते लहुगो ।
तब्भावपरिणतो पुण, जं सेवति तं समावज्जे ॥ ४७६ ॥
४७७. दप्पपमादऽणाभोगे^{१०}, आतुरे आवईसु य ।
तिंतिणे^{११} सहसाकारे^{१२}, भयप्पदोसा य वीमंसा ॥ ४७७ ॥ नि ८८ ॥
४७८. दप्पपमादणाभोगा, सहसक्कारो य पुव्वभणिता तु ।
सेसाणं छण्हं पी, इमा विभासा तु विण्णेया^{१३} ॥ ४७८ ॥

१. जीभा ५९६ ।

२. वि (दे) ।

३. जीभा ५९७ ।

४. °प्पती (जीभा ५९८) ।

५. करणं (दे) ।

६. संक ति इह छंदोभंगभया णिगारलोवो द्रष्टव्यः (चू) ।

७. वि (भ), जीभा ५९९ में गाथा का पूर्वाद्ध इस प्रकार है—
करणभएसु तु संका, करणे कुव्वं ण संकति कयाइ ।

८. णाणादियं आलंबणं अवलंबमाणो सालंबो भण्णति (चू) ।

९. णिसेवते (मु) ।

१०. °पमादाणा° (भ) ।

११. संकिते (स्था १०/६९), संकिण्णे (भ २५/५५१) ।

१२. सहसक्कारे (भ, भग) ।

१३. गाथा का उत्तरार्ध दे प्रति में इस प्रकार मिलता है—
सेसाणमाउरा ती, न विभासा छण्ह वि इमा तु ।

४७०. लौकिक और पारलौकिक—दोनों दृष्टियों से विरुद्ध अकृत्य का आचरण करता हुआ भी जो स्वपक्ष (श्रावक) आदि तथा परपक्ष (मिथ्यादृष्टि आदि) से लज्जा नहीं करता, निर्लज्ज होकर मुक्तभाव से अकृत्य का आचरण करता है, वह विश्वस्त प्रतिसेवना है।

४७१. आय (गुण प्राप्ति) और व्यय (गुण नाश) की पर्यालोचना किए बिना प्रतिसेवना करना अपरीक्ष्य प्रतिसेवना है। असंस्तरण आदि परिस्थितियों में तीन बार (त्रिगुणात्मक) एषणीय की खोज का योग (प्रवृत्ति) किए बिना जो अनेषणीय का आसेवन करता है, वह अकृतयोगी प्रतिसेवना कहलाती है।

४७२. अपवाद पद में भी जो साधु यतनापूर्वक 'पर' अर्थात् पृथ्वीकाय आदि को उत्तम करके (संघट्टन, परितापन आदि से कष्ट पहुंचाकर) बाद में उसका अनुताप नहीं करता, वह अननुताप-प्रतिसेवना है। दर्प से जो पृथ्वीकाय आदि की प्रतिसेवना कर पश्चात्ताप न करे, उसकी तो बात ही क्या ?

४७३. शंका का अर्थ है—सापेक्ष अध्यवसाय। निःशंका अर्थात् निरपेक्ष अध्यवसाय। वह दो प्रकार की है—१. करण निःशंका—कोई भी क्रिया करता हुआ किसी से आशंकित नहीं होना। २. भयनिःशंका—भय का अर्थ है अपाय के प्रति उद्वेग का भाव। जिसे ऐहलौकिक और पारलौकिक किसी प्रकार के अपाय के प्रति कोई उद्वेग का भाव नहीं होता, कोई भय की आशंका नहीं होती, वह निःशंक प्रतिसेवना है।

४७४. दर्प आदि पूर्वोक्त दसों ही प्रतिसेवनाओं से अशुद्धपद में मूल प्रायश्चित्त प्राप्त होता है और शुद्धपद में ये चारित्रविशोधि का हेतु बनती हैं। जब इनमें शुद्ध और अशुद्ध का व्यतिकर अर्थात् मिश्रण हो तो उस मिश्रप्रतिसेवना के प्रायश्चित्त को जानने वाले उसके प्रायश्चित्त का प्ररूपण करते हैं।

४७५. ज्ञान आदि का आलम्बन लेता हुआ साधु पहले सावद्य का सेवन करता है, पर बाद में पश्चात्ताप नहीं करता—यहां सालम्ब प्रतिसेवना होने के कारण शुद्ध और अननुताप के कारण अशुद्ध है अतः यह मिश्र प्रतिसेवना है। अथवा किसी ने प्रमाद से दोष आसेवन किया और बाद में पश्चात्ताप कर लिया। यह भी अशुद्ध-शुद्ध का व्यतिकर है अतः मिश्र प्रतिसेवना है।

४७६. धावन (प्रक्षालन) आदि करूंगा—दर्प के कारण ये परिणाम आए तो चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। शेष—अकल्प, निरालम्ब आदि प्रतिसेवना करूंगा—ऐसी परिणति होने पर मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है—यह परिणाम निष्पन्न (अध्यवसाय हेतुक) प्रायश्चित्त है। जब साधु उस भाव में प्रवृत्त हो जाता है अर्थात् दोष का आसेवन कर लेता है, तब उस प्रतिसेवना में जो-जो आत्मविराधना, संयमविराधना अथवा प्रवचन लाघव होता है, तन्निष्पन्न प्रायश्चित्त भी प्राप्त होता है।

४७७. मिश्र प्रतिसेवना दस प्रकार की होती है—१. दर्प, २. प्रमाद, ३. अनाभोग, ४. आतुर, ५. आपत्ति, ६. तित्तिण, ७. सहसाकार, ८. भय, ९. प्रद्वेष और १०. विमर्श (परीक्षा)।

४७८. दर्प, प्रमाद, अनाभोग और सहसाकार—इन चार प्रकारों का वर्णन पहले किया जा चुका है। शेष छह प्रकारों की विभाषा (अर्थकथन) इस प्रकार से ज्ञातव्य है—

४७९. पढमबितियहुतो^१ वा, 'बाधितो वा'^२ जं सेवे आतुरा एसा ।
दव्वादिअलंभे पुण, चउव्विधा आवई होति ॥ ४७९ ॥
४८०. दव्वे य भावतिंतिण, भयमभियोगेण^३ सीहमादी वा ।
कोधादी तु पदोसो, वीमंसा सेहमादीणं ॥ ४८० ॥
४८१. देसचाइ सव्वचाइ^४, दुविधा पडिसेवणा मुणेत्तव्वा ।
अणुवीइ अणुणुवीई, 'सइं च'^५ दुक्खुत्त^६ बहुसो वा ॥ ४८१ ॥
४८२. जेण ण पावति मूलं, णाणादीणं व जहिं धरति किंची ।
उत्तरगुणसेवा वा, देसच्चाएतरा^७ सव्वा ॥ ४८२ ॥
४८३. जा तु अकारणसेवा, सा सव्वा अणुणुवीयिता होति ।
अणुवीयी^८ पुण नियमा, अप्पज्जे कारणा सेवा ॥ ४८३ ॥
४८४. दंसण-नाण-चरित्ते, तव-पवयण-समिति-गुत्तिहेतुं वा ।
साधम्मियवच्छल्लेण, वावि कुलतो गणस्सेव^९ ॥ ४८४ ॥ नि ८९ ॥
४८५. संघस्सायरियस्स य^{१०}, असहुस्स गिलाण-बाल-वुड्डुस्स ।
उदयग्गि-चोर-सावय, भय कंतारावई वसणे^{११} ॥ ४८५ ॥ नि ९० ॥
४८६. दंसणपभावगाणं, सत्थाणट्ठाए^{१२}, सेवते^{१३} 'जं तु'^{१४} ।
णाणे सुत्तथाणं, 'चरणेसण इत्थिदोसा वा'^{१५} ॥ ४८६ ॥

१. °दुत्तो (दे), °यदुतो (मु) ।

२. वाघातो व (दे, पा) ।

३. अभियोगो णाम केणइ रायादिणा अभिउत्तो पंथं दंसेहि,
तद्भया दर्शयति (चू) ।

४. सव्वच्चाई (मु) ।

५. सइ वा (दे) ।

६. दुक्खुत्तो—दो वारा (चू) ।

७. इतरा णाम जाए मूलं पावति, णाणादीणं वा ण किंचि
धरति, मूलगुणपडिसेवा वा, एसा सव्वच्चागी पडिसेवणा
भवतीत्यर्थः (चू) ।

८. गुणदोसे विचिंतिऊण जं जयणाए पडिसेवति, एस से
अणुवीतीपडिसेवणा भवति (चू) ।

९. जीभा ६०१, व्यभा ४४६४ ।

१०. व (भ) ।

११. जीभा ६०२, व्यभा ४४६५ ।

१२. सट्ठाणं (भ, मु) ।

१३. सेवती (भ, मु) ।

१४. जो उ (दे) ।

१५. असंथरासेवणे सुद्धो (जीभा ६०३) ।

४७९. प्रथम और द्वितीय अर्थात् क्षुधा और पिपासा परीषह उत्पन्न होने पर अथवा व्याधिग्रस्त होने पर की जाने वाली प्रतिसेवना आतुर प्रतिसेवना शुद्ध है। उसमें जो अयतना होती है तन्निमित्तक प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। प्रासुक द्रव्य आदि की अप्राप्ति आदि के भेद से आपत्ति के चार प्रकार होते हैं।^१

४८०. तित्तिण दो प्रकार का होता है—द्रव्यतित्तिण और भाव तित्तिण।^२ सिंह आदि के भय अथवा राजा आदि के अभियोग से की जाने वाली प्रतिसेवना भयहेतुक प्रतिसेवना है।^३ क्रोध आदि के कारण होने वाली प्रतिसेवना द्रव्यहेतुक प्रतिसेवना^४ तथा शैक्ष आदि की परीक्षा के निमित्त की जाने वाली प्रतिसेवना विमर्श प्रतिसेवना है।^५

४८१. प्रतिसेवना के दो प्रकार ज्ञातव्य हैं—१. देशत्याग प्रतिसेवना और २. सर्वत्याग प्रतिसेवना। अथवा १. अनुवीचि (चिन्तनपूर्वक की जाने वाली) प्रतिसेवना और २. अननुवीचि (अकस्मात् की जाने वाली) प्रतिसेवना। यह प्रतिसेवना साधु एक बार, दो बार और अनेक बार भी कर लेता है।

४८२. जिस दोष का सेवन करने पर मूल प्रायश्चित्त प्राप्त नहीं होता अथवा जिस दोष का सेवन करने पर ज्ञान, दर्शन आदि का अंश बच जाता है—उनका सम्पूर्ण विनाश नहीं होता अथवा उत्तरगुण विषयक दोष का सेवन—यह देशत्याग प्रतिसेवना है। इसके विपरीत सारी सर्वत्याग प्रतिसेवना है।^६

४८३. अशिव आदि कारणों के बिना, गुण और दोष का विचार न करते हुए दोष सेवन करना अननुवीचि प्रतिसेवना है। परवशता के कारण, अशिव आदि कारणों में गुण और दोष का विचार करके दोष सेवन करना अनुवीचि प्रतिसेवना है।

४८४-४८५. कल्पिका प्रतिसेवना के चौबीस प्रकार हैं—१. दर्शन हेतुक, २. ज्ञानहेतुक, ३. चारित्रहेतुक, ४. तपहेतुक, ५. प्रवचनहेतुक, ६. समितिहेतुक, ७. गुप्तिहेतुक, ८. साधर्मिक वात्सल्य हेतुक, ९. कुलहेतुक, १०. गणनिमित्तक, ११. संघनिमित्तक, १२. आचार्यनिमित्तक, १३. असह्य निमित्तक, १४. ग्लानहेतुक, १५. बालहेतुक, १६. वृद्धहेतुक, १७. उदक के कारण, १८. अग्नि के कारण, १९. चोर के कारण, २०. श्वापद के कारण, २१. भयहेतुक, २२. कांतार में, २३. आपत्ति में और २४. व्यसन के कारण।

४८६. १. दर्शनहेतुक—दर्शन प्रभावक शास्त्रों—सिद्धिविनिश्चय आदि को ग्रहण करने के लिए असंस्तरण की स्थिति में किसी अकल्पनीय वस्तु का सेवन करना। २. ज्ञानहेतुक—विशिष्ट सूत्र और अर्थ को ग्रहण करने हेतु असंस्तरण की स्थिति में कोई दोष सेवन करना। ३. चारित्रहेतुक—एषणा दोषों अथवा स्त्रीदोष (स्त्री सम्बन्धी दोषों) से बचने के लिए विहार आदि करना पड़े, उस परिस्थिति में दोष सेवन करना।

१. चतुर्विध आपत्ति—१. द्रव्यतः—प्रासुक द्रव्य की अप्राप्ति। २. क्षेत्रतः—अटवी निर्गत मुनि को प्राप्त होने वाली आपत्ति। ३. कालतः—दुर्भिक्ष आदि में होने वाली आपत्ति। ४. भावतः—रोगादि से होने वाली आपत्ति। इन आपत्तियों में दोष सेवन करना शुद्ध प्रतिसेवना है, उसमें अयतना हेतुक प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।
२. तेंदु की लकड़ी अग्नि में डालते ही शब्द करती हुई शीघ्र जल जाती है, वह द्रव्य तित्तिण है। इसी प्रकार आहार आदि की अप्राप्ति अथवा अनुकूल द्रव्य की अप्राप्ति से बड़बड़ाने वाला (तिनतिनाहट करने वाला) मुनि भावतित्तिण है। दर्प से भावतित्तिण होना अशुद्ध प्रतिसेवना है और ब्रजिका आदि में विशेष कारण से होने वाला चिड़चिड़ापन शुद्ध प्रतिसेवना है।
३. सिंह आदि के भय से वृक्ष आदि पर चढ़ जाना, राजाभियोग के कारण किसी को मार्ग बता देना आदि शुद्ध भयहेतुक प्रतिसेवना है, बाद में दोष का पश्चात्ताप न करना अशुद्ध है, अतः तन्निमित्तक प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।
४. क्रोध आदि कषायों के कारण किया जाने वाला दोषाचरण अशुद्ध प्रतिसेवना है, उसमें मूल प्रायश्चित्त अथवा कषायनिष्यन्न प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।
५. शैक्ष की श्रद्धा आदि की परीक्षा के लिए आचार्य आदि सचित्त पृथ्वीकाय आदि पर गमन करते हैं, यह विमर्श—परीक्षा हेतुक शुद्ध प्रतिसेवना है। इसमें अयतना आदि के कारण प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।
६. सर्वत्याग प्रतिसेवना की व्याख्या की पूर्वोक्त तीनों प्रकारों से की जा सकती है—जिस दोष का प्रायश्चित्त मूल हो। जिस दोष के आसेवन से ज्ञान, दर्शन आदि का सम्पूर्ण नाश हो जाए, कुछ न बचे। जो मूल गुणों को दूषित करे।

४८७. णेहादि तवं काहं, कते विकिट्टे^१ व लागतरणादी^२ ।
‘अभिवादणादि पवयण’^३, विणहुस्स^४ विगुव्वणा चव ॥ ४८७ ॥
४८८. इरियं न सोधइस्सं, चक्खुनिमित्तकिरिया^५ तु इरियाए^६ ।
खित्तादिबितियततिया, ‘कप्पेण वऽणेसि संकाए’^७ ॥ ४८८ ॥
४८९. आदाणे चलहत्थो, पंचमिए^८ काइ वच्च भोमादी^९ ।
विगडाइ मणअगुत्ते, वइ काए खित्तचित्तादी^{१०} ॥ ४८९ ॥
४९०. वच्छल्ल असितमुंडो, अभिचारुनिमित्तमादिकज्जेसु^{११} ।
आयरियऽसहुगिलाणे, जेण समाधी जुवलए^{१२} य ॥ ४९० ॥
४९१. निवदिक्खितादि असहू, जुवलं^{१३} पुण कज्जदिक्खितं होज्ज^{१४} ।
पणगादी पुण जतणा, पाउग्गट्टाय^{१५} सव्वेसिं^{१६} ॥ ४९१ ॥
४९२. उदयग्गि-तेण-सावयभएसु थंभणि पलाण रुक्खे^{१७} वा ।
कंतार पलंबादी, वसणं^{१८} पुण वाइ^{१९}-गीतादी^{२०} ॥ ४९२ ॥

१. विकिट्टे (क), विकट्टे (भ, पा) ।

२. लाया णाम वीहिया तिमिउं भट्टे भुज्जिता ताण तंदुलेसुं
पेज्जा कज्जति, तं लायतरणं भण्णति (चू) ।

३. वायणा पवयणे (जीभा ६०५) ।

४. विष्णु मुनि की कथा के विस्तार हेतु देखें राजेन्द्र अभिधान
भा. ५, पृ. ८८६, ८८७ ।

५. क्रिया नाम वैद्योपदेशाद् औषधपानमित्यर्थः (चू) ।

६. रीयाए (जीभा ६०६) ।

७. अहवा वि इमं तु तइयाए (जीभा), इस गाथा के बाद
(जीभा ६०७) में निम्न अतिरिक्त गाथा मिलती है—

अद्धाणकप्पऽणेसी, अण्णं वऽसिवादिकारणेहिं तु ।
संकियमादी गिण्हे, जतणाए तत्थ सुद्धो तु ॥

८. पंचमिए त्ति परिट्ठवणासमिती गहिता (चू) ।

९. भोम्मादी (भ) ।

१०. खित्तदित्तादी (भ, मु) ।

११. अभिचारकं णाम वसीकरणं उच्चाटणं वा (चू) ।

१२. जुयलए (भ, मु) ।

१३. जुवलं—बाल-वुड्डा (चू) ।

१४. होज्जा (भ) ।

१५. प्रायोग्यं णाम समाधिकारकं द्रव्यं (चू) ।

१६. सव्वेहिं (पा) ।

१७. रुक्खं (मु, भ) ।

१८. वसणं णाम तम्मि वसंतीति वसणं, तस्स वा वसे वट्टतीति
वसणं (चू) ।

१९. वाइगं णाम मज्जं (चू) ।

२०. आदिसद्दातो पुव्वभावितो को पि पक्कं तंबूलपत्तादि मुहे
पक्खिवेज्जा (चू) ।

४८७. 'तप करूंगा' ऐसा सोचकर घृतपान करना अथवा विकृष्ट तप के पारणक में सदोष लायतरण—चावलों की पेया^१ को पीना तपहेतुक प्रतिसेवना है। प्रवचन के हित के लिए ब्राह्मण आदि को अभिवन्दन करना^२ तथा विष्णु अणगार द्वारा कृत विक्रिया^३ प्रवचनहेतुक प्रतिसेवना है।

४८८. चक्षु ठीक होने से ईर्या का सम्यक् परिपालन करूंगा। अतः चक्षुनिमित्त औषधपान करना ईर्यासमिति हेतुक प्रतिसेवना है। चित्त-विक्षेप (क्षिप्तचित्तता) के कारण होने वाले प्रलाप के प्रशमन के लिए औषधपान करना भाषासमितिहेतुक प्रतिसेवना है। अद्धानकल्प में अनेषणीय का ग्रहण अथवा शंका आदि दोषों से दूषित आहार आदि का ग्रहण एषणासमिति हेतुक प्रतिसेवना है।

४८९. किसी साधु के कंपनवात नामक रोग हो गया। वह प्रमार्जन कहीं करता है, उपकरण निक्षेप कहीं करता है। इस प्रकार चलहस्त—कंपनवात से पीड़ित^४ होने के कारण चतुर्थ समिति में दोष लगता है अतः उसके शमन का उपाय करना आदाननिक्षेप समिति हेतुक प्रतिसेवना है। कायिकी संज्ञा आदि के लिए जाते समय वनस्पतिकाय आदि की विराधना अथवा परिष्ठापन के लिए भूमि का संस्थापन करवाना आदि परिष्ठापन समिति हेतुक प्रतिसेवना है। किसी ने कारणवश मद्य का सेवन किया जिससे वह मन अथवा वचन से अगुस हो गया अथवा क्षिप्तचित्तता के कारण कोई कायगुप्ति में दोष लगा रहा है, उनके शमन के लिए की गई प्रतिसेवना गुप्तिहेतुक प्रतिसेवना है।

४९०. आर्यवज्र ने असितमुंड का उद्धार किया, उस दौरान जो अकल्प्य आसेवन हुआ^५ वह साधर्मिक वात्सल्य निमित्तक प्रतिसेवना है। कुल, गण, संघ आदि के कार्यों (प्रयोजन) से वशीकरण, निमित्तप्रयोग आदि करना क्रमशः कुल, गण और संघ हेतुक प्रतिसेवना है। आचार्य, असहिष्णु (राजा आदि), ग्लान और युगल (बाल एवं वृद्ध) की समाधि के लिए किसी दोष का आसेवन करना—तत्तद्हेतुक प्रतिसेवना है।

४९१. राजा, युवराज, श्रेष्ठी, अमात्य, पुरोहित आदि पुरुष अन्तप्रान्त आहार आदि से भावित न होने के कारण असहू—असहिष्णु माने जाते हैं। युगल का अर्थ है—बाल और वृद्ध, जिन्हें किसी प्रयोजन विशेष के कारण दीक्षा दी गई हो (जैसे—वज्रस्वामी और आर्यरक्षित के पिता)। आचार्य असहू आदि के लिए प्रायोग्य—समाधिकारक द्रव्य ग्रहण करते समय पनक आदि यतना करणीय है। यतना विधि से सर्वथा अनुपलब्धि की स्थिति में आधाकर्म के द्वारा भी उन्हें समाधि पहुंचाई जाती है।

४९२. जलप्लव (बाढ़), आग लगना, स्तेन भय अथवा श्वापद भय के कारण स्तंभन विद्या का प्रयोग करना, पलायन करना अथवा सचित्तवृक्ष पर चढ़ जाना—ये क्रमशः जल, अग्नि आदि के कारण होने वाली प्रतिसेवना है। कांतार (अटवी) में भक्तपान का अभाव होने के कारण कदली आदि प्रलम्बों (फलों) का ग्रहण करना कांतार हेतुक प्रतिसेवना है। व्यसन^६ के कारण कोई भिक्षु वाइग (मद्य) ग्रहण करना अथवा पूर्वाभ्यास के कारण गीत आदि गाना व्यसनहेतुक प्रतिसेवना है।

१. प्राचीन काल में विकृष्ट तप के पारणे में लायतरण (भुने हुए चावलों की पेया) पीते थे।

२. कोई राजा कहे—या तो इन ब्राह्मणों को वन्दन करो, नहीं तो मेरे देश से निकल जाओ। इस स्थिति में संयमक्षेत्र को न छोड़ने के लिए असंयती को वन्दना करना। दृष्टान्त हेतु द्रष्टव्य, परिशिष्ट २, कथा सं. २५।

३. विष्णु नामक अणगार ने प्रवचन प्रभावना हेतु एक लाख योजन की विकुर्वणा की और लवणसमुद्र का आलोड़न किया। द्रष्टव्य, परिशिष्ट २, कथा सं. २६।

४. निभा १ चू. पृ.—चलहत्थो णाम कंपणवाउणा गहितो।

५. विस्तार हेतु द्रष्टव्य परिशिष्ट २, कथा सं. ११।

६. व्यसन के तीन अर्थ होते हैं—१. उसी क्रिया में निवास करना २. उसके वशवर्ती होना ३. अच्छी प्रकार से अभ्यस्त क्रिया।

४९३. एयन्नतरागाढे^१, सदंसणो णाण-चरण-सालंबो ।
पडिसेविउं^२ कडाई^३, होति समत्थो पसत्थेसु ॥ ४९३ ॥
४९४. एसा उ दप्पिया कप्पिया य पडिसेवणा समासेणं ।
कहितो^४ सुत्तत्थो, पेढिगाय देओ न वा कस्स ॥ ४९४ ॥ नि ९१ ॥
४९५. अबहुस्सुते च पुरिसे, भिन्नरहस्से^५ पतिण्णविज्जे^६ वा ।
नीसाण^७ पेहए वा, असंविग्गे दुब्बलचरित्ते ॥ ४९५ ॥
४९६. एतारिसम्मि देंतो, पवयणघातं व दुल्लभं बोधिं ।
जो दाहिति पाविहिती, तप्पडिवक्खे तु दातव्वो ॥ ४९६ ॥
- पीढिया सम्मत्ता**
४९७. 'जे त्ति य'^८ खलु निद्देसे, भिक्खू पुण भेदणे खुहस्स खलु ।
हत्थेण जं च करणं, कीरति तं हत्थकम्मं ति ॥ ४९७ ॥
४९८. नामं ठवणा भिक्खू, 'दव्वभिक्खू'^९ य भावभिक्खू य ।
दव्वं सरीरभविओ, भावेण तु संजतो भिक्खू^{१०} ॥ ४९८ ॥ नि ९२ ॥
४९९. नामं ठवणा हत्थो, दव्वहत्थो य भावहत्थो य ।
'मूलुत्तरो य दव्वे, भावम्मि य कम्मसंजुत्तो'^{११} ॥ ४९९ ॥ नि ९३ ॥
५००. कम्मचउक्कं दव्वे^{१२}, संतं उक्खेव तुण्णणादी^{१३} वा ।
भावुदओ अट्टुविहो, मोहुदएणं तु अधिगारो ॥ ५०० ॥ नि ९४ ॥

१. एतर्णतरा° (मु, भ) ।

२. °वियं (दे) ।

३. कडाई नाम कृतयोगी (चू) ।

४. कहिया (मु, भ, दे) ।

५. इह रहस्सं अववातो भण्णति, तं जो अगीताणं कहेति सो भिण्णरहस्सो (चू) ।

६. पइण्णविज्जत्तणं वा करेति जस्स वा तस्स वा कहयति आदीअदिट्ठुभावाण सावगाण वि जाव कहयति (चू) ।

७. णिस्साणं णाम आलंबनं (चू) ।

८. जि त्ती (भ), सूत्र १ (नव १/१) ।

९. छंद की दृष्टि से 'दव्वभिक्खू' पाठ होना चाहिए ।

१०. इस गाथा के प्रारम्भ में चूर्णिकार ने इस गाथा के लिए 'सुत्तफासिया णिज्जुत्ती अत्थं वित्थारेति' का उल्लेख किया है ।

११. बृभा (४८९५) में गाथा का उत्तरार्ध इस प्रकार है—
दुविहो य दव्वहत्थो, मूलगुणे उत्तरगुणे य ।

१२. दव्वकम्मं णाम जे कम्मवग्गणाए णाणावरणादिजोग्गा पोग्गला कम्मत्तेण परियास्यंति ण ताव गच्छंति (चू) ।

१३. तुण्णणाई (भ), वत्थच्छिदे पुण णवकरणं तुण्णणमिति भण्णति (चू) ।

४९३. पूर्व वर्णित किसी भी आगाढ़ कारण में ज्ञान, दर्शन और चारित्र के आलम्बन हेतु दोष सेवन करता हुआ भी साधु सदृशन (सम्यक् दृष्टि) सम्पन्न होता है। कृतयोगी—तीन बार एषणीय के लाभ के लिए प्रयत्न करने वाला साधु अलाभ की स्थिति में यदि पनक परिहानि पूर्वक प्रतिसेवना करता है तो वह गीतार्थ होने के कारण प्रशस्त अर्थात् तीर्थकरों से अनुज्ञात प्रत्युपेक्षण आदि क्रियाओं में समर्थ होता है।

४९४. इस प्रकार दर्पिका और कल्पिका प्रतिसेवना का संक्षेप में कथन किया गया है। पीठिका (निशीथपीठिका) का सूत्रार्थ किसे दिया जाए और किसे नहीं—यह आगे कहा जा रहा है।

४९५. निशीथ पीठिका के सूत्रार्थ ग्रहण के अयोग्य पुरुष ये हैं—१. अबहुश्रुत—जो जघन्य बहुश्रुत (निशीथसूत्र पढ़ा हुआ) भी न हो। २. जो परिणामक पुरुष न हो (अपरिणामक अथवा अतिपरिणामक हो)। ३. भिन्नरहस्य—जो रहस्य—अपवाद को धारण न कर पाए, अगीतार्थों को कह दे। ४. प्रकीर्णविज्ञत्व—जो अपने प्रकीर्ण ज्ञान को यत्र-तत्र बिखेरता रहता है, अगीतार्थ मुनियों अथवा श्रावकों को भी बताता रहता है। ५. निश्राणपेही—निश्राण का अर्थ है—आलम्बन। जो आलम्बन की चाह करता है, निरन्तर उसे ढूँढता रहता है, वह है—निश्राणपेही। दूसरे शब्दों में उसे अपवादपेही भी कहा जा सकता है, वह प्रत्येक बात में अपवाद देखता रहता है, उसकी चाह करता है और निष्कारण अपवाद का सेवन करता है। ६. असंविग्न—जो संविग्न न हो और ७. दुर्बल चारित्र—जो निष्कारण मूल और उत्तरगुणों में दोष लगाता है।

४९६. उपर्युक्त अयोग्य व्यक्तियों को पीठिका का सूत्रार्थ प्रदान करने वाला साधु प्रवचनघात^१ करता है तथा स्वयं दुर्लभबोधित्व को प्राप्त करता है। अतः अबहुश्रुत आदि के प्रतिपक्षी—बहुश्रुत, परिणामक आदि को निशीथपीठिका का सूत्रार्थ प्रदान करना चाहिए।

पीठिका सम्पन्न

४९७. सूत्र में कथित जे शब्द निर्देशवाची है। क्षुध (कर्म) का भेदन करने वाला भिक्षु^२ कहलाता है। हाथ के द्वारा जो करण (प्रवृत्ति) की जाती है, वह हस्तकर्म है।

४९८. भिक्षु शब्द के चार निक्षेप होते हैं—१. नामभिक्षु, २. स्थापना भिक्षु, ३. द्रव्यभिक्षु और ४. भावभिक्षु। नोआगमतः द्रव्यभिक्षु के तीन भेद हैं—शरीर अर्थात् ज्ञशरीर और भव्यशरीर तथा भविय अर्थात् ज्ञशरीर भव्य शरीर से व्यतिरिक्त—एक भविक आदि। भावतः भिक्षु है संयत।

४९९. हस्त शब्द के चार निक्षेप होते हैं—१. नाम हस्त, २. स्थापना हस्त, ३. द्रव्य हस्त और ४. भाव हस्त। द्रव्य हस्त के दो प्रकार हैं—मूलगुणनिवर्तित तथा उत्तरगुणनिवर्तित। जो आदान-निक्षेप आदि क्रिया (कर्म) से संयुक्त है, वह भाव हस्त है।

५००. कर्म शब्द के चार निक्षेप होते हैं—१. नाम कर्म, २. स्थापना कर्म, ३. द्रव्य कर्म और ४. भाव कर्म। द्रव्य कर्म के दो प्रकार हैं—१. द्रव्य कर्म—ज्ञानावरणादि कर्म, जो बद्ध अवस्था (सत्ता) में हैं, उदय में नहीं आए हैं। २. नोद्रव्यकर्म—उत्क्षेपण आदि तथा रफू करना आदि।^३ आठ प्रकार के कर्मों का उदय भावकर्म है। प्रस्तुत (हस्तकर्म के) प्रकरण में मोहकर्म के उदय का अधिकार है।

१. प्रवचन का अर्थ है—द्वादशांग गणिपिटक। उत्सूत्र का आचरण करने से उसकी हानि होती है। प्रवचन का अर्थ है—संघ। अयोग्य व्यक्ति निशीथ पढ़कर यत्र-तत्र अपवाद का सेवन करता है फलतः उड्डाह होता है। कोई उस शासन में प्रव्रजित नहीं होता फलतः संघ विच्छिन्न हो जाता है।

२. निभा २ चू. पृ. २—ज्ञानावरणादिकर्म भिनत्तीति भिक्षुः।

३. उत्क्षेपण आदि में वैशेषिक मत प्रसिद्ध कर्मप्रकारों का तथा तुण्णण आदि में लौकिक कर्म प्रकारों का ग्रहण किया गया है।

५०१. तं दुविधं नातव्वं, असंकिलिट्टं च संकिलिट्टं च।
जं तं असंकिलिट्टं^१, तस्स विहाणा इमे होंति ॥ ५०१ ॥ नि ९५ ॥
५०२. छेदणे भेदणे चेव, घंसणे पीसणे तथा।
अभिघाते सिणेहे य, काये 'खारे ति'^२ यावरे^३ ॥ ५०२ ॥ नि ९६ ॥
५०३. अञ्जुसिर^४ झुसिरे लहुगो, लहुगा गुरुगो य होंति गुरुगा य।
संघट्टण परितावण, लहु-गुरुगऽतिवायणे मूलं^५ ॥ ५०३ ॥ नि ९७ ॥
५०४. एक्केक्कं तं दुविधं, अणंतर परंपरं च णातव्वं।
अट्टाऽणट्टा य पुणो, होति अणट्टाय मासलहू^६ ॥ ५०४ ॥
५०५. 'अञ्जुसिरऽणंतर लहुगो'^७, गुरुगो तु परंपरे अञ्जुसिरम्मि।
झुसिराणंतर लहुगा, गुरुगा य^८ परंपरे अहवा ॥ ५०५ ॥
५०६. णह-दंतादि अणंतर^९, पिप्पलगादी^{१०} परंपरे आणा।
छप्पइगादि असंजम, छेदे परितावणादीया^{११} ॥ ५०६ ॥
५०७. एमेव सेसगेसु वि, कर-पादादी अणंतरे^{१२} होंति।
जं तु परंपरकरणं, तस्स 'विहाणा इमे'^{१३} होंति ॥ ५०७ ॥
५०८. कोणयमादी^{१४} भेदो, घंसण मणिमादियाण कट्टादी।
'पट्टे वरादिपीसण'^{१५}, गोफणधणुमादि^{१६} अभिघातो ॥ ५०८ ॥

१. अदुष्टात्मचित्तस्य यत् कर्म, तद् असंकिलिट्टं (चू)।

२. खारादि (दे)।

३. बृभा ४८९९।

४. अञ्जुसिर (मु), अञ्जुसिरे (दे)।

५. बृभा ४९०२।

६. °लहुं (बृभा ४९००), बृभा में गाथाओं में क्रमव्यत्यय है।

७. अञ्जुसिराणंतरे लहु (मु)।

८. तु (बृभा ४९०३)।

९. °तरे (दे)।

१०. पिप्पल्लमादी (बृभा ४९०१)।

११. °वणा ताए (मु)।

१२. °तरं (बृभा ४९०४)।

१३. विहाणं इमं (बृभा)।

१४. कुवणयं (बृभा ४९०५), कोणओ लगुडो भण्णति आदिसद्दाओ उवललेट्टुगादि (चू)।

१५. पट्टवरादीपी (बृभा)।

१६. गोफणा चम्मदवरगमया पसिद्धा, ताए लेट्टुओ उवलओ, वा घत्तिज्जंति (चू)।

५०१, ५०२. उस (हस्तकर्म) के दो प्रकार ज्ञातव्य हैं—असंक्लिष्ट और संक्लिष्ट।^१ जो असंक्लिष्ट हस्तकर्म हैं, उसके प्रकार (विधान) ये होते हैं—१. छेदन, २. भेदन, ३. घर्षण, ४. पेषण, ५. अभिघात, ६. स्नेह, ७. काय और ८. क्षार।^२

५०३. अशुषिर का अनन्तर छेदन करने से मासलघु और परम्पर छेदन से मासगुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। शुषिर का अनन्तर छेदन करने से चतुर्लघु और परम्पर छेदन करने से चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है—यह प्रायश्चित्त शुद्धपद में है।^३ छेदन करते समय द्वीन्द्रिय आदि का संघट्टन, परितापन आदि होने से चतुर्लघु, चतुर्गुरु यावत् पञ्चेन्द्रिय के अतिपात होने से मूल प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।^४

५०४. शुषिर और अशुषिर दोनों में प्रत्येक के छेदन आदि के दो-दो प्रकार ज्ञातव्य हैं—१. अनन्तर और २. परम्पर। पुनः उनके भी दो-दो भेद हैं—१. सप्रयोजन (सार्थक) और २. निष्प्रयोजन (निरर्थक)। अनर्थक (निष्प्रयोजन) छेदन आदि करने से असामाचारी हेतुक मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

५०५. अशुषिर का अनन्तर छेदन आदि करने से मासलघु और परम्पर छेदन आदि करने से मासगुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। शुषिर का अनन्तर छेदन आदि करने से चतुर्लघु और परम्पर छेदन आदि करने से चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

५०६. नख, दांत आदि के द्वारा छेदन करना अनन्तर छेदन है। कैंची, फावड़ा, छूरी आदि से छेदन करना परम्पर छेदन है। अनन्तर और परम्पर छेदन आदि करने से तीर्थकरों, गणधरों आदि की आज्ञा का भंग होता है।^५ छेदन करते हुए षट्पदिका (जूं) आदि का छेदन होने से असंयम (संयमविराधना) और स्वयं के हाथ आदि का छेदन हो जाने से परिताप (आत्मविराधना) आदि दोष निष्पन्न होते हैं।

५०७. छेदन के समान ही भेदन आदि पदों के विषय में भी ज्ञातव्य है कि हाथ, पैर आदि शरीरावयवों से निष्पन्न भेदन आदि क्रियाएँ अनन्तर भेदन आदि कहलाती हैं। इनका जो परम्पर करण है, उसके भेद ये—अनन्तर गाथाओं से ज्ञातव्य हैं।

५०८. कोणअ—लकड़ी आदि से घट आदि के दो-तीन टुकड़े कर देना भेदन है। (मणि का वेधन करने के पश्चात्) मणि, प्रवाल आदि को कसौटी पर अथवा चन्दनकाष्ठ आदि को घिसना घर्षण है। गन्धपट्टक आदि पर श्रेष्ठ गन्धमय पदार्थों को पीसना पेषण है। गोफण—पत्थर फेंकने का साधन (गुलेल), धनुष आदि के द्वारा पत्थर आदि को फेंकना अभिघात है।

१. राग-द्वेष युक्त चित्त से किया गया कर्म संक्लिष्ट तथा शेष असंक्लिष्ट कर्म कहलाता है।

२. छेदन आदि पदों के अर्थ हेतु द्रष्टव्य, गा. ५०६-५०९।

३. शुषिर पदार्थ का छेदन करना बहुत दोष का हेतु है और अशुषिर का छेदन उसकी अपेक्षा अल्पदोष का हेतु है। परम्पर अर्थात् शस्त्र का ग्रहण करने में चित्त की अधिक संक्लिष्टता होती है जबकि अनन्तर छेदन में कम, अतः उनके प्रायश्चित्त में तरतमता है। शुद्ध पद का अभिप्राय है—षट्काय की विराधना का अभाव। यदि छेदन आदि के समय षट्काय की विराधना हो तो वह अशुद्ध पद कहलाएगा।

४. द्वीन्द्रिय आदि के संघट्टन आदि से प्राप्त होने वाले प्रायश्चित्त के लिए द्रष्टव्य—गा. २५८ का पादटिप्पण।

५. आज्ञाभंग के साथ मिथ्यात्व, अनवस्था आदि दोष भी आते हैं—द्रष्टव्य प्रस्तुत गाथा की चूर्णि।

५०९. विधुवण^१ णंत कुसादी, सिणेह उदगादिआवरिसणं तु।
काओ तु बिंबसत्थे, खारो तु कलिंचमादीहिं^२ ॥ ५०९ ॥
५१०. एक्केक्काउ^३ पदाओ, आणादीया य संजमे दोसा।
एवं तु अणट्टाए, कप्पति अट्टाए जतणाए ॥ ५१० ॥ नि ९८ ॥
५११. असती अधाकडाणं^४, दसिगाधिकछेदणं^५ व जतणाए।
गुलमादि लाउणालो^६, 'कप्परभेदो वि'^७ एमेव ॥ ५११ ॥
५१२. 'अक्खाणं चंदणस्स व'^८ घंसणं पीसणं तु अगदादी।
वग्घादीणऽभिघातो, अगदादि पताव^९ सुणगादी ॥ ५१२ ॥
५१३. बितियदवुज्झणजतणा, 'दाहेणं देहभूमिसिंचणता'^{१०}।
पडिणीगाऽसिव समणी, पडिमा खारो तु सेल्लादी^{११} ॥ ५१३ ॥
५१४. जं तं तु संकिलिट्ठं, तं सणिमित्तं च^{१२} होज्ज अणिमित्तं।
जं तं सणिमित्तं पुण, तस्सुप्पत्ती तिधा होति ॥ ५१४ ॥ नि ९९ ॥
५१५. कामं कम्मनिमित्तं, उदयो नत्थि उदओ तु तव्वज्जो।
तह वि य बाहिरवत्थुं, होति निमित्तं तिमं तिविधं ॥ ५१५ ॥
५१६. सद्दं वा सोऊणं, दट्ठं सरित्तुं व पुव्वभुत्ताइं।
सणिमित्तऽणिमित्तं पुण^{१३}, उदयाहारे सरीरे य ॥ ५१६ ॥ नि १०० ॥
५१७. पडिबद्धा सेज्जाए, अतिरित्ताए व उप्पया सद्दे।
बहिया वि^{१४} निग्गतस्सा, सुणणा विसयुब्भवे सद्दे ॥ ५१७ ॥

१. विधुवण (बृभा)।

२. कलिंचे—वंसकप्परी (चू), बृभा ४९०६।

३. °क्कातो (क, बृभा ४९०७)।

४. अहाग° (दे)।

५. °गादिगळे° (बृभा)।

६. लाउणालो—वींटी (चू)।

७. °भेदादि (बृभा ४९०८)।

८. अक्खाण चंदणे वावि (बृभा ४९०९),

अक्खाण चंदणाणं (भ)।

९. य ताव (भ)।

१०. दाहे वा भूमिदेहसिं° (बृभा ४९१०)।

११. सेल्लं वालमयं झुसिरं (चू)।

१२. तु (दे)।

१३. पुणसद्दो अणिमित्तविसेसणे (चू)।

१४. व (मु)।

५०९. अथवा विधुवन (पंखे), णंत (वस्त्र), कुश आदि से प्राणियों का अभिहनन करना अभिघात है। जल, घी, तेल आदि से आवर्षण करना (सींचना) स्नेह है। काय अर्थात् द्विपद आदि के बिम्ब का शस्त्र से पत्र आदि पर निर्माण करना काय है। खपाची आदि के द्वारा शुषिर अथवा अशुषिर पर लवण आदि का प्रक्षेप क्षार है।

५१०. निष्प्रयोजन छेदन आदि करने से प्रत्येक पद (छेदन आदि क्रिया) से आज्ञाभंग आदि दोष प्राप्त होते हैं तथा संयम और आत्मविराधना होती है। प्रयोजन से यतना पूर्वक छेदन आदि करना कल्पता है—विधि सम्मत है।

५११. सहजनिष्पन्न (यथाकृत) अपरिकर्म वस्त्र आदि न मिलने पर दशिका (वस्त्र की किनारी) का तथा प्रमाणाधिक वस्त्र आदि का यतनापूर्वक छेदन तथा गुड़ के पिण्ड, अलाबु (तूंबे) की नाल और कर्पर (ठिकरी/कपाल) आदि का यतनापूर्वक भेदन (अधिकरण भय से) करना भी विधिसम्मत है।

५१२. यतनापूर्वक अक्ष (पासे) को सम करने के लिए घिसना अथवा चन्दन आदि को घिसना, औषध आदि को (चिकित्सार्थ) पीसना, बाघ आदि के अभिभवन हेतु अभिघात करना अथवा गर्म करने के लिए रखी हुई औषध आदि पर अभिपतन करने (मंडराने) वाले कौए, कुत्ते आदि का अभिघात करना भी विधिसम्मत है।

५१३. द्वितीय (अपवाद) पद में यतनापूर्वक आवर्षण करते हुए पानी का परिष्ठापन तथा तृषा अथवा दाह की अवस्था में भूमि और देह का सिंचन भी विधि सम्मत है। प्रत्यनीक गृहस्थ को उपशान्त करने के लिए अथवा अशिव को उपशान्त करने वाली प्रतिमा का निर्माण कायद्वार का अपवाद है।^१ सेल्ल (बालमय सिन्दूर)^२ में परीक्षण के लिए क्षार का प्रक्षेप अपवाद पद में सम्मत है।

५१४. संक्लिष्ट कर्म दो प्रकार का होता है—सनिमित्तक (सहेतुक) और अनिमित्तक (निर्हेतुक)। जो सनिमित्तक होता है, उसकी उत्पत्ति के तीन प्रकार हैं।

५१५, ५१६. यह ठीक है कि उदय कर्म के कारण होता है। कर्म के बिना कोई उदय नहीं होता, फिर भी बाह्य वस्तु की अपेक्षा से कर्मोदय होता है। बाह्य निमित्त के तीन प्रकार हैं—१. (वैषयिक) शब्द को सुनकर, २. आलिंगन तथा स्त्री रूप को देखकर तथा ३. पूर्वभुक्त भोगों का स्मरण कर। अनिमित्तक कर्मोदय के दो हेतु हैं—आहार और शरीर का उपचय।

५१७. विषयोद्भव करने वाले शब्दश्रवण के तीन हेतु हैं—१. प्रतिबद्ध वसति में प्रवास, २. अतिरिक्त शय्या (अनाथालय आदि) में प्रवास, ३. उपाश्रय से बाहर विचारभूमि में जाते हुए।

१. कोई व्यक्ति संघ का प्रत्यनीक है। उसकी प्रतिमा का निर्माण कर उस पर मंत्र का जाप किया जाता है ताकि वह शान्त हो जाए। अशिव प्रशमन के लिए भी ऐसा ही कोई प्रयोग किया जाता है।

२. बृभा. ४९१० वृत्ति—सेल्लं बालमयं सिन्दूरं, तत्र क्षारः क्षेपणीयः किं संजातो न वा।

५१८. पडिबद्धा 'सेज्जा पुण'^१, दव्वे भावे य होति दुविधा तु।
दव्वम्मि पडिवंसो, भावम्मि चउव्विधो भेदो^२ ॥ ५१८ ॥ नि १०१ ॥
५१९. 'पासवण-ठाण-रूवे'^३, सद्दे चेव य हवन्ति चत्तारि।
दव्वेण य भावेण य, 'संजोग चउक्कभयणा उ'^४ ॥ ५१९ ॥ नि १०२ ॥
५२०. चउत्थपदं तु विदिण्णं, दव्वे लहुगा य दोस आणादी।
संसद्देण विबुद्धे, अधिकरणं सुत्तपरिहाणी^५ ॥ ५२० ॥ नि १०३ ॥
५२१. सुत्तऽत्थावसिय^६-णिसीहियासु वेल थुति सुत्तणासेसुं^७।
लहु गुरु पण-पण चउलहु, मासो लहुगा य गुरुगा य ॥ ५२१ ॥
५२२. आउज्जोवण^८ वणिण, अगणि कुडुंबी कुकम्म कुम्मरिण^९।
तेणे मालागारे, उब्भामग पंथिए जंते^{१०} ॥ ५२२ ॥
५२३. आसज्ज 'निसीहियाऽऽवस्सिय च न'^{११} करेति मा हु बुज्जेज्जा^{१२}।
तेणासंका लगगण, संजम आयाय भाणादी ॥ ५२३ ॥
५२४. अद्धाणणिग्गतादी^{१३}, तिक्खुत्तो मग्गिऊण असतीए।
गीतत्था जतणाए, वसन्ति तो दव्वपडिबद्धे^{१४} ॥ ५२४ ॥
५२५. आपुच्छण आवस्सिग^{१५}, आसज्ज निसीहिया य जतणाए।
वेरत्तिय^{१६} आवासग, जो जाहे चिंधणदुगम्मि ॥ ५२५ ॥

१. सेज्जाते (दे), सेज्जाए (भ)।

२. गाथा का पूर्वाद्धं बृभा (२५८४) में इस प्रकार है—
नामं ठवणा दविए, भावम्मि चउव्विहो उ पडिबद्धो।
इस गाथा के प्रारम्भ में बृभाटी में 'निर्युक्तिविस्तरः' का उल्लेख है।

३. °ट्ठाण सरूवे (मु)।

४. संजोगो होइ चउभंगो (बृभा २५८५)।

५. बृभा २५८६।

६. °त्थावस्स (भ, मु)।

७. अत्थणा° (क)।

८. उज्जोवणं ति गावीणं पसरणं सगडादीणं वा पयट्टणं (चू)।

९. जे कुमारेण मारेंति, ते कुमारिया (चू)।

१०. बृभा २५६०, २५८७।

११. °यावासिय° (क, पा), निसीही वा सज्जाय न
(बृभा २५८८), °वासियं (पा)।

१२. वज्जेज्जा (पा)।

१३. आदिसद्दातो असिवादिणिग्गता वा (चू)।

१४. बृभा २५८९।

१५. आवासिय (दे, पा, बृभा २५९०), आवस्सग (मु)।

१६. वेरत्ती (बृभा)।

५१८, ५१९. प्रतिबद्ध शय्या (उपाश्रय) पुनः दो प्रकार की होती है—द्रव्यप्रतिबद्ध और भावप्रतिबद्ध। वह उपाश्रयभूमि जो अन्य घर के साथ एक बलहरण^१ (छांद का आधारभूत ऊंचा तथा लम्बा काष्ठ) से जुड़ी हुई हो, द्रव्यप्रतिबद्ध शय्या है। भावप्रतिबद्ध शय्या के चार भेद होते हैं—१. प्रश्रवण प्रतिबद्ध, २. स्थानप्रतिबद्ध, ३. रूपप्रतिबद्ध और ४. शब्दप्रतिबद्ध।^२ द्रव्य और भाव के संयोग से चार भंग हो जाते हैं—१. द्रव्यतः प्रतिबद्ध भावतः प्रतिबद्ध आदि।^३

५२०. उपर्युक्त भंग चतुष्टयी में चतुर्थ भंग वितीर्ण—समनुज्ञात है। द्रव्यतः प्रतिबद्ध अर्थात् द्वितीय भंग में प्रवास करने से चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व, विराधना आदि दोष प्राप्त होते हैं। साधुओं के शब्द सुनकर जागे हुए गृहस्थ अधिकरण—आरम्भ समारम्भ करते हैं और यदि अधिकरण भय से साधु निःसंचार (हलचल रहित) और तुष्णीक (मौन) रहें तो सूत्रार्थ की परिहानि होगी।

५२१. द्रव्यप्रतिबद्ध शय्या में साधु सूत्र पौरुषी न करें तो मासलघु और अर्थपौरुषी न करें तो मासगुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। इसी प्रकार आवस्सही—निस्सिही न करने, समय पर आवश्यक न करने, आवश्यक में स्तुति न देने, सूत्रनाश और अर्थनाश से क्रमशः पनक, पनक, चतुर्लघु, मासलघु, चतुर्लघु और चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

५२२. साधुओं के शब्द को सुनकर जागे हुए गृहस्थ जो अधिकरण (आरम्भ आदि) करते हैं, जैसे—कोई पानी लाने चले जाते हैं। कोई उज्जोवण—गाय चराने अथवा गाड़ी जोतने चले जाते हैं। फेरी वाले वणिक् व्यापार हेतु निकल पड़ते हैं। लोहकार अग्नि समारम्भ तथा कुटुम्बी (कृषक) खेती में प्रवृत्त हो जाते हैं। कुकर्म करने वाले मच्छीमार आदि मछलियां पकड़ने चले जाते हैं। कुमारक—खटीक आदि भैंसों को डाम देने, पीटने आदि में लग जाते हैं। मुनि जाग रहे हैं—ऐसा सोचकर चोर भाग जाते हैं। मालाकार टोकरी लेकर बगीचे में चले जाते हैं। उद्भ्रामक (पारदारिक) भाग जाता है, पथिक रवाना हो जाते हैं और यान्त्रिक (हल आदि से कम करने वाले) यन्त्र (हल आदि) को जोतने चले जाते हैं।

५२३. 'असंयत (गृहस्थ) न जाग जाएं' इस भय से साधु आसज्ज (क्रियाविशेष), निस्सिही तथा आवस्सही न करे तो चुपचाप आते-जाते देखकर दूसरे साधु को स्तेन की शंका हो सकती है, वह उसका सामना करने लगता है, फलतः संयमविराधना, आत्मविराधना होती है तथा भाण अर्थात् भाजन भेद आदि हो सकता है।

५२४. मार्ग निर्गत तथा अशिव आदि के कारण निर्गत साधु तीन बार उभयतः अप्रतिबद्ध शय्या की मार्गणा करे, फिर भी वैसी शय्या न मिले तो गीतार्थ मुनि यतनापूर्वक द्रव्यप्रतिबद्ध शय्या में रह सकते हैं।

५२५. आपृच्छन यतना का अभिप्राय है कि रात्रि में कायिकी भूमि आदि के लिए जाने वाला साधु दूसरे साधु को पूछकर जाता है तथा जब तक वह नहीं लौटता, दूसरा साधु डंडा लेकर द्वार पर बैठा रहता है। आवश्यक, आसज्ज, निषीधिका आदि मन में करे ताकि गृहस्थ न जागें। वैरात्रिक वेला में यथास्थान बैठे ही स्वाध्याय करें, आवश्यक मौनपूर्वक यतना से करें। सूत्र और अर्थ में शंकित स्थानों पर चिह्न कर लें, दिन में उन्हें पूछ लें।

१. निभा २ चू. पृ. ८—पट्टिवंसो बलहरणं।

२. शय्या के चार भेद—प्रश्रवण प्रतिबद्ध—जहां मुनियों एवं गृहस्थ स्त्रियों की प्रश्रवण भूमि एक हो। स्थान प्रतिबद्ध—जहां मुनियों और गृहस्थ स्त्रियों का बैठने का स्थान एक हो। रूप प्रतिबद्ध—जहां बैठे हुए मुनियों को स्त्री के रूप, हास, विलास, विभ्रम आदि चेष्टाएं दिखाई दें। शब्द प्रतिबद्ध—जहां प्रतिचारणा या आभूषण आदि के शब्द सुनाई दें।

३. अन्य तीन विकल्प हैं—२. द्रव्यतः प्रतिबद्ध भावतः अप्रतिबद्ध, ३. भावतः प्रतिबद्ध द्रव्यतः अप्रतिबद्ध, ४. उभयतः अप्रतिबद्ध।

५२६. जणरहिते वुज्जाणे, जतणा 'सदे य'^१ किमु य पडिबद्धे ।
ढडूरसराणुपेहा^२, न य संघाडेण वेरत्ती ॥ ५२६ ॥
५२७. भावम्मि उ पडिबद्धे, चतुरो गुरुगा य दोस आणादी ।
ते वि य पुरिसा दुविधा, भुत्तभोगी अभुत्ता य^३ ॥ ५२७ ॥ नि १०४ ॥
५२८. भावम्मि उ पडिबद्धे, पण्णरसपदेसु^४ चउगुरू होंति ।
एक्केक्काउ पदातो, 'दोसा आणादि सविसेसा'^५ ॥ ५२८ ॥
५२९. ठाणे^६ नियमा रूवं, भासासदो उ^७ भूसणे भइओ ।
काइय ठाणं^८ नत्थी, सदे रूवे य भयं^९ सेसे ॥ ५२९ ॥
५३०. आयपरोभयदोसा काइयभूमिय इच्छऽणिच्छंते ।
संका एगमणेगे^{१०}, वोच्छेद पदोसतो जं च^{११} ॥ ५३० ॥
५३१. दुग्गूढाणं^{१२} छण्णंगदंसणे भुत्तभोगि सतिकरणं ।
वेउव्वियमादीसु^{१३} य, पडिबंधुडुंगगाऽऽसंका^{१४} ॥ ५३१ ॥
५३२. 'अगुत्ती बंभचरे'^{१५}, लज्जाणासो य पीतिपरिवुड्डी^{१६} ।
साधु तवोवणवासो, निवारणं तित्थपरिहाणी ॥ ५३२ ॥
५३३. चंकम्मियं ठितं जंपितं^{१७} च विप्पेक्खितं च सविलासं ।
आगारे य बहुविधे, दडुं भुत्तेतरे दोसा ॥ ५३३ ॥

१. भासाएँ (बृभा २५९१), सदे उ (भ) ।

२. °सरऽणुपेहा (दे, बृभा) ।

३. बृभा (२५९२) की टीका में इस गाथा के लिए 'एषा पुरातना गाथा' का उल्लेख है ।

४. पनरससु पं (बृभा २५९३) ।

५. हवंति आणाइणो दोसा (बृभा) ।

६. ठाणा (दे) ।

७. य (बृभा २५९४) ।

८. ट्ठाणे (दे) ।

९. भयं त्ति भयणिज्जं कयाइ भवंति कयाइ ण भवंति (चू) ।

१०. देकमं (क) ।

११. बृभा २५९५ ।

१२. दुग्गूढं दुगोवियं दुण्णियत्थं दुपाउयं वा (चू) ।

१३. वेउव्वियं मरहट्टविसए सागारियं बज्जति, तत्थ वेंटको कज्जति अंगुलिमुद्रिगावत् (चू), महाराष्ट्रविषये सागारिकं विद्धवा तत्र विंटकः प्रक्षिप्यते (बृभाटी) ।

१४. बृभा २५९६ ।

१५. बंभवयस्स अगुत्ती (बृभा २५९७), अगुत्ति यं (मु, क), बंभचरे अगुत्ती य (पा) ।

१६. °वड्डी (मु, दे, भ) ।

१७. मोडियं (बृभा २५९८) ।

५२६. निर्जन उद्यान में प्रवास करते समय भी रात्रि में शब्द करते हुए यतना रखनी चाहिए ताकि पशु-पक्षी आदि न जागें। ऐसी स्थिति में द्रव्यप्रतिबद्ध शय्या की तो बात ही क्या? अर्थात् वहां तो यतना नितान्त अपेक्षित है। ढड्ढर शब्द वाला (जिसकी आवाज तेज हो, वह साधु) अनुप्रेक्षा-स्वाध्याय करे, वैरात्रिक वेला में संघाटक अर्थात् मिलकर स्वाध्याय न करे।

५२७. भावतः प्रतिबद्ध शय्या में प्रवास करने पर चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। उसमें आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोष लगते हैं। भावप्रतिबद्ध उपाश्रय में रहने वाले साधु (पुरुष) के दो प्रकार होते हैं—१. भुक्तभोगी और २. अभुक्तभोगी।^१

५२८. भावप्रतिबद्ध शय्या से सम्बद्ध पन्द्रह प्रकारों^२ में प्रवास करने पर साधु को चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। प्रत्येक पद (प्रकार) से लगने वाले आज्ञाभंग आदि दोष भी पूर्वोक्त (द्रव्यप्रतिबद्ध शय्या) की अपेक्षा सविशेष—अधिक होते हैं।

५२९. जो शय्याभूमि स्थानप्रतिबद्ध हो, वह नियमतः रूपप्रतिबद्ध और शब्दप्रतिबद्ध होगी। आभूषण के शब्द के विषय में भजना है (क्योंकि विधवा आदि आभूषण रहित होती हैं।) जो उपाश्रय प्रश्रवणप्रतिबद्ध है, वह स्थानप्रतिबद्ध नहीं होता पर शेष अर्थात् शब्दप्रतिबद्ध और रूपप्रतिबद्ध के विषय में भजना है।

५३०. प्रश्रवणप्रतिबद्ध शय्या में आत्मसमुत्थ, परसमुत्थ और उभयसमुत्थ^३ तीनों प्रकार के दोष हो सकते हैं। यदि मुनि प्रतिसेवना की इच्छा करे तो व्रतभंग और इच्छा न करने पर उड्डाह की संभावना रहती है। (वह स्त्री उसको आक्षेप दे सकती है।) एक-दूसरे के पीछे कायिकी के लिए जाते देखकर एक या अनेक लोगों को शंका हो सकती है। शंका के कारण वसति आदि का व्युच्छेद तथा प्रद्वेष के कारण ग्रहण (बन्दी बनाना), आकर्षण (बाहु आदि पकड़कर खींचना) आदि दोष पैदा होते हैं।

५३१. स्थानप्रतिबद्ध शय्या में किसी स्त्री के दुष्प्रावृत प्रच्छन्न अंगों को देखकर भुक्तभोगी मुनि के पूर्वभोगों की स्मृति हो सकती है। अथवा किसी मुनि के विकुर्वित (महत्प्रमाण) लिंग को देखकर किसी स्त्री के मन में मुनि के प्रति प्रतिबंध प्रीति हो सकती है। उड्डंचंग (उपहास करने वाला) उसे कुंठित कर सकता है। अथवा लोगों को उसके प्रति शंका हो सकती है।

५३२. स्थानप्रतिबद्ध उपाश्रय में प्रवास करने से ब्रह्मचर्य की सुरक्षा नहीं रहती, परस्पर लज्जा नहीं रहती। बार-बार सम्पर्क से आपस में प्रीतिभाव की वृद्धि होती है। लोग व्यंग्यपूर्वक कहते हैं—वनवास अच्छा तप है। अपभ्राजना के कारण कोई दीक्षित नहीं होता, फलतः तीर्थ का व्युच्छेद होता है।

५३३. रूपप्रतिबद्ध उपाश्रय में प्रवास करने से मुनि को बार-बार स्त्रियों के चंक्रमण (गतिविभ्रम), स्थान (कमर पर हाथ रखकर खड़ा होना आदि), जल्पन (मधुर वार्तालाप), भ्रूविक्षेप युक्त देखना, विलास आदि बहुविध आकारों और अलंकारों के दर्शन होते रहते हैं, फलतः भुक्तभोगी मुनि के पूर्वभोगों की स्मृति तथा अन्य मुनियों के कौतुक आदि अन्य दोषों की संभावना रहती है।

१. निभा २ चू.पृ. १०—जे इत्थिभोगं भुंजिउ पव्वइया ते भुत्तभोगा, इतरे कुमारगा।

२. भावप्रतिबद्ध शय्या के प्रश्रवण, स्थान, रूप और शब्द की दृष्टि से चार विकल्प हैं। उनके संयोगज भंग सोलह होते हैं, उनमें पहले पन्द्रह भंग सदोष हैं। सोलह भंग हेतु द्रष्टव्य—निभा २, पृ. १०।

३. स्त्री को देखकर साधु स्वयं विचलित हो—यह आत्मसमुत्थ, स्त्री उसे विचलित करे—यह परसमुत्थ और दोनों परस्पर विचलित हों—यह उभयसमुत्थ दोष है।

५३४. जल्ल-मलपंकिलाण^१ वि, लावण्णसिरी^२ तु 'जह सि'^३ देहाणं ।
सामण्णम्मि सुरूवा, सतगुणिता आसि गिहवासे^४ ॥ ५३४ ॥
५३५. गीताणि य पढिताणि य, हसिताणि य मंजुला य उल्लावा ।
भूसणसद्दे 'राहस्सिए य'^५ सोऊण जे दोसा^६ ॥ ५३५ ॥
५३६. 'गंभीर^७-विसद-फुड-मधुरगाहओ'^८ सुस्सरो सरो जह सिं ।
सज्जायस्स मणहरो, गीतस्स णु केरिसो आसी ॥ ५३६ ॥
५३७. पुरिसा य भुत्तभोगी, अभुत्तभोगी 'य ते भवे दुविहा'^९ ।
कोऊहल-सतिकरणुब्भवेहि^{१०} दोसेहिमं कुज्जा ॥ ५३७ ॥
५३८. पडिगमणमण्णतित्थिग^{११}, सिद्धी^{१२} संजति सलिंग हत्थे य ।
अद्धाण वास सावय, तेणेसु य^{१३} भावपडिबद्धे^{१४} ॥ ५३८ ॥
५३९. विहनिग्गता^{१५} तु जतितुं^{१६}, 'पडिबद्धे दव्व जोति-रुक्खाहे'^{१७} ।
ठायंति अह उ वासं, सावय 'तेणा व तो'^{१८} भावे ॥ ५३९ ॥
५४०. भावम्मि ठायमाणा^{१९}, पढमं ठायंति रूवपडिबद्धे ।
तहियं कडगचिलिमिली^{२०}, तस्सऽसती ठंति पासवणे^{२१} ॥ ५४० ॥
५४१. असती य मत्तगस्सा, निसिरणभूमीइ वावि असतीए ।
वंदेण बोलपविसण^{२२}, तासिं वेलं च वज्जेज्जा^{२३} ॥ ५४१ ॥

१. 'पंकियाण (बृभा २५९९), 'पंकिताण (मु) ।

२. लायण्णं (दे) ।

३. जहेसि (बृभा), जहा सि (दे, भ) ।

४. गेहं (क) ।

५. 'एण (मु) ।

६. बृभा २६०० ।

७. गंभीरो—साणुणादी (चू), गम्भीरो नाम यतः प्रतिशब्द उत्तिष्ठते (बृभाटी) ।

८. गंभीर महुर-फुड विसयगाहओ (बृभा २६०१), निभा में 'विसय' की व्याख्या विसद अर्थात् व्यक्त के रूप में की है। बृभा में इसकी 'विषय' संस्कृत छाया करके अर्थ-परिच्छेद से युक्त अर्थ किया है ।

९. य केइ निक्खंता (बृभा २६०२) ।

१०. सितीकं (मु) ।

११. 'मणअण्णं (मु) ।

१२. सिद्ध (मु) ।

१३. व (भ, बृभा २६०३) ।

१४. 'पडिबद्धो (मु) ।

१५. 'णिग्गतो (मु) ।

१६. जइयं (दे) ।

१७. रुक्खे जोइ पडिबद्ध उस्सा वा (बृभा २६०४), 'रुक्खस्स (दे, पा) ।

१८. तेणादओ (बृभा), तेणे य तो (मु) ।

१९. 'माणो (मु) ।

२०. 'मिणी (दे) ।

२१. 'वणा (दे), बृभा २६०५ ।

२२. बोलकरणं (बृभा २६०६) ।

२३. वज्जिति (बृभा), 'ज्ज (भ) ।

५३४. स्त्रियां सोचती हैं—मुनि जीवन में मुनिश्री का शरीर जल्ल और मल से पंकिल है, फिर भी इनका शरीर इतने लावण्य और सौन्दर्य से परिपूर्ण है तथा गृहवास में तो इनकी सुरूपता अभी से शतगुणा ज्यादा होगी।

५३५. शब्दप्रतिबद्ध उपाश्रय में प्रवास करते हुए मुनि को बार-बार गृहस्थ स्त्रियों के गीत, पठित (विदुषी स्त्रियों के शब्दोच्चारण), विकारोत्पादक हंसी, मंजुल (मन को क्षुब्ध करने वाले) उल्लाप, आभूषणों के शब्द तथा रहस्य (प्रतिचाराणकालीन) शब्द सुनाई देते रहते हैं, जिससे स्मृति, कौतुक आदि पूर्वोक्त दोषों की संभावना रहती है।

५३६. मुनियों के स्वाध्याय को सुनकर स्त्रियां सोचती हैं—अमुक मुनि के स्वाध्याय के स्वर भी इतने गंभीर, विशद, स्पष्ट, मधुर, ग्राहक (अर्थबोध कराने में समर्थ), सुन्दर और मनोहर हैं तो गृहवास में पता नहीं, कितना सुन्दर गाते होंगे।

५३७, ५३८. पुरुष (मुनि) दोनों प्रकार के होते हैं—भुक्तभोगी और अभुक्तभोगी। भावप्रतिबद्ध शय्या में रहने से कुतूहल, पूर्वभोगों की स्मृति आदि दोषों की उत्पत्ति होती है, फलतः वे निष्क्रान्त हो जाते हैं, अन्य तीर्थिकों में चले जाते हैं, सिद्धपुत्री^१ का प्रतिसेवन कर लेते हैं अथवा स्वलिंग में रहते हुए संयती का प्रतिसेवन कर लेते हैं अथवा हस्तकर्म करने लग जाते हैं अतः भावप्रतिबद्ध उपाश्रय में नहीं रहना चाहिए। यदि मार्गनिर्गत अथवा अटवी निर्गत अवस्था में अन्य स्थान न मिले, भारी वर्षा के कारण रुकना पड़े तथा वसति से बाहर शरीर स्तेन या उपकरण स्तेन का भय हो तो कारण (अपवाद) में भावप्रतिबद्ध शय्या में रह सकते हैं।

५३९. अटवी-निर्गत मुनि भी पहले शुद्ध (द्रव्यतः और भावतः अप्रतिबद्ध) वसति के लिए यत्न करे। यदि वैसी वसति प्राप्त न हो तो द्रव्यप्रतिबद्ध वसति में रहे। द्रव्यप्रतिबद्ध वसति भी न मिले तो ज्योति प्रतिबद्ध वसति में रहे। ज्योति प्रतिबद्ध वसति न मिले तो वृक्ष के नीचे रह जाए। यदि वर्षा हो रही हो अथवा बाहर श्वापद या स्तेन भय हो तो भावप्रतिबद्ध वसति में रहे।

५४०, ५४१. उपर्युक्त कारणों से यदि भावप्रतिबद्ध शय्या में रहना हो तो सर्वप्रथम रूपप्रतिबद्ध शय्या में रहे। उपर्युक्त दोषों का निवारण करने हेतु बीच में कटकचिलिमिली (चटाई का पर्दा) डाल दे। यदि रूपप्रतिबद्ध शय्या न मिले तो प्रश्रवणप्रतिबद्ध शय्या में रहे तथा पूर्वोक्त दोषों के निवारण हेतु मात्रक का प्रयोग कर अन्यत्र परिष्ठापन करे। यदि मात्रक अथवा अन्य परिष्ठापन भूमि न हो तो समूह बनाकर शब्द (कोलाहल) करते हुए प्रवेश करें तथा स्त्रियों की विसर्जन बेला का वर्जन करें। (स्त्रियां विसर्जन हेतु जाएं, मुनि उस समय न जाएं।)

१. सिद्धपुत्र के लिए द्रष्टव्य गा. ३४६ का पाद-टिप्पण।

५४२. भूसण भासासद्दे, सज्झायज्झाण निच्चमुवयोगे ।
उवगरणेण सयं वा, पेल्लण अन्नत्थ वा ठाणे^१ ॥ ५४२ ॥
५४३. परियारसद्दजतणा^२, सद्द वए 'तिविध तिविधे या'^३ ।
उद्दाण पउत्थ 'सहीण, भत्त'^४ जा जस्स वा गुरुगी^५ ॥ ५४३ ॥
५४४. उद्दाण परिट्टविया, पउत्थ-कण्णा^६ सभोइया^७ चेव ।
थेरी मज्झिम तरुणी, तिक्करी मंदसद्दा य^८ ॥ ५४४ ॥
५४५. पासवणमत्तगेणं, ठाणे अन्नत्थ चिलिमिली^९ रूवे ।
सज्झाए^{१०} झाणे वा, आवरणे सद्दकरणे य^{११} ॥ ५४५ ॥ नि १०५ ॥
५४६. वेरग्गकरं जं वा, वि परिजितं बाहिरं च इतरं वा ।
सो तं गुणेति सुत्तं^{१२}, झाणसलद्धी उ झाएज्जा ॥ ५४६ ॥
५४७. दोसु वि अलद्धि 'कण्णाऽऽवरेंति'^{१३} तह वि सवणे^{१४} करे सद्दं ।
जह लज्जिताण मोहो, नासति जणणायकरणं^{१५} वा ॥ ५४७ ॥

१. ठाणं (दे), बृभा २६०७ ।

२. पुरुषेण स्त्री परिभुज्यमाना यं शब्दं करोति, स 'परिचारशब्द' उच्यते (बृभाटी) ।

३. चेव तिविह तिविहा य (बृभा २६०८) सद्दतो तिविहा—मंदसद्दा मज्झिमसद्दा तिक्कसद्दा य, वएण तिविहा—थेरी मज्झिमा तरुणी य एक्केक्का तिविहा—उद्दाणभत्तारा पउत्थभत्तारा साहीणभत्तारा य (चू) ।

४. साधीणभत्ता (दे), सहीणभोइया (बृभा) ।

५. गरुई (भ, मु), जा इत्थी जस्स साहुस्स माउलदुहियादिया भव्वा, सा गुरुगी भण्णति अहवा...जो जस्स सद्दो रुचिति तिक्कादिगो तेण जुत्ता गुरुगी भण्णति (चू) ।

६. इह गाहाए 'कण्णा' सद्दो बंधाणुलोमाओ मज्जे कओ एस आदीए कायव्वो (चू) ।

७. साहीणभत्तारा सभोइया भण्णति (चू) ।

८. बृभा २६०९, इस गाथा के बाद बृभा (२६१०) में निम्न

अतिरिक्त गाथा मिलती है—

थेरी मज्झिम तरुणी, वएण तिविहित्थि तत्थ एक्केक्का ।
तिक्करी मज्झकरी, मंदकरी चेव सद्दं ॥

९. 'मिणी (दे) ।

१०. अज्झाए (भ) ।

११. वा (दे, बृभा २६११), या (भ), निशीथचूर्णिकार ने इस गाथा के प्रारम्भ में 'पासवणादिपडिबद्धासु सिद्धसेना-यरिएण जा जयणा भणिया, तं चेव संखेवओ भद्दबाहू भण्णति' का उल्लेख किया है। बृभाटी में इस गाथा के प्रारम्भ में 'निर्युक्तिकृदेकगाथया संगृह्याह' का उल्लेख है।

१२. साहू (बृभा २६१२) ।

१३. कण्णे ठएइ (बृभा २६१३) ।

१४. असवणा (दे) ।

१५. जयणात् (मु) ।

५४२. यदि शब्दप्रतिबद्ध वसति में रहना हो तो पहले आभूषण शब्दप्रतिबद्ध वसति में रहे। वह न मिले तो भाषा शब्दप्रतिबद्ध वसति में रहे। पूर्वोक्त दोषों का परिहार करने हेतु समुदित होकर उच्च स्वर से स्वाध्याय करें या ध्यानलब्धि सम्पन्न हो तो ध्यान करें। स्वाध्याय, ध्यान में ही निरन्तर उपयोग युक्त रहें। यदि शब्द प्रतिबद्ध वसति के अभाव में स्थानप्रतिबद्ध वसति में रहना पड़े तो पूर्वोक्त दोषों के परिहार हेतु उपकरणों को इस प्रकार बिखेर कर रखे या स्वयं इस प्रकार विप्रकीर्ण रूप में बैठें कि स्त्रियों को वहां बैठने का स्थान न मिले अथवा दिन में अन्यत्र जाकर रहे।

५४३. प्रतिचरणा शब्दप्रतिबद्ध शय्या में रहे तो प्रतिचरणा काल के शब्दों को न सुनने के लिए स्वाध्याय से यतना करे। शब्द और वय की दृष्टि से स्त्रियों के तीन-तीन प्रकार हैं—शब्द की दृष्टि से—१. मंद, २. मध्यम और ३. तीव्र शब्द वाली। वय की दृष्टि से—१. स्थविरा, २. मध्यमा (अधेड़ उम्र वाली) और ३ तरुणी। इनके पुनः तीन प्रकार हैं—१. अपद्राणभर्तृका (पति के द्वारा परित्यक्त स्त्री), २. प्रोषितभर्तृका (जिसका पति परदेश गया हो), ३. स्वाधीनभर्तृका (पति सहित)। इनके शब्दों से प्रतिबद्ध वसति में रहने का क्रम इस प्रकार है—सर्वप्रथम अपद्राणभर्तृका स्थविरा, जो मंद शब्द वाली हो, उसकी वसति में रहे। फिर इसी क्रम से मध्यम और तीव्र शब्द वाली स्त्री की वसति में, इसके पश्चात् इसी क्रम से प्रोषितभर्तृका और स्वाधीनभर्तृका की वसति में रहे। अथवा जो जिसके लिए गुरुक—मातुल दुहिता आदि रागात्मक सम्बन्ध वाली है, उससे प्रतिबद्ध वसति का वर्जन करे।

५४४. स्त्रियों के चार प्रकार हैं—१. कन्या—अविवाहित स्त्री, २. अपद्राणभर्तृका, ३. प्रोषितभर्तृका और ४. स्वाधीनभर्तृका। इनके पुनः तीन-तीन भेद हो जाते हैं—१. स्थविरा, २. मध्यमा और ३. तरुणी तथा—१. तीव्र, २. मध्यम और ३. मन्द शब्द वाली। इनके शब्दों से प्रतिबद्ध वसति में रहने का क्रम इस प्रकार है—सर्वप्रथम स्थविरा अविवाहिता की वसति में, बाद में अविवाहिता कल्पस्थिता (अल्पवयस्का) की वसति में और उसके पश्चात् अविवाहिता तरुणी से प्रतिबद्ध वसति में रहे। फिर इसी क्रम से अन्य तीनों—अपद्राणभर्तृका आदि से प्रतिबद्ध शय्या में रहे। इनमें भी पहले मन्द शब्द वाली, फिर मध्यम और तीव्र शब्द वाली स्त्रियों से प्रतिबद्ध उपाश्रय में रहे।

५४५. भावप्रतिबद्ध शय्या के विषय में संक्षेपतः यतना इस प्रकार है—१. प्रश्रवणप्रतिबद्ध शय्या—मात्रक का प्रयोग। २. स्थानप्रतिबद्ध—दिन में अन्यत्र निवास। ३. रूपप्रतिबद्ध शय्या—चिलिमिली का प्रयोग। ४. शब्दप्रतिबद्ध शय्या—स्वाध्याय, ध्यान का प्रयोग, कानों को आवृत करना तथा शब्दकरण।

५४६, ५४७. शब्दप्रतिबद्ध शय्या की यतना के चार प्रयोग हैं—

१. स्वाध्याय—जो वैराग्यवर्धक सूत्र हो, चाहे अंगबाह्य हो या अंगप्रविष्ट, उसका वाचन करे अथवा जो अस्खलित रूप से परिचित हो, ऐसे सूत्र का मनन करे।

२. ध्यान—जो ध्यानलब्धि सम्पन्न हो, वह ध्यान में लगा रहे।

३. आवरण—जो न स्वाध्यायलब्धि सम्पन्न है और न ध्यानलब्धि सम्पन्न, वह मुनि अपने कानों को आवृत कर ले ताकि वैषयिक शब्द कान में न पड़े।

४. शब्दकरण—यदि कानों को ढकने पर भी शब्द सुनाई देते रहें तो जोर से (गृहस्थों को) कहे—अरे! क्या तुम्हें पता नहीं कि तुम्हारे घर में मुनि निवास कर रहे हैं, इत्यादि। यदि ऐसा सुनते ही लज्जित हो जाने से उनका मोह नष्ट हो जाए तो ठीक। यदि तब भी उनका मोह भंग न हो तो यतनापूर्वक लोगों को ज्ञात करा दे।

५४८. उभओ पडिबद्धाए, भयणा पण्णरसिगा तु कातव्वा ।
दव्वे पासवणम्मि य, ठाणे रूवे य सद्दे य^१ ॥ ५४८ ॥
५४९. उभओ पडिबद्धाए, ठायंते आणमादिणो दोसा ।
ते चेव 'होंति दोसा'^२, तं चेव य होति^३ बितियपदं ॥ ५४९ ॥ नि १०६ ॥
५५०. जुत्तपमाण^४ अतिरेग^५, 'हीणपमाणा य'^६ तिविध वसही उ ।
अप्फुण्णमणप्फुण्णा, संबाधा चेव नायव्वा ॥ ५५० ॥
५५१. तीसु वि विज्जंतीसुं, जुत्तपमाणाए^७ कप्पती ठाउं ।
'तस्सऽसती'^८ हीणाए, अतिरेगाए य तस्सऽसती ॥ ५५१ ॥
५५२. अतिरित्ताय ठिताणं, इत्थी पुरिसो य विसयधम्मट्ठी ।
उज्जुगमणुज्जुगा वा, एज्जाही तत्थिमो उज्जू ॥ ५५२ ॥
५५३. पुरिसिस्थी आगमणे, अवारणे आणमादिणो दोसा ।
उप्पज्जंते जम्हा, तम्हा तु निवारते ते उ^९ ॥ ५५३ ॥ नि १०७ ॥
५५४. अम्हे मो आदेसा, रत्तिं वुच्छा पभाएँ गच्छामो ।
एसा य मज्झ भज्जा, पुट्ठोऽपुट्ठो व सो उज्जू ॥ ५५४ ॥
५५५. अण्णो वि होति उज्जू, सब्भावेणेव तस्स सा भगिणी ।
तं पि हु भणंति चित्ते, इत्थी वज्जा किमु सचेट्ठा ॥ ५५५ ॥
५५६. बंभवतीणं^{१०} पुरतो, किह मोहिह पुत्तमादिसरिसाणं ।
न वि भगिणीई जुज्जति, रत्तिं विरहम्मि संवासो ॥ ५५६ ॥
५५७. इय अणुलोमणं^{११} तेसिं, चउक्कभयणा अणिच्छमाणेहिं ।
निग्गमण पुव्वदिट्ठे, ठाणं रुक्खस्स वा हेट्ठा ॥ ५५७ ॥

१. बृभा २६१४।

२. पुव्वभणिया (बृभा २६१५)।

३. होंति (दे)।

४. जुत्तप्पं (भ, मु), जा साहूहि संथारगप्पमाण गेण्हमाणेहिं
अप्फुण्णा वाविय ति वुत्तं भवति, सा जुत्तप्पमाणा (चू)।

५. जा अणफुण्णा सा अतिरेगा (चू)।

६. हीणमां (मु), °णादि (भ), जत्थ संबाहं ठाएँति सा

हीणप्पमाणा णायव्वा (चू)।

७. °णाते (दे)।

८. तस्स असती (मु)।

९. तु. बृभा ४९२३।

१०. बंभवतीण (दे)।

११. अणुलोमणा अणुण्णवणा पण्णवण ति (चू)।

५४८. द्रव्य और भावप्रतिबद्ध शय्या में द्रव्य, प्रश्रवण, स्थान, रूप और शब्द के विविध संयोगों से पन्द्रह भंग करणीय हैं। इनमें पन्द्रहवां भेद उभय प्रतिबद्ध शय्या के प्रसंग में घटित नहीं होता, क्योंकि वह भावतः अप्रतिबद्ध है।

५४९. उभयतः प्रतिबद्ध शय्या में रहने से आज्ञाभंग आदि पूर्वोक्त दोष आते हैं तथा साथ ही जो द्वितीय भंग और तृतीय भंग में दोष कहे गए हैं, वे भी उभय प्रतिबद्ध शय्या में आएंगे।^१ जो अपवाद द्वितीय और तृतीय भंग में निर्दिष्ट हैं वे प्रथम भंग के सन्दर्भ में भी द्रष्टव्य हैं।^२

५५०. उपाश्रय तीन प्रकार के होते हैं—१. युक्तप्रमाण, २. अतिरिक्तप्रमाण और ३. हीनप्रमाण। १. युक्तप्रमाण—प्रत्येक साधु के संस्तारकप्रमाणभूमि ग्रहण करने पर जो साधुओं से पूरी तरह व्याप्त हो जाए। २. अतिरिक्त प्रमाण—प्रत्येक साधु द्वारा संस्तारक प्रमाण भूमि ग्रहण किए जाने पर जो कुछ खाली रह जाए, पूर्ण व्याप्त न हो। ३. हीनप्रमाण—जिसमें सारे साधु मुश्किल से (बाधापूर्वक) रह सकें। (दूसरे शब्दों में इन्हें क्रमशः प्रमाणोपेत, प्रमाणातिरिक्त और प्रमाणहीन भी कह सकते हैं।)

५५१. यदि तीनों प्रकार के उपाश्रय विद्यमान (उपलब्ध) हों तो मुनि को युक्त प्रमाण वाली वसति में रहना चाहिए। यदि युक्तप्रमाण वसति न हो तो हीनप्रमाण वाली और वह भी न हो तो अतिरिक्त प्रमाण वाली वसति में रहे।

५५२. जब साधु अतिरिक्त प्रमाण वाली वसति में रहते हैं तब वहां विषयधर्मार्थी (विषय परिभोग के इच्छुक) स्त्री और पुरुष आ सकते हैं। वे आगन्तुक स्त्री, पुरुष दोनों प्रकार के होते हैं—१. ऋजु (सरल), २. अनृजु (कुटिल)। जो सरल (ऋजु) होते हैं वे इस प्रकार के (गा. ५५४, ५५५ में कथित) होते हैं।

५५३. यदि साधु अतिरिक्त प्रमाण वाली वसति में रहते हैं और वहां स्त्री, पुरुष आते हैं। उन्हें न रोका जाए तो आज्ञाभंग आदि दोष उत्पन्न होते हैं अतः मुनि को उन्हें रहने से रोक देना चाहिए।

५५४. जो (पुरुष) ऋजु होता है, वह पूछने पर अथवा बिना पूछे भी कह देता है कि हम अतिथि (आदेश) हैं। यहां रात भर रहकर प्रातःकाल चले जाएंगे। यह स्त्री मेरी पत्नी है।

५५५. अन्य भी जो ऋजु होता है, वह कहता है—यह मेरी बहिन है और वस्तुतः वह उसकी बहिन ही होती है। फिर भी उसे साधु कहते हैं—हमारे लिए तो चित्रलिखित स्त्री भी वर्जनीय है तो सचेष्ट—सचेतन स्त्री की तो बात ही क्या? अतः आप लोग यहां न रहें।

५५६. भार्यावादी पुरुष से मुनि कहते हैं—ये सभी मुनि ब्रह्मव्रतधारी हैं। ये तुम्हारे पुत्र आदि के तुल्य हैं। इनके सामने अनाचार का सेवन कैसे करोगे? जो भगिनीवादी (मेरी बहिन है ऐसा कहने वाला) हो, उसे कहना चाहिए—रात्रि में एकान्त (अन्धकार) में बहिन के साथ रहना भी उचित नहीं है।

५५७. उपर्युक्त विधि से उनका अनुलोमन (प्रज्ञापन) किया जाना चाहिए (समझाना चाहिए)। समझाने पर भी यदि वे न जाना चाहें तो पुरुष और स्त्री के भद्र और प्रान्त के आधार पर चार भंग करें^३ तथा जो भद्र हों उन्हें समझाएं। यदि फिर भी वे न जाएं तो साधु वहां से निर्गमन कर पूर्वदृष्ट स्थान (शून्यगृह आदि) में चले जाएं अथवा वृक्ष के नीचे रह जाएं। (पर स्त्री संसक्त वसति में न रहें।)

१. द्वितीय भंगवर्ती तथा तृतीय भंगवर्ती शय्या के प्रसंग में आने वाले दोषों का कथन क्रमशः गा. ५२०-५२३ तथा गा. ५३०-५३८ में किया जा चुका है।

२. उपर्युक्त भंगों के अपवाद हेतु द्रष्टव्य— गा. ५२४-५२६ तथा ५३९-५४७।

३. चतुर्भंगी इस प्रकार हैं—१. पुरुष भद्र, स्त्री अभद्र २. स्त्री और पुरुष दोनों भद्र ३. पुरुष अभद्र और स्त्री भद्र ४. दोनों अभद्र।

५५८. पुढवी ओस सजोती, हरित-तसा 'तेण उवधि'^१ वासं वा।
सावय-सरीरतेणग, फरुसादी जाव ववहारो ॥ ५५८ ॥
५५९. अम्हेदाणि विसहिमो^२, इड्ढिमपुत्त^३ बलवं असहमाणो^४।
णीहि अणिते बंधण, उवट्टिते^५ सिरिघराहरणं ॥ ५५९ ॥
५६०. अम्हे मो आदेसा, ममेस भगिणि त्ति वदति तु अणुज्जू।
वसिया गच्छीहामो, रत्तिं आरद्ध निच्छुभणं^६ ॥ ५६० ॥
५६१. आवरितो कम्मेहिं, सत्तू इव उट्टितो थरथरेंतो।
मुंचति य भिंडियाओ^७, एक्केक्कं 'भेऽतिवाएमि'^८ ॥ ५६१ ॥
५६२. निग्गमणं तह 'चेव उ'^९, निद्दोस^{१०} सदोसऽणिग्गमे जतणा।
सञ्जाए झाणे वा, आवरणे सहकरणे य^{११} ॥ ५६२ ॥
५६३. कोतूहलं च गमणं, सिंगारे कुड्डुछिदकरणे य।
दिट्ठे परिणयकरणे, भिक्खुणो मूलं दुवे इतरे^{१२} ॥ ५६३ ॥
५६४. लहु गुरु लहुगा गुरुगा, छल्लहु छग्गुरुगमेव छेदो य।
करकम्मस्स तु करणे, भिक्खुणो मूलं दुवे इतरे^{१३} ॥ ५६४ ॥

१. उवधि तेण (बृभा ४९२४)।

२. विसोहिमो (क), विविहं विशिष्टं वा सहमो विसहिमो (चू)।

३. इड्ढीपत्त (दे), इड्ढीपुत्तो वा राजादीत्यर्थः (चू)।

४. असहणोऽयं (बृभा ४९२५)।

५. णिवकट्टण (बृभा)।

६. °भणा (पा), बृभा (४९२६) में इस गाथा के स्थान पर यह गाथा मिलती है —
अहिकारो वारणम्मिं, जत्तिय अप्फुण्ण तत्तिया वसही।
अतिरेगदोस भगिणी, रत्तिं आरद्धे णिच्छुभणं॥

७. भेंडितातो (बृभा)।

८. भे निवादेमि (बृभा ४९२७), भे णिवातेमि (दे)।

९. चेवा (बृभा ४९२८)।

१०. णिद्दोसं (मु)।

११. वा (बृभा), या (भ)।

१२. बृभा ४९१८।

१३. वितरे (दे), बृभा (४९१९) में इस गाथा के स्थान पर निम्न गाथा मिलती है—

लहुतो लहुगा गुरुगा, छम्मासा छेद मूल दुगमेव।
दिट्ठे य गहणमादी, पुव्वुत्ता पच्छकम्मं च॥

५५८. गांव के बाहर अथवा वृक्ष के नीचे यदि सचित्त पृथ्वीकाय हो, ओस पड़ रही हो, दूसरा उपाश्रय अग्नियुक्त हो, हरियाली अथवा त्रस प्राणियों की विराधना होती हो, तब भी वहां जाकर रहे, पर स्त्रीसंसक्त उपाश्रय में न रहें। यदि बाहर उपधिस्तेन हों, वर्षा हो रही हो, श्वापदभय हो अथवा शरीरस्तेन हों तो बाहर न जाएं, उसी उपाश्रय में रहें तथा परुष वचनों से उन्हें (स्त्री-पुरुष को) निकालने का प्रयत्न करें यावत् न्यायालय में भी चले जाएं।

५५९. अथवा साधु कहें—अभी हम सब कुछ सहन कर रहे हैं। पर यह साधु (बलवान् दिखने वाले साधु की ओर संकेत करते हुए) राजकुमार (ऋद्धिमान् का पुत्र) है, बलवान् है, यह सहन नहीं करेगा। यह तुम्हें बाहर निकाल देगा (इससे अच्छा है पहले स्वयं ही चले जाओ)। यदि ऐसा कहने पर भी वे न जाएं तो साधु (अकेला या सब मिलकर) उन्हें बांध दें और प्रातः छोड़ दें। यदि वे प्रातःकाल न्याय हेतु उपस्थित हों तो न्यायालय में जाकर न्यायाधीश को श्रीगृह के दृष्टान्त से समझाएं।^१

५६०. कोई व्यक्ति एक स्त्री के साथ घंघशाला (अनाथालय आदि विशाल भवन) में आकर मुनियों से कहता है—हम अतिथि हैं। यहां रात भर रहकर प्रातःकाल चले जाएंगे। यह स्त्री मेरी बहिन है। ऐसा कहकर वह अनुजु (कुटिल) व्यक्ति रात में उसके साथ प्रतिसेवना करता है। उसे वर्जित करना चाहिए। न माने तो पूर्वोक्त उपायों से उन्हें निकाल देना चाहिए।

५६१, ५६२. कर्मों से आवृत होने के कारण यदि वह आदमी क्रोध से कांपता हुआ शत्रु के समान उपस्थित हो और ललकारता हुआ कहे—मैं तुम्हें एक-एक को मार दूंगा तो मुनि वहां से निर्गमन कर निर्दोष स्थान में चले जाएं। यदि बाहर निर्दोष स्थान उपलब्ध न हो तो वहीं पर यतनापूर्वक रहें। यतना के लिए स्वाध्याय, ध्यान का प्रयोग करें, कानों को आवृत कर लें अथवा उनका मोहभंग हो, ऐसा शब्द करें।^२

५६३, ५६४. उपर्युक्त यतना के बावजूद भी यदि किसी मुनि के मन में प्रतिसेवना देखने का कुतूहल उत्पन्न हो जाए तो मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। पास जाकर सुनने का अभिप्राय उत्पन्न हो तो मासगुरु प्रायश्चित्त, प्रतिसेवना को सुनने के लिए गमन करने पर चतुर्लघु, दीवार आदि की ओट से शब्द सुनने पर चतुर्गुरु, उन्हें देखने हेतु दीवार आदि में छेद करने पर षड्लघु, उस छेद से देखने पर षड्गुरु, हस्तकर्म (अप्राकृतिक मैथुन) का प्रयोग करने का संकल्प उत्पन्न होने पर छेद एवं कर लेने पर मूल प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। यह सारा प्रायश्चित्त भिक्षु के लिए विहित है। अभिषेक और आचार्य के क्रमशः इन्हीं स्थानों में अन्ततः अनवस्थाप्य और पारांचित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१. साधु न्यायाधीश को पूछते हैं—यदि कोई चोर राजा के श्रीगृह में रत्न चुराता हुआ पकड़ा जाए तो आप उसे क्या दंड देंगे? न्यायाधीश—उसे शूली पर चढ़ा दिया जाएगा अथवा सिर काट दिया जाएगा। साधु—इन्होंने (स्त्री, पुरुष ने) भी हमारे रत्न चुराने का प्रयत्न किया, पर हमने तो इन्हें ऐसे ही छोड़ दिया। न्यायाधीश—आपके पास कौन-से रत्न हैं? साधु—ज्ञान, दर्शन, चारित्र। न्यायाधीश—इन्होंने रत्नों का अपहरण कैसे किया? साधु—इन्होंने अनाचार सेवन के द्वारा हमें अपध्यान में ले जाने का प्रयत्न किया।

२. (क) निभा २ चू. पृ. १८—भिंडियाओ ताणि उ पोक्काउ त्ति वुत्तं भवति।

(ख) भिंडिया—ललकार, आह्वान।

३. विस्तार हेतु द्रष्टव्य गा. ५४५-५४७।

५६५. वडपादवउम्मूलण, तिक्खम्मि व विज्जलम्मि^१ वच्चंतो ।
सद्देहि हीरमाणो, कम्मस्स समज्जणं कुणति^२ ॥ ५६५ ॥
५६६. वेयावच्चस्सट्ठा, भिक्खवियारादि^३ निग्गते संते ।
भूसण-भासासद्दे, सुणेज्ज 'परियारणाए वा'^४ ॥ ५६६ ॥
५६७. भारो विलवियमेत्तं, सव्वे कामा दुहावहा^५ ।
तिविधम्मि वि सद्दम्मी^६, तिविधा जतणा भवे कम्मसो ॥ ५६७ ॥
५६८. आलिंगणावतासण, चुंबण-परियारणेतरं वावि ।
सच्चित्तमचित्ताण^७ व, दट्टुणं उप्पया मोहो ॥ ५६८ ॥
५६९. हासं दप्पं च रतिं, किडुं सहभुत्त 'आसिताइं च'^८ ।
सरिऊण कस्सइं^९ पुणो, होज्जाही उप्पया मोहो ॥ ५६९ ॥
५७०. दिट्ठीपडिसंहारो, सरणे वेरग्गभावणा भणिता ।
जतणा सणिमित्तम्मी^{१०}, होतऽनिमित्ते इमा जतणा ॥ ५७० ॥
५७१. छायस्स पिवासस्स व, सहाव गेलण्णतो विव^{११} किसस्स ।
बाहिरनिमित्तवज्जो, अनिमित्तुदओ हवति मोहे ॥ ५७१ ॥
५७२. आहारउब्भवो^{१२} पुण, पणीतमाहार भोयणा होति ।
वाईकरणाऽऽहरणं, कल्लाण पुरोह^{१३} उज्जाणे ॥ ५७२ ॥
५७३. मंसोवचया मेदो, मेदाओ अट्ठि मिज्ज^{१४} सुक्काणं ।
सुक्कोवचया उदओ, सररीचयसंभवो मोहे ॥ ५७३ ॥

१. विज्जलं सिट्ठिलकदमेत्यर्थः (चू) ।

२. गाथा का उत्तरार्धं बृभा (४९,२९) में इस प्रकार है—
कुणमाणो वि पयत्तं, अवसो जह पावती पडणं ।

३. भिक्खवियारियादि (क) ।

४. ँरणा चव (दे) ।

५. गाथा के द्वितीय चरण में अनुष्टुप् छंद है ।

६. सद्दम्मिं (दे) ।

७. सच्चित्ताचिं (पा) ।

८. आसिआणि वा (भ) ।

९. कस्सवि (दे) ।

१०. ँत्तम्मिं (दे) ।

११. वि (भ, मु) ।

१२. आहार्यते इति आहारः (चू) ।

१३. पुरोध (मु) ।

१४. मिंज (भ, मु), मिज्जं मेज्जुल्लउ त्ति वुत्तं भवति (चू) ।

५६५. विषयोत्पादक शब्दों के द्वारा भाव (चित्त) का अपहरण होने पर मुनि भी कर्म का अर्जन कर लेता है, जैसे तेज जल-प्रवाह से वटवृक्ष भी उन्मूलित होकर बह जाता है। अथवा जैसे कीचड़ में प्रयत्नपूर्वक चलते हुए भी व्यक्ति गिर जाता है, वैसे ही मुनि भी विषय-प्रवाह में बहता हुआ कर्मों का उपार्जन कर पथच्युत हो जाता है।

५६६. मुनि वैयावृत्य—ग्लान के लिए औषध, पथ्य आदि लाने के लिए, भिक्षा, उत्सर्ग (विचारभूमि) अथवा स्वाध्याय के लिए वसति (उपाश्रय) से बाहर जाता है, उस समय भी अलंकारों के शब्द, भाषा शब्द अथवा प्रतिचारणा शब्दों को सुनने का प्रसंग हो सकता है।

५६७. उपर्युक्त तीनों प्रकार के शब्दों के विषय में क्रमशः ये तीन प्रकार की अनुप्रेक्षाएं (यतनाएं) निर्दिष्ट हैं—

* आभूषण के शब्दों को सुनकर सोचे—आभूषण भार हैं।

* मधुर गीत आदि भाषा शब्दों को सुने, तब सोचे—यह विलाप मात्र (तुल्य) है।

* प्रतिचारणा शब्द सुनाई दे, तो सोचे—सारे काम-भोग दुःखों के हेतु हैं।

५६८. सजीव स्त्री-पुरुष के अथवा अचित्त-चित्रों आदि में स्त्री-पुरुषों के आलिंगन, अवत्रासन (अवगूहन), चुम्बन, प्रतिचारणा अथवा इसी प्रकार की अन्य क्रियाओं को देखने से भी मोह उत्पन्न हो सकता है।

५६९. गृहस्थकाल में स्त्री के साथ किये गए हास-परिहास, दर्प,^१ रति, क्रीड़ा, सहभोजन (साथ में खाना) और सह आसन (साथ बैठना, सोना) आदि क्रियाओं को याद करने से भी किसी के मोह की उत्पत्ति हो सकती है।

५७०. कामोत्तेजक दृश्यों से अपनी दृष्टि को हटा ले—यह दर्शन विषयक यतना है। पूर्वभागों की स्मृति से होने वाले मोहोदय से बचने हेतु अपने आपको वैराग्य भावना से भावित करे—यह अनिमित्तक (सहेतुक) मोहोदय के विषय में यतना बतलाई गई है। अनिमित्तक (अकारण/बाह्य कारण के बिना) मोहोदय के विषय में यतना यह (गा. ५७४ में) है।

५७१. बाह्य शब्द आदि निमित्तों के बिना भी भूखे, प्यासे, स्वभावतः दुर्बल अथवा रोग से कृशकाय व्यक्ति के जो मोह का उदय होता है, वह अनिमित्तक (कर्मोदय से होने वाला) मोह है।

५७२. प्रणीत आहार को खाने से होने वाला मोहोद्भव आहारप्रत्ययिक (आहारहेतुक) मोह है। प्रणीत आहार वाजीकर—स्तब्धता (जड़ता) पैदा करने वाला तथा दर्पकारक होता है।^२ कल्याण (चक्रवर्ती का भोजन) को खाने वाले पुरोहित ने उद्यान में अब्रह्म का सेवन किया—यह इसका उदाहरण है।^३

५७३. मांस का उपचय होने से मेद (वसा) बढ़ती है। मेद से क्रमशः अस्थि, मज्जा और शुक्र बनता है। शुक्र का उपचय मोह के उदय का हेतु बनता है—यह शरीर के उपचय से होने वाला मोहोदय है।

१. निभा २, चू. पू. २०—णिद्धगादि भारियाए परिहासेण बला थणोरुघट्टणं दप्पो।

२. प्रणीत आहार से धातुओं का उपचय होता है। शुक्र का प्रचुर उपचय होने पर वायु प्रकुपित होता है और उससे प्रजननेन्द्रिय स्तब्ध हो जाती है।

३. विस्तार हेतु द्रष्टव्य परिशिष्ट २, कथा सं. २७।

५७४. निव्विगति^१ निव्वलोमे, तह उद्धट्टाणमेव उब्भामे ।
वेयावच्चा हिंडण, मंडलि कप्पट्टियाहरणं ॥ ५७४ ॥
५७५. एवं तु पयतमाणस्स, उवसमो होति कस्सइ^२ ण होति ।
जस्स पुण सो ण जायति, तत्थ इमो^३ होति दिट्ठंतो ॥ ५७५ ॥
५७६. 'तिक्खम्मि उदगवेगे, विसमम्मि^४ व विज्जलम्मि वच्चंतो^५ ।
कुणमाणो वि पयत्तं, अवसो जह पावती^६ पडणं ॥ ५७६ ॥
५७७. तह समणसुविहिताणं, सव्वपयत्तेण वी जयंताणं ।
कम्मोदयपच्चइया, विराधणा कस्सइ^७ हवेज्जा^८ ॥ ५७७ ॥
५७८. पढमाएँ पोरिसीए, बितिया 'ततिया तहा^९ चउत्थीए^{१०} ।
मूलं छेदो छम्मासमेव चत्तारि जा^{११} गुरुगा^{१२} ॥ ५७८ ॥ नि १०८ ॥
५७९. निसि पढमपोरिसुब्भव, अदढधित्ती सेवणे भवे मूलं ।
पोरिसि-पोरिसिसहणे, एक्केक्कं ठाणगं हसति^{१३} ॥ ५७९ ॥
५८०. बितियम्मी^{१४} दिवसम्मिं, पडिसेवंतस्स मासिगं गुरुगं ।
छट्टे पच्चक्खाणं, सत्तमगे होति तेगिच्छं ॥ ५८० ॥ नि १०९ ॥
५८१. 'पडिलाभणऽट्टमम्मी^{१५}, नवमे सट्ठी उवस्सए फासे ।
दसमम्मि पिता पुत्ता, एक्कारसमम्मि आयरिया ॥ ५८१ ॥ नि ११० ॥
५८२. छट्टो य सत्तमो वा^{१६}, अहसुद्धा तेसि^{१७} मासिगं लहुगं ।
'उवरिल्ले जं भणंति, वुड्डस्स^{१८} वि मासिगं गुरुगं ॥ ५८२ ॥

१. निव्विगति (क) ।

२. कस्सति (दे, भ) ।

३. तिमो (दे) ।

४. वडपादव उम्मूलण तिक्खम्मि (बृभा ४९२९) ।

५. वच्चंती (क) ।

६. पावए (व्यभा २२३) ।

७. कासति (बृभा ४९३०), कस्सति (दे) ।

८. व्यभा २२४ ।

९. ततियाएँ तह (बृभा ४९३१) ।

१०. °थीतो (दे) ।

११. या (भ, बृभा) ।

१२. इस गाथा के लिए बृहत्कल्पभाष्य के टीकाकार ने 'निर्युक्ति गाथा' का संकेत किया है ।

१३. हुसती (भ), बृभा ४९३२ ।

१४. °यम्मिं (दे), °यम्मि वि (बृभा ४९३३) ।

१५. °ट्टमम्मिं (दे, बृभा ४९३४) ।

१६. या (मु, भ, बृभा) ।

१७. तेसु (दे, भ, मु) ।

१८. उवरिल्ल जं भणंती थेरस्स (बृभा ४९३५),

°जं भणियं (दे), °ल्ल जं भणंती (भ) ।

५७४. मोह का उदय होने पर मुनि निर्विकृतिक (विगय रहित) आहार करे। यदि फिर भी मोह उपशान्त न हो तो णिव्वल—चपाती, चने आदि रुक्ष आहार करे। फिर भी मोह उपशान्त न हो तो अवमौदरिका करे, उपवास, बेला आदि तपस्या करे। तपस्या से भी मोह उपशान्त न हो तो खड़ा-खड़ा कायोत्सर्ग करे, उद्भ्रामक^१ भिक्षाचर्या के लिए जाए, साधुओं का वैयावृत्य—सेवा करे, देशाटन करने वालों का सहयोग करे—उपायों का यह क्रम अगीतार्थ मुनि के लिए है। गीतार्थमुनि को सूत्रार्थ मंडली—सूत्र और अर्थ की वाचना देने के लिए साधु दिए जाएं। सूत्र और अर्थ में निरन्तर व्यावृत रहने पर मोह का उपशमन कैसे होता है—इसे जानने के लिए किसान की पुत्री का उदाहरण द्रष्टव्य है।^२

५७५. इस प्रकार प्रयत्न करने पर भी किसी के मोह का उपशमन हो जाता है और किसी के नहीं भी होता। जिसका मोह उपशान्त नहीं होता, उसके लिए दृष्टान्त यह है—

५७६, ५७७. जिस प्रकार तीव्र जल-प्रवाह में प्रयत्न करने पर भी व्यक्ति बह जाता है, निम्नोन्नत (विषम) मार्ग में और कीचड़ में प्रयत्नपूर्वक चलता हुआ भी पतन को प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार सारे प्रयत्नों (निर्विकृतिक, वाचना आदि) से यतना करने वाले सुविहित साधुओं के भी कर्म के उदय से किसी के चारित्रविराधना हो सकती है।

५७८. प्रथम प्रहर में हस्तमैथुन का सेवन करने पर मूल, द्वितीय प्रहर में छेद तथा तृतीय और चतुर्थ प्रहर में हस्तमैथुन सेवन करने वाले को क्रमशः षड्गुरु और चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

५७९. रात्रि के प्रथम प्रहर में मोह का उद्भव हुआ और मुनि अदृढ़ धृति होकर हस्तमैथुन का सेवन कर ले तो उसे मूल प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। प्रथम प्रहर में सहन करे और दूसरे प्रहर में सेवन करे तो छेद प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। इस प्रकार एक-एक प्रहर सहन करने पर एक-एक स्थान का ह्रास होता है अर्थात् कम (न्यूनतर) प्रायश्चित्त स्थान प्राप्त होता है।

५८०. द्वितीय दिन प्रथम प्रहर में हस्तमैथुन सेवन करने वाले को गुरुमास प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। छठे स्थान में उसे भक्तप्रत्याख्यान और सातवें स्थान में मोहचिकित्सा का उपदेश दिया जाता है।^३

५८१. आठवां स्थान है—श्राविका से दान दिलवाना। नवमा स्थान है—उपाश्रय में श्राविका का स्पर्श। दसवां स्थान है—पिता और पुत्र का ज्ञातिजनों के ग्राम में गमन और ग्यारहवां स्थान है आचार्य को निवेदन।^४

५८२. छठा और सातवां स्थान शुद्ध (निर्दोष) है। यदि गुरु के निर्देश के बिना उनका प्रयोग किया जाए तो उसको भी मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। अर्थात् स्वेच्छा से भक्तप्रत्याख्यान अथवा चिकित्सा का उपदेश देने वाले को मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। ऊपर अर्थात् बाद के तीनों उपदेश सदोष हैं अतः उनका कथन करने वाले को मासगुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। वृद्ध पिता भी यदि पुत्र को अविधि मोहचिकित्सा हेतु ज्ञातिजनों के गांव में ले जाए तो मासगुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१. उद्भ्रामक भिक्षाचर्या—गांव से दूर उपनगरों में की जाने वाली भिक्षाचर्या।

२. विस्तार हेतु द्रष्टव्य परिशिष्ट २, कथा सं. २८।

३. व्याख्या हेतु द्रष्टव्य गा. ५८३।

४. व्याख्या हेतु द्रष्टव्य गा. ५८४, ५८५।

५८३. संघाडमादिकधणे^१, जं कत तं 'कत इदाणि'^२ पच्चक्खं^३ ।
अविसुद्धो दुद्वणो, न सुज्ज^४ किरिया सें कातव्वा ॥ ५८३ ॥
५८४. पडिलाभणा तु सङ्गी, कर-सीसे वंद ऊरु दोच्चंगे ।
सूलादिरुयोमज्जण^५, ओकड्डण^६ सड्ढिमाणेमो ॥ ५८४ ॥
५८५. सण्णातपल्लि 'णेहि ण'^७, मेहुणि^८ खुडुंत निग्गमोवसमो ।
अविधितिगिच्छा एसा, आयरिकहणे^९ विधिक्कारे ॥ ५८५ ॥
५८६. सारूवि^{१०}- 'साग-गिहिगे'^{११}, परतित्थि नपुंसगे य सूयणया^{१२} ।
चतुरो य होंति लहुगा, पच्छाकम्ममि ते चेव ॥ ५८६ ॥
५८७. एसेव कमो नियमा, इत्थीसु वि होति आणुपुव्वीए ।
चतुरो य 'होंति गुरुगा'^{१३}, पच्छाकम्ममि ते लहुगा ॥ ५८७ ॥
५८८. अणुमोदण कारावण, दुविधा सातिज्जणा समासेणं ।
अणुमोदणे तु लहुगो, कारावण गुरुतरो दोसो ॥ ५८८ ॥
५८९. कारावणमभियोगो, परस्स इच्छस्स वा अणिच्छस्स ।
काउं सयं परिणतो, अणिवारण अणुमती होति ॥ ५८९ ॥
५९०. एसेव कमो नियमा, निग्गंथीणं पि होति णातव्वो^{१४} ।
पुव्वे अवरे य पदे, जो य विसेसो स विण्णेयो ॥ ५९० ॥

१. °कहणा (दे) ।

२. कतमिदाणि (भ, मु) ।

३. °क्खा (बृभा, दे) ।

४. समति (बृभा, ४९३६), सुज्जते (दे) ।

५. मूलादि उम्मज्जण (मु) ।

६. ओअट्टण (बृभा ४९३७) ।

७. णेहिं (बृभा ४९३८) ।

८. मेहुणिया—माउलदुहिया (चू) ।

९. आयरिक° (भ), छंद के कारण 'आयरिय' के स्थान पर 'आयरि' पाठ हुआ है ।

१०. सारूविगो—सिद्धपुत्तो (चू) ।

११. गिहत्थ (मिच्छे) (बृभा ४९३९), सावग° (दे, मु) ।

१२. सुय° (दे, भ), सुयणे य (मु) ।

१३. अणुग्घाया (बृभा ४९४०) ।

१४. कायव्वो (भ, मु) ।

५८३. कोई (प्रतिसेवी) मुनि अपने संघाटक के साधु अथवा अन्य किसी साधु से कहता है कि मैंने हस्तमैथुन किया। प्रत्युत्तर में वह साधु कहता है जो किया वह कर लिया, अब भक्तप्रत्याख्यान कर लो। (व्रतभंग करने के बाद जीवन से क्या लाभ?) यह छठा स्थान (विकल्प) है। प्रतिसेवी मुनि को अन्य मुनि कहता है—जैसे खराब फोड़ा चिकित्सा के बिना ठीक नहीं होता, उसी प्रकार तुम्हें भी अपनी अशुद्धि (व्रतविराधना) को दूर करने के लिए निर्विकृतिक आदि चिकित्सा करनी चाहिए। यह सातवां स्थान है।
५८४. पूर्वोक्त विधि से कहने पर किसी श्राविका से दान दिलाया जाता है। उस समय हाथ का, वन्दना के द्वारा सिर का अथवा शाक आदि^१ बहराते (देते) हुए गिरने पर ऊरु आदि का स्पर्श होता है। इस प्रकार स्त्री-स्पर्श से बीजनिर्गम आठवां स्थान है। नवमे स्थान में शूल, फोड़ा आदि किसी उत्कट रोग का बहाना कर मुनि श्राविका को उपाश्रय में बुलाता है अथवा स्वयं उसके घर जाता है और फोड़े के उन्मार्जन (सफाई) अथवा अवकर्षण (दबाने) के बहाने उसका गाढ़ स्पर्श होता है। उससे बीजनिर्गम होता है।
५८५. दसवां विकल्प—पूर्वोक्त प्रकार से कहने पर वृद्ध मुनि (पिता) को कहा जाता है कि इस (प्रतिसेवी) मुनि को ज्ञातिजनों के गांव में ले जाओ। वहां मेहुणि—मामा की लड़की आदि के साथ क्रीड़ा करने से हाथ का स्पर्श होगा और बीजनिर्गम होने से मोह उपशान्त हो जाएगा। यह अविधि-चिकित्सा है। ग्यारहवां विकल्प—उस मुनि को कहा जाता है कि तुम आचार्य के समक्ष अपनी स्थिति निवेदन करो, वे जैसे कहें, करना। यह मोह की विधिचिकित्सा है, निर्दोष है।
५८६. अथवा कोई नपुंसक सारूपिक अर्थात् सिद्धपुत्र हो, उससे हस्तकर्म करवाए। दूसरा नपुंसक श्रावक को, तीसरा नपुंसक मिथ्यादृष्टि गृहस्थ और चौथा परतीर्थिक नपुंसक को हस्तकर्म की प्रेरणा^२ करे (उनसे हस्तकर्म करवाए) इन चारों विकल्पों में चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। यदि वे हस्तकर्म करने के बाद पश्चात्कर्म करते हैं—पानी से हाथ धोते हैं तो पुनः चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।
५८७. स्त्री से हस्तकर्म करवाने के विषय में भी क्रमशः यही क्रम ज्ञातव्य है। ऐसा करने वाले के लिए चतुर्गुरु प्रायश्चित्त का विधान है। पश्चात्कर्म दोष के लिए पुनः वही चतुर्लघु प्रायश्चित्त विहित है।
५८८. सातिज्जणा^३ संक्षेप में दो प्रकार की होती है—१. अनुमोदन करना और २. करवाना। अनुमोदन करने में लघुतर दोष होता है और करवाने में गुरुतर दोष होता है।
५८९. दूसरे की इच्छापूर्वक अथवा अनिच्छा से उसको बलाभियोग से हस्तकर्म आदि कार्य करवाना कारापण (करवाना) है। स्वयं करने के लिए प्रेरित व्यक्ति को नहीं रोकना (निषेध न करना) अनुमति है।
५९०. जो क्रम निर्ग्रन्थ के लिए निरूपित है, पूर्व (उत्सर्ग) और अपर (अपवाद) पद के विषय में वही क्रम निर्ग्रन्थियों के लिए भी निर्दिष्ट है, इनमें जो विशेष है, वह ज्ञातव्य है।

१. दोचंग—पकाया हुआ शाक।

२. बृ.भा. गा. ४९३९ वृत्ति—सूयणय त्ति हस्तकर्मकरणे सूचनां प्रेरणां कुर्वाणा नां।

३. सातिज्जणा का अर्थ है—कर्मबंध का आस्वाद लेना। ऐसा कार्य करना, जिससे कर्मबंध हो।

५९१. दोणहं पि गुरू मासो, तवकालविसेसितस्स^१ वा लहुगो^२ ।
अंगुलि-पाद-सलागादिओ, विसेसोऽत्थि^३ पुरिसा य ॥५९१ ॥
५९२. अंगाण^४ उवंगाणं, अंगोवंगाण एयमादाणं ।
एतेणंगादाणं, अणातणं^५ वा भवे बितियं ॥५९२ ॥ नि १११ ॥
५९३. सीसं उरो य उदरं, पट्टी बाहा य दोण्णि ऊरुओ य ।
'एते अट्टंगा खलु, अंगुवंगाणि सेसाणि^६ ॥५९३ ॥
५९४. होंति उवंगा कण्णा, णासऽच्छी जंघ-हत्थ-पादा य ।
नह-केस-मंसु-अंगुलि, तलोवतल अंगुवंगा तु^७ ॥५९४ ॥
५९५. संचालणा तु तस्सा, सणिमित्तऽनिमित्त एतरा वावि ।
आत-पर-तदुभए वा, अणंतर परंपरे चेव ॥५९५ ॥ नि ११२ ॥
५९६. उट्टं निवेसुल्लंघण, उव्वत्तण गमणमादिए इतरा^८ ।
न य घट्टण वोसिरितुं, चिट्ठति ता णिप्पगल जाव ॥५९६ ॥
५९७. संबाहणमभंगण, उव्वट्टण धोव्वणे य एस कमो ।
णातव्वो नियमा तू निच्छल्लण^९ जिंघणाए य ॥५९७ ॥ नि ११३ ॥
५९८. सीहाऽऽसीविस अग्गी, भल्ली^{१०} वग्घे य अयगर नरिंदे ।
सत्तसु वि पदेसेते, आहरणा होंति नातव्वा ॥५९८ ॥ नि ११४ ॥
५९९. बितियपदमणप्पज्जे^{११}, अपदंसे^{१२} मुत्तसक्कर-पमेहे ।
सत्तसु वि पदेसेते, बितियपदा होंति नातव्वा ॥५९९ ॥
६००. एसेव कमो नियमा, संचालणवज्जितो उ अज्जाणं^{१३} ।
संबाहणमादीसुं, उवरिल्लेसुं छसु पदेसुं ॥६०० ॥

१. विसेसिओ (दे) ।

२. लहुतो (दे) ।

३. सोऽत्थि (मु, क) ।

४. सूत्र २ (नव १/२) ।

५. अणायतणं (चू) ।

६. एते अट्टंगाणि, सेसाणि होंति अंगुवंगाणि (दे),

उनि १५३, १८२/१ ।

७. तु. उनि १५४, १८२/२ ।

८. सूत्र ३-८ (नव १/३-८) ।

९. सितरा (भ) ।

१०. णिच्छल्ले त्ति त्वचं अवणेति (चू) ।

११. भिल्ली (भ) ।

१२. अणप्पज्जे अनात्मवशः ग्रहगृहीत इत्यर्थः (चू) ।

१३. अपदेसे (दे), अपदंसो— पित्तारुअं (चू) ।

१४. वज्जाणं (भ) ।

५९१. हस्तमैथुन करवाने और अनुमोदन करने में मासगुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। अथवा करवाने में मासलघु—तपसा गुरु और अनुमोदन में वही कालगुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। अन्तर इतना है कि संयती के प्रसंग में हस्तकर्म के साधन ये हैं—अंगुली, पैर (एडी) पर कुछ बांधकर अथवा शलाका आदि। जहां निर्ग्रन्थ के विषय में स्त्री शब्द प्रयुक्त है, वहां निर्ग्रन्थी के विषय में पुरुष शब्द प्रयोक्तव्य है।

५९२. जो अंग, उपांग और अंगोपांग का आदान अर्थात् कारण है, वह अंगादान कहलाता है। इसका दूसरा नाम अनायतन भी है।

५९३. सिर, उर (स्तन प्रदेश), उदर, पीठ, दो भुजाएं और दो ऊरु—ये आठ अंग हैं। शेष अवयव उपांग और अंगोपांग हैं।

५९४. कान, नाक, आंख, जंघा, हाथ और पैर—ये उपांग हैं। नख, केश, श्मश्रु, अंगुली, हस्ततल (हथेली) और उपतल (हथेली के पार्श्व का उन्नत भाग)—ये अंगोपांग हैं।

५९५. अंगादान का संचालन तीन प्रकार से हो सकता है—१. सनिमित्तक (मोहोदय के बाह्य निमित्तों के कारण), २. अनिमित्तक (मोहोदय के आन्तरिक निमित्तों के कारण)^१ और ३. इतर (सहज)^२। इस संचालन के पुनः तीन प्रकार होते हैं—१. स्वयं के द्वारा, २. दूसरे के द्वारा और ३. दोनों (स्व-पर) के द्वारा। पुनः अनन्तर और परम्पर के भेद से वह दो प्रकार का होता है।

५९६. उठने, बैठने, लांघने, करवट बदलने, गमन करने तथा प्रतिलेखन आदि क्रियाओं में अंगादान का संचालन होता है, वह इतर (सहज) संचालन है। मुनि मूत्र विसर्जन करते समय अंगादान का संचालन नहीं करता है। वह तब तक ठहरता (रुकता) है, जब तक सहज निष्प्रगलन न हो जाए।

५९७. जो क्रम संचालना सूत्र में प्रज्ञप्त है, वही नियमतः संबाधन (मर्दन करना), अभ्यंगन (मालिश करना), उद्वर्तन (उबटन करना), धावन (धोना), निश्छलन (अग्रभाग की त्वचा हटाना) और घ्राण (सूंघना) सूत्रों के विषय में ज्ञातव्य है।

५९८. इन सात पदों (संचालन आदि) में ये सात उदाहरण ज्ञातव्य हैं—१. सिंह (सोए सिंह) को जगाना, २. आशीविष सर्प को जगाना, ३. अग्नि का सिंचन (घी आदि से), ४. भाले को तेज करना, ५. बाघ को स्वस्थ करना, ६. अजगर का मुंह खोलना और ७. राजा (अम्बष्ठी रोग से ग्रस्त राजा का आम सूंघना)।^३

५९९. कोई मुनि अनात्मवश—ग्रह दोष आदि के कारण परवश हो, अपदंश, मूत्र मार्ग में पथरी अथवा प्रमेह रोग^४ से ग्रस्त हो, वह अंगादान का संचालन, मर्दन आदि करता है—यह उपर्युक्त सात पदों का अपवाद है—ऐसा ज्ञातव्य है।

६००. संचालन को छोड़कर संबाधन आदि उपर्युक्त छह पदों के विषय में यही गम (विधि) निर्ग्रन्थियों के सम्बन्ध में ज्ञातव्य है।

१. द्रष्टव्य गा. ५१६।

२. द्रष्टव्य गा. ५९६।

३. विस्तार हेतु द्रष्टव्य परिशिष्ट २, कथा सं. २९।

४. निभा २ चू. पृ. २९—अपदंसो पित्तारुअं, मुत्तसक्करा पाषाणकः, पमेहो रोगो सततं कायियं ज्झरंतं अच्छति।

६०१. अच्चित्तसोत^१ तं पुण, देहे पडिमाजुतेतरं चेव ।
दुविधं तिविधमणेगे, एक्केक्कं तं पुणो कमसो^२ ॥६०१॥ नि ११५ ॥
६०२. तिरिय-मणुस्सिस्तीणं, जे खलु देहा हवंति जीवजढा ।
अपरिग्गहेतरा वि य, तं देहजुतं^३ तु नातव्वं ॥६०२॥ नि ११६ ॥
६०३. तिरिय-मणुय-देवीणं, जाओ पडिमा अओ असन्निहितो ।
अपरिग्गहेतरा वि य, तं पडिमजुतं तु^४ नातव्वं ॥६०३॥ नि ११७ ॥
६०४. जुम^५-छिड्डु-णालिगा^६ करग^७ 'गीव एमादि'^८ सोयगं जं तु ।
देहच्चा^९ विवरीतं, तु एतरं तं मुणेतव्वं ॥६०४॥ नि ११८ ॥
६०५. मासगुरुगादि छल्लहु, जहण्णगे मज्झिमे य उक्कोसे ।
'अपरिग्गह अच्चित्ते'^{१०}, अदिट्ठे^{११} दिट्ठे य देहजुते ॥६०५॥
६०६. चउलहुगादी मूलं, जहण्णगादिम्मि होति अच्चित्ते ।
'तिविधे वि'^{१२} परिग्गहिते, अदिट्ठे दिट्ठे य देहजुते ॥६०६॥
६०७. पडिमाजुते वि एवं, अपरिग्गह^{१३} एतरे असण्णिहिते ।
अच्चित्तसोयसुत्ते, एसा भणिता भवे सोधी ॥६०७॥
६०८. एतेसामण्णतरं, तु सोतए^{१४} जो उदिण्णमोहो उ ।
सणिमित्तऽणिमित्तं वा, कुज्जा निग्घातणादीणि ॥६०८॥ नि ११९ ॥
६०९. रागग्गि संजमिंधण, दाहो^{१५} अह संजमे विराधणया ।
सुक्कक्खए य मरणं, अकिच्चकारि त्ति उब्बंधे^{१६} ॥६०९॥

१. सूत्र ९ (नव १/९) ।

२. चूर्णिकार ने इस गाथा के प्रारम्भ में 'इदाणि णिज्जुत्ती'
का उल्लेख किया है ।

३. पडिमजुतं (दे) ।

४. ति (भ) ।

५. जुव (भ) ।

६. णालिया — वंस-णलगादीणं छिड्डुं (चू) ।

७. करगो — पाणियभंडयं (चू) ।

८. गीवेमा (भ) ।

९. अच्चयंति तामिति अच्चा — प्रतिमा (चू) ।

१०. अपरिग्गहितऽच्चित्ते (भ, मु) ।

११. अदिट्ठे (भ) ।

१२. तिविहेहिं (भ, मु) ।

१३. ंग्गहि (मु) ।

१४. सोतते (दे) ।

१५. डाहो (भ) ।

१६. उब्बंधे (भ) ।

६०१. अचित्त स्रोत अर्थात् छिद्र तीन प्रकार का होता है—१. देहयुक्त, २. प्रतिमायुक्त और ३. इतर (इन दोनों से भिन्न)। पुनः इनके प्रत्येक के क्रमशः दो, तीन और अनेक भेद होते हैं।

६०२. तिर्यच स्त्री और मनुष्यस्त्री के जो जीवत्यक्त (निर्जीव) शरीर होते हैं, उनके दो-दो भेद हैं—अपरिगृहीत और सपरिगृहीत। ये ही दो भेद सचेतन शरीर के भी होते हैं। देहयुक्त के ये दो भेद होते हैं।

६०३. तिर्यच, मनुष्य और देवी की जो प्रतिमाएं होती हैं, उनके दो प्रकार हैं—१. सन्निहित (देवाधिष्ठित) और २. असन्निहित। पुनः उनके दो-दो प्रकार होते हैं—१. अपरिगृहीत और २. सपरिगृहीत। उनके स्रोत प्रतिमायुक्त स्रोत हैं—ऐसा जानना चाहिए।

६०४. युग (जूवा) का छिद्र, बांस की नलिका, करक (झारी) की ग्रीवा इत्यादि जो देह और अर्चा (प्रतिमा) से विपरीत (भिन्न) हैं, वे इतर स्रोत के रूप में ज्ञातव्य हैं।

६०५. जो मुनि अपरिगृहीत देहयुक्त छिद्र में अंगादान को प्रविष्ट कर शुक्र पुद्गलों को निकालता है, उसे जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट के अदृष्ट और दृष्ट के भेद से मासगुरु से लेकर षड्लघु तक प्रायश्चित्त प्राप्त होता है—जघन्य अदृष्ट में मासगुरु और दृष्ट में चतुर्लघु, मध्यम अदृष्ट में चतुर्लघु और दृष्ट में चतुर्गुरु तथा उत्कृष्ट में क्रमशः चतुर्गुरु और षड्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

६०६. जो मुनि प्राजापत्य (लोक) परिगृहीत देहयुक्त छिद्र में अंगादान को प्रविष्ट कर शुक्रपुद्गलों को निकालता है, उसे जघन्यतः अदृष्ट में चतुर्लघु और दृष्ट अवस्था में चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। कौटुम्बिक (कृषक) परिगृहीत के प्रसंग में जघन्यतः अदृष्ट में चतुर्गुरु और दृष्ट में षड्लघु और दंडिक परिगृहीत में उन्हीं स्थानों में क्रमशः षड्लघु और षड्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। इसी क्रम से मध्यम में चतुर्गुरु से प्रारम्भ कर छेद तक तथा उत्कृष्ट में षड्लघु से प्रारम्भ कर मूल प्रायश्चित्त तक प्राप्त होता है।

६०७. प्रतिमायुक्त छिद्र के विषय में भी प्रायश्चित्त वक्तव्यता का क्रम इसी प्रकार है अर्थात् जो प्रायश्चित्त देहयुक्त अपरिगृहीत के विषय में निरूपित है, वह प्रतिमायुक्त के क्रम में असन्निहित अपरिगृहीत के लिए तथा जो सपरिगृहीत के विषय में निरूपित है, वह असन्निहित सपरिगृहीत के लिए वक्तव्य है। युगछिद्र आदि इतरस्रोत में पुद्गल निकालने का प्रायश्चित्त मासगुरु है—यह अचित्तस्रोत सूत्र में विशोधि (प्रायश्चित्त) का कथन किया गया है।

६०८. मोहनीय कर्म का सन्निमित्तक अथवा अनिमित्तक उदय होने पर जो मुनि इनमें से किसी अचित्त स्रोत (छिद्र) में शुक्र पुद्गलों का निर्घातन (निष्कासन) करता है, वह आज्ञाभंग, विराधना आदि दोषों को प्राप्त होता है।

६०९. राग रूपी अग्नि में संयम रूपी ईंधन का दहन हो जाता है—यह संयम विराधना है। बार-बार शुक्रपुद्गलों का निर्घातन करने से शुक्रक्षय हो जाता है, फलतः मृत्यु हो जाती है। अथवा शुक्रपुद्गलों के निर्घातन के बाद वह सोचता है—हा! मैंने अकृत्य किया और आत्मग्लानि से वह स्वयं को फांसी पर लटका देता है^१—यह आत्मविराधना है।

१. निभा २ चू. पृ. २१—उब्बंधेति उल्लंभेति त्ति वुत्तं भवति।

६१०. बितियपदं तेगिच्छं, णिव्वीतियमादियं अतिककंते।
अट्टाण-सद्दहत्थं, पच्छा^१ अच्चित्त जतणाए ॥ ६१० ॥
६११. उवभुत्तभोगथेरेहि, सद्धि वेसादुवस्सए^२ ठाणं।
आलिंगणादि दट्टुं, बीयविवेगो 'जहिं होज्जा'^३ ॥ ६११ ॥
६१२. दूस पलासंतरिते, अपडिबद्धं^४ समिलछिद्दमादिसु^५ वा।
निसिमादि असागरिए, निंदण कहणा^६ य पच्छित्तं ॥ ६१२ ॥
६१३. एसेव कमो नियमा, निग्गंथीणं पि होति नातव्वो।
पुरिस-पडिमाओं तासिं, सवेंटगपलंबमादितरं^७ ॥ ६१३ ॥
६१४. जो^८ गंधो जीवजुते, दव्वम्मी^९ सो तु होति सच्चित्तो^{१०}।
संबद्धमसंबद्धा, य^{११} जिंघणा तस्स दुविधा तु ॥ ६१४^{१२} ॥ नि १२० ॥
६१५. जो तं संबद्धं वा, अधवाऽसंबद्ध जिंघती^{१३} भिक्खु।
सो आणाअणवत्थं, मिच्छत्तविराधणं पावे ॥ ६१५ ॥ नि १२१ ॥
६१६. णासा मुहनिस्सासं^{१४}, पुप्फजियवधो तदस्सिताणं च।
आयाए विसपुप्फं, तब्भावितऽमच्चदिट्ठंतो ॥ ६१६ ॥
६१७. बितियपदमणप्पज्झे, अप्पज्झे वा पजागरादीसु^{१५}।
वाधी^{१६} हवेज्ज कोई, वेज्जुवदेसा^{१७} ततो कप्पे ॥ ६१७ ॥

१. च पच्छा (भ, मु) ।

२. °स्सते (क) ।

३. जदि हवेज्जा (भ, मु) ।

४. °बद्धं (मु), अप्पडिबद्धं (भ) ।

५. °लछिडुं (मु) ।

६. कहणे (क) ।

७. सविंटगं (मु) ।

८. सूत्र १० (नव १/१०) ।

९. दव्वम्मिं (दे) ।

१०. जीवजुतं दव्वं सचेयणं, तम्मि जो गंधो सो

सचित्तपतिट्ठितो भण्णति (चू) ।

११. व (भ, मु) ।

१२. मुद्रित भाष्य में गलती से ६१४ के स्थान पर ५१४ का क्रमांक लगा हुआ है ।

१३. जिंघते (भ, मु) ।

१४. °णिस्सासा (दे, भ, मु) ।

१५. पयागरां (मु) ।

१६. वाही (क) ।

१७. वेज्जुवदेसो (क) ।

६१०. कदाचित् किसी मुनि के सघन मोह का उदय हो गया। निर्विकृतिक आदि मोहचिकित्सा के उपायों से भी उपशान्त नहीं हुआ तो निर्दोष उपायों की अतिक्रान्ति (समाप्ति) के पश्चात् इन सदोष उपायों का प्रयोग होता है—अट्टाणं—वेश्यास्त्रियों को उपाश्रय में रखना^१, शब्दप्रतिबद्ध शय्या में प्रवास, हस्तमैथुन और इन उपायों के पश्चात् यतनापूर्वक अचित छिद्र (स्रोत) में पुद्गल निर्घातन।^२

६११. उक्त मुनि को उपभुक्त भोगी (जिन्होंने गृहस्थ अवस्था में भोगों का आसेवन किया है) स्थविरों (जो कुतूहलरहित, निर्विकार और गीतार्थ हों) के साथ उपाश्रय में रखा जाता है और वहां वेश्याओं तथा अन्य ऐसी ही महिलाओं को ले जाया जाता है। वहां उनके आलिंगन, उपगूहन, चुंबन आदि को देखने से यदि बीजनिसर्ग हो जाए तो ठीक। (अन्यथा उसे शब्दप्रतिबद्ध उपाश्रय में रखा जाता है। वहां प्रतिचरणा आदि के शब्दश्रवण से बीजनिसर्ग हो जाए तो अच्छा।)

६१२. यदि पूर्वोक्त उपायों से मोहोपशम न हो तो वह वस्त्र, पलाश (बड़ का कोमल पत्ता) से अन्तरित (व्यवहित) होकर हस्तमैथुन करता है, पर अप्रतिबद्ध अर्थात् निरन्तर नहीं करता। ऐसा करने पर भी मोह उपशान्त न हो तो रात्रि आदि में, गृहस्थशून्य (असागारिक) स्थान में जाकर समिल अर्थात् जूवे के छिद्र आदि में यतनापूर्वक शुक्र पुद्गलों को निकालता है। इस चिकित्सा विधि के पश्चात् वह अपनी निंदा करता है, गुरु के समक्ष निवेदन करता है तथा प्रायश्चित्त स्वीकार करता है।

६१३. निर्ग्रन्थियों के विषय में भी यही अपवादक्रम ज्ञातव्य है। केवल अन्तर इतना है कि वे अचित पुरुष शरीर अथवा पुरुष की प्रतिमा के स्तब्ध लिंग का प्रयोग करती हैं अथवा वृन्त सहित प्रलंब (घीया आदि फलों) का प्रयोग करती हैं।

६१४. जीवयुक्त (सचेतन) द्रव्य में होने वाली गन्ध सचित्त गन्ध कहलाती है, जैसे पुष्प की गन्ध। उसको सूंघने के दो प्रकार हैं—१. संबद्ध (नासाग्र से स्पर्श करके) और २. असंबद्ध (नासाग्र से दूर रखकर बिना स्पर्श किए)।

६१५. जो भिक्षु संबद्ध अथवा असंबद्ध विधि से पदार्थ की गन्ध को सूंघता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व और विराधना—इन दोषों को प्राप्त करता है।

६१६. पुष्प को सूंघते समय निःश्वास से नासाग्र से जो वायु निकलती है, उससे पुष्प के जीवों की तथा तदाश्रित प्राणियों (फूल में रहने वाले जन्तुओं) की विराधना होती है। आयाए अर्थात् आत्मविराधना में अमात्य चाणक्य का दृष्टान्त ज्ञातव्य है।^३ उसी प्रकार विषपुष्प अथवा विषभावित पुष्प को सूंघने से मृत्यु हो सकती है।

६१७. कोई मुनि अज्ञानता अथवा परवशता में फूल सूंघ लेता है। अथवा कभी रात्रि जागरण करना हो, तब ऐसा फूल सूंघा जाता है, जिससे नींद न आए। अथवा अनिद्रा की व्याधि में निद्रालाभ के लिए और अन्य किसी बीमारी में वैद्य के उपदेश (निर्देश) से फूल सूंघना—अपवादपद में विधि—सम्मत है।

१. विस्तार हेतु द्रष्टव्य गा. ६११ व उसकी चूर्णि।

२. विस्तार हेतु द्रष्टव्य गा. ६१२ व उसकी चूर्णि।

३. विस्तार हेतु द्रष्टव्य परिशिष्ट २, कथा सं. ३०।

६१८. अच्चित्तमसंबद्धं, पुव्वं^१ जिंघे ततो य संबद्धं ।
सच्चित्तमसंबद्धं^२, सच्चित्तं चेव संबद्धं ॥ ६१८ ॥
६१९. पदमग्गसंकमालंबणे^३ य, वसधी संबद्धमेतरा चेव ।
विसमे^४ कद्दम उदए, हरिते^५ तसपाणजातिसु वा^६ ॥ ६१९ ॥ नि १२२ ॥
६२०. पदमग्गे^७ सोवाणा, ते तज्जाता व होज्ज इतरे वा ।
तज्जाता पुढवीए, इट्टगमादी अतज्जाता ॥ ६२० ॥ नि १२३ ॥
६२१. दुविधो य संकमो खलु, अणंतरपतिट्टितो य वेहासे ।
दव्वे एगमणेगो, चलाचलो चेव नातव्वो ॥ ६२१ ॥ नि १२४ ॥
६२२. आलंबणं^८ तु दुविधं, भूमीए^९ संकमे य^{१०} णातव्वं ।
दुहतो व एगतो वावि^{११} वेदिया सा तु णातव्व्वा ॥ ६२२ ॥ नि १२५ ॥
६२३. एतेसामण्णतरं^{१२}, पदमग्गं जो तु कारए भिक्खू ।
गिहि-अण्णतित्थिणेण व, सो पावति आणमादीणि ॥ ६२३ ॥ नि १२६ ॥
६२४. खणमाणे कायवधो, अच्चित्ते वि य वणस्सति-तसाणं ।
खणणेण^{१३} तच्छणेण व^{१४}, अहि-ददुरमादिया घाए ॥ ६२४ ॥
६२५. वसही दुल्लभयाए, वाघातजुताय अधव सुलभाए ।
एतेहि कारणेहिं, कप्पति ताहे सयंकरणं ॥ ६२५ ॥
६२६. जित्तिंदियो घिणी^{१५} दक्खो, पुव्वं तक्कम्मभावितो ।
उवउत्तो जती कुज्जा, गीतत्थो वा असागरे^{१६} ॥ ६२६ ॥

१. पुव्वं (भ, मु) ।

२. अच्चित्तं (भ, मु) ।

३. सूत्र ११ (नव १/११) ।

४. हरिते (दे) ।

५. विसमे (दे) ।

६. इस गाथा के प्रारंभ में चूर्णिकार ने 'इदाणिं णिज्जुत्ती' का उल्लेख किया है ।

७. °मग्गो (भ, पा, मु) ।

८. अवलंबणं (चू) ।

९. भूमीते (क) ।

१०. तु (दे) ।

११. × (दे) ।

१२. एतेसाअण्णं (दे) ।

१३. खणणे य (दे) ।

१४. य (क) ।

१५. घिणी—जीवदयालू (चू) ।

१६. गाथा ६२६ और ६२७ में अनुष्टुप् छंद का प्रयोग हुआ है ।

६१८. द्वितीय पद में यदि गन्ध सूंघना हो तो सर्वप्रथम अचित्त गंध को असंबद्ध रूप से सूंघे। यदि उससे काम न चले तो संबद्ध अचित्त गंध का प्रयोग करे। इसी प्रकार सचित्त गन्ध में भी पहले असंबद्ध और बाद में संबद्ध का विकल्प ग्राह्य है।

६१९. पदमार्ग, संक्रम और आलम्बन—ये वसति से सम्बद्ध भी होते हैं और असंबद्ध भी।^१ असंबद्ध पदमार्ग आदि बनाने का हेतु है—विषम भूमि, कीचड़, जल, हरितकाय (काई आदि की उत्पत्ति) तथा मार्ग का त्रस जीवों से संसक्त हो जाना।

६२०. पदमार्ग का अर्थ है—सोपान (सीढियाँ)। वे दो प्रकार की होती हैं—१. तज्जात और २. अतज्जात। जो तज्जात होती हैं, वे भूमि को खोदकर बनाई जाती हैं। जो ईट, पाषाण आदि से बनाई जाती हैं, वे अतज्जात सोपान कहलाती हैं।

६२१. संक्रम (काष्ठ आदि से निर्मित पुल) दो प्रकार का होता है—१. अनन्तर प्रतिष्ठित^२ और २. आकाश प्रतिष्ठित।^३ द्रव्य की दृष्टि से वह दो प्रकार का होता है—१. एकांगिक (एक पाटिए से निर्मित) और २. अनेकांगिक (अनेक पाटियों वाला)। उनके भी पुनः दो-दो प्रकार ज्ञातव्य हैं—१. चल और २. अचल (स्थिर)।

६२२. आलम्बन (रस्सी आदि का सहारा) दो प्रकार का होता है—१. भूमि पर अर्थात् विषम भूमि पर स्थिर रखने के लिए और २. संक्रम पर। वह दोनों तरफ भी होता है और एक तरफ भी। आलम्बन वेदिका (वरंडा) रूप भी होता है।

६२३. जो भिक्षु गृहस्थ अथवा अन्यतीर्थिक से पदमार्ग, संक्रम आदि में से किसी का निर्माण करवाता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

६२४. गृहस्थ अथवा अन्यतीर्थिक पदमार्ग आदि बनाने के लिए पृथ्वी का खनन करता है तो पृथ्वीकायिक आदि जीवों (जीवनिकायों) की विराधना होती है। यदि अचित्त पृथ्वी पर सोपान, संक्रम आदि बनाता है तो वनस्पतिकाय तथा तदाश्रित त्रसकायिक जीवों की विराधना होती है। पृथ्वी खोदने तथा काष्ठ आदि को छीलने में सांप, मेंढक आदि (उनमें रहने वाले प्राणियों) की घात भी हो सकती है।

६२५. वसति दुर्लभ हो अथवा सुलभ किन्तु व्याघात (द्रव्य प्रतिबद्ध, भावप्रतिबद्ध आदि बाधाओं) से युक्त हो तो पूर्वोक्त कारणों में (गा. ६१९ में निर्दिष्ट) भिक्षु को स्वयं सोपान आदि बनाना कल्पता है।

६२६. जिस मुनि को सोपान आदि का निर्माण करना हो, वह जितेन्द्रिय, घृणी (जीवों के प्रति दयालु), दक्ष (अन्यान्य क्रियाओं में निपुण) और पूर्व अर्थात् गृहस्थ अवस्था में तत्कर्मभावित (खाती आदि के कार्यों का जानकार) हो, गीतार्थ हो, वह उपयुक्त होकर सोपान, संक्रम आदि बनाए, जिससे जीवोपघात न हो। यदि तत्कर्मभावित मुनि न हो तो गीतार्थ वह कार्य करे और गीतार्थ भी न हो तो अनिवार्यता में अगीतार्थ भी पदमार्ग आदि का निर्माण करे। पर मुनि जब सोपान आदि बनाए, तब वहां गृहस्थ न हों।

१. वसति (उपाश्रय आदि) से संलग्न सोपान आदि सम्बद्ध तथा अस्थायी (उठाऊ) रूप में रखे जाने वाले सोपान असंबद्ध सोपान आदि कहलाते हैं।

२. अनन्तर प्रतिष्ठित—जो भूमि पर प्रतिष्ठित किया जाता है, बनाया जाता है।

३. जो खंभे आदि पर बनाया जाता है, वह आकाश प्रतिष्ठित कहलाता है।

६२७. कतकज्जे तु मा होज्जा, ततो जीवविराधणा।
मोत्तुं तज्जात सोवाणे^१, सेसे वि करणं करे ॥ ६२७ ॥
६२८. बितियपदमणिउणे वा, निउणे वा केणई भवे असहू।
वाघातो व^२ सहुस्सा, परकरणं कप्पती ताहे^३ ॥ ६२८ ॥
६२९. पच्छाकड साभिग्गह, निरभिग्गह भद्दगे व अस्सणी^४।
गिहि-अण्णतित्थिए वा, गिहि पुव्वं एतरे पच्छा ॥ ६२९ ॥
६३०. वासासू^५ दगवीणिय^६, वसधी संबद्ध एतरे चेव।
वसही^७ संबद्धा पुण, बहिया अंतोवरिं तिविधा^८ ॥ ६३० ॥ नि १२७ ॥
६३१. निच्चपरिगले बहिया, उम्मज्जणं^९ अंत वासउदए वा।
हम्मियतलमाले वा, पणालच्छिडुं व उवरिं तु ॥ ६३१ ॥ नि १२८ ॥
६३२. वसधी य असंबद्धा, उदगागमठाण कद्दमे चेव।
पढमा वसधिनिमित्तं, मग्गनिमित्तं दुवे इतरा ॥ ६३२ ॥ नि १२९ ॥
६३३. एतेसामण्णतरं, दगवीणिय^{१०} जो तु कारवे भिक्खू।
गिहि-अण्णतित्थिएण व, अयगोलसमेण आणादी ॥ ६३३ ॥ नि १३० ॥
६३४. दगवीणिय दगवाहो, दगपरिगालो य होंति एगद्धा।
विणयति^{११} जम्हा उदगं^{१२}, दगवीणिय वुच्चती^{१३} तम्हा^{१४} ॥ ६३४ ॥ नि १३१ ॥
६३५. आया^{१५} तु हत्थ-पादं, इंदियजातं व पच्छकम्मं वा।
फासुगमफासु देसे, सव्वसिणाणे य लहु-लहुगा ॥ ६३५ ॥

१. सोमाणे (भ)।

२. य (दे)।

३. ताधे (क)।

४. अस्सणी (भ, मु)।

५. सूत्र १२ (नव १/१२)।

६. दगं पाणी तं वीणिया वाहो दगस्स वीणिया
दगवीणिया (चू)।

७. वसती (मु)।

८. इस गाथा के प्रारम्भ में चूर्णिकार ने 'णिज्जुत्तिकारो

भणति' का उल्लेख किया है।

९. ओमिज्जण (दे, भ)।

१०. °वीणिणिं (क)।

११. विणियतु (दे)।

१२. तुदगं (दे)।

१३. भण्णते (भ, मु)।

१४. जम्हा (भ)।

१५. आय इति आयविराहणा (चू)।

६२७. कार्य (प्रयोजन) समाप्त होने पर साधु उन सोपान आदि का विनाश कर दे^१ ताकि साधु के द्वारा निर्मित वस्तु से जीव-विराधना न हो। केवल तज्जात सोपान का विनाश करने से पृथ्वीकाय की विराधना होती है अतः उनका विनाश न करे।

६२८. साधु यदि सोपान आदि बनाने में निपुण न हो, अथवा निपुण होने पर भी (कोई रोग आदि के कारण) अक्षम हो अथवा निपुण और सक्षम साधु आचार्य, ग्लान आदि कार्यों में व्यापृत हो, अतः स्वयं करने में व्याघात (विघ्न) हो तो द्वितीय पद (आपवादिक रूप) में गृहस्थ या अन्यतीर्थिक से सोपान आदि का निर्माण करवाना कल्पता है—विधि सम्मत है।

६२९. यदि साधु को दूसरे से सोपान आदि बनवाना हो तो सर्वप्रथम पच्छाकड (जो पहले साधु रह चुका है ऐसे गृहस्थ) से बनवाए। यदि ऐसा व्यक्ति उपलब्ध न हो तो साभिग्रह (अणुव्रती श्रावक) से बनवाए। साभिग्रह न हो तो निरभिग्रह अर्थात् दर्शन श्रावक (सम्यग्दृष्टि) से और वह भी न मिले तो यथाभद्र असंज्ञी^२ (मिथ्यादृष्टि) से सोपान आदि बनवाए। उपर्युक्त गृहस्थ न मिलें तो अन्यतीर्थिक में भी इसी क्रम से पहले गृहस्थ से और उनके अभाव में अन्यतीर्थिक संन्यासियों से सोपान आदि बनवाए जा सकते हैं।

६३०. वर्षावास में दकवीणिका (पानी निकालने की नाली) बनाई जाती है। वह दो प्रकार की होती है— १. संबद्ध और २. इतर (असंबद्ध)। वसति से संबद्ध दकवीणिका तीन प्रकार की होती है— १. बाहर, २. अन्दर और ३. ऊपर।

६३१. वसति से संबद्ध (संलग्न) बाहर की नाली वह होती है, जो निरन्तर बाहर की ओर बहती रहती है। जहां वसति से पानी चूता है अथवा वर्षा का पानी अन्दर प्रविष्ट हो जाता है, वहां अन्दर पानी की नाली बनाई जाती है। हर्म्यतल (छत) अथवा ऊपर की मंजिल (माले) पर जो पानी निकालने की नाली या प्रणालिछिद्र बनाया जाता है, वह ऊपर की दकवीणिका है।

६३२. वसति से असंबद्ध (असंलग्न) नाली के तीन प्रकार होते हैं— १. उदकागम—जिससे वसति में पानी आता है। २. स्थान—साधुओं के बैठने के स्थान में पानी आता है। ३. निर्गमपथ में पानी आने से कीचड़ होता है, उसे रोकने (निकालने) की नाली। प्रथम प्रकार की दकवीणिका वसति के निमित्त (वसति का विनाश न हो, इसलिए) की जाती है। शेष दोनों प्रकार की दकवीणिका मार्ग के लिए की जाती है ताकि मार्ग रुके नहीं और कीचड़ के कारण त्रसप्राणी संसक्त न हों।

६३३. जो भिक्षु उपर्युक्त में से किसी भी प्रकार की दकवीणिका गृहस्थ अथवा अन्यतीर्थिक से बनवाता है, वह आज्ञाभंग, विराधना आदि दोषों को प्राप्त होता है क्योंकि गृहस्थ और अन्यतीर्थिक तप्त लोहपिण्ड के समान समन्ततः जीवोपघाती होते हैं।

६३४. दकवीणिका, दकवाह और दकपरिगाल—ये एकार्थक (पर्यायवाची) नाम हैं। यतः उससे उदक (जल) का विनयन होता है अतः दकवीणिका कहलाती है।

६३५. दकवीणिका बनाते समय असावधानी से हाथ, पैरों में चोट आ सकती है—यह आत्मविराधना है। वे इन्द्रियजात अर्थात् द्वीन्द्रिय आदि प्राणियों का हनन करते हैं, दकवीणिका बनाने के बाद पश्चात्कर्म (स्नान आदि) करते हैं—यह संयमविराधना है। यदि वे गृहस्थ आदि प्रासुक जल से देशस्नान करते हैं तो मासलघु और सर्वस्नान करें तो चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। अप्रासुक जल से देश या सर्वस्नान करने से चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१. निभा २ चू. पृ. ३५—करणं विणासणं।

२. पच्छाकड, साभिग्रह, निरभिग्रह तथा असंज्ञी—सामयिक संज्ञाएं हैं।

६३६. पणगादि^१ हरितमुच्छण, संजम-आया अजीरगेलण्णे ।
बहिया वि आय-संजम, उवधीणासो दुगुंछा^२ य^३ ॥ ६३६ ॥
६३७. वसधीदुल्लभयाए^४, वाघातजुताय अहव सुलभाए ।
एतेहि कारणेहिं^५, कप्पति ताहे सयंकरणं^६ ॥
६३८. बितियपदमणिउणे वा, णिउणे वा केणई भवे असहू ।
वाघातो व सहुस्सा, परकरणं कप्पती ताहे ॥ ६३७ ॥
६३९. पच्छाकड साभिग्गह, निरभिग्गह भद्दगे य अस्सण्णी ।
गिहि-अण्णत्तिथिगे वा, गिहि 'पुव्वं एतरे'^७ पच्छ ॥ ६३८ ॥
६४०. सिक्कगकरणं^८ दुविधं, तस-थावरजीवदेहनिप्फण्णं ।
'अंडज वालज कीडज'^९, ण्हारू वज्झादिग तसेसु^{१०} ॥ ६३९ ॥ नि १३२ ॥
६४१. थावरणिप्फण्णं पुण, पोंडमयं^{११} वागयं व पयडिमयं ।
मुंजमयं वच्चमयं^{१२}, कुस-वेत्तमयं च वेलुमयं ॥ ६४० ॥ नि १३३ ॥
६४२. एतेसामण्णतरं, तु सिक्कगं जो 'सयं करे'^{१३} भिक्खू ।
गिहि-अण्णत्तिथिएण व, सो पावति आणमादीणि^{१४} ॥ ६४१ ॥ नि १३४ ॥
६४३. बितियपद-वूढ-झामित, हरितऽद्धाणे तहेव गेलण्णे ।
असिवादि अण्णलिंगे, पुव्वकताऽसति^{१५} सयंकरणं ॥ ६४२ ॥

१. पणगो उल्ली संमुच्छइ आदिग्गहणातो बेइंदियादि
समुच्छंति (चू) ।

२. दुगुंछा (मु) ।

३. या (भ) ।

४. वसधीए दुल्लभाए (भ) ।

५. °णेहिं य (दे) ।

६. यह गाथा मुद्रित पुस्तक में भाष्यगाथा के क्रम में न होकर उद्धृतगाथा के रूप में है, किन्तु यह भाष्यगाथा होनी चाहिए, क्योंकि पीछे भी इस प्रकार की गाथाएं भाष्य के क्रम में रही हैं ।

७. पुव्वं तए (दे) ।

८. सूत्र १३ (नव १/१३) ।

९. अंडज वालज कीडज (भ) ।

१०. °ज कीलज वालज वब्भमयं ण्हारुण तसेसु (दे), गाथा के प्रारंभ में चूर्ण में 'इदाणिं णिज्जुत्तिवित्थरो' का उल्लेख है ।

११. वोंडमयं (दे) ।

१२. वच्चगो—दब्भागिती तणं (चू) ।

१३. तु कारवे (मु) ।

१४. सो आणा-अणवत्थं, मिच्छत्त-विराधणं पावे (दे) ।

१५. °कतस्सासती (भ) ।

६३६. वर्षाकाल में पानी निकालने की नाली न होने से काई तथा द्वीन्द्रिय आदि जीव पैदा हो जाते हैं, हरियाली हो जाती है, जिससे संयमविराधना होती है। शीतल अर्थात् सीलनयुक्त उपाश्रय में रहने से भोजन का पाचन सम्यक् प्रकार से नहीं होता, अजीर्ण से रोग पैदा हो जाते हैं—यह आत्मविराधना है। वसति से असंबद्ध दकवीणिका न हो तो उपाश्रय में जलप्रवेश हो जाने से मुनि के रहने के स्थान एवं गमनागमन के मार्ग में कीचड़ हो जाता है, फिसल जाने से गिरने पर आत्मविराधना होती है। जीवोत्पत्ति होने से उपधि का नाश (उपकरण खराब) होने की संभावना रहती है, मैले कपड़ों से मुनि के प्रति लोगों को जुगुप्सा भाव पैदा होता है। काई, द्वीन्द्रिय आदि जीव पैदा होने से संयमविराधना भी होती है।

६३७. वसति दुर्लभ हो अथवा सुलभ किन्तु व्याघात (द्रव्य प्रतिबद्ध, भावप्रतिबद्ध आदि बाधाओं) से युक्त हो तो पूर्वोक्त कारणों में (गा. ६३२में निर्दिष्ट) भिक्षु को स्वयं दकवीणिका बनाना कल्पता है।

६३८. भिक्षु यदि दकवीणिका बनाने में निपुण न हो अथवा निपुण होने पर भी अक्षम हो अथवा निपुण एवं सक्षम साधु के किसी प्रकार का व्याघात (बाधा) होने के कारण वह दकवीणिका न बना सके तो द्वितीय पद में गृहस्थ अथवा अन्यतीर्थिक से दकवीणिका का निर्माण करवाना कल्पता है।

६३९. साधु जिससे दकवीणिका बनवाए वह पच्छाकड़ हो, पच्छाकड़ न मिले तो अणुव्रती श्रावक हो, उसके न मिलने पर क्रमशः दर्शनश्रावक अथवा मिथ्यादृष्टि गृहस्थ से दकवीणिका बनवाए। उपर्युक्त गृहस्थ न मिले तो अन्यतीर्थिक में भी इसी क्रम से पहले गृहस्थ से और उनके अभाव में अन्यतीर्थिक संन्यासियों से दकवीणिका का निर्माण करवाया जा सकता है।

६४०. सिक्कग (छींका) दो प्रकार का होता है—१. त्रस प्राणियों के शरीर से निष्पन्न और २. स्थावर प्राणियों के शरीर से निष्पन्न। त्रसजीवों की देह से निष्पन्न छींके के अनेक प्रकार हैं—१. अंडज, २. बालज (और्णिक और औष्ट्रिक), ३. कीटज, ४. स्नायुज आदि।

६४१. स्थावर जीवों की देह से निर्मित छींके अनेक प्रकार के होते हैं, जैसे—पोंड (कपास) से बना हुआ, वल्क (सन आदि की छाल) से बना हुआ, प्रकृति (नारियल आदि की त्वचा) से बना हुआ, मूंज, वच्चक (कुश जैसी अन्य घास), दर्भ, बेंत (जलज बांस) और वेणु (स्थलज बांस) से बना हुआ।

६४२. जो भिक्षु उपर्युक्त में से किसी प्रकार का छींका गृहस्थ अथवा अन्यतीर्थिक से बनवाता है, वह आज्ञाभंग, विराधना आदि दोषों को प्राप्त होता है।

६४३. अपवाद पद में अनेक कारणों से छींका ग्रहण किया जा सकता है, जैसे—१. बाढ़ आदि में जलप्रवाह में सारे उपकरण बह जाएं। २. नदी आदि पार करते समय उपकरण डूब जाएं। ३. आग लगने से उपकरण जल जाएं। ४. कोई चोर सारे उपकरण चुरा ले। ५. अटवी में विहार करते समय पल्ली आदि में भिक्षा के लिए जाना पड़े। ६. रोग आदि की अवस्था में औषध आदि को रखने के लिए। ७. अशिव आदि कारणों में अन्यलिंग (अन्यतीर्थिक, परिव्राजक आदि का वेश) बनाना हो। यदि पूर्वकृत (गृहस्थ द्वारा निर्मित) छींका न मिले तो साधु स्वयं छींका बना सकता है।

६४४. बितियपदमणिउणे वा, निउणे वा केणई भवे असहू।
वाघातो व सहुस्सा, परकरणं कप्पती ताहे^१ ॥ ६४३ ॥
६४५. पच्छाकड साभिग्गह, निरभिग्गह भद्दगे य अस्सण्णी।
गिहि-अण्णतित्थिगे वा, गिहि पुव्वं एतरे पच्छा ॥ ६४४ ॥
६४६. अह सिक्कगंतगं^२ पुण, सिक्कगओ पूणओ^३ मुणेतव्वो।
सो जंग-भंगिओ वा, सण-पोत्त-तिरीड-पट्टमओ^४ ॥ ६४५ ॥ नि १३५ ॥
६४७. एतेसामण्णतरं, उ पोणयं जो तु कारवे भिक्खू।
गिहि-अण्णतित्थिएण^५ व, कीरंते कीरें व छक्काया ॥ ६४६ ॥ नि १३६ ॥
६४८. बितियपद-वूढ-झामित, हरितऽद्धाणे तहेव गेलण्णे।
असिवादी परलिंगे, पुव्वकताऽसति^६ सयंकरणं ॥ ६४७ ॥
६४९. बितियपदमणिउणे वा, निउणे वा केणई भवे असहू।
वाघातो व सहुस्सा, परकरणं कप्पति ताहे ॥ ६४८ ॥
६५०. पच्छाकड साभिग्गह, निरभिग्गह भद्दगे य अस्सण्णी।
गिहि-अण्णतित्थिए वा, गिहि पुव्वं एतरे पच्छा^७ ॥ ६४९ ॥
६५१. बितिओ वि य आदेसो, सिहणंतग वत्थ अंतकम्मं ति।
तं दुल्लभवत्थम्मी^८, देसम्मी कप्पती काउं ॥ ६५० ॥
६५२. 'सुत्तमयी^९ रज्जुमयी^{१०}, वागमयी 'चेव दंड-कडगमयी^{११}।
पंचविध 'चिलिमिणी पुण^{१२} उवग्गहकरी भवे गच्छे ॥ ६५१ ॥ नि १३७ ॥

१. ६४४, ६४५—इन दोनों गाथाओं का प्रतियों में केवल प्रथम चरण मिलता है तथा 'ताओ चव गाहाओ' का उल्लेख मिलता है।

२. सिक्कयंतयं (भ, मु), °कणंतगं (क)।

३. पोणओ (भ, मु), पूणउ त्ति देसीभासाते वुच्चति (चू)।

४. पोट्टं (दे)।

५. °उत्थिएण (क)।

६. °कयस्सासइ (क), °सती (भ)।

७. ६४९, ६५०—इन दोनों गाथाओं का प्रतियों में केवल

प्रथम चरण तथा 'ताओ चव गाहाओ' का उल्लेख मिलता है।

८. °हवत्थम्मिं (दे)।

९. सूत्र १४ (नव १/१४)।

१०. °मती रज्जुमती (क), रज्जुणा कता रज्जुमती सो पुण दोरो (चू)।

११. दंड-कडगमयई य (बृभा २३७४)।

१२. °मिली खलु (भ, मु), °मिली° (बृभा)।

६४४. भिक्षु यदि छींका बनाने में निपुण न हो अथवा निपुण होने पर भी अक्षम हो अथवा निपुण एवं सक्षम साधु के किसी प्रकार का व्याघात (बाधा) होने के कारण वह छींका न बना सके तो द्वितीय पद में गृहस्थ अथवा अन्यतीर्थिक से छींके का निर्माण करवाना कल्पता है।

६४५. भिक्षु जिससे छींका बनवाए, वह पच्छाकड़ हो। पच्छाकड़ न मिले तो अणुव्रती श्रावक हो, उसके न मिलने पर क्रमशः दर्शनश्रावक अथवा मिथ्यादृष्टि गृहस्थ से छींका बनवाए। उपर्युक्त गृहस्थ न मिलें तो अन्यतीर्थिक में भी इसी क्रम से पहले गृहस्थ से और उसके अभाव में अन्यतीर्थिक संन्यासियों से छींके का निर्माण करवाया जा सकता है।

६४६. सिक्कयंतय का अर्थ है छींके का ढक्कन, जिसे देशीभाषा में पोणअ नाम से जाना जाता है। वह दो प्रकार का होता है—जांगिक—हंसगर्भ आदि त्रस जीवों की देह से निष्पन्न तथा स्थावर जीवों की देह से निर्मित, जैसे—भांगिक (अतसी), सन, पोत (वस्त्र) और तिरीडपट्ट अर्थात् वृक्ष की छाल से निर्मित।

६४७. उपर्युक्त में से किसी प्रकार का छींके का ढक्कन जो भिक्षु गृहस्थ अथवा अन्यतीर्थिक से बनवाता है, बनवाते हुए का अनुमोदन करता है अथवा खरीदता है, वह छह जीवनिकाय की हिंसा से स्पृष्ट होता है।

६४८. अपवाद पद में अनेक कारणों से छींके का ढक्कन ग्रहण किया जा सकता है, जैसे—१. बाढ़ आदि में जलप्रवाह में सारे उपकरण बह जाएं। २. नदी आदि पार करते समय उपकरण डूब जाएं। ३. आग लगने से उपकरण जल जाएं। ४. कोई चोर सारे उपकरण चुरा ले। ५. अटवी में विहार करते समय पल्ली आदि में भिक्षा के लिए जाना पड़े। ६. ग्लान्य (रोग) आदि की अवस्था में औषध आदि को रखने के लिए तथा ७. अशिव आदि कारणों में परलिंग (अन्यतीर्थिक, परिव्राजक आदि का वेश) बनाना हो। उपर्युक्त स्थितियों में पूर्वकृत (गृहस्थ द्वारा निर्मित) छींके का ढक्कन लिया जा सकता है। यदि पूर्वकृत ढक्कन न मिले तो साधु स्वयं छींके का ढक्कन बना सकता है।

६४९. भिक्षु यदि छींके का ढक्कन बनाने में निपुण न हो अथवा निपुण होने पर भी अक्षम हो अथवा निपुण एवं सक्षम साधु के किसी प्रकार का व्याघात (बाधा) होने के कारण वह छींके का ढक्कन न बना सके तो द्वितीय पद में गृहस्थ अथवा अन्यतीर्थिक से छींके के ढक्कन का निर्माण करवाना कल्पता है।

६५०. भिक्षु जिससे छींके का ढक्कन बनवाए, वह पच्छाकड़ हो। पच्छाकड़ न मिले तो अणुव्रती श्रावक हो, उसके न मिलने पर क्रमशः दर्शनश्रावक अथवा मिथ्यादृष्टि गृहस्थ से छींके का ढक्कन बनवाए। उपर्युक्त गृहस्थ न मिलें तो अन्यतीर्थिक में भी इसी क्रम से पहले गृहस्थ से और उसके अभाव में अन्यतीर्थिक संन्यासियों से छींके का ढक्कन बनवाया जा सकता है।

६५१. प्रस्तुत सूत्र का दूसरा आदेश (प्रकार) है—शिखानन्तक अर्थात् दशा (किनारी) युक्त वस्त्र का अन्तकर्म करना अर्थात् उसकी दशा का परिकर्म करना। आपवादिक रूप में, वह क्षेत्र जहां वस्त्र दुर्लभ हों, वस्त्र का अन्तकर्म करना कल्पता है, विधिसम्मत है।

६५२. पांच प्रकार की चिलिमिली (पर्दा, यवनिका) गच्छ में उपग्रहकारक होती है—१. सूत्रमयी, २. रज्जुमयी, ३. वल्कमयी, ४. दंडमयी और ५. कटकमयी।

६५३. हत्थपणगं तु दीहा, तिहत्थ 'रुंदोणिया असति'^१ खोमा।
 'एय पमाणं'^२ गणणेक्कमेक्कगच्छं च जा वेढे ॥ ६५२ ॥
६५४. असतोणिण^३-खोम-रज्जू, एगपमाणेण जा तु वेढेति।
 कडहूवागादीहिं^४, पोत्तऽसति भए व वक्कमयी^५ ॥ ६५३ ॥
६५५. देहऽहिको^६ गणणेक्को, दुवारगुत्ती भए तु दंडमयी^७।
 संचारिमा तु चतुरो, भयमाणे कडगऽसंचारी^८ ॥ ६५४ ॥
६५६. सागारिय सज्झाए^९, पाणिदय^{१०} गिलाण सावयभए वा।
 अद्धाण-मरण-वासासु चेव सा कप्पती गच्छे^{११} ॥ ६५५ ॥
६५७. पडिलेहोभयमंडलि, इत्थीसागारिएत्थ सागरिए।
 घाणाऽऽलोगज्झाए, मच्छियडोलादिपाणट्टा^{१२} ॥ ६५६ ॥
६५८. उभयोसधकज्जे वा, देसी^{१३} वीसत्थमादि गेलण्णे।
 अद्धाणे छण्णाऽसति^{१४}, भत्तोवधि सावए तेणे ॥ ६५७ ॥
६५९. छण्ण वह-नट्ट-मरणे, वासे उज्झंखणीय^{१५} कडगो उ।
 उल्लुवधि विरल्लेंति व, अंतो बहि कसिण इतरं वा ॥ ६५८ ॥
६६०. पंचविधचिलिमिणीए, पुव्वकताए य कप्पती^{१६} गहणं।
 असती पुव्वकताए, कप्पति ताहे सयंकरणं ॥ ६५९ ॥

१. °याइ सति (क), रुंदा—विच्छिण्णा (चू)।

२. °माण (दे), एतप्पमाण (बृभा २३७५)।

३. असतुण्णि (मु)।

४. कडभू रुक्खो तस्स वक्कलं भवति (चू)।

५. वागमई (बृभा २३७६)।

६. देहं—सरीरं तप्पमाणाओ अधितो दंडतो, सो पुण समए
 णालिया भण्णति (चू)।

७. डंड° (भ)।

८. कडमसंचारी (भ, बृभा २३७७)।

९. अज्झाए (क)।

१०. पाणदय (बृभा २३७८, मु)।

११. इस गाथा के लिए बृहत्कल्पभाष्य की टीका में
 'निर्युक्तिगाथासमासार्थः' का उल्लेख है।

१२. °पाणेषु (बृभा २३७९)।

१३. देसि ति जत्थ देसे डागिणीणमुवहवो तत्थ गिलाणो
 पच्छण्णे धरिज्जति (चू)।

१४. छम्मासति (क), छन्नासइ (बृभा २३८०)।

१५. उज्झंखणी य (बृभा २३८१), उज्झंखणीए ति तत्तो
 कडगचिलिमिली दिज्जति (चू)।

१६. कप्पते (क, दे)।

६५३. सूत्रमयी (ऊनी या सूती धागे से बनी हुई) चिलिमिली पांच हाथ लम्बी और तीन हाथ चौड़ी होती है। यदि और्णिक (ऊनी धागे, कम्बल आदि से बनी हुई) चिलिमिली न मिले तो सूती वस्त्र की चिलिमिली रखी जा सकती है। गणना प्रमाण (गिनती) की दृष्टि से वह प्रत्येक साधु के पास एक-एक होती है। प्रातिहारिक रूप में एक गच्छ में एक चिलिमिली ऐसी भी रखी जा सकती है, जो समूचे गच्छ को वेष्टित कर सके, इसका परिमाण अनियत होता है।

६५४. सौत्रिक (सूत्रमयी) चिलिमिली न मिले तो और्णिक अथवा क्षौमिक (सूती) रज्जु से बनी हुई चिलिमिली रखी जाती है। वह भी प्रत्येक साधु के पास एक-एक पूर्वोक्त प्रमाण वाली तथा प्रत्येक गच्छ में एक-एक अनियत प्रमाण वाली रखी जाती है। जो समूचे गच्छ को वेष्टित करने जितनी बड़ी होती है। पोत (वस्त्र) से बनी हुई चिलिमिली न मिले तो वल्क अर्थात् वृक्ष की छाल आदि (छाल से बने वस्त्र अथवा रज्जु) से बनी हुई चिलिमिली रखी जाती है। वल्कमयी चिलिमिली का परिमाण भी पूर्वोक्त चिलिमिली की भांति ही द्रष्टव्य है।

६५५. दंड (नालिका) शरीर प्रमाण से कुछ अधिक होता है। वह प्रत्येक साधु के पास एक-एक होता है। श्वापद आदि का भय हो, वहां दंडों से द्वारगुप्ति (द्वार का रक्षण) की जाती है। प्रथम चार चिलिमिली संचारिम (एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने योग्य) होती हैं। कटक चिलिमिली असंचारिम तथा अनियत प्रमाण वाली होती है।

६५६. इन आठ प्रयोजनों से गच्छ में चिलिमिली रखना कल्पता है—१. सागारिक (गृहस्थ), २. स्वाध्याय, ३. प्राणदया, ४. ग्लान, ५. श्वापद भय, ६. अद्धाण (अटवी आदि), ७. मरण और ८. वर्षा।

६५७. जहां गृहस्थ उपधिस्तेन हों, वहां सार उपधि (अच्छे/बहुमूल्य उपकरण) चुराए जाने का भय होता है अतः उनकी प्रतिलेखना चिलिमिली लगाकर की जाती है। जहां गृहस्थ निन्दा (उड्डाह) करें, वहां भोजन मंडली में भी चिलिमिली लगाई जाती है। जहां रूपप्रतिबद्ध शय्या में रहना पड़ता है, वहां गृहस्थ स्त्रियां न दिखें इसलिए चिलिमिली दी जाती है। जहां पुरीष (मल) आदि की घाण अर्थात् गन्ध आती है अथवा रुधिर, शौचालय आदि दिखाई देते हैं, वहां स्वाध्याय के प्रयोजन से चिलिमिली लगाई जाती है। जिस दिशा में मक्खी, टिड्डी आदि प्राणी ज्यादा आ रहे हों, वहां प्राणदया के लिए चिलिमिली लगाई जाती है।

६५८. कोई मुनि ग्लान है। उसे उभय-कायिकी (मूत्र) एवं पुरीष (संज्ञा) के विसर्जन के लिए प्रच्छन्न स्थान चाहिए अथवा उसे औषध देने के लिए एकान्त चाहिए तो चिलिमिली लगाई जाती है। देसी अर्थात् जिस देश में डाकिनि आदि का उपद्रव हो वहां ग्लान को प्रच्छन्न रखा जाता है। अथवा ग्लान प्रच्छन्न स्थान में विश्वस्त रह सके, इसलिए चिलिमिली दी जाती है।

अद्धाण-अटवी प्रतिपन्न अवस्था में प्रच्छन्न स्थान न मिले तो चिलिमिली लगाकर आहार किया जा सकता है। बहुमूल्य उपकरणों की प्रतिलेखना की जाती है तथा हिंसक पशुओं एवं चोरों से रक्षा हेतु द्वार को दंडमयी चिलिमिली से ढका जाता है।

६५९. किसी साधु का मृत शरीर पड़ा है, उसका जब तक परिष्ठापन नहीं किया जा सके अथवा अटवी आदि में उसे परिष्ठापित करने के लिए कोई उपयुक्त स्थंडिल न मिल सके तो क्रमशः उसको रखने तथा स्थंडिल तक ले जाने हेतु चिलिमिली का प्रयोग किया जाता है। जहां लोकापवाद की संभावना हो, वहां कटक चिलिमिली का प्रयोग किया जाता है। वर्षा में भीग जाने पर गीले वस्त्र आदि उपकरणों को चिलिमिली के भीतर सुखाया जाता है। उनमें अन्तप्रान्त (फटे पुराने) वस्त्रों को बाहर की ओर तथा कृत्स्न (बहुमूल्य आदि) वस्त्रों को अन्दर की ओर सुखाया जाता है।

६६०. उपर्युक्त पांच प्रकार की चिलिमिली यदि पूर्वकृत (गृहस्थ के पास बनी हुई) मिल जाए तो उसे ग्रहण करना कल्पता है। यदि पूर्वकृत चिलिमिली न मिले तो मुनि को स्वयं चिलिमिली का निर्माण करना कल्पता है।

६६१. बितियपदमणिउणे वा, निउणे वा होज्ज केणई असहू।
‘वाघातो व’^१ सहुस्सा, परकरणं कप्पती ताहे^२ ॥ ६६० ॥
६६२. पच्छाकड साभिग्गह, निरभिग्गह भद्दगे य अस्सण्णी^३।
गिहि अण्णतित्थिए वा, गिहि पुव्वं एतरे पच्छा^४ ॥ ६६१ ॥
६६३. सूईमादीयाणं^५, उत्तरकरणं तु जो तु कारेज्जा।
गिहि^६-अण्णतित्थिएण व, सो पावति आणमादीणि ॥ ६६२ ॥ नि १३८ ॥
६६४. उवग्गहिता सूयादीया^७ तु एक्केक्कतो गुरुस्सेव।
गच्छं व समासज्जा, अणायसेक्केक्क सेसेसु ॥ ६६३ ॥
६६५. पासग मट्ठि णिसीयण, पज्जण रिजुकरण उत्तरं करणं।
सुहुमं^८ पि जं तु कीरति, तदुत्तरं मूलणिव्वत्ती^९ ॥ ६६४ ॥
६६६. सूईमादीयाणं, णिप्पडिकम्माण कप्पती गहणं।
असती निप्पडिकम्मे, कप्पति ताहे सयंकरणं^{१०} ॥ ६६५ ॥
६६७. बितियपदमणिउणे वा, णिउणे वा सेवती भवे असहू।
वाघातो व सहुस्सा, परकरणं कप्पती ताहे ॥ ६६६ ॥
६६८. पच्छाकड साभिग्गह, निरभिग्गह भद्दगे य अस्सण्णी।
गिहि-अण्णतित्थिए वा, गिहि पुव्वं एतरे पच्छा^{११} ॥ ६६७ ॥
६६९. सूयिमणट्ठाए^{१२} तू^{१३} जे भिक्खू पाडिहारियं जाए।
सो आणाअणवत्थं, मिच्छत्तविराधणं पावे^{१४} ॥ ६६८ ॥ नि १३९ ॥

१. वाघात तहेव (भ)।

२. तहेव य (दे)।

३. असण्णी (क)।

४. दे प्रति में गाथा का केवल प्रथम चरण ही प्राप्त है।

५. सूत्र १५-१८ (नव १/१५-१८)।

६. गिही (मु)।

७. सूयादिया (दे, भ)।

८. सुहुमं (भ)।

९. णिव्वत्ते (दे, भ, मु)।

१०. दे प्रति में इस गाथा के स्थान पर निम्न गाथा मिलती है—

सूईमादीयाणं, उत्तरकरणं तु जो उ कारावे।

गिहि-अण्णतित्थिएण व, सो पावति आणमादीणि ॥

११. ६६८, ६६९—ये दोनों गाथाएं दे और पा प्रति में नहीं हैं। केवल ‘तहेव दोगाहाओ’ का उल्लेख मिलता है।

१२. सूत्र १९-२२ (नव १/१९-२२)।

१३. तु (दे)।

१४. गाथा का उत्तरार्ध दे प्रति में नहीं है।

६६१. साधु यदि चिलिमिली (पर्दा) बनाने में निपुण न हो अथवा निपुण होने पर भी अक्षम हो अथवा निपुण एवं सक्षम साधु के किसी प्रकार का व्याघात (बाधा) होने के कारण वह चिलिमिली न बना सके तो द्वितीयपद में गृहस्थ अथवा अन्यतीर्थिक से चिलिमिली का निर्माण करवाना कल्पता है।

६६२. साधु जिससे चिलिमिली बनवाए, वह पच्छाकड़ हो। पच्छाकड़ न मिले तो अणुव्रती श्रावक हो, उसके न मिलने पर क्रमशः दर्शनश्रावक अथवा यथाभद्रक मिथ्यादृष्टि गृहस्थ से चिलिमिली बनवाए। उपर्युक्त गृहस्थ न मिले तो अन्यतीर्थिक में भी इसी क्रम से पहले गृहस्थ से और उनके अभाव में अन्यतीर्थिक संन्यासियों से चिलिमिली का निर्माण करवाया जा सकता है।

६६३. जो साधु सूई आदि (कैंची, नखच्छेदनक और कर्णशोधनक) का उत्तरकरण (परिष्कार या परिकर्म) गृहस्थ अथवा अन्यतीर्थिक से करवाता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

६६४. सूई आदि औपग्रहिक उपकरण हैं, जो गुरु के पास एक-एक होते हैं। बड़े गच्छ की अपेक्षा से प्रत्येक साधु एक-एक अनायस (लोहे रहित—बांस या सींग से निर्मित) सूई रख सकता है।

६६५. मूल रचना के उत्तरकाल में (पश्चात्) जो भी सूक्ष्म परिष्कार किया जाता है, वह उत्तरकरण है, जैसे पासग अर्थात् सूई का छेद ठीक करना, मट्टि—श्लक्ष्ण करना, निसीयण अर्थात् उनकी धार को तेज करना, पञ्जण—लोहार के घर जाकर उसे ठीक करवाना तथा उसे ऋजु (सीधा) करवाना आदि।

६६६. साधु को निष्प्रतिकर्म (जिसमें परिष्कार करने की अपेक्षा न हो) सूई आदि को ग्रहण करना कल्पता है। यदि निष्प्रतिकर्म सूई आदि न मिलें तो साधु उनका परिष्कार स्वयं कर सकता है।

६६७. साधु यदि सूई आदि का उत्तरकरण करने में निपुण न हो अथवा निपुण होने पर भी अक्षम हो अथवा निपुण एवं सक्षम साधु के किसी प्रकार का व्याघात (बाधा) होने के कारण वह सूई आदि का उत्तरकरण न कर सके तो द्वितीयपद में गृहस्थ अथवा अन्यतीर्थिक से उनका उत्तरकरण करवाना कल्पता है।

६६८. साधु जिससे सूई आदि का उत्तरकरण करवाए, वह पच्छाकड़ हो। पच्छाकड़ न मिले तो अणुव्रती श्रावक हो, उसके न मिलने पर क्रमशः दर्शनश्रावक अथवा यथाभद्रक मिथ्यादृष्टि गृहस्थ से सूई आदि का उत्तरकरण करवाए। उपर्युक्त गृहस्थ न मिले तो अन्यतीर्थिक में भी इसी क्रम से पहले गृहस्थ से और उनके अभाव में अन्यतीर्थिक संन्यासियों से सूई आदि का उत्तरकरण करवाया जा सकता है।

६६९. जो भिक्षु प्रातिहारिक (प्रत्यर्पणीय) सूई आदि की बिना प्रयोजन याचना करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व एवं विराधना इन दोषों को प्राप्त होता है।

६७०. णट्टे हित-विस्सरिते, तदण्णदव्वस्स^१ होति वोच्छेदो ।
पच्छकम्मपवहणं, धुवावणं वा तदट्टस्स ॥ ६६९ ॥
६७१. आणाए वोच्छेदे, पवहण किण पच्छकम्म पच्छित्ता ।
गुरुगा गुरुगा लहुगा, लहुगा गुरुगा य जं चऽण्णं ॥ ६७० ॥
६७२. वत्थं^२ सिव्विस्सामी, ति जाइउं^३ पायसिव्वणं कुणति ।
अहवा वि पायसिव्वण, काहेंतो^४ सिव्वती वत्थं ॥ ६७१ ॥
६७३. तं दट्टूण सयं वा, अहवा अन्नेसि अंतियं सोच्चा ।
ओभावणमग्गहणं, कुज्जा दुविधं पि^५ वोच्छेदं ॥ ६७२ ॥
६७४. अहगं^६ 'सिव्विस्सामि ति'^७, जाइउं सो ददाति^८ अण्णेसिं ।
अण्णो वा सिव्विहिती, सो सिव्वणमप्पणा कुणति ॥ ६७३ ॥
६७५. तं दट्टूण सयं वा, अहवा अण्णेसि अंतियं सोच्चा ।
ओभावणमग्गहणं, कुज्जा दुविधं पि^९ वोच्छेदं ॥ ६७४ ॥
६७६. 'सूयिमविधीएँ^{१०} घेतुं'^{११}, जे भिक्खू पाडिहारियं अप्पे ।
तक्कज्जसंधणं वा, कुज्जा छक्कायघातं वा ॥ ६७५ ॥ नि १४० ॥
६७७. तम्हट्टा जाएज्जा, जं सिव्वे 'जस्स कारणे'^{१२} वावि ।
एगतरमुभयतो वा, अणुण्णवेउं तथा भिक्खू ॥ ६७६ ॥
६७८. गहणम्मि गेण्हिरुणं, हत्थे उत्ताणगम्मि वा काउं ।
भूमीए व ठवेउं, एस विधी होति अप्पिणणे ॥ ६७७ ॥
६७९. लाभालाभपरिच्छा, दुल्लभ-अचियत्त सहसमप्पिणणे^{१३} ।
चउसु वि पदेसु एते, अवरपदा होंति नातव्वा ॥ ६७८ ॥

१. अण्पिणं ते य (भ) ।
२. सूत्र २३-३० (नव १/२३-३०) ।
३. जादिउं (क) ।
४. कालं तो (दे) ।
५. च (मु) ।
६. सूत्र ३१-३४ (नव १/३१-३४) ।
७. °स्सामीति (मु) ।

८. य देति (मु) ।
९. च (मु), वि (दे) ।
१०. सूत्र ३५ (नव १/३५) ।
११. सूरियं अविधीए तू (मु) ।
१२. कस्स कारणे (मु) ।
१३. °स अप्पि (मु) ।

६७०. वह प्रातिहारिक सूई आदि कदाचित् साधु से खो जाए, किसी के द्वारा चुरा ली जाए अथवा विस्मृत हो जाए तो उसका स्वामी गृहस्थ उस सूई आदि द्रव्य का अथवा अन्य द्रव्य का व्यवच्छेद कर देता है—देने का निषेध कर सकता है। श्रमण अशुचि (अशौचवादी) होते हैं, उनके द्वारा स्पृष्ट होने के कारण कोई गृहस्थ उन वस्तुओं का पश्चात्कर्म करवाता है, दूसरी बनवाता है अथवा उसे धोता है, अन्य से धुलवाता है अथवा धुलवाने के लिए अन्य को दिलाता है।

६७१. आज्ञाभंग आदि पूर्वोक्त दोषों (गा. ६६८, ६६९) का प्रायश्चित्त इस प्रकार है—आज्ञाभंग, अनवस्था आदि का चतुर्गुरु, तद्द्रव्य (सूई आदि) व अन्य द्रव्य व्यवच्छेद का चतुर्गुरु, प्रवहण—अन्य सूई आदि को धोने, धुलवाने में पानी बहाने पर चतुर्लघु, इसके अतिरिक्त अन्य सूई, कैंची आदि खरीदने पर चतुर्लघु, पश्चात्कर्म अर्थात् अन्य सूई आदि का निर्माण करने पर चतुर्गुरु, अन्य कोई दोष, विराधना आदि लगते हैं तो उसका भी प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

६७२. कोई साधु 'वस्त्र सीऊंगा', ऐसा कहकर सूई की याचना करे और उससे पात्र सीए अथवा पात्र सीऊंगा कहकर याचना करे और वस्त्र सीए—यह अविधि है।

६७३. सूई का अविधि प्रयोग करते स्वयं देखकर अथवा अन्य व्यक्ति से सुनकर सूई का स्वामी गृहस्थ उस साधु की अवभावना—अन्य व्यक्ति के समक्ष खिंसा कर सकता है, अग्रहण—अनादर कर सकता है अथवा तद्द्रव्य या अन्यद्रव्य का, उस मुनि या अन्य मुनि के लिए देने का निषेध कर सकता है।

६७४. मैं सिलाई करूंगा—यह कहकर साधु सूई की याचना करता है और अन्य को दे देता है अथवा अन्य साधु सिलाई करेगा—यह कहकर वह स्वयं सिलाई करता है।

६७५. केवल स्वयं के लिए याचित सूई आदि को साधु परस्पर देता है, यह स्वयं देखकर अथवा अन्य व्यक्ति से सुनकर सूई—स्वामी साधु की अवभावना, अग्रहण अथवा द्विविध व्यवच्छेद कर सकता है।

६७६. जो साधु प्रातिहारिक सूई को अविधि से ग्रहण कर लौटाता है अथवा उसका कार्य—संघात (जोड़ना आदि) अविधि से करता है, वह षट्कायिक जीवों का वध करता है।

६७७. अतः साधु सूई आदि की याचना प्रयोजन से करे, वस्त्र आदि जो सीए, उसके लिए याचना करे, जिस साधु को अपेक्षा हो, उसके नाम से ले, स्वयं के, दूसरे के अथवा उभय के प्रयोजन से जो करणीय हो, उसकी अनुज्ञा पूर्वक ले।

६७८. ग्रहण अर्थात् पार्श्वभाग को पकड़कर अथवा हाथ पर उत्तान अर्थात् सीधा रखकर सूई को लौटाना विधि नहीं है। सूई को भूमि पर रखकर लौटाए—यह प्रत्यर्पण की विधि है।

६७९. चारों पदों (पूर्वोक्त चार आलापकों) के ये अपर पद (अपवाद-पद) ज्ञातव्य हैं—

* अणट्टाए (सूत्र १९-२२)—क्षेत्र प्रतिलेखना के लिए निर्गत साधु लाभ और अलाभ की परीक्षा के लिए बिना प्रयोजन सूई की मार्गणा करते हैं ताकि पता चले कि अमुक क्षेत्र में लाभ की स्थिति क्या है ?

* अविहीए जायइ (सूत्र २७-३०)—किसी क्षेत्र में पात्र सीने के लिए सूई मुश्किल से मिलती है, वहां वस्त्र सीने के लिए लाई हुई सूई से पात्र सी सकता है, पर इस यतना के साथ कि गृहस्थ नहीं देखे।

* अप्पणो...अणुप्पदेति (सूत्र ३१-३४)—कोई साधु स्वभावतः अचियत्त (अप्रिय) है, उसे अथवा उसके नाम से मांगने पर सूई आदि नहीं मिलती, तब स्वयं के लिए सूई की याचना कर उसे दी जा सकती है।

* अविही (सूत्र ३५)—सहसा अर्थात् अनाभोग से अर्पण में अविधि हो सकती है।

६८०. पिप्पलग^१ गहच्छेदण, सोधणगे चव होंति एवं तु।
नवरं पुण णाणत्तं, परिभोगे होति नातव्वं ॥ ६७९ ॥ नि १४१ ॥
६८१. वत्थं छिंदिस्सामि त्ति, जाइउं पायछिंदणं कुणति।
अहवा वि पायछिंदण, 'काहितो छिंदती'^२ वत्थं ॥ ६८० ॥
६८२. तं दट्टूण सयं वा, अहवा अण्णेसि अंतियं सोच्चा।
ओभावणमग्गहणं, कुज्जा दुविधं पि वोच्छेदं ॥
६८३. अहगं छिंदिस्सामि त्ति, जाइयं सो ददाति अण्णेसिं।
अण्णो वा छिंदिहिती, सो छिंदणमप्पणा कुणति ॥
६८४. तं दट्टूण सयं वा, अहवा अण्णेसि अंतियं सोच्चा।
ओभावणमग्गहणं, कुज्जा दुविधं च वोच्छेदं^३ ॥
६८५. णक्खे^४ छिंदिस्सामि त्ति, जाइउं कुणति^५ सल्लमुद्धरणं।
अहवा सल्लुद्धरणं, काहितो छिंदती णक्खे ॥ ६८१ ॥
६८६. तं दट्टूण सयं वा, अहवा अण्णेसि अंतियं सोच्चा।
ओभावणमग्गहणं, कुज्जा दुविधं पि वोच्छेदं ॥
६८७. अहगं छिंदिस्सामि त्ति, जाइउं सो ददाति अण्णेसिं।
अण्णो वा छिंदिहिती, सो छिंदणमप्पणा कुणति^६ ॥
६८८. मज्जेव गेण्हिऊणं^७, हत्थे उत्ताणगम्मि वा काउं।
भूमीए व^८ ठवेउं, एस विधी होति अप्पिणणे ॥ ६८२ ॥
६८९. कण्णे^९ सोधिस्सामि^{१०} त्ति मग्गिउं^{११} दंतसोधणं कुणति।
अहवा वि दंतसोधण, काहितो सोधते^{१२} कण्णे ॥ ६८३ ॥

१. सूत्र ३६-३८ (नव १/३६-३८)।

२. काहंती च्छिंदते (क)।

३. गा. ६८२ से ६८४ तक की तीनों गाथाएं मुद्रितभाष्य में गाथाओं के क्रम में नहीं हैं, किन्तु हस्तप्रतियों तथा मुद्रित चूर्णि में ' ताओ चव गाहाओ ' का उल्लेख मिलता है। पूर्व गाथाओं के आधार पर इन गाथाओं की पूर्ति की गई है।

४. णक्खं (भ)।

५. कुणति (भ)।

६. ६८६ और ६८७—इन दोनों गाथाओं का पा प्रति में

केवल संकेत मात्र मिलता है, मुद्रितभाष्य में भी 'ताओ चव गाहाओ' का उल्लेख है।

७. गेण्हित्ता णं (भ)।

८. वा (मु)।

९. कण्णं (भ, मु)।

१०. सोधिस्सामि (क)।

११. जाइउं (भ, मु)।

१२. सोहती (भ, मु)।

६८०. पिप्पलग (कैंची), नखच्छेदनक (नख काटने का उपकरण) और कर्णशोधनक के ग्रहण आदि के विषय में भी ये ही बातें ज्ञातव्य हैं। केवल परिभोग में नानात्व होता है—यह जानना चाहिए।

६८१. कोई साधु 'वस्त्र काटूंगा' कहकर कैंची की याचना करे और उससे पात्र काटे (छेदन करे) अथवा 'पात्र का छेदन करूंगा' ऐसा कहकर वस्त्र काटे—यह कैंची का अविधि परिभोग है।

६८२. कैंची अविधि प्रयोग करते स्वयं देखकर अथवा अन्य व्यक्ति से सुनकर कैंची का स्वामी गृहस्थ उस साधु की अवभावना (अन्य व्यक्ति के समक्ष खिंसा) कर सकता है, अग्रहण—अनादर कर सकता है अथवा तद्द्रव्य या अन्यद्रव्य का, उस साधु या अन्य साधु के लिए व्यवच्छेद (देने का निषेध) कर सकता है।

६८३. मैं वस्त्र छेदन करूंगा—यह कहकर साधु कैंची की याचना करता है और अन्य को दे देता है अथवा अन्य साधु वस्त्र छेदन करेगा—यह कहकर वह स्वयं वस्त्र छेदन करता है।

६८४. केवल स्वयं या पर के लिए याचित कैंची को भिक्षु परस्पर देता है, यह स्वयं देखकर अथवा अन्य व्यक्ति से सुनकर कैंची का स्वामी साधु की अवभावना, अग्रहण अथवा द्विविध व्यवच्छेद कर सकता है।

६८५. कोई भिक्षु 'नख काटूंगा'—कहकर नखच्छेदनक की याचना करे और उससे शल्योद्धार करे (कांटा निकाले) अथवा शल्योद्धार का कथन कर नख काटे—यह नखच्छेदनक का अविधि परिभोग है।

६८६. नखच्छेदनक का अविधि प्रयोग करते स्वयं देखकर अथवा अन्य व्यक्ति से सुनकर नखच्छेदनक का स्वामी गृहस्थ उस मुनि की अवभावना (अन्य व्यक्ति के समक्ष खिंसा) कर सकता है, अग्रहण (अनादर) कर सकता है अथवा तद्द्रव्य या अन्यद्रव्य का, उस मुनि या अन्य मुनि के लिए व्यवच्छेद (देने का निषेध) कर सकता है।

६८७. मैं नख काटूंगा—यह कहकर साधु नखच्छेदनक की याचना करता है और अन्य को दे देता है अथवा अन्य साधु नख काटेगा—यह कहकर वह स्वयं नख काटता है।

६८८. मध्यभाग से पकड़कर, हथेली पर सीधा रखकर अथवा भूमि पर रखकर कैंची अथवा नखच्छेदनक लौटाए—यह प्रत्यर्पण की विधि है।

६८९. कोई साधु 'कान साफ करूंगा'—कहकर कर्णशोधनक मांगता है और उससे दांत को साफ करता है अथवा 'दांत साफ करूंगा' कहकर कान साफ करता है—यह कर्णशोधनक का अविधि परिभोग है।

६९०. तं दद्रूण सयं वा, अहवा अण्णेसि अंतियं सोच्चा।
ओभावणमग्गहणं, कुज्जा दुविधं पि वोच्चेदं^१ ॥
६९१. अहगं सोधिस्सामि त्ति, जाइयं सो ददाति अण्णेसिं।
अण्णो वा सोधिहिती, सो सोधणमप्पणा कुणति ॥
६९२. तं दद्रूण सयं वा, अहवा अण्णेसि अंतियं सोच्चा।
ओभावणमग्गहणं, कुज्जा दुविधं पि वोच्चेदं ॥
६९३. लाभालाभपरिच्छा, दुल्लभ-अचियत्त सहसमप्पिणणे।
बारससु वि सुत्तेसू, अवरपदा होंति णातव्वा ॥ ६८४ ॥
६९४. लाउय-दारुयपाए, मट्टियपाए य तिविधमेक्केक्के।
'बहु-अप्प'^२-अपरिकम्मे, एक्केक्कं तं भवे कमसो^३ ॥ ६८५ ॥ नि १४२ ॥
६९५. परिकम्मणमुक्कोसं, गुणेहि^४ तु जहण्णगं पढमपायं।
बितियं दोहि वि मज्झं, पढमेण विवज्जते^५ ततिए ॥ ६८६ ॥ ॥ नि १४३ ॥
६९६. अद्धंगुला परेणं, छिज्जंतं होति 'सपरिकम्मं तु'^६।
अद्धंगुलमेगं तू, छिज्जंतं^७ अप्पपरिकम्मं ॥ ६८७ ॥
६९७. जं पुव्वकतमुहं वा, कतलेवं^८ वावि लब्भते पायं।
तं होति अहाकडगं, तेसि पमाणं इमं होति ॥ ६८८ ॥
६९८. तिण्णि विहत्थी चउरंगुलं तु^९ भाणस्स मज्झिमपमाणं।
एत्तो हीण-जहण्णं, अतिरेगतं तु उक्कोसं^{१०} ॥ ६८९ ॥

१. ६९०-९२—ये तीनों गाथाएं हस्तप्रतियों एवं मुद्रितभाष्य में भाष्यगाथा के क्रम में नहीं मिलती हैं किन्तु हस्तप्रति में 'पुणो वि ताओ चेव गाहाओ' तथा मुद्रित चूर्ण में 'ताओ चेव गाहाओ' का उल्लेख मिलता है। इसी कारण पूर्व गाथाओं के आधार पर हमने यहां गाथाओं की पूर्ति कर दी है।

२. बहुयप्प (भ, मु)।

३. चूर्ण में इस गाथा के प्रारम्भ में 'इदाणि णिज्जुत्तित्थरो

भण्णति' का उल्लेख है।

४. गुणाहि (क)।

५. विवज्जिओ (मु), विवज्जतो (दे)।

६. 'कम्माओ (क)।

७. छिज्जंती (क)।

८. या लेवं (दे)।

९. च (भ, पंकभा ७९२)।

१०. ओनि ६८०, बुभा ४०१३।

६९०. कर्णशोधनक का अविधि प्रयोग करते स्वयं देखकर अथवा अन्य व्यक्ति से सुनकर कर्णशोधनक का स्वामी गृहस्थ उस साधु की अवभावना (अन्य व्यक्ति के समक्ष खिंसा) कर सकता है, अग्रहण (अनादर) कर सकता है अथवा तद्द्रव्य या अन्यद्रव्य का, उस साधु या अन्य साधु के लिए व्यवच्छेद (देने का निषेध) कर सकता है।

६९१. मैं कान साफ करूंगा—यह कहकर साधु कर्णशोधनक की याचना करता है और अन्य को दे देता है अथवा अन्य साधु कान साफ करेगा—यह कहकर वह स्वयं कान साफ करता है।

६९२. स्वयं के लिए याचित कर्णशोधनक को अन्य को देते स्वयं देखकर अथवा अन्य व्यक्ति से सुनकर कर्णशोधनक का स्वामी गृहस्थ उस साधु की अवभावना (अन्य व्यक्ति के समक्ष खिंसा) कर सकता है, अग्रहण (अनादर) कर सकता है अथवा तद्द्रव्य या अन्यद्रव्य का, उस मुनि या अन्य मुनि के लिए व्यवच्छेद (देने का निषेध) कर सकता है।

६९३. पूर्वोक्त बारह ही सूत्रों में ये द्वितीय पद ज्ञातव्य हैं—१. लाभालाभ परीक्षा, २. दुर्लभता, ३. अप्रियत्व और ४. अर्पण (तथा ग्रहण में) सहसाकार^१

६९४. तुम्बे का पात्र, काष्ठ पात्र और मिट्टी का पात्र—इन तीनों के तीन-तीन प्रकार होते हैं—१. बहुपरिकर्म, २. अल्पपरिकर्म और ३. अपरिकर्म। पुनः उनके क्रमशः तीन-तीन प्रकार होते हैं—१. जघन्य, २. मध्यम और ३. उत्कृष्ट।

६९५. प्रथम पात्र वह है, जिसमें परिकर्म (सुधार) उत्कृष्ट मात्रा में (बहुत अधिक) करना होता है, वह गुणों से जघन्य है। दूसरा दोनों दृष्टियों (परिकर्म और गुण) से मध्यम है। तृतीय पात्र (उत्कृष्ट पात्र) प्रथम अर्थात् परिकर्म से रहित होने से उत्कृष्ट होता है^२

६९६. जिस पात्र का आधा अंगुल से ज्यादा छेदन किया जाए, वह सपरिकर्म (बहुपरिकर्म) पात्र होता है। जिसका आधा अंगुल जितना (या उससे कम) छेदन किया जाए, वह पात्र अल्पपरिकर्म होता है।

६९७. यथाकृत (अपरिकर्म) पात्र वह होता है, जिसका मुंह पहले से ही ठीक किया हुआ हो तथा जो लेप किया हुआ मिल जाए^३ उनका प्रमाण (परिमाण) इस प्रकार है—

६९८. जिसकी परिधि का परिमाण डोरे से मापने पर तीन वितस्ति और चार अंगुल होता है, वह मध्यम प्रमाण पात्र होता है। इससे कम परिमाण वाला पात्र जघन्य और अधिक परिमाण वाला पात्र उत्कृष्ट परिमाण वाला कहलाता है।

१. विशेष हेतु ज्ञातव्य गा. ६७९।

२. जितना परिकर्म अधिक करना होता है, आत्मविराधना और संयमविराधना उतनी ही अधिक होती है अतः गुणदृष्टि से वह उतना ही हीन (कम उपयोगी) हो जाता है।

३. यथाकृत पात्रोपलब्धि के तीन स्थान हैं—१. कुत्रिकापण, २. निह्व और ३. प्रतिमा-प्रतिनिवृत्त श्रमणोपासक।

६९९. उक्कोस-तिसामासे^१, दुगाडअद्धाणमागतो साधू।
'चउरंगुलं तु 'वज्जे, भरियं पज्जत्तियं'^२ हेट्ठ'^३ ॥ ६९० ॥
७००. एयं चेव पमाणं, सविसेसतरं अणुग्गहपवत्तं।
कंतारे दुब्भिक्खे, रोहगमादीसु^४ भइयव्वं^५ ॥ ६९१ ॥
७०१. भत्तस्स व पाणस्स व, एगतरागस्स जो भवे भरितो।
पज्जत्तो साहुस्स तु, एतं किर मत्तगपमाणं ॥ ६९२ ॥
- ७०१/१. जो मागहओ पत्थो, सविसेसतरं तु मत्तगपमाणं।
दोसु वि दव्वग्गहणं, वासावासासु अहिगारो^६ ॥
- ७०१/२. सूवोदणस्स भरिउं, दुगाड अद्धाणमागतो साधू।
भुंजति एगट्ठणे, एवं किर मत्तगपमाणं^७ ॥
७०२. वट्टं समचतुरंसं, होति थिरं थावरं^८ च 'वण्णं च'^९।
हुंडं^{१०} वाताइद्धं, भिण्णं च अधारणिज्जाइं^{११} ॥ ६९३ ॥
७०३. परिघट्टण निम्मोयणं^{१२}, तं पुण अंतो व होज्ज बाहिं वा।
संठवणं मुहकरणं, जमणं विसमाण समकरणं^{१३} ॥ ६९४ ॥ नि १४४ ॥
७०४. पढम-बितियाण करणं, सुहुममवी जो तु कारए भिक्खू।
गिहि अण्णत्तिथिएण व, सो पावति आणमादीणि ॥ ६९५ ॥ नि १४५ ॥
७०५. घट्टित-संठविते वा^{१४}, पुव्वं^{१५} जमिते य^{१६} होति गहणं तु।
असती 'पुव्वकतस्स तु'^{१७}, कप्पति ताहे सयंकरणं ॥ ६९६ ॥

१. तिमासं (क)।

२. वज्जं भत्तपाणपज्जं (भ, मु, बृभा ४०१४),
°भारं पं (भ)।

३. चउरंगुलूणभरियं जं पज्जत्तं तु साहुस्स (ओनि ६८२), तु.
पंकभा ७९३।

४. रोधगं (क)।

५. पंकभा ७९४, बृभा ४०१५।

६. ओनि ७१३।

७. ओनि ७१४, ७०१/१, २—ये दोनों गाथाएं हस्तप्रतियों में
नहीं मिलती हैं। मुद्रित पुस्तक में भी ये भाष्य गाथा के
क्रम में नहीं हैं। मूलतः ये दोनों गाथाएं ओघनिर्युक्ति की हैं।

८. अपाडिहारियं—थावरं (चू)।

९. वन्नट्ठं (बृभा ४०२२)।

१०. उच्छ्रायपृथुत्वेन असमं हुंडं (चू)।

११. अहारं (दे), ओनि ६८६, पंकभा ७९५।

१२. °मोदण (क)।

१३. इस गाथा के लिए चूर्ण में 'सुत्तफासिया (निज्जुत्ति)
इमे' का उल्लेख है।

१४. या (भ)।

१५. पुव्विं (दे)।

१६. व (दे, पा)।

१७. °तस्सा (भ)।

६९९. ज्येष्ठ और आषाढ़ उत्कृष्ट तृषामास (वे महीने जिनमें सर्वाधिक प्यास लगती है) होते हैं। ऊपर के चार अंगुल छोड़कर शेष नीचे के पात्र को भोजन या पानी से पूरा भरा जाए और वह यदि उत्कृष्ट तृषाभाव में दो गव्यूत दूरी से आए हुए साधु के लिए पर्याप्त हो जाए, वह प्रमाणोपेत पात्र होता है।

७००. इसी से कुछ बड़े प्रमाण वाला पात्र गच्छ के अनुग्रह के लिए रखा जाता है। कान्तार (अटवी), दुर्भिक्ष, नगररोध आदि आपवादिक परिस्थितियों में इसके उपयोग की भजना है।

७०१. भक्त (आहार) अथवा पानी में से किसी एक से भरा जाने पर जो एक साधु के लिए पर्याप्त होता है, वह मात्रक प्रमाणोपेत होता है।

७०१/१. जो मागध प्रस्थ होता है, मात्रक उससे कुछ विशेष (बृहत्) परिमाण वाला होता है। वर्षावास में उसमें दोनों ही द्रव्य (आहार और पानी) ग्रहण करने का अधिकार है।

७०१/२. जो सूप या ओदन से भरा हुआ हो और उस सम्पूर्ण द्रव्य को दो गव्यूत दूरी से आया हुआ साधु एक स्थान में बैठकर खा सके, वह मात्रक प्रमाणोपेत होता है।

७०२. जो पात्र वृत्ताकार, समचतुरस्र, मजबूत तथा स्थावर अर्थात् अप्रातिहार्य हो, वह वर्णाढ्य अर्थात् लक्षणयुक्त होता है। जो हुंड अर्थात् विषम संस्थान वाला, वाताविद्ध—झुर्रियों वाला या अनिष्पन्न तथा भिन्न (खंडित) हो, वह अधारणीय (न रखने योग्य) होता है।

७०३. परिघट्टण का अर्थ है—निर्माण, निर्मोक—मोक रहित करना, चारों ओर से घर्षण करना। वह अन्दर और बाहर दोनों तरफ होता है। संस्थापन का अर्थ है मुंह आदि को व्यवस्थित करना और जमाने का अर्थ है विषम को सम करना।

७०४. जो भिक्षु गृहस्थ अथवा अन्यतीर्थिक से थोड़ा-सा भी प्रथम अर्थात् परिघट्टन (बहुपरिकर्म वाला घर्षण) और द्वितीय अर्थात् संस्थापन (अल्पपरिकर्म वाला कार्य) करवाता है, वह आज्ञाभंग, मिथ्यात्व आदि दोषों को प्राप्त होता है।

७०५. मुनि को यदि पहले से परिघट्टित, संस्थापित और समीकृत पात्र मिल जाए तो उसका ग्रहण किया जा सकता है। यदि पूर्वकृत पात्र न मिले तो उसे उसका स्वल्प परिकर्म स्वयं करना^१ कल्पता है।

१. विषम को सम करना अपरिकर्म वाला कार्य है इसलिए मुनि स्वयं कर सकता है।

७०६. बितियपदमण्डणे वा, णिउणे वा केणई भवे असहू ।
वाघातो व सहुस्सा, परकरणं कप्पती ताहे ॥ ६९७ ॥
७०७. पच्छाकड साभिग्गह, निरभिग्गह भद्दगे य अस्सण्णी ।
गिहि अण्णतित्थिएण व, गिहि पुव्वं एतरे पच्छा^१ ॥ ६९८ ॥
७०८. 'दंडग विदंडगे'^२ वा^३, लट्ठि-विलट्ठी य तिविध तिविधा तु ।
वेलुमय वेत्त दारुग, बहु-अप्प अहागडे चेव ॥ ६९९ ॥
७०९. तिण्णि उ हत्थे दंडो, दोण्णि उ हत्थे विदंडगो होति ।
लट्ठी आतपमाणा, विलट्ठि चउरंगुलेणूणा^४ ॥ ७०० ॥
७१०. अद्धंगुला परेणं, छिज्जंता होंति सपरिकम्मा तु ।
अद्धंगुलमेगं तू^५, छिज्जंता अप्पपरिकम्मा ॥ ७०१ ॥
७११. जे पुव्ववड्ढिता वा, जमिता संठवित तच्छिता वावि ।
होंति तु पमाणजुत्ता, ते णातव्वा अहाकडगा ॥ ७०२ ॥
७१२. दुपद-चउप्पद-बहुपद^६, निवारणट्ठाय^७ रक्खणाहेउं^८ ।
अद्धाण मरणभय वुड्ढ, वासऽवट्ठंभणा^९ कप्पे ॥ ७०३ ॥
७१३. पढम-बितियाण करणं, सुहुममवी जो तु कारए भिक्खू ।
गिहि अण्णतित्थिएण व, सो पावति आणमादीणि ॥ ७०४ ॥ नि १४६ ॥
७१४. घट्ठित-संठविते वा^{१०}, पुव्विं जमिताएँ होति गहणं तु^{११} ।
असती पुव्वकयाए, कप्पति ताहे सयंकरणं ॥ ७०५ ॥

१. ७०६, ७०७—इन दोनों गाथाओं का प्रतियों में केवल प्रथम चरण का संकेत मिलता है ।
२. डंडग विडं (भ, मु), सूत्र ४० (नव १/४०) ।
३. या (भ) ।
४. तु. पंकभा ८४५, ओनि (७३०) में यह गाथा कुछ अंतर के साथ मिलती है—
लट्ठी आयपमाणा, विलट्ठि चउरंगुलेण परिहीणा ।
दंडो बाहुपमाणो, विदंडओ कक्खमेत्तो उ ॥

५. णं (भ) ।
६. बहुपया गंडयगोम्हिमादि (चू) ।
७. णट्ठा (क) ।
८. रक्खणगहेऊ (दे) ।
९. वत्थंभणा (क) ।
१०. विया या (भ), विताते (दे) ।
११. तू (मु) ।

७०६. साधु यदि पात्र के परिघट्टन आदि में स्वयं निपुण न हो अथवा निपुण होने पर भी अक्षम हो अथवा निपुण एवं सक्षम साधु के किसी प्रकार का व्याघात होने के कारण वह पात्र-परिघट्टन आदि कार्य स्वयं न कर सके तो द्वितीय पद में गृहस्थ या अन्यतीर्थिक से परिघट्टन आदि कार्य करवाना कल्पता है।

७०७. साधु जिस से पात्र का परिघट्टन आदि करवाए वह पच्छाकड़ हो, पच्छाकड़ न मिले तो अणुव्रती श्रावक हो, उसके न मिलने पर दर्शनश्रावक या यथाभद्रक मिथ्यादृष्टि गृहस्थ से पात्र का परिकर्म करवाए। उपर्युक्त गृहस्थ न मिले तो अन्यतीर्थिक में भी इसी क्रम से पहले गृहस्थ और उनके अभाव में अन्यतीर्थिक संन्यासियों से पात्र का परिकर्म करवाया जा सकता है।

७०८. दंड, विदंड, लाठी और विलट्टी (छोटी लाठी)—इनके तीन-तीन प्रकार होते हैं—१. वेणुमय, २. वेत्रमय और ३. दारु (काष्ठ) मय। पुनः उनके तीन-तीन प्रकार होते हैं—१. बहुपरिकर्म, २. अल्पपरिकर्म और ३. अपरिकर्म।

७०९. दंड तीन हाथ का होता है। विदंड दो हाथ का होता है। लाठी आत्मप्रमाण अर्थात् शरीर प्रमाण होती है और विलट्टी उससे चार अंगुल कम होती है।

७१०. जिस दंड आदि का आधा अंगुल से ज्यादा छेदन किया जाए, वह सपरिकर्म (बहुपरिकर्म) दंड होता है। जिसका आधा अंगुल जितना (या उससे कम) छेदन किया जाए, वह दंड आदि अल्पपरिकर्म होता है।

७११. जो दंड, विदंड आदि पहले से ही वर्धित (काटे हुए), समीकृत (सम किये हुए), संस्थापित अथवा तक्षित (छीले हुए) हों तथा प्रमाणयुक्त (प्रमाणोपेत) हों, उन्हें यथाकृत जानना चाहिए।

७१२. मुनि को इन प्रयोजनों से दंड आदि रखना कल्पता है—१. द्विपद, चतुष्पद और बहुपद आदि प्राणियों के निवारण के लिए। २. इन प्राणियों से रक्षा के लिए। ३. अटवी आदि में (प्रलंब आदि लेने के लिए)। ४. मृतक का वहन करने के लिए। ५. म्लेच्छ, अपहर्ता स्तेन आदि के भय में प्रहरण के लिए, ६. वृद्धावस्था में सहारे के लिए।

७१३. जो भिक्षु गृहस्थ अथवा अन्यतीर्थिक से थोड़ा सा भी प्रथम—परिघट्टन आदि बहुपरिकर्म वाला कार्य तथा द्वितीय—संस्थापन आदि अल्पपरिकर्म वाला कार्य करवाता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

७१४. मुनि को यदि पहले से घट्टित (अवलेखित), संस्थापित (पार्श्व भाग आदि से ठीक किया हुआ) और यमित (ऋजु-सीधा किया हुआ) दंड आदि मिल जाए तो उसका ग्रहण किया जा सकता है। यदि पूर्वकृत वैसा दंड आदि न मिले तो उसे उसका स्वल्प परिकर्म स्वयं करना कल्पता है।

७१५. परिघट्टणं तु लिहणं^१, मूलग्गा पव्वमादि संठवणं।
उज्जूकरणं जमणं, दंडगमादीण सव्वेसिं^२ ॥ ७०६ ॥
७१६. बितियपदमणिउणे^३ वा, निउणे वा केणई भवे असहू।
वाघातो व सहुस्सा, परकरणं कप्पती ताहे ॥ ७०७ ॥
७१७. पच्छाकड साभिग्गह, निरभिग्गह भद्दगे य अस्सण्णी।
गिहि-अण्णतित्थिगेण व, गिहि पुव्वं एतरे पच्छा^४ ॥ ७०८ ॥
७१८. उडुबद्धे रयहरणं, वासावासासु पादलेहणिया।
वड-उंबरे पिलक्खू, तेसि^५ अलंभम्मि^६ अंबिलिया ॥ ७०९ ॥
७१९. बारसअंगुलदीहा, अंगुलमेगं तु होति वित्थिण्णा।
घण-मसिण-णिव्वणा^७ वि य, पुरिसे पुरिसे य पत्तेयं ॥ ७१० ॥
७२०. एक्केक्का सा तिविधा, बहुपरिकम्मा य अप्पपरिकम्मा।
अपरीकम्मा^८ य तहा, जलभावित एतरा चेव ॥ ७११ ॥
७२१. अद्धंगुला परेणं, छिज्जंती^९ होंति सपरिकम्मा तु।
अद्धंगुलमेगं तू, छिज्जंती अप्पपरिकम्मा ॥ ७१२ ॥
७२२. जा पुव्ववड्ढिता वा, जमिता संठवित तच्छिता वावि।
लब्भति पमाणजुत्ता, सा णातव्वा अहाकडगा^{१०} ॥ ७१३ ॥
७२३. पढम-बितियाण करणं, सुहुममवी जो तु कारण भिक्खू।
गिहि-अण्णतित्थिएण व, सो पावति आणमादीणि ॥ ७१४ ॥ नि १४७ ॥
७२४. घट्टित-संठविताए, पुव्विं 'जमिताएँ होति गहणं तु'^{११}।
असती पुव्वकडाए, कप्पति ताहे सयंकरणं ॥ ७१५ ॥

१. निहणं (मु, दे, पा)।

२. णायव्वं (दे, पा)।

३. °मतिणिउणे (क)।

४. ७१६ और ७१७—इन दोनों गाथाओं का प्रतियों में केवल प्रथम चरण मिलता है।

५. तस्स (भ, पंकभा ८५१)।

६. अलंभेउ (दे)।

७. णिव्विणा (भ), णिव्विणा—खयवज्जिया (चू)।

८. अप्परि° (भ, मु)।

९. छिप्पंती (क)।

१०. °कडिया (भ)।

११. जमिया वि ते होंति ऊ गहणं (दे)।

७१५. दंड आदि सब के प्रसंग में परिघट्टन का अर्थ है—घिसना, संस्थापन का अर्थ है—मूलभाग, अग्रभाग और पर्व आदि को ठीक करना तथा यमन का अर्थ है—ऋजु (सीधा) करना।

७१६, ७१७. भिक्षु यदि दंड, लाठी आदि का परिकर्म करने में निपुण न हो अथवा निपुण होने पर भी अक्षम हो अथवा निपुण और सक्षम भिक्षु के किसी प्रकार का व्याघात (बाधा) होने के कारण दंड, लाठी आदि का परिकर्म न कर सके तो गृहस्थ अथवा अन्यतीर्थिक से दंड लाठी आदि का परिकर्म करवा सकता है। भिक्षु जिससे दंड लाठी का परिकर्म करवाए, वह पच्छाकड़ हो, पच्छाकड़ न हो तो अणुव्रती श्रावक हो। उसके न मिलने पर क्रमशः दर्शनश्रावक या यथाभद्रक मिथ्यादृष्टि गृहस्थ से दंड आदि का परिकर्म करवाए। उपर्युक्त गृहस्थ न मिले तो अन्यतीर्थिक में भी इसी क्रम से पहले गृहस्थ और उनके अभाव में अन्यतीर्थिक संन्यासियों से दंड आदि का निर्माण करवाया जा सकता है।

७१८. ऋतुबद्ध काल में रजोहरण से पैरों का प्रमार्जन किया जाता है और वर्षावास में पादलेखनिका (पैर आदि से कीचड़ आदि का अपनयन करने का उपकरण) का प्रयोग किया जाता है। पादलेखनिका प्रायः बड़, उदुम्बर तथा पीपल की लकड़ी से बनती है। वह न मिले तो इमली की लकड़ी की भी बनाई जाती है।

७१९. पादलेखनिका बारह अंगुल लम्बी और एक अंगुल चौड़ी होती है। वह घन (दृढ़/ठोस) मसृण और निर्घ्रण (क्षयरहित) होनी चाहिए। वह प्रत्येक पुरुष (मुनि) के पास एक-एक होती है।

७२०. प्रत्येक पादलेखनिका (बड़ आदि से निर्मित अवलेखनिका) के तीन-तीन प्रकार हैं—१. बहुपरिकर्म, २. अल्पपरिकर्म और ३. अपरिकर्म। पुनः उसके दो-दो प्रकार हैं—जलभावित और अजलभावित।

७२१. जिस पादलेखनिका का आधा अंगुल से ज्यादा छेदन किया जाए, वह सपरिकर्म (बहुपरिकर्म) तथा जिसका आधा अंगुल (या उससे कम) छेदन किया जाए, वह अल्पपरिकर्म होती है।

७२२. जो पादलेखनिका पहले से ही वर्धित (काटी हुई), समीकृत (सम बनाई हुई) संस्थापित अथवा तक्षित (घीसी हुई) हो तथा प्रमाणोपेत प्राप्त हो, उसे यथाकृत जानना चाहिए।

७२३. जो भिक्षु गृहस्थ अथवा अन्यतीर्थिक से थोड़ा सा भी प्रथम (बहुपरिकर्म—काटना आदि) तथा द्वितीय (अल्पपरिकर्म—संस्थापन आदि) कार्य करवाता है, उसे आज्ञाभंग आदि दोष प्राप्त होते हैं।

७२४. भिक्षु को यदि पहले से घट्टित, संस्थापित और समीकृत पादलेखनिका मिल जाए तो उसका ग्रहण किया जा सकता है। यदि पूर्वकृत वैसी पादलेखनिका न मिले तो उसे उसका स्वल्प परिकर्म स्वयं करना कल्पता है।

७२५. बितियपदमणिउणे वा, निउणे वा केणई भवे असहू।
वाघातो व सहुस्सा, परकरणं कप्पती ताहे ॥ ७१६ ॥
७२६. पच्छाकड साभिग्गह, निरभिग्गह भद्दगे य अस्सण्णी।
गिहि-अण्णतित्थिगेण व, गिहि पुव्वं एतरे पच्छां ॥ ७१७ ॥
७२७. वेणुमयी^३ गवलमयी^३, दुविधा सूई^४ समासतो होति।
चउरंगुलप्पमाणा, सा सिव्वण-संधणट्ठाए ॥ ७१८ ॥ नि १४८ ॥
७२८. एक्केक्का सा तिविधा, बहुपरिकम्मा य अप्पपरिकम्मा।
अपरीकम्मा^५ य तहा, गातव्वा आणुपुव्वीए ॥ ७१९ ॥
७२९. अद्धंगुला परेणं, छिज्जंती होति सपरिकम्मा तु।
अद्धंगुलमेगं तू, छिज्जंती अप्पपरिकम्मा ॥ ७२० ॥
७३०. जा पुव्ववट्ठिता^६ वा, जमिता संठवित-तच्छिता वावि।
लब्भति पमाणजुत्ता, सा गातव्वा अथाकडगा^७ ॥ ७२१ ॥
७३१. पढम-बितियाण करणं, सुहुममवी जो तु कारए^८ भिक्खू।
गिहि-अण्णतित्थिएण व, सो पावति आणमादीणि ॥ ७२२ ॥ नि १४९ ॥
७३२. घट्टितसंठविताए, पुव्वं^९ जमिताइ होति गहणं तु।
असती पुव्वकडाए, कप्पति ताहे सयंकरणं ॥ ७२३ ॥
७३३. बितियपदमणिउणे वा, निउणे वा केणई भवे असती।
वाघातो व सहुस्सा, परकरणं कप्पती ताहे^{१०} ॥ ७२४ ॥

१. ७२५, ७२६ — इन दोनों गाथाओं का प्रतियों में केवल प्रथम चरण तथा 'एवं तहेव गाहा' का उल्लेख मिलता है।

२. वेलुमयी (भ, मु)।

३. लोहमयी (मु)।

४. सुती (दे)।

५. अप्परि (भ)।

६. पुव्वसंठिया (क)।

७. अथाकडिया (दे)।

८. कारणे (दे)।

९. पुव्विं (दे, भ)।

१०. ७३३ और ७३४ — इन दोनों गाथाओं का प्रतियों में केवल प्रथम चरण का संकेत मिलता है।

७२५. भिक्षु यदि पादलेखनिका का परिकर्म करने में निपुण न हो अथवा निपुण होने पर भी अक्षम हो अथवा निपुण एवं सक्षम साधु के किसी प्रकार का व्याघात (बाधा) होने के कारण वह पादलेखनिका का परिकर्म न कर सके तो द्वितीय पद में गृहस्थ या अन्यतीर्थिक से उसका परिकर्म करवाना कल्पता है।

७२६. भिक्षु जिस से पादलेखनिका का परिकर्म करवाए, वह पच्छाकड हो, पच्छाकड न मिले तो अणुव्रती श्रावक हो। उसके न मिलने पर क्रमशः दर्शनश्रावक अथवा यथाभद्रक मिथ्यादृष्टि गृहस्थ से पादलेखनिका का परिकर्म करवाए। उपर्युक्त गृहस्थ न मिले तो अन्यतीर्थिक में भी इसी क्रम से पहले गृहस्थ और उसके अभाव में अन्यतीर्थिक संन्यासियों से पादलेखनिका का परिकर्म करवाया जा सकता है।

७२७. सूई संक्षेप में दो प्रकार की होती है—१. वेणु (बांस) निर्मित और २. लोहनिर्मित। परिमाण की अपेक्षा से वह चार अंगुल लम्बी होती है। वह सिलाई (फटे हुए वस्त्र आदि को सिलना) तथा संधान (दो, तीन वस्त्रखंडों को जोड़ना) के लिए रखी जाती है।

७२८. प्रत्येक सूई के क्रमशः तीन प्रकार ज्ञातव्य हैं—१. बहुपरिकर्म २. अल्पपरिकर्म और ३. अपरिकर्म।

७२९. जिस सूई का आधा अंगुल से ज्यादा छेदन किया जाता है, वह सपरिकर्म होती है। जिसका आधा अंगुल जितना (या उससे कम) छेदन किया जाए, वह सूई अल्पपरिकर्म होती है।

७३०. वेणु आदि की जो सूई पहले से ही वर्धित, यमित (समीकृत), संस्थापित और तक्षित हो तथा प्रमाणोपेत प्राप्त हो, उसे यथाकृत जानना चाहिए।

७३१. जो भिक्षु गृहस्थ अथवा अन्यतीर्थिक से थोड़ा सा भी प्रथम—बहुपरिकर्म और द्वितीय—अल्पपरिकर्म वाला कार्य करवाता है तो वह आज्ञाभंग, मिथ्यात्व आदि दोषों को प्राप्त होता है।

७३२. भिक्षु को यदि पहले से घट्टित (अवलेखित), संस्थापित और यमित (समीकृत) वेणु आदि की सूई मिल जाए तो उसका ग्रहण किया जा सकता है। यदि पूर्वकृत सूई न मिले तो उसे स्वयं करना कल्पता है।

७३३. भिक्षु यदि सूई का परिकर्म करने में निपुण न हो अथवा निपुण होने पर भी अक्षम हो अथवा सक्षम एवं निपुण साधु के किसी प्रकार का व्याघात (बाधा) होने के कारण सूई का परिकर्म न कर सके तो द्वितीय पद में गृहस्थ अथवा अन्यतीर्थिक से उसका परिकर्म करवाना कल्पता है।

७३४. पच्छाकड साभिग्गह, निरभिग्गह भद्दगे य अस्सण्णी।
गिहि-अण्णतित्थिगेण व, गिहि पुव्वं एतरे पच्छा ॥ ७२५ ॥
७३५. लाउय-दारुयपाए^१, मट्टियपाए य तड्डुणं दुविधं।
तज्जातमतज्जाते, तज्जाएगे दुवे इतरे ॥ ७२६ ॥ नि १५० ॥
७३६. एतेसामण्णतरं, एगतरागेण जो तु तड्डुज्जा।
तिण्हं एगतराए, विज्जंताणादिणो^२ दोसा ॥ ७२७ ॥ नि १५१ ॥
७३७. संतासंतऽसतीए, अथिर-अपज्जत्तऽलब्भमाणे वा।
पडिसेहऽणेसणिज्जे, असिवादी संततो असती ॥ ७२८ ॥
७३८. असिवे ओमोदरिए, रायदुट्टे^३ भएण^४ आगाढे।
सेहे चरित्त सावय, भए^५ व असिवादियं एतं ॥ ७२९ ॥
७३९. भिण्णे व झामिते वा, पडिणीए तेण साणमादीसुं^६।
एतेहि कारणेहिं, णातव्वाऽसंततो असती ॥ ७३० ॥
७४०. संतासंतऽसतीए, कप्पति तज्जात तड्डुणं काउं।
तज्जातम्मि असंते, इतरेण वि तड्डुणं कुज्जा ॥ ७३१ ॥
७४१. तिण्हं^७ तु तड्डुयाणं, परेण जो^८ भिक्खु तड्डुते पायं।
सो आणा-अणवत्थं, मिच्छत्त विराधणं पावे ॥ ७३२ ॥ नि १५२ ॥
७४२. संतासंतऽसतीए, अथिर-अपज्जत्तऽलब्भमाणे वा।
पडिसेधऽणेसणिज्जे, असिवादी संततो असती ॥ ७३३ ॥
७४३. असिवे ओमोदरिए, रायदुट्टे भएण आगाढे।
सेहे चरित्त सावय, भए व असिवादियं एतं^९ ॥ ७३४ ॥

१. सूत्र ४१ (नव १/४१)।

२. वज्जं (भ)।

३. रायदुट्टे (मु)।

४. भए व (पा)।

५. भयं (क)।

६. सावयादीसु (भ, मु)।

७. सूत्र ४२ (नव १/४२)।

८. जे (भ, पा)।

९. प्रतियों में इस गाथा का केवल प्रथम चरण मिलता है।

७३४. भिक्षु जिससे सूई का परिकर्म करवाए, वह पच्छाकड़ हो, पच्छाकड़ न मिले तो अणुव्रती श्रावक हो, उसके न मिलने पर क्रमशः दर्शनश्रावक अथवा यथाभद्रक मिथ्यादृष्टि गृहस्थ से सूई का परिकर्म करवाए। उपर्युक्त गृहस्थ न मिले तो अन्यतीर्थिक में भी इसी क्रम से पहले गृहस्थ से और उसके अभाव में अन्यतीर्थिक संन्यासियों से सूई का परिकर्म करवाया जा सकता है।

७३५. तुम्बे के पात्र, काष्ठ पात्र और मिट्टी के पात्र—इन तीनों प्रकार के पात्रों पर लगाए जाने वाले थिग्गल के दो-दो प्रकार हैं—१. तज्जात और २. अतज्जात। उनमें एक तज्जात (उसी वस्तु का जैसे—तुम्बे के पात्र के तुम्बे का थिग्गल) और दो अतज्जात (तुम्बे के काष्ठ अथवा मिट्टी का थिग्गल) होते हैं।

७३६. इन तीनों में से किसी भी प्रकार का पात्र हो, तब भी किसी अन्य पात्र को जो मुनि तज्जात अथवा अतज्जात एक थिग्गल लगाता है, वह आज्ञाभंग, मिथ्यात्व आदि दोषों को प्राप्त होता है।

७३७. पात्र दुर्लभ हो, ऐसी स्थिति में अपवादस्वरूप उसके एक थिग्गल लगाया जा सकता है। पात्र की असती अर्थात् अभाव दो प्रकार का होता है—१. संतासती (पात्र के होने पर होने वाला अभाव अर्थात् यथोचित पात्र का अभाव) तथा २. असंतासती (पात्र के न होने पर होने वाला अभाव)। संतासती के हेतु हैं—१. अस्थिरत्व,^१ १. अपर्याप्तत्व,^२ ३. अप्राप्ति,^३ ४. प्रतिषेध,^४ ५. अनेषणीयत्व, ६. अशिव आदि^५।

७३८. अशिव आदि ये हैं—१. आगाढ़ अशिव, २. आगाढ़ अवमौदर्य, ३. आगाढ़ रागद्वेष, ४. आगाढ़ भय, ५. शैक्षसम्बन्धी दोष, ६. चारित्र-दोष और ७. श्वापदभय।

७३९. पात्र टूट जाए, जल जाए, कोई प्रत्यनीक, चोर अथवा भिक्षाचर पात्र का हरण कर ले, कोई हिंस्र पशु उठा ले जाए—इत्यादि कारणों से पूर्व पात्र न रहे, दूसरा पात्र भी न हो तथा पात्र भूमि (पात्रोत्पत्ति स्थान, फेक्ट्री आदि) में भी पात्र निर्माण न होने से पात्र उपलब्ध न हो—यह पात्र की असंतासती है।

७४०. पात्र की संतासती और असंतासती के कारण मुनि को पात्र में एक तज्जात थिग्गल लगाना कल्पता है। यदि तज्जात थिग्गल न लगाया जा सके तो एक अतज्जात थिग्गल भी लगाया जा सकता है।

७४१. जो भिक्षु पात्र के तीन से अधिक थिग्गल लगाता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व और विराधना—इन दोषों को प्राप्त होता है।

७४२. पात्र दुर्लभ हो, ऐसी स्थिति में अपवादस्वरूप उसके तीन से अधिक थिग्गल लगाए जा सकते हैं। पात्र का अभाव दो प्रकार का होता है—१. संतासती और असंतासती। संतासती के हेतु हैं—१. अस्थिरत्व २. अपर्याप्तत्व ३. अप्राप्ति ४. प्रतिषेध ५. अनेषणीयत्व और ६. अशिव आदि।

७४३. अशिव आदि ये हैं—१. आगाढ़ अशिव २. आगाढ़ अवमौदर्य ३. आगाढ़ रागद्वेष ४. आगाढ़ भय ५. शैक्षसंबन्धी दोष ६. चारित्रदोष और ७. श्वापदभय।

१. अस्थिर अर्थात् पात्र इतना दुर्बल हो कि भिक्षा ग्रहण करते हुए टूट जाए अथवा पात्र पुनः गृहस्थ को लौटाना हो।

२. पात्र परिमाण अथवा गणना में पर्याप्त न हो।

३. गृहस्थ के पास पात्र की गवेषणा करने पर भी न मिले।

४. दण्डक पुरुष आदि पात्र का प्रतिषेध कर दे अथवा जाने न दे।

५. पात्र लेने के लिए जिस मार्ग से जाना हो, उसके बीच (मार्ग में) महामारी आदि का भयंकर प्रकोप हो, दुर्भिक्ष हो, बीच में किसी शत्रु राजा का शासन हो, म्लेच्छ आदि का भय हो, शैक्षों के प्रति उपसर्ग आदि की संभावना हो, स्त्रीदोष, एषणादोष आदि के कारण चारित्र हानि की संभावना हो, सिंह आदि श्वापदों का भय हो—इत्यादि कारण अशिव आदि के अंतर्गत ग्रहण किए गए हैं।

७४४. भिण्णे व झामिते वा, पडिणीए तेण सावयादीसुं।
‘एतेहि कारणेहिं’^१, ‘णातव्वाऽसंततो असती’^२ ॥ ७३५ ॥
७४५. संतासंतऽसतीए, परेण तिण्हं न तडुते पायं।
एवंविहे असंते, परेण तिण्हं पि तडुज्जा ॥ ७३६ ॥
७४६. तिविधम्मि^३ वि पायम्मी^४, दुविधो बंधो तु होति णातव्वो।
अविधी-विधी य बंधो, अविधी-बंधो इमो तत्थ ॥ ७३७ ॥ नि १५३ ॥
७४७. सोत्थियबंधो दुविधो, अविकलितो^५ तेण बंध चउरंसो।
एसो तु अविधिबंधो, विधिबंधो ‘मुद्दि णावा य’^६ ॥ ७३८ ॥ नि १५४ ॥
७४८. एत्तो एगतरेणं, जो पायं अविधिणा तु बंधेज्जा।
तिण्हं एगतरागं, सो पावति आणमादीणि ॥ ७३९ ॥ नि १५५ ॥
७४९. विधिबंधो वि न कप्पति, दोसा ते चेव आणमादीया।
तं कप्पती न कप्पति, निरत्थगं कारणं किं तं ॥ ७४० ॥
७५०. संतासंतऽसतीए, अथिर-अपज्जत्तऽलब्भमाणे वा।
पडिसेहऽणेसणिज्जे, असिवादी संततो असती ॥ ७४१ ॥
७५१. असिवे ओमोदरिए, रायहुट्टे भएण आगाढे।
सेहे चरित्त सावय, भए व असिवादियं एतं ॥
७५२. भिण्णे व झामिते वा, पडिणीए तेण सावयादीसु।
एतेहि कारणेहिं, णातव्वा संततो असती^७ ॥

१. एतेण कारणेणं (क)।

२. × (क), पा प्रति में इस गाथा के प्रथम चरण का संकेत मात्र है।

३. सूत्र ४३ (नव १/४३)।

४. °म्मिं (दे)।

५. वतिक° (चू)।

६. मुद्दियाबंधो (क, दे, पा)।

७. ७५१ और ७५२—ये दोनों गाथाएं हस्तप्रतियों तथा मुद्रित-भाष्य में नहीं हैं। प्रति में ‘गाहा तिण्णि भाणियव्वाओ’ का उल्लेख है। यहां ‘‘गाहा दोण्णि भाणियव्वा’’ का उल्लेख होना चाहिए। इन गाथाओं की पूर्व गाथाओं के आधार पर पूर्ति की गई है।

७४४. पात्र टूट जाए, जल जाए, कोई प्रत्यनीक, चोर या भिक्षाचर पात्र का हरण कर ले, कोई हिंस्र पशु उठा ले जाए—इत्यादि कारणों से पूर्व पात्र न रहे, दूसरा पात्र न हो, पात्रभूमि में भी पात्र निर्माण न होने से पात्र उपलब्ध न हो—यह पात्र की असंतासती है।

७४५. पात्र की संतासती और असंतासती के कारण सामान्यतः भिक्षु पात्र में तीन से अधिक थिगल न लगाए। इस प्रकार के विशिष्ट अभाव में अपवादपद में भिक्षु तीन से अधिक थिगल भी लगा सकता है।

७४६, ७४७. ज्ञातव्य है कि तीनों ही प्रकार के पात्र में दो प्रकार का बन्ध होता है—१. अविधि बंध और २. विधिबंध। उनमें अविधि बन्ध यह है—स्वस्तिक बन्ध दो प्रकार का होता है—१. व्यतिकलित (विकलित) और २. अव्यतिकलित (अविकलित)। अव्यतिकलित बन्ध समचतुरस्र होता है। व्यतिकलित बन्ध एक ओर से बांधा हुआ भी होता है और दोनों ओर से भी। ये सारे अविधिबंध हैं।^१

विधिबंध के दो प्रकार हैं—मुद्रिका संस्थान और नौका संस्थान।

७४८. जो भिक्षु तीनों में से किसी भी पात्र को इनमें से एक भी बंध से अविधि से बांधता है, वह आज्ञाभंग अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

७४९. आचार्य कहते हैं—भिक्षु को विधिपूर्वक भी पात्र के बन्धन लगाना नहीं कल्पता। उसमें भी उसे वे ही आज्ञाभंग आदि दोष प्राप्त होते हैं।

प्रश्नकर्ता—सूत्र में अविधि बन्धन का निषेध है अर्थात् विधि बन्धन कल्पता है।

आचार्य—नहीं, विधिबन्धन भी नहीं कल्पता।

प्रश्नकर्ता—तब सूत्र निरर्थक हो जाएगा।


आचार्य—सूत्र सकारण है अतः निरर्थक नहीं।


प्रश्नकर्ता—कारण क्या है ?


७५०. आचार्य—वे कारण हैं—१. पात्र विषयक संतासती और २. असंतासती। उनमें संतासती के हेतु हैं—१. अस्थिरत्व, २. अपर्याप्तत्व, ३. अप्राप्ति, ४. प्रतिषेध, ५. अनेषणीयत्व और ६. अशिव आदि।


७५१. अशिव आदि ये हैं—१. आगाढ़ अशिव २. आगाढ़ अवमौदर्य ३. आगाढ़ रागद्वेष ४. आगाढ़ भय ५. शैक्षसंबंधी दोष ६. चारित्रदोष और ७. श्वापदभय।

७५२. पात्र टूट जाए, जल जाए, कोई प्रत्यनीक, चोर या भिक्षाचर पात्र का हरण कर ले, कोई हिंस्र पशु उठा ले जाए—इत्यादि कारणों से पूर्व पात्र न रहे, दूसरा पात्र न हो, पात्रभूमि में भी पात्र निर्माण न होने से पात्र उपलब्ध न हो—यह पात्र की असंतासती है।

१. १. विधि बंध —अविकलित बंध। 

२. विकलित बंध (एक ओर से भिन्न)। 

३. विकलित बंध (द्विधा भिन्न)। 

४. स्तेन बंध। 

७५३. संतासंतऽसतीए, कप्पति विहिणा तु बंधितुं पायं।
दुब्बल-दुल्लभपाए, अविधीएँ वि बंधणं कुज्जा ॥ ७४२ ॥
७५४. एगेणं^१ बंधेणं, पायं खलु बंधते तु जो भिक्खू।
विधिणा व अविधिणा वा, सो पावति आणमादीणि ॥ ७४३ ॥ नि १५६ ॥
७५५. संतासंतऽसतीए, अथिर-अपज्जत्तऽलब्भमाणे वा।
पडिसेहऽणेसणिज्जे, असिवादी संततो असती ॥
७५६. असिवे ओमोदरिए, रायहुट्टे भएण आगाढे।
सेहे चरित्त सावय, भए व असिवादियं एतं ॥
७५७. भिण्णे व झामिते वा, पडिणीए तेण सावयादीसु।
एतेहि कारणेहिं, णातव्वाऽसंततो असती^२ ॥
७५८. संतासंतऽसतीए, परेण तिण्हं न बंधते पायं।
एवंविहे असंते, परेण तिण्हं पि बंधेज्जा ॥ ७४४ ॥
७५९. तिण्हं^३ तू^४ बंधाणं, परेण जे भिक्खु बंधते^५ पायं।
विधिणा व अविधिणा वा^६, सो पावति आणमादीणि ॥ ७४५ ॥ नि १५७ ॥
७६०. संतासंतऽसतीए, अथिर-अपज्जत्तऽलब्भमाणे वा।
पडिसेहऽणेसणिज्जे, असिवादी संततो असती ॥ ७४६ ॥
७६१. असिवे ओमोदरिए, रायहुट्टे भएण आगाढे।
सेहे चरित्त सावय, भए व असिवादियं एतं ॥ ७४७ ॥
७६२. भिण्णे व झामिते वा, पडिणीए तेण सावयादीसु।
एतेहि कारणेहिं, णातव्वाऽसंततो असती^७ ॥ ७४८ ॥

१. सूत्र ४४ (नव १/४४)।

२. ७५५-५७—इन तीन गाथाओं के लिए चूर्णि में 'शेषं पूर्ववत्' का उल्लेख है तथा प्रतियों में 'गाहाओ भाणियव्वाओ' का संकेत है। पूर्व गाथाओं के आधार पर इनकी पूर्ति कर दी गई है।

३. सूत्र ४५ (नव १/४५)।

४. तं (दे)।

५. बंधती (मु)।

६. × (क)।

७. ७६१ एवं ७६२—इन दोनों गाथाओं का प्रतियों में प्रतीक रूप में प्रथम चरण का संकेत मिलता है।

७५३. पात्र विषयक संतासती और असंतासती में मुनि को पात्र में विधिपूर्वक बन्धन लगाना कल्पता है। यदि पात्र अत्यन्त दुर्बल हो तथा अन्य पात्र दुर्लभ हो तो (आपवादिक रूप में) अविधि बन्धन भी लगाया जा सकता है।

७५४. जो भिक्षु पात्र को अविधि अथवा विधि से (निरर्थक) एक भी बन्धन लगाता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

७५५. पात्र के बन्धन लगाने के कारण हैं—१. पात्र विषयक संतासती और २. असंतासती। उनमें संतासती के हेतु हैं—१. अस्थिरत्व, २. अपर्याप्तत्व, ३. अप्राप्ति, ४. प्रतिषेध, ५. अनेषणीयत्व और ६. अशिव आदि।

७५६. अशिव आदि ये हैं—१. आगाढ़ अशिव २. आगाढ़ अवमौदर्य ३. आगाढ़ राजद्वेष ४. आगाढ़ भय ५. शैक्षसंबंधी दोष ६. चारित्रदोष और ७. श्वापदभय।

७५७. पात्र टूट जाए, जल जाए, कोई प्रत्यनीक, चोर या भिक्षाचर पात्र का हरण कर ले, कोई हिंस्र पशु उठा ले जाए—इत्यादि कारणों से पूर्व पात्र न रहे, दूसरा पात्र भी न हो, पात्रभूमि में भी पात्र निर्माण न होने से पात्र उपलब्ध न हो—यह पात्र की असंतासती है।

७५८. पात्र-विषयक संतासती और असंतासती की स्थिति में मुनि पात्र के तीन से अधिक बन्धन न लगाए। किन्तु पूर्वोक्त अभाव की स्थिति में (पात्र दुर्बल हो तथा अन्य पात्र की प्राप्ति दुर्लभ हो तो) तीन से अधिक बन्धन भी लगाए जा सकते हैं।^१

७५९. जो भिक्षु पात्र को तीन से अधिक बन्धन लगाता है, चाहे वह विधिपूर्वक बन्धन लगाए या अविधि से, वह आज्ञाभंग आदि दोषों को प्राप्त होता है।

७६०. पात्र के एकाधिक बन्धन लगाने के कारण हैं—१. पात्र विषयक संतासती और २. असंतासती। उनमें संतासती के हेतु हैं—१. अस्थिरत्व, २. अपर्याप्तत्व, ३. अप्राप्ति, ४. प्रतिषेध, ५. अनेषणीयत्व और ६. अशिव आदि।

७६१. अशिव आदि ये हैं—१. आगाढ़ अशिव २. आगाढ़ अवमौदर्य ३. आगाढ़ राजद्वेष ४. आगाढ़ भय ५. शैक्षसंबंधी दोष ६. चारित्रदोष और ७. श्वापदभय।

७६२. पात्र टूट जाए, जल जाए, कोई प्रत्यनीक, चोर या भिक्षाचर पात्र का हरण कर ले, कोई हिंस्र पशु उठा ले जाए—इत्यादि कारणों से पूर्व पात्र न रहे, दूसरा पात्र भी न हो, पात्रभूमि में भी पात्र निर्माण न होने से पात्र उपलब्ध न हो—यह पात्र की असंतासती है।

१. सूत्र ४४ एक बंधन तथा सूत्र ४५ तीन बन्धन के प्रायश्चित्त का प्ररूपण करता है। भाष्यकार ने अपवादनिरूपण के प्रसंग में उभयत्र तीन बन्धन विषयक अपवाद का कथन किया है।

७६३. संतासंतऽसतीए, परेण तिण्हं न बंधियव्वं तु।
एवंविधे असंते, परेण तिण्हं पि बंधेज्जा ॥ ७४९ ॥
७६४. अवलक्खणेगबंधं^१, दुग-तिग अतिरेगबंधणं वावि।
जो पायं परियट्ठति, परं दिवड्ढाओं मासाओ ॥ ७५० ॥ नि १५८ ॥
७६५. सो आणा-अणवत्थं, मिच्छत्त-विराधणं तथा दुविधं।
पावति जम्हा तेणं, अण्णं पायं विमग्गेज्जा ॥ ७५१ ॥ नि १५९ ॥
७६६. हुंडं^२ सबलं^३ वाताइद्धं, दुप्पुत्तं^४ खीलसंठितं^५ चेव।
पउमुप्पलं^६ च सवणं, अलक्खणं दड्ढु दुव्वणं ॥ ७५२ ॥
७६७. हुंडे चरित्तभेदो, 'सबले चित्तविब्भमो'^७।
दुप्पुत्ते खीलसंठाणे, 'गणे व चरणे व णो ठाणं'^८ ॥ ७५३ ॥
७६८. पउमुप्पले अकुसले^९, सव्वणे वणमादिसे।
अंतो बहिं च दड्ढे, मरणं तत्थ निद्दिसे^{१०} ॥ ७५४ ॥
७६९. दुव्वणम्मि य पायम्मि, णत्थि णाणस्स आगमो।
तम्हा एते न धारेज्जा, मग्गणे य विधी इमो ॥ ७५५ ॥
७७०. अवलक्खणेगबंधं^{११}, सुत्तत्थ करेज्ज^{१२} मग्गणं कुज्जा।
दुग-तिग-बंधे सुत्तं, तिण्हुवरिं दो विवज्जेज्जा ॥ ७५६ ॥
७७१. चत्तारि अहाकडगे, दो मासा होंति अप्परिकम्मो।
तेण परं मग्गेज्जा^{१३}, दिवड्ढुमासं सपरिकम्मं ॥ ७५७ ॥

१. सूत्र ४६ (नव १/४६)।

२. समचउरंसं जं न भवति, तं हुंडं (चू)।
३. कृष्णादिचित्तलाणि जस्स, तं सबलं (चू)।
४. पुप्पुअं (दे), दुप्पतं (भ), जं ठविज्जंतं उद्धं ठायति
चालियं पुण पलोट्ठति, तं दुप्पुत्तं (चू)।
५. जं ठविज्जंतं ण ठाति, तं खीलसंठितं (चू)।
६. जस्स अहो णाभी पउमागिती उप्पलागिती वा, तं
पउमुप्पलं (चू)।
७. सबलम्मि य चित्तविब्भमं जाणे (बृभा)।

८. णत्थि ठाणे ति निद्दिसे (दे), नत्थि ट्ठाणं ति निद्दिसे (बृभा
४०२४), गाथा का प्रथम और अंतिम चरण आर्या तथा
दूसरा, तीसरा चरण अनुष्टुप् छंद का है।
९. य कुसलं (क)।
१०. विनिद्दिसे (भ), बृभा ४०२५, ओनि ६८९, गाथा के दूसरे
और चौथे चरण में अनुष्टुप् छंद है।
११. °बंधे (भ, मु)।
१२. करेतं (भ, मु)।
१३. विमग्गे (दे), पंकभा ८०७।

७६३. पात्र-विषयक संतासती और असंतासती की स्थिति में मुनि सामान्यतः पात्र के तीन से अधिक बन्धन न लगाए। किन्तु पूर्वोक्त अभाव की स्थिति में (पात्र दुर्बल हो तथा अन्य पात्र की प्राप्ति दुर्लभ हो तो) तीन से अधिक बन्धन भी लगाए जा सकते हैं।

७६४, ७६५. जो भिक्षु अपलक्षण (लक्षण हीन) पात्र अथवा एक, दो, तीन या अतिरिक्त बन्धनों वाले पात्र को डेढ़ मास से अधिक धारण करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व और दोनों प्रकार की विराधना (आत्मविराधना और संयम विराधना) को प्राप्त होता है इसलिए (उपर्युक्त परिस्थिति में) भिक्षु अन्य पात्र की मार्गणा करे।

७६६. वह पात्र अपलक्षण होता है, जो १. हुंड संस्थान वाला (विषम) हो, २. चितकबरा हो, ३. अनिष्पन्न (शुष्क) हो, ४. जो पात्र सीधा रह सकता है किन्तु चालित करने पर लुढक जाता है, ५. कीलसंस्थान वाला हो, जो भूमि पर रखने पर नहीं ठहरता, ६. पद्मोत्पल नाभि वाला (नीचे से स्थासक आकार वाला) हो, ७. कांटे आदि के कारण सत्रण हो, ८. अग्निदग्ध हो, ९. दुर्वर्ण (कुत्सित रंग या अनेक रंग का) हो।

७६७. हुंड संस्थान वाला पात्र रखना चारित्रभेद (चारित्रभंग) का निमित्त बनता है। सबल (चितकबरा) पात्र चित्त के विभ्रम (विप्लुति या विक्षिप्तता) का निमित्त बनता है। जो पात्र (चालित करने पर लुढकने वाला) तथा कीलसंस्थान वाला हो, उसे धारण करना गण और चारित्र में अस्थिरता का निमित्त बनता है।

७६८. पद्मनाभि और उत्पलनाभि पात्र अकुशल—अकल्याण^१ के निमित्त बनते हैं। व्रण सहित पात्र धारण करना व्रण का निमित्त है तथा अन्दर या बाहर से जला हुआ पात्र मरण का निमित्त माना गया है।

७६९. पात्र यदि कुत्सित वर्ण वाला होता है तो ज्ञान का आगम (आय) नहीं होता। अतः उपर्युक्त अलक्षण पात्र नहीं रखने चाहिए। ऐसी स्थिति में पात्र की मार्गणा-विधि यह है—

७७०. यदि मुनि के पास अपलक्षण पात्र है अथवा एक बन्धन लगाया हुआ पात्र है तो वह सूत्रपौरुषी और अर्थपौरुषी का यथावत् पालन करता हुआ अन्य पात्र की गवेषणा करे। यदि मुनि के पास दो या तीन बंधन लगाया हुआ पात्र है तो वह सूत्रपौरुषी करके (अर्थपौरुषी तथा भिक्षा के काल में भी) अन्य पात्र की गवेषणा करे। यदि पात्र तीन से अधिक बन्धनों वाला, अन्दर या बाहर से जला हुआ या नाभि से भिन्न हो तो सूत्र और अर्थ दोनों पौरुषी का वर्जन करे। (सूर्योदय से लेकर भिक्षाकाल पर्यन्त पात्र की गवेषणा करे।)

७७१. मुनि पहले चार महीने यथाकृत पात्र की मार्गणा करे। यदि चार महीने खोजने पर भी यथाकृत पात्र न मिले तो दो महीने अल्पपरिकर्म पात्र की मार्गणा करे, वह भी न मिले तो डेढ़ महीना सपरिकर्म पात्र की मार्गणा करे। (अवशिष्ट अर्धमास में परिकर्म किया जाता है, तब तक वर्षाकाल प्रारम्भ हो जाता है, उसके बाद परिकर्म नहीं किया जाता।)

१. अकुशल का अर्थ है—उपकरणों का विनाश, ज्ञान, दर्शन और चारित्र की विराधना, शारीरिक पीड़ा आदि।

७७२. एवं वि मग्गमाणे^१, जदि पायं तारिसं न वि लभेज्जा ।
तं चेवऽणुकट्टेज्जा, जावऽण्णं लब्भती पायं ॥ ७५८ ॥
७७३. जंगिय^२ भंगिय सणयं, पोत्तं च तहा तिरीडपट्टं^३ च ।
वत्थं पंचविगप्पं, तिविकप्पं तं पुणेक्केक्कं^४ ॥ ७५९ ॥ नि १६० ॥
७७४. उण्णोट्टे मिगलोमे, कुयवे किट्टे य कीडए चेव ।
जंगविधी अतसी पुण, भंगविधी होति णातव्वा ॥ ७६० ॥ नि १६१ ॥
७७५. सणमादी वागविधी, पोत्तविधी पोंडगं समक्खातं ।
पट्टे य तिरीडस्सा, तथा विधी सा समक्खाता ॥ ७६१ ॥ नि १६२ ॥
७७६. पंच परूवेऊणं, पत्तेयं गिण्हमाण संतम्मि ।
कप्पासिया य दोण्णि तु, उण्णिय एक्को तु परिभोगे^५ ॥ ७६२ ॥ नि १६३ ॥
७७७. कप्पासियस्स असती, वागयपट्टे य कोसिकारे य ।
असती य उण्णियस्सा, वागय-कोसेज्जपट्टे य ॥ ७६३ ॥
७७८. अब्भितरं^६ च बाहिं, बाहिं अब्भितरे^७ करेमाणो ।
परिभोगविवच्चासे, 'आवज्जति मासिगं लहुगं'^८ ॥ ७६४ ॥
७७९. एगं^९ पाउरमाणे, तु खोमियं उण्णिए लहू मासो ।
दोण्णि य पाउरमाणो, अंते खोम्मी बहिं उण्णी ॥ ७६५ ॥
७८०. छप्पइग-पणगरक्खा, भूसा उज्जातिया^{१०} य परिहरिता ।
सीतत्ताणं च कतं, तेण तु खोमं न बाहिरतो ॥ ७६६ ॥
७८१. जं बहुधा छिज्जंतं, पमाणवं होति संधिजंतं^{११} वा ।
सिक्खेयव्वं जं वा, तं वत्थं सपरिकम्मं तु ॥ ७६७ ॥

१. पि मं (दे) ।

२. सूत्र ४७ (नव १/४७) ।

३. °डपत्तं (क, मु) ।

४. इस गाथा के प्रारम्भ में चूर्णिकार ने 'णिज्जुत्ती वित्थारेति'
का संकेत किया है ।५. बृथा ३६६४, चूर्णिकार ने इस गाथा के लिए "एसा
भद्दबाहुसामिकता गाहा" का उल्लेख किया है ।

६. अब्भं (भ, मु) ।

७. अब्भं (भ) ।

८. उवघातो होति णातव्वो (पंकभा ८६७) ।

९. एक्कं (भ, मु) ।

१०. उज्जायणा (भ, मु) ।

११. संठवियंतं (दे), छंद की दृष्टि से 'संधिजंतं' के स्थान
पर 'संधिजंतं' पाठ मिलता है ।

७७२. उपर्युक्त विधि से (साढ़े सात मास तक) मार्गणा करने पर भी यदि वैसा (सुलक्षण और बन्धन रहित) पात्र न मिले तो जब तक अन्य पात्र न मिले, मुनि अपने उसी (पूर्व) पात्र से ही काम चलाए।^१

७७३. वस्त्र के पांच प्रकार (विकल्प) हैं—१. जांगिक, २. भांगिक, ३. सण से निर्मित, ४. पोंड (कपास) से निर्मित तथा ५. तिरीड वृक्ष की छाल से निर्मित वस्त्र। पुनः प्रत्येक के तीन-तीन प्रकार (बहुपरिकर्म आदि) हैं।

७७४. जंग विधि (त्रस प्राणियों के अवयवों) से निष्पन्न वस्त्र जांगिक वस्त्र हैं, जैसे—ऊन (भेड़ के रोम) से निर्मित वस्त्र, उष्ट्र, मृग तथा कुतव (चूहे) के रोम से निर्मित वस्त्र तथा किट्टिस (मिश्रित बालों) से निर्मित वस्त्र। अतसी या वंशकरीर के मध्यभाग से निकाले गए रेसे से निर्मित वस्त्र भांगिक वस्त्र कहलाते हैं।

७७५. सण (सन वृक्ष की छाल) आदि से निर्मित वस्त्र वल्क विधि में आते हैं। पोत विधि में कपास से निर्मित वस्त्र तथा पट्ट (तिरीड वृक्ष का छाल) से निर्मित वस्त्र पट्टविधि में आते हैं।

७७६. पांच प्रकार के वस्त्रों की प्ररूपणा की गई। यदि उनमें से प्रत्येक (सभी) उपलब्ध हों तो भिक्षु दो कपास के तथा एक ऊन का वस्त्र ग्रहण करे। इनके परिभोग में विपर्यास न करे अर्थात् केवल ऊनी वस्त्र को धारण न करे।

७७७. यदि कार्पासिक (सूती) वस्त्र न मिले तो उसके स्थान पर वल्कमय (सण आदि से निर्मित) वस्त्र ग्रहण करे। उसके अभाव में पट्टमय अर्थात् तिरीड वृक्ष की छाल से निर्मित वस्त्र ग्रहण करे तथा वह भी न मिले तो कोशीकार (खोल बनाने वाला चतुरिन्द्रिय जीव) की कोशिका से निर्मित वस्त्र ग्रहण करे। इसी प्रकार और्णिक वस्त्र न मिले तो उसके स्थान पर क्रमशः वल्कमय, कौशेय तथा पट्टमय वस्त्र को ग्रहण किया जा सकता है।

७७८. मुनि को यदि दो वस्त्रों को एक साथ धारण करना हो तो सूती वस्त्र को भीतर की ओर धारण करे तथा ऊनी वस्त्र को बाहर की ओर—यह विधि परिभोग है। सूती वस्त्र को बाहर तथा ऊनी वस्त्र को भीतर धारण करना वस्त्र का अविधि परिभोग है। इस प्रकार का विपर्यास करने वाले को मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

७७९. मुनि यदि एक वस्त्र धारण करे तो सूती वस्त्र धारण करे। केवल ऊनी वस्त्र धारण करने वाले को मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। ऊनी और सूती—दो वस्त्र धारण करने वाला मुनि भीतर सूती तथा बाहर ऊनी वस्त्र धारण करे।

७८०. ऊनी वस्त्र में षट्पदिका (जूएं) अधिक सम्मूर्च्छित होती हैं तथा गन्दा होने पर पनक (काई) आ जाती है। सूती वस्त्र को भीतर ओढ़ने पर सहज ही उनसे रक्षा हो जाती है। सूती वस्त्र बाहर ओढ़ने से विभूषा होती है, विधि परिभोग में उसका परिहार हो जाता है। यदि ऊनी वस्त्र भीतर ओढ़ा जाता है तो मैला होने पर दुर्गंध आने लगती है, विधिपरिभोग में उसका भी परिहार हो जाता है। ऊनी वस्त्र के भीतर सूती वस्त्र ओढ़ने पर शीत से भी रक्षा होती है अतः उसे (सूती वस्त्र को) बाहर न ओढ़े।

७८१. जिस वस्त्र को बहुत प्रकार से काटा जाए, सांधा (जोड़ा) जाए अथवा सिलाई की जाए, तब वह प्रमाण प्राप्त (प्रमाणोपेत) हो, वह सपरिकर्म (बहुपरिकर्म) वस्त्र कहलाता है।

१. अणुकट्टेज्जा—अनुसरण करे, काम में ले।

७८२. जं छेदेणेगेणं, पमाणवं होति छिज्जमाणं तु ।
संधण-सिक्खणरहितं, तं वत्थं अप्पपरिकम्मं ॥ ७६८ ॥
७८३. जं नेव^१ छिंदियव्वं, संधेयव्वं व सिक्खियव्वं वा^२ ।
तं होति अहाकडगं, जहण्णगं मज्झिमुक्कोसं ॥ ७६९ ॥
७८४. पढमे पंचविधम्मि वि, दुविधा पडियाणिया मुणेत्त्वा ।
तज्जातमतज्जाता, चउरो तज्जात इतरे वा ॥ ७७० ॥
७८५. एतेसामण्णतरं, वत्थे पडियाणियं तु जो देज्जा ।
तज्जातमतज्जातं, सो पावति आणमादीणि ॥ ७७१ ॥ नि १६४ ॥
७८६. संतासंतसतीए, 'दुब्बल हीणे'^३ अलब्भमाणे वा ।
पडिसेधऽणेसणिज्जे, असिवादी संततो असती ॥ ७७२ ॥
७८७. असिवे ओमोदरिए, रायदुट्टे भएण आगाढे ।
सेहे चरित्त सावय, भए व असिवादियं एतं ॥ ७७३ ॥
७८८. भिण्णे व झामिते वा, पडिणीए तेण सावयादीसु ।
एतेहि कारणेहिं, गातव्वाऽसंततो असती^४ ॥ ७७४ ॥
७८९. संतासंतसतीए, कप्पति पडियाणिता तु तज्जाता ।
असती तज्जाताए, पडियाणियमेतरं देज्जा ॥ ७७५ ॥
७९०. पडियाणियाणि^५ तिण्हं, परेण वत्थम्मि देति जे भिक्खू ।
पंचण्हं अण्णतरे, सो पावति आणमादीणि ॥ ७७६ ॥ नि १६५ ॥
७९१. संतासंतसतीए, दुब्बल हीणे अलब्भमाणे वा^६ ।
पडिसेधऽणेसणिज्जे, असिवादी संततो असती^७ ॥ ७७७ ॥

१. पेय (भ) ।

२. च (भ, मु) ।

३. अथिर अपज्जत्त (मु) ।

४. गाथा ७८७ और ७८८—इन दो गाथाओं के स्थान पर प्रतियों में 'असिवे ओमोदरिए गाहा दोणिण भाणियव्वा' का संकेत मिलता है । भ प्रति में ७८५-८८—इन चार गाथाओं का केवल संकेत मात्र मिलता है ।

५. सूत्र ४८ (नव १/४८) ।

६. य (दे) ।

७. प्रतियों में ७९१ से ७९४—इन चार गाथाओं में ७९१ गाथा का पूर्वाद्ध मिलता है । उसके बाद प्रतियों में 'एवं ताओ गाहाओ चत्तारि भाणियव्वाओ' का उल्लेख है । ये गाथाएं भाष्य की मुद्रित पुस्तक में मिलती हैं ।

७८२. जिस वस्त्र को एकच्छेद से छेदने (एक बार काटने) पर प्रमाणोपेत हो जाए तथा जिसे न जोड़ना पड़े और न सिलना पड़े, वह वस्त्र अल्पपरिकर्म वस्त्र होता है।
७८३. जिसे न छेदन करना पड़े, न जोड़ना पड़े और न सिलना पड़े, वह (छेदन, संघान, सिलाई रहित) वस्त्र यथाकृत होता है। इन तीनों के ही उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य—ये तीन-तीन भेद होते हैं।
७८४. उपर्युक्त पांच प्रकार के वस्त्रों में^१ प्रथम अर्थात् बहु परिकर्म वस्त्र^२ में लगाई जाने वाली कारी (पैबन्द) के दो प्रकार ज्ञातव्य हैं—तज्जात (सजातीय) और अतज्जात (विजातीय)। प्रत्येक वस्त्र की तज्जात कारी एक प्रकार की तथा अतज्जात शेष चार प्रकार की होती है।
७८५. जो भिक्षु उपर्युक्त पञ्चविध वस्त्रों में से किसी भी वस्त्र में तज्जात अथवा अतज्जात कारी (पैबन्द) लगाता है, वह आज्ञाभंग, विराधना आदि दोषों को प्राप्त होता है।
७८६. वस्त्र दुर्लभ हो, ऐसी स्थिति में अपवादस्वरूप उसके तीन से अधिक थिगगल लगाए जा सकते हैं। वस्त्र का अभाव दो प्रकार का होता है—१. संतासती और असंतासती। संतासती के हेतु हैं—१. अस्थिरत्व २. अपर्याप्तत्व ३. अप्राप्ति ४. प्रतिषेध ५. अनेषणीयत्व और ६. अशिव आदि।
७८७. अशिव आदि ये हैं—१. आगाढ अशिव २. आगाढ दुर्भिक्ष ३. आगाढ राजद्वेष ४. आगाढ भय ५. शैक्षसंबंधी दोष ६. चारित्रदोष और ७. श्वापदभय।
७८८. वस्त्र फट जाए, जल जाए, कोई प्रत्यनीक, चोर या भिक्षाचर वस्त्र का हरण कर ले, कोई हिंस्र पशु उठा ले जाए—इत्यादि कारणों से पूर्व वस्त्र न रहे, दूसरा वस्त्र न हो, वस्त्रभूमि में भी वस्त्र निर्माण न होने से वस्त्र उपलब्ध न हो—यह वस्त्र की असंतासती है।
७८९. वस्त्र की संतासती और असंतासती के कारण भिक्षु को वस्त्र में तज्जात पैबन्द लगाना कल्पता है। यदि तज्जात पैबन्द न हो तो अतज्जात पैबन्द भी लगा सकता है।
७९०. जो भिक्षु पूर्वोक्त पांच प्रकार के वस्त्रों में से किसी भी वस्त्र के तीन से अधिक कारी लगाता है, वह आज्ञाभंग, विराधना आदि दोषों को प्राप्त होता है।
७९१. वस्त्र के एकाधिक पैबन्द लगाने के कारण हैं—१. वस्त्र विषयक संतासती और २. असंतासती। उनमें संतासती के हेतु हैं—१. अस्थिरत्व, २. अपर्याप्तत्व, ३. अप्राप्ति, ४. प्रतिषेध, ५. अनेषणीयत्व और ६. अशिव आदि।

१. वस्त्रों के पांच प्रकार जांगिक, भांगिक आदि भी ग्राह्य है तथा वर्ण की अपेक्षा से भी वस्त्र को पंचविध कहा जा सकता है। दोनों ही प्रकार से सजातीय पैबन्द एक प्रकार का तथा विजातीय शेष चार प्रकार का हो जाएगा।

२. परिकर्म की अपेक्षा से वस्त्र, पात्र आदि के तीन भेदों—बहुपरिकर्म आदि में सर्वत्र पहले बहुपरिकर्म का प्रज्ञापन किया गया है अतः यहां 'प्रथम' पद से वही ग्राह्य है।

७९२. असिवे ओमोदरिए, रायद्दुट्टे भएण आगाढे ।
सेहे चरित्त सावय, भए व असिवादियं एतं ॥ ७७८ ॥
७९३. भिण्णे व झामिते वा, पडिणीए तेण सावयादीसु ।
एतेहि कारणेहिं, णातव्वा संततो असती ॥ ७७९ ॥
७९४. संतासंतऽसतीए, परेण तिण्हं न ताणियव्वं तु ।
एवंविधे असंते, परेण तिण्हं पि ताणेज्जा ॥ ७८० ॥
७९५. पंचविधम्मि^१ वि वत्थे, दुविधा खलु सिव्वणा मुणेयव्वा^२ ।
अविधि-विधीसिव्वणया^३, अविधी पुण तत्थिमा होति ॥ ७८१ ॥ नि १६६ ॥
७९६. गग्गर^४ डंडि^५ वलित्तग^६, जालेगसरा दुखील एक्का य ।
गोमुत्तिगा य अविधी, विहि झसकंटा विसरिगा^७ य ॥ ७८२ ॥ नि १६७ ॥
७९७. एत्तो एगतरीए, अविधि-विधीए तु जो उ सिव्वेज्जा ।
पंचण्हं एगतरं, सो पावति आणमादीणि ॥ ७८३ ॥ नि १६८ ॥
७९८. संतासंतऽसतीए, दुब्बल-दुल्लभ-ऽलभममाणे वा ।
पडिसेहऽणेसणिज्जे, असिवादी संततो असती ॥
७९९. असिवे ओमोदरिए, रायद्दुट्टे भएण आगाढे ।
सेहे चरित्त सावय, भए व असिवादियं एतं ॥
८००. भिण्णे व झामिते वा, पडिणीए तेण सावयादीसु ।
एतेहि कारणेहिं, णातव्वाऽसंततो असती ॥
८०१. संतासंतऽसतीए, कप्पति तज्जात सिव्वितव्वं तु ।
एवंविधे असंते, अविधि-विधी सिव्वणं कुज्जा^८ ॥

१. सूत्र ४९ (नव १/४९) ।

२. तु णातव्वा (भ, मु) ।

३. विधिसिव्वणा य (भ) ।

४. गग्गरे (क), गग्गरग (भ, मु) ।

५. दंडि (भ, मु) ।

६. वलित्तग (भ, मु) ।

७. विसरिया सरडो भण्णति (चू) ।

८. ७९८-८०१—ये चारों गाथाएं हस्तप्रतियों एवं मुद्रितभाष्य में नहीं मिलती हैं। वहां केवल 'ताओ चउरो गाहाओ एत्थ वि पुव्वकमेण भाणियाओ' का उल्लेख मिलता है। पूर्व गाथाओं के आधार पर यहां गाथाओं की पूर्ति कर दी गई है।

७९२. अशिव आदि ये हैं—१. आगाढ़ अशिव २. आगाढ़ दुर्भिक्ष ३. आगाढ़ राजद्वेष ४. आगाढ़ भय ५. शैक्षसंबंधी दोष ६. चारित्रदोष और ७. श्वापदभय।

७९३. वस्त्र फट जाए, जल जाए, कोई प्रत्यनीक, चोर या भिक्षाचर वस्त्र का हरण कर ले, कोई हिंस्र पशु उठा ले जाए—इत्यादि कारणों से पूर्व वस्त्र न रहे, दूसरा वस्त्र प्राप्त न हो, वस्त्रभूमि में भी वस्त्र निर्माण न होने से वस्त्र उपलब्ध न हो—यह वस्त्र की असंतासती है।

७९४. वस्त्र की संतासती और असंतासती के कारण भिक्षु वस्त्र में तीन से अधिक पैबन्द न लगाए अथवा इस प्रकार के अभाव में भिक्षु तीन से अधिक पैबन्द भी लगा सकता है।

७९५. पांचों ही प्रकार के वस्त्रों में सिलाई के दो प्रकार ज्ञातव्य हैं—१. अविधि और २. विधि। उसमें अविधि-सिलाई यह है—

७९६. अविधि सिलाई के सात प्रकार हैं—१. गग्गर, २. दंडी, ३. वलित्तग, ४. जालक एकसरा, ५. दुक्कील, ६. एककील, ७. गोमूत्रिका। विधि सिलाई के दो प्रकार हैं—१. झषकंटा और २. विसरिका (गिरगिट)।^१

७९७. पांच प्रकार के वस्त्रों में से किसी भी वस्त्र को इनमें से किसी भी अविधि अथवा विधि सिलाई से जो साधु सिलता (सीता) है, वह आज्ञाभंग, विराधना आदि दोषों को प्राप्त होता है। (यह निषेध औत्सर्गिक है। कारण में विधि अथवा उसके अभाव (विधिपूर्वक सिलाई न होने की स्थिति) में अविधि से भी सिलाई की जा सकती है।

७९८. वस्त्र की सिलाई के कारण हैं—१. वस्त्र विषयक संतासती और २. असंतासती। उनमें संतासती के हेतु हैं—१. अस्थिरत्व, २. अपर्याप्तत्व, ३. अप्राप्ति, ४. प्रतिषेध, ५. अनेषणीयत्व और ६. अशिव आदि।

७९९. अशिव आदि ये हैं—१. आगाढ़ अशिव २. आगाढ़ दुर्भिक्ष ३. आगाढ़ राजद्वेष ४. आगाढ़ भय ५. शैक्षसंबंधी दोष ६. चारित्रदोष और ७. श्वापदभय।

८००. वस्त्र फट जाए, जल जाए, कोई प्रत्यनीक, चोर या भिक्षाचर वस्त्र का हरण कर ले, कोई हिंस्र पशु उठा ले जाए—इत्यादि कारणों से पूर्व वस्त्र न रहे, दूसरा वस्त्र न हो, वस्त्रभूमि में भी वस्त्र निर्माण न होने से वस्त्र उपलब्ध न हो—यह वस्त्र की असंतासती है।

८०१. वस्त्र की संतासती और असंतासती के कारण भिक्षु को तज्जातीय धागे से विधिपूर्वक सिलना कल्पता है। यदि तज्जातीय धागा न हो तो भिक्षु विधि अथवा उसके अभाव में अविधि से भी सिलाई कर सकता है—यह अपवाद विधि है।

१. * गग्गर सीवन—साध्वी की तरह सीना।

* दंडी सीवन—गृहस्थ की भांति सीना।

* वलित्तग—बल (बंट) देते हुए सीना।

* जालक एकसरा—जालक की तरह एक समान सीना।

* दुक्कील—सांधते समय दोनों ओर से खीलना।

* एककील—एक ओर से खीलना।

* गोमूत्रिका—गोमूत्रिका की तरह बाएं से दाएं, दाएं से बाएं बल देते हुए सीना।

* झषकंटा—मछली के कांटे की आकृति में सीना अथवा एक ओर से तूमना—रफू करना।

* विसरिका—मछली पकड़ने के जाल के आकार में सीना अथवा गिरगिट की गति के आकार में सीना।

८०२. पंचणहं^१ अण्णतरे, वत्थे जो फालिगंठियं देज्जा।
सिक्खणगंठे कमतो, सो पावति आणमादीणि ॥ ७८४ ॥ नि १६९ ॥
८०३. गहणं तु अहाकडगे, तस्सऽसतीए तु अप्पपरिकम्मे।
'तस्सऽसती परिकम्मे'^२, गहणं तु अफालिए होति ॥ ७८५ ॥
८०४. 'तस्सऽसती फालितम्मि'^३ गहणं जं एगगंठिणा बज्जे।
तस्सऽसति दुग-तिगं पी, तस्सऽसती तिण्ह वि परेणं ॥ ७८६ ॥
८०५. तिण्हुवरिं^४ फालियाणं, वत्थं जो फालियं तु^५ संसिक्खे^६।
पंचणहं एगतरे, सो पावति आणमादीणि ॥ ७८७ ॥ नि १७० ॥
८०६. संतासंतऽसतीए, अथिर-अपज्जत्त ऽलब्भमाणे वा।
पडिसेहऽणेसणिज्जे, असिवादी संततो असती^७ ॥ ७८८ ॥
८०७. असिवे ओमोदरिए, रायहुट्टे भएण आगाढे।
सेहे चरित्त सावय, भए व असिवादियं एतं ॥
८०८. भिण्णे व झामिते वा, पडिणीए तेण सावयादीसु।
एतेहि कारणेहिं, णातव्वाऽसंततो असती ॥
८०९. संतासंतऽसतीए, कप्पति फालियसंसिवियव्वं^८ तु।
एवंविधे असंते, परेण तिण्हं पि सिक्खेज्जा ॥
८१०. तं पुण 'दुविधं गहणं'^९, तज्जातं चेव तह अतज्जातं।
एक्केक्के एक्केक्कं, तज्जातं^{१०} चउरों अतज्जाते^{११} ॥ ७८९ ॥

१. सूत्र ५० (नव १/५०)।

२. तस्सऽसइ सपरिं (मु)।

३. °सति फालियम्मी (भ)।

४. सूत्र ५१-५५ (नव १/५१-५३)।

५. पि (मु)।

६. संसिक्खे (क), संवीवे (दे)।

७. प्रतियों में गाथा ८०६ का प्रथम चरण मिलता है। उसके बाद 'गाहाओ चत्तारि भाणियव्वाओ' का उल्लेख मिलता है। मुद्रित चूर्ण में भी 'ताओ चेव गाहाओ कंठाओ' का

उल्लेख मिलता है। पूर्वगाथाओं के आधार से इन गाथाओं की पूर्ति कर दी गई है।

८. फालियव्वं के साथ तज्जात अतज्जात पाठ संगत प्रतीत नहीं होता तथा प्रस्तुत सूत्रपंचक में प्रस्तुत निषेध का प्ररूपण भी नहीं हुआ है अतः प्रस्तुत गाथा विमर्शनीय है।

९. गहणं दुविधं (भ, मु)।

१०. तज्जातं (दे)।

११. °जायं (दे)।

८०२. जो पांच प्रकार के वस्त्रों में से किसी फटे हुए वस्त्र को गांठ लगाता है अथवा क्रमशः गांठ लगाए हुए को सिलाई लगाता है, वह आज्ञाभंग, विराधना आदि दोषों को प्राप्त होता है।

८०३. मुनि यथाकृत वस्त्र को ग्रहण करे। यथाकृत वस्त्र न मिले तो अल्पपरिकर्म वस्त्र को ग्रहण करे। अल्पपरिकर्म वस्त्र न मिले तो बिना फटे सपरिकर्म वस्त्र को ग्रहण करे।

८०४. बिना फटा वस्त्र न मिले तो मुनि ऐसा वस्त्र ले, जिसे एक गांठ से बांधा जा सके। ऐसा वस्त्र न मिलने पर मुनि दो या तीन गांठ लगाने योग्य वस्त्र भी ले सकता है और उसका भी अभाव हो तो तीन से अधिक गांठ भी लगाई जा सकती है।

८०५. पूर्वोक्त पंचविध वस्त्रों में से किसी भी प्रकार के तीन से अधिक स्थान पर फटे हुए वस्त्र को जो मुनि सीता है, वह आज्ञाभंग, विराधना आदि दोषों को प्राप्त होता है।

८०६. फटे हुए वस्त्र को सीने के अपवाद हैं—१. वस्त्रविषयक संतासती और २. असंतासती। उनमें संतासती के हेतु हैं—१. अस्थिरत्व, २. अपर्याप्तत्व, ३. अप्राप्ति, ४. प्रतिषेध, ५. अनेषणीयत्व और ६. अशिव आदि।

८०७. अशिव आदि ये हैं—१. आगाढ़ अशिव २. आगाढ़ अवमौदर्य ३. आगाढ़ राजद्वेष ४. आगाढ़ भय ५. शैक्षसंबंधी दोष ६. चारित्रदोष और ७. श्वापदभय।

८०८. वस्त्र फट जाए, जल जाए, कोई प्रत्यनीक, चोर या भिक्षाचर वस्त्र का हरण कर ले, कोई हिंस्र पशु उठा ले जाए—इत्यादि कारणों से पूर्व वस्त्र न रहे, दूसरा वस्त्र न हो, वस्त्रभूमि में भी वस्त्र निर्माण न होने से वस्त्र उपलब्ध न हो—यह वस्त्र की असंतासती है।

८०९. वस्त्र विषयक संतासती और असंतासती की स्थिति में भिक्षु को एक स्थान पर फटे हुए वस्त्र को सिलना कल्पता है। यदि वस्त्र तीन से भी अधिक स्थानों पर फटा हुआ हो और अन्य वस्त्र का सर्वथा अभाव हो तो तीन से अधिक स्थानों पर भी सिलना या ग्रथन करना कल्पता है।

८१०. वस्त्र का ग्रथन (गूथना) दो प्रकार का होता है—१. तज्जात ग्रथन और २. अतज्जात ग्रथन। वस्त्र का तज्जात ग्रथन एक प्रकार का तथा अतज्जात ग्रथन शेष चार प्रकार का होता है।

८११. जं जारिसगं वत्थं, वण्णेणं जारिसं व जं होति ।
तारिस तज्जातेणं, गहणेणं तं गहेतव्वं ॥ ७९० ॥
८१२. बितियपदमणप्पज्जे, गहेज्ज अतिकोविदेव^१ अप्पज्जे ।
जाणंते वावि पुणो, असती सरिसस्स दोरस्स ॥ ७९१ ॥
८१३. अवलक्खणेगगहितं^२, दुग-तिगअतिरेगगंठिगहितं वा ।
जो वत्थं परियट्ठति^३, परं दिवड्ढाउ मासाओ ॥ ७९२ ॥ नि १७१ ॥
८१४. सो आणा-अणवत्थं, मिच्छत्तविराधणं तथा दुविधं ।
पावति जम्हा तेणं, अण्णं वत्थं विमग्गेज्जा ॥ ७९३ ॥ नि १७२ ॥
८१५. अवलक्खणो उ उवधी, उवहणती णाण-दंसण-चरित्ते ।
तम्हा न धरेतव्वो, कारण विधिमग्गणा य इमा ॥ ७९४ ॥
८१६. अवलक्खणेगगहिते, सुत्तथ करेति मग्गणं कुज्जा ।
दुग-तिग-बंधे^४ सुत्तं, तिण्हुवरिं दो वि वज्जेज्जा ॥ ७९५ ॥
८१७. चत्तारि अहाकडगे, दो मासा होंति अप्पपरिकम्मे ।
तेण पर विमग्गेज्जा, दिवड्ढमासं सपरिकम्मं ॥ ७९६ ॥
८१८. एवं विमग्गमाणे, जदि वत्थं तारिसं ण वि लभेज्जा ।
तं चेवऽणुकट्ठेज्जा, जावऽण्णं लब्भते^५ वत्थं ॥ ७९७ ॥
८१९. घरधूमोसधकज्जे^६, दहू किडिभेय^७ कच्छु-अगदादी ।
घर-धूमम्मि निबंधो, तज्जातिय सूयणट्ठाए ॥ ७९८ ॥ नि १७३ ॥
८२०. तं अण्णतित्थिएणं, अहवा गारत्थिएण साडावे ।
सो आणा-अणवत्थं, मिच्छत्तविराधणं पावे ॥ ७९९ ॥ नि १७४ ॥

१. अधिकोवितेव (भ, मु) ।

२. सूत्र ५६ (नव १/५४) ।

३. परिवट्ठइ (दे) ।

४. यद्यपि मुद्रितप्रति एवं हस्तप्रतियों में 'बंधे' पाठ मिलता है

लेकिन यहां 'गंधे' पाठ होना चाहिए ।

५. लब्भती (भ, मु) ।

६. सूत्र ५७ (नव १/५५) ।

७. किडिभं जंघासु कालाभं रसियं वहति (चू) ।

८११. जो वस्त्र जिस प्रकार (जांगिक, भांगिक आदि प्रकार) का हो तथा जिस वर्ण का हो, उसे मुनि तत्सदृश तथा उसी वर्ण के वस्त्र से ग्रथित करे।

८१२. कोई मुनि क्षिप्तचित्तता आदि के कारण अनात्मवश (परवश) हो अथवा कोई अज्ञ (अविकोविद) शैक्ष हो अथवा गीतार्थ किसी विशेष परिस्थिति के कारण जानता हुआ भी सदृश धागे के अभाव में द्वितीय पद (अपवाद रूप में) असदृश धागे से भी जोड़ सकता है।

८१३, ८१४. जो भिक्षु अपलक्षण (लक्षणहीन) वस्त्र अथवा एक, दो या तीन स्थानों से अथवा उससे भी अधिक स्थानों से ग्रथित या गांठ लगाए हुए वस्त्र को डेढ़ मास से अधिक धारण करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व और दो प्रकार की विराधना को प्राप्त होता है अतः भिक्षु (उपर्युक्त परिस्थिति में) अन्य वस्त्र की गवेषणा करे।

८१५. अपलक्षण उपधि ज्ञान, दर्शन और चारित्र का उपघात करती है अतः उसे धारण न करे। कारण (आपवादिक स्थिति) में धारण करे तो निम्नोक्त विधि से अन्य उपधि की मार्गणा करे।

८१६. यदि मुनि के पास अपलक्षण वस्त्र है अथवा एक बन्धन लगाया हुआ वस्त्र है तो वह सूत्रपौरुषी और अर्थपौरुषी का यथावत् पालन करता हुआ अन्य वस्त्र की गवेषणा करे (सूत्र और अर्थ की हानि न करे)। यदि मुनि के पास दो या तीन स्थानों पर ग्रथित या संधान किया हुआ वस्त्र है तो वह सूत्रपौरुषी करके (अर्थपौरुषी तथा भिक्षा के काल में भी) अन्य स्थानों से ग्रथित वस्त्र की गवेषणा करे। यदि वस्त्र तीन से अधिक स्थानों पर ग्रथित या संधान किया हुआ हो तो सूत्र और अर्थ दोनों पौरुषी का वर्जन करे। (सूर्योदय से लेकर भिक्षाकाल पर्यन्त वस्त्र की गवेषणा करे।)

८१७. मुनि पहले चार महीने यथाकृत वस्त्र की मार्गणा करे। यदि चार महीने खोजने पर भी यथाकृत वस्त्र न मिले तो दो महीने अल्पपरिकर्म वस्त्र की मार्गणा करे, वह भी न मिले तो डेढ़ महीना सपरिकर्म वस्त्र की मार्गणा करे। (अवशिष्ट अर्धमास में परिकर्म किया जाता है, तब तक वर्षाकाल प्रारम्भ हो जाता है, उसके बाद परिकर्म नहीं किया जाता।)

८१८. उपर्युक्त विधि से (साढ़े सात मास तक) मार्गणा करने पर भी यदि वैसा (सुलक्षण और संधान रहित) वस्त्र न मिले तो जब तक अन्य वस्त्र न मिले, मुनि अपने उसी (पूर्व) वस्त्र से ही काम चलाए।

८१९-८२०. जो भिक्षु दाद, किडिभ (कुष्ठविशेष) तथा खुजली की औषध के निमित्त अथवा किसी अगद (औषध) में डालने के लिए गृहस्थ अथवा अन्यतीर्थिक से गृहधूम उतरवाता है, वह आज्ञाभंग अनवस्था, मिथ्यात्व एवं विराधना—इन दोषों को प्राप्त होता है। इस सूत्र में गृहधूम का ग्रहण तज्जातीय (इसी प्रकार के) अन्य रोगों तथा उनमें प्रयुक्त औषध आदि को सूचित करने के लिए किया गया है अर्थात् रोग-चिकित्सा के निमित्त गृहस्थ अथवा अन्यतीर्थिक से अचित्त औषध विषयक सहयोग भी नहीं लेना, फिर सचित्त की तो बात ही क्या?

८२१. हत्थेण अपावेतो, पीढादि चले जिए सकायं वा।
भंड-विराधण कणुए, अहि-उंदुर पच्छकम्मे वा ॥ ८०० ॥
८२२. पुव्वपरिसाडितस्सा^१, गवेसणा पढमताएँ कातव्वा।
पुव्वपरिसाडिताऽसति, तो पच्छा अप्पणा साडे ॥ ८०१ ॥
८२३. बितियपद होज्ज असहू, अहवावि सहू पवेस न लभेज्जा।
अहवा वि लब्भमाणे, होज्जा दोसुब्भवो कोई^२ ॥ ८०२ ॥
८२४. कप्पति ताहे गारत्थिएण अहवावि अण्णतित्थीणं।
परिसाडण काउं जे, धूमे जतणा य साधुस्स ॥ ८०३ ॥
८२५. पूतीकम्मं^३ दुविधं, दव्वे भावे य होति नातव्वं।
दव्वम्मि छगणधम्मिय, भावम्मि य बादरं सुहुमं^४ ॥ ८०४ ॥ नि १७५ ॥
८२६. इंधणधूमे गंधे, अवयवमादीहि^५ सुहुमपूतीयं।
जेसिं तु एय वज्जं^६, सोधी उ ण विज्जते तेसिं^७ ॥ ८०५ ॥
८२७. बादरपूतीयं पुण, आहारे उवधि वसधिमामीसुं।
आहारपूतियं पुण, चउव्विधं होति असणादी ॥ ८०६ ॥
८२८. अहवाऽऽहारे पूती^८, दुविधं तु समासतो मुणेतव्वं।
उवकरणपूति पढमं, बितियं^९ पुण होति आहारे ॥ ८०७ ॥
८२९. चुल्लुक्खलिया^{१०} डोए, दव्वीछूढे य मीसियं^{११} पूती^{१२}।
डाए^{१३} लोणे हिंगू, संकामण 'फोड संधूमे'^{१४} ॥ ८०८ ॥

१. पुव्वपरिसाडितस्स (भ) ।

२. कोयी (भ, मु) ।

३. सूत्र ५८ (नव १/५६), वावण्णं विणट्ठं कुहितं पूति
भण्णति (चू) ।

४. पिनि १०७ ।

५. °मादी य (भ, मु) ।

६. पूती (भ) ।

७. तु. पिनि ११६ ।

८. पूतिं (दे) ।

९. बीयं (भ, मु) ।

१०. °लियं (भ, मु) ।

११. मीसियं (दे) ।

१२. पूतिं (भ) ।

१३. डोते (क) ।

१४. फोडणे धूमे (पिनि ११२) ।

८२१. गृहस्थ अथवा अन्यतीर्थिक भूमि पर खड़ा होकर हाथ से धूम को उतार नहीं पाता। फलतः वह पीढे आदि पर चढ़ता है। यदि वह पीढा आदि चल अर्थात् अस्थिर हों तो वह नीचे गिर सकता है, जिससे नीचे चलने वाले चींटी आदि जीवों की विराधना हो सकती है, स्वकाय अर्थात् आत्मविराधना हो सकती है, बर्तन आदि टूटने से उनकी विराधना हो सकती है। ऊपर मुंह कर धूआं उतारते हुए आंखों में कण गिर सकते हैं, चूहे, सांप आदि जीव काट सकते हैं। वे धूआं उतारने के बाद हाथ आदि धोते हैं, जिससे पश्चात्कर्म दोष की संभावना रहती है।

८२२. आवश्यकता होने पर मुनि सर्वप्रथम पूर्व परिशाटित (पहले से उतारे हुए) धूम की गवेषणा करे। यदि पूर्वपरिशाटित धूम न मिले तो स्वयं यतना पूर्वक उतारे।

८२३-८२४. मुनि यदि स्वयं धूम उतारने में सक्षम न हो अथवा उसे घर (रसोईघर में) प्रवेश न मिले अथवा प्रवेश तो मिल रहा हो किन्तु अन्दर जाने से स्त्री-उपसर्ग आदि कोई दोष उत्पन्न होता हो तो द्वितीय पद (अपवाद पद) में अन्यतीर्थिक अथवा गृहस्थ से धूएं का परिशाटन करवाना कल्पता है। अन्यतीर्थिक आदि से धूएं को उतरवाते हुए भी यतना रखी जाए ताकि पूर्वोक्त दोष न लगें।

८२५. पूतिकर्म^१ के दो प्रकार ज्ञातव्य हैं—१. द्रव्य पूतिकर्म और २. भाव पूतिकर्म। द्रव्य पूतिकर्म के विषय में छगण-धार्मिक^२ का दृष्टान्त ज्ञातव्य है। भाव पूतिकर्म दो प्रकार का होता है—१. सूक्ष्म और २. बादर।

८२६. कोई गृहस्थ आधाकर्म आहार पकाता है, उसे पकाते हुए उसके चूल्हे जो धुआं उठता है, उस धूएं अथवा उसकी गन्ध से जो आहार स्पृष्ट हो जाता है अथवा उस आधाकर्म आहार के सूक्ष्म अवयवों से जो आहार स्पृष्ट हो जाता है, वह सूक्ष्म पूतिकर्म युक्त आहार कहलाता है। जिनके मत में यह (सूक्ष्मपूति) भी वर्जनीय है, उसके मत से शोधि संभव नहीं। अतः सूक्ष्मपूति प्ररूपणामात्र है, परिहार संभव नहीं। (विस्तार हेतु द्रष्टव्य पिण्डनिर्युक्ति गा. ११६/१-११७/२)

८२७. बादर पूतिकर्म तीन प्रकार का होता है—१. आहार, २. उपधि और ३. शय्या। आहारपूति (पूतिकर्म युक्त आहार) अशन आदि के भेद से चार प्रकार का होता है।

८२८. अथवा आहार विषयक पूतिकर्म संक्षेप में दो प्रकार का ज्ञातव्य है—पहला उपकरणपूतिक होता है और दूसरा आहारपूतिक।

८२९. आधाकर्म दोषयुक्त (साधु के निमित्त निर्मित) चूल्हे अथवा पूति दोष युक्त (आधाकर्म कर्दम से लिप्त) चूल्हे पर अथवा इन्हीं दोषों से युक्त उक्खलिय (स्थाली आदि पात्र विशेष) में पकाया गया आहार उपकरण पूतिकर्म है। अथवा आधाकर्म या पूतिकर्म युक्त लकड़ी की बड़ी कड़छी या दर्वी (चम्मच) को शुद्ध आहार में डाल दिया जाए तो वह शुद्ध आहार उससे मिश्र होने के कारण उपकरणपूतिक होता है। डाग अर्थात् पत्ते वाली सब्जी को बनाते समय आधाकर्म युक्त लवण, हींग आदि से छौंक लगा दिया जाए, आधाकर्म दोषयुक्त आहार को निकालकर उस बर्तन में छौंक लगा दिया जाए, वह आहारपूतिक होता है।

१. पूति का अर्थ है—कुथित, खराब या विनष्ट। सामयिक परिभाषा में आधाकर्म तथा आधाकर्म आदि द्रव्यों से संस्कृत, सम्मिश्र आहार आदि पूतिकर्म दोष से दूषित कहलाते हैं।

२. छगणधार्मिक—एक देवायतन में उत्सव, तिथि आदि पर उपलेप आदि कार्यों के लिए एक व्यक्ति को नियुक्त किया गया। एक बार उसने आटे, चने, जौ तथा पुरीष युक्त गोबर से देवायतन का उपलेपन कर दिया। गोष्ठी पुरुष आए। उन्हें वहां मल की दुर्गन्ध आई, चने आदि दिखाई दिए। उन्होंने उस उपलेपन को समूचा उतारकर पुनः उपलेपन किया। यह द्रव्यपूति का दृष्टान्त है।

८३०. लेवेहि तीहि पूतिं^१, कप्पकते सुद्ध तिण्ह व^२ परेण ।
‘तेण परं’^३ सेसेणं^४, जावतियं फासते पूतिं^५ ॥ ८०९ ॥
८३१. उवही^६ पूतीयं पुण, वत्थे पाए य होति नातव्वं ।
वत्थे पंचविधं पुण, तिविधं पुण होति पायम्मि ॥ ८१० ॥
८३२. वसहीय^७ पूतियं पुण, मूलगुणे चेव उत्तरगुणे य ।
एक्केक्कं सत्तविधं, णातव्वं^८ आणुपुव्वीए ॥ ८११ ॥
८३३. असिवे ओमोदरिए, रायहुट्टे भए व गेलण्णे ।
अद्धाण-रोहए वा, गहणं आहारपूतीए ॥ ८१२ ॥
८३४. णट्टे हित-विस्सरिते, झामित वूढे तहेव परिजुण्णे ।
असती दुल्लभपडिसेधतो^९ य गहणं तु उवधिस्स ॥ ८१३ ॥
८३५. असिवे ओमोदरिए, रायहुट्टे भए व गेलण्णे ।
असती दुल्लभपडिसेधतो य गहणं भवे पाए ॥ ८१४ ॥
८३६. असिवे ओमोदरिए, रायहुट्टे^{१०} भए व गेलण्णे ।
वसहीवाघातो वा, असतीए^{११} वसहिगहणं तु^{१२} ॥ ८१५ ॥
- पढमो उद्देसो सम्मत्तो**
८३७. भणिता तु अणुगघाता, मासा उग्घातिया^{१३} अहेदाणिं ।
परकरणं वा भणितं, सयकरणमिदाणि बितियम्मि ॥ ८१६ ॥

१. पूतिग (दे) ।

२. वकारो विकप्पदरिसणे (चू) ।

३. तेणारे (भ), परशब्दोऽत्र आरवाची (चू) ।

४. सेसेसुं (मु) ।

५. पिनि (११७/३) में इस गाथा की संवादी गाथा इस रूप में मिलती है—

सेसेहि उ दव्वेहिं, जावइयं फुसति तत्तियं पूती ।

लेवेहि तिहि उ पूती, कप्पति कप्पे कते तिगुणे ॥

६. उवहि य (भ) ।

७. वसधी (मु) ।

८. गेत्तव्वं (भ, मु) ।

९. °सेवतो (भ, मु) ।

१०. रायहुट्टे (मु) ।

११. असती वा (भ, मु) ।

१२. दे प्रति में “इति निशीथपढमो उद्देसो सम्मत्तो, नमो भगवते ऋषभनाथाय” का उल्लेख है ।

१३. ओघातिया (मु), उग्घातियं णामं जं संतरं वहति लघुमित्यर्थः (चू) ।

८३०. जिस पात्र में आधाकर्म आहार पकाया गया, उस पात्र के तीन लेप पर्यन्त से आहार पूतिदोषयुक्त होगा अर्थात् तीन बार अथवा तीन दिन यदि गृहस्थ स्वयं के लिए भी उसमें आहार पकाए, वह आधाकर्म आहार के अंश से लिप्त होने के कारण पूतिदोषयुक्त होगा। तीन बार के बाद यदि उस पात्र का कल्प कर दिया जाए, उसे शुद्ध कर दिया जाए तो उसमें पकाया हुआ आहार शुद्ध होने से कल्पता है। उससे पूर्व तीनों ही बार में पकाया हुआ आहार जो आधाकर्म आहार अथवा उस पूतिदोषयुक्त आहार से स्पृष्ट होता है, वह भी पूतिदोषयुक्त आहार होता है। (विशेष विवरण हेतु द्रष्टव्य पिण्डनिर्युक्ति गा. ११७ का पादटिप्पण एवं सम्बन्धित मलयगिरीया वृत्ति)

८३१. पूतिदोषयुक्त उपधि के दो प्रकार ज्ञातव्य हैं—वस्त्र और पात्र। पूतिदोषयुक्त वस्त्र के पांच तथा पात्र के तीन प्रकार होते हैं।^१

८३२. पूतिदोषयुक्त वसति के दो प्रकार हैं—मूलगुण पूति और उत्तरगुण पूति। प्रत्येक के पुनः सात-सात प्रकार ज्ञातव्य हैं।^२

८३३. पूतिदोषयुक्त आहार ग्रहण के सात अपवाद हैं—१. अशिव, २. अवमौदर्य, ३. राजद्वेष, ४. भय, ५. ग्लान्य, ६. अटवी और ७. नगररोध।

८३४. पूतिदोषयुक्त उपधि (वस्त्र) को ग्रहण करने के अपवाद हैं—१. वस्त्र का नष्ट हो जाना, २. वस्त्र का हरण होना, ३. वस्त्र का विस्मरण होना (विस्मृति के कारण अन्यत्र छूट जाना), ४. वस्त्र जल जाना, ५. वस्त्र का डूब जाना, ६. वस्त्र अत्यन्त परिजीर्ण हो जाना, ७. अन्य वस्त्र की अप्राप्ति, ८. वस्त्र का दुर्लभ होना तथा ९. दंडिक आदि के द्वारा प्रतिषेध।

८३५. पूतिदोषयुक्त पात्र को ग्रहण करने के अपवाद हैं—१. अशिव, २. अवमौदरिका, ३. राजद्वेष, ४. भय, ५. ग्लान्य, ६. पात्र की अप्राप्ति, ७. पात्र का दुर्लभ होना तथा ८. दंडिक आदि के द्वारा प्रतिषेध।

८३६. पूतिदोषयुक्त वसति में निवास करने के अपवाद हैं—१. अशिव, २. अवमौदरिका, ३. राजद्वेष, ४. भय, ५. ग्लान्य, ६. वसति-व्याघात और ७. वसति का अभाव।

प्रथम उद्देशक सम्पन्न

८३७. प्रथम उद्देशक में अनुद्घातिक मासिक—गुरुमासिक प्रायश्चित्त प्राप्त होने वाले प्रतिसेवना-स्थानों का कथन किया गया। अब द्वितीय उद्देशक में उद्घातिक (लघु) मास प्रायश्चित्त प्राप्त होने वाले प्रतिसेवना-स्थानों का कथन किया जा रहा है अथवा प्रथम उद्देशक में परकरण (गृहस्थ आदि से करवाने) का निषेध किया गया, दूसरे में स्वयंकरण का निषेध किया जा रहा है।

१. जांगिक आदि पांच प्रकार के वस्त्रों तथा तुम्बे आदि तीन प्रकार के पात्रों को आधाकर्म धागे से सिलाई करने या थिगल लगाने से पूतिदोष की निष्पत्ति होती है।

२. मूलगुण पूति वसति के सात प्रकार हैं—चार मूलस्तंभ, दो धारणा और एक पृष्ठ बांस। उत्तरगुण पूति वसति में सात प्रकार हैं—१. बांस २. कडण ३. अवकम्बन ४. छादन ५. लेपन ६. द्वार और ७. भूमिकर्म।

८३८. अहव ण^१ हेट्टाणंतरसुत्ते घर-धूमसाडणं भणितं।
रयहरणेण पमज्जित, तं केरिसमेस संबंधो ॥८१७ ॥
८३९. उवकरणपूतियं वा^२, भणितं इहमवि^३ य होति उवकरणं।
करकम्मादि पदे वा, इहमवि हत्थस्स वावारो ॥ ८१८ ॥
८४०. पाउंछणगं^४ दुविधं, उस्सगियमाववाइयं चेव।
एक्केक्कं पि य दुविधं, निव्वाघातं च वाघातं^५ ॥८१९ ॥ नि १७६ ॥
८४१. जं तं निव्वाघातं, तं एगंगुण्णियं तु णातव्वं।
वाघात उट्टियं पुण^६, सणवच्च^७ य मुंज पिच्चं च ॥ ८२० ॥ नि १७७ ॥
८४२. अववायं तह चेव य, तं नवरिं दारुदंडगं^८ होति।
वाघाते अतिरेगो, इमो विसेसो तहिं होति ॥ ८२१ ॥
८४३. उवरिं तु मुंजयस्सा, कोसेज्जगपट्ट पोत्त पिच्छे य^९।
संबंधे वि य तत्तो, एस विसेसो तु वाघाते ॥ ८२२ ॥
८४४. जं तं णिव्वाघातं, तं 'एगं उण्णियं'^{१०} तु घेतव्वं^{११}।
उस्सगियवाघातं, उट्टियं^{१२}-सण-वच्चमुंजं वा^{१३} ॥ ८२३ ॥
८४५. णिव्वाघातऽववादी, दारुगदंडुण्णिगाहि दसियाहिं।
अववाइयवाघातं^{१४}, उट्टिय-सण-वच्च^{१५}-मुंज दसं ॥ ८२४ ॥
८४६. अहवा उस्सगुस्सगियं^{१६} च उस्सगगतो य अववादं।
अहवा उस्सगं^{१७} वा, 'अववादऽववादियं'^{१८} चेव ॥ ८२५ ॥

१. ण वाक्यालंकारे।

२. पुण (भ, मु)।

३. अधमवि (भ, मु)।

४. सूत्र १ (नव २/१)।

५. चूर्णि में इस गाथा के प्रारम्भ में 'इदाणि णिज्जुत्तिवित्थरो'
का उल्लेख है।

६. पि य (मु)।

७. वच्चओ तणविसेसो दर्भाकृतिर्भवति (चू)।

८. दारुगदं (दे)।

९. या (भ)।

१०. एगंगुण्णियं (क)।

११. णायव्वं (दे)।

१२. उट्टियं (क)।

१३. च (मु, भ)।

१४. उववा (क)।

१५. पुप्फ (भ)।

१६. ंगितं (क), एगंगियउण्णियं संबद्धदसागं जं, तं
उस्सगुस्सगितं (चू)।

१७. दुस्स (मु), मुस्स (भ)।

१८. अववाओवाइयं (मु)।

८३८. द्वितीय उद्देशक के प्रथम सूत्र से पूर्ववर्ती सूत्र का जो अनन्तरपूर्ववर्ती (सूत्र १/५५) है, उसमें गृहधूम को उतारने का कथन किया गया है, उसे रजोहरण से प्रमार्जित कर उतारा जाता है। वह रजोहरण कैसा हो— यह इन दोनों उद्देशकों का सम्बन्ध है।

८३९. प्रथम उद्देशक के अन्तिम सूत्र में उपकरणपूति का कथन किया गया है, द्वितीय उद्देशक के आदिसूत्र में भी उपकरण का ही कथन किया जा रहा है। अथवा प्रथम उद्देशक के आदिसूत्र में हस्तकर्म के निषेध का कथन है। यहां भी आदिसूत्र में कथित रजोहरण, पादप्रोञ्चन आदि का निर्माण हस्त व्यापार ही है।

८४०. पादप्रोञ्चन दो प्रकार का होता है—१. औत्सर्गिक और २. आपवादिक। पुनः प्रत्येक के दो-दो प्रकार होते हैं—निर्व्याघात और व्याघात।

८४१. जो औत्सर्गिक निर्व्याघात पादप्रोञ्चन होता है, वह एकांगिक (एक अवयव से निष्पन्न) तथा और्णिक होता है। व्याघात अवस्था में औष्ट्रिक, सननिर्मित, वच्चनिर्मित और पिच्चनिर्मित भी ग्रहण किया जा सकता है।^१

८४२. जिस प्रकार औत्सर्गिक निर्व्याघात पादप्रोञ्चन और्णिक दशा वाला तथा व्याघात पादप्रोञ्चन उष्ट्रदशा वाला होता है। आपवादिक पादप्रोञ्चन भी उसी प्रकार ज्ञातव्य है, केवल वह काष्ठदण्डयुक्त होता है। इसमें इतना विशेष है कि व्याघात अवस्था में अतिरिक्त पादप्रोञ्चन भी रखा जा सकता है।

८४३. रजोहरण पट्ट अथवा काष्ठदंड पर मुंजदशा लगाई जाती है। मुंजदशा न हो तो क्रमशः कौशेय वस्त्र,^२ दुकूल पट्ट, सूतीवस्त्र और मोरपंख की दशा भी लगाई जा सकती है। इसी प्रकार विशेषतः व्याघात दशा में इनके सम्बन्ध से पादप्रोञ्चन के अन्य विकल्प भी किए जा सकते हैं।

८४४. उत्सर्ग रूप में निर्व्याघात अवस्था में केवल एकांगिक अर्थात् सम्बद्ध दशा वाला और्णिक पादप्रोञ्चन ही ग्राह्य है। व्याघात की अपेक्षा से अनेकांगिक पादप्रोञ्चन का विधान है, जिसमें ऊन की दशा न बनाई जा सके तो ऊंट के बालों की, सन की, वच्च की अथवा मुंज की दशा लगाई जा सकती है अथवा उनसे निर्मित एकांगिक पादप्रोञ्चन भी काम में लिया जा सकता है।

८४५. अपवादरूप में निर्व्याघात अवस्था में जो पादप्रोञ्चन ग्रहण किया जाता है, वह काष्ठदंडयुक्त तथा और्णिक दशा वाला होता है तथा व्याघात अवस्था में औष्ट्रिक, सन, वच्च और मुंज की दशा वाला भी ग्रहण किया जा सकता है।

८४६. पूर्वोक्त चार भेदों के आधार पर पादप्रोञ्चन के चार भंग बनते हैं—१. उत्सर्गोत्सर्गिक, २. उत्सर्गापवादिक, ३. अपवादोत्सर्गिक और ४. अपवादापवादिक।

१. ऊन के निष्पन्न पादप्रोञ्चन न मिलने पर ऊंट के केशों, सन वृक्ष की छाल, दर्भ के आकार वाली मोटी घास (वल्ज) को कूटकर निर्मित सूतविशेष तथा कूटी हुई मुंज के बोरों के तन्तुओं से निर्मित पादप्रोञ्चन भी ग्रहण एवं धारण किए जाते थे।

२. कौशेय एक प्रकार का सूती वस्त्र होता था जिसे देशी भाषा में 'टसर नाम' से जाना जाता था।

८४७. एगंगि उण्णियं खलु, असती तस्स दसिया उ ता चेव ।
एत्तो^१ एगंगोटी, उण्णिय^२ उट्टिय^३ दसा तस्स^४ ॥ ८२६ ॥
८४८. एवं सण वच्च मुंज, चिप्पित^५ कोसज्ज पट्ट दुगुले^६ य ।
पोत्ते 'पिच्छे य'^७ तहा, दारुगदंडे बहू दोसा ॥ ८२७ ॥
८४९. इहरह वि ताव गुरुगं^८, किं पुण भत्तोग्गहे अहव पाणे ।
भारे हत्थुवघातो, पडमाणे संजमायाए ॥ ८२८ ॥
८५०. संजमखेत्तचुता वा, अद्धाणादिसु हिते व णट्टे वा ।
पुव्वकतस्स उ गहणं, उण्णिदसा जाव पिच्छं^९ तु ॥ ८२९ ॥
८५१. वेलुमओ^{१०} वेत्तमओ, दारुमओ वावि दंडगो तस्स ।
रयणिप्पमाणमेत्तो^{११}, तस्स दसा होति भइयव्वा ॥ ८३० ॥ नि १७८ ॥
८५२. तं दारुदंडगं पादपुंछणं जो 'सयं करे'^{१२} भिक्खू ।
सो आणा-अणवत्थं, मिच्छत्त-विराधणं पावे ॥ ८३१ ॥ नि १७९ ॥
८५३. णट्टे हित विस्सरिते, ज्ञामित वूढे तहेव परिजुण्णे ।
असती दुल्लभपडिसेधतो य जतणा इमा तत्थ ॥ ८३२ ॥
८५४. उस्सग्गियस्स पुव्विं^{१३}, निव्वाघाते गवेसणं कुज्जा ।
'तस्सऽसती वाघाते'^{१४}, तस्सऽसती दारुदंडमए ॥ ८३३ ॥
८५५. तम्मि वि णिव्वाघाते, पुव्वकते चेव होति वाघाते ।
असती पुव्वकतस्स तु, कप्पति ताहे सयंकरणं ॥ ८३४ ॥

१. तत्तो (भ, मु) ।

२. उण्णी (दे) ।

३. उट्टी (क) ।

४. चेव (मु) ।

५. वच्चिय (क) ।

६. दुगूले (दे), दुगुल्ले (भ) ।

७. पिच्छियं (क), पेच्छेय (मु) ।

८. गरुयं (भ) ।

९. पिंछं (भ) ।

१०. वेणुमओ (दे) ।

११. रयणीपं (क) ।

१२. करे सयं (भ, मु) ।

१३. पुव्वं (दे) ।

१४. × (क), °घाति (भ) ।

८४७. एकांगिक और और्णिक पादप्रोज्छन उत्सर्गोत्सर्गिक है। वह न मिले तो और्णिक दशा वाला अनेकांगिक पादप्रोज्छन ग्राह्य है। वह न मिले तो एकांगिक औष्ट्रिक पादप्रोज्छन ग्राह्य है। वह न मिले तो औष्ट्रिक पट्ट पर क्रमशः और्णिक, औष्ट्रिक तथा सन आदि की दशा का प्रयोग किया जा सकता है।

८४८. इसी प्रकार सन, वच्च, मुंज, चिप्पित, कौशेय, पट्ट, दुकूल, सूतीवस्त्र तथा मोरपंख सम्बन्धी चारणा (विकल्प) करणीय हैं।^१ किन्तु उत्सर्गतः काष्ठदंड युक्त पादप्रोज्छन का प्रयोग नहीं करना चाहिए क्योंकि उसमें अनेक दोषों की संभावना है।

८४९. जब भक्तपान नहीं होता, तब भी साधु के पास भार बहुत होता है फिर भक्तपान हो तब तो बात ही क्या? साधु जब अत्यधिक भार के साथ काष्ठदंड वाला पादप्रोज्छन लेकर विहार आदि करेगा तो उसके हाथ का उपहनन होगा, अतिभार के कारण यदि वह पादप्रोज्छन गिर जाएगा तो प्राणियों का उपहनन होगा और पैर आदि पर गिर जाए तो आत्मविराधना होगी। अतः काष्ठदंड युक्त पादप्रोज्छन नहीं लेना चाहिए।

८५०. अशिव आदि कारणों से संयम क्षेत्र से च्युत हो जाए, मार्ग अथवा अटवी आदि में पादप्रोज्छन चोरी चला जाए अथवा नष्ट हो जाए—इत्यादि कारणों में निर्ग्रन्थ गृहस्थ से पूर्वकृत पादप्रोज्छन को ग्रहण कर सकता है, वह और्णिक दशा वाला यावत् मोरपंख से बना हुआ हो सकता है।

८५१. उस पादप्रोज्छन का दंड वेणु, वेत्र अथवा काष्ठमय हो सकता है। पूरा पादप्रोज्छन रत्नी प्रमाणमात्र (बत्तीस अंगुल) होता है, उसकी दशा का प्रमाण भाज्य है।^२

८५२. जो भिक्षु काष्ठदंडमय पादप्रोज्छन बनाता है, वह आज्ञा, अनवस्था, मिथ्यात्व और विराधना—इन दोषों को प्राप्त होता है।

८५३. काष्ठदंडमय पादप्रोज्छन ग्रहण करने के अपवाद हैं—पूर्व पादप्रोज्छन का—१. नष्ट हो जाना, २. हरण हो जाना, ३. विस्मृति के कारण अन्यत्र छूट जाना, ४. जल जाना, ५. डूब जाना, ६. अत्यन्त जीर्ण हो जाना—इत्यादि कारणों से पूर्व पादप्रोज्छन न हो, अन्य पादप्रोज्छन दुर्लभ हो अथवा कोई दण्डिक पुरुष आदि पादप्रोज्छन लेने के लिए न जाने दे तो इस निम्नोक्त यतनापूर्वक पादप्रोज्छन का ग्रहण करे।

८५४, ८५५. सर्वप्रथम औत्सर्गिक निर्व्याघातित पादप्रोज्छन (सम्बद्ध दशा वाला और्णिक पादप्रोज्छन) की गवेषणा करे। उसके अभाव में औत्सर्गिक व्याघातित पादप्रोज्छन की गवेषणा करे। वह भी न मिले तो काष्ठ दण्डमय पादप्रोज्छन लिया जा सकता है। उसमें भी यदि निर्व्याघातित पूर्वकृत पादप्रोज्छन मिले तो पहले उसी को ग्रहण करे, अन्यथा व्याघातित पूर्वकृत पादप्रोज्छन का ग्रहण किया जा सकता है। यदि पूर्वकृत पादप्रोज्छन न मिले तो स्वयं को बनाना भी कल्पता है।

१. औष्ट्रिक पट्ट का पादप्रोज्छन न मिले तो सननिर्मित एकांगिक पादप्रोज्छन बनाया जा सकता है। वह न मिले तो उस पर और्णिक, औष्ट्रिक आदि दशाओं का प्रयोग कर अनेकांगिक पादप्रोज्छन बनाया जा सकता है। इसी प्रकार उपर्युक्त क्रम से वच्च, मुंज आदि के क्रमशः एकांगिक व अनेकांगिक पादप्रोज्छन विकल्प करणीय है, केवल मोरपंख पर पट्ट की दशा नहीं लगाई जाती।

२. दंड तेवीस, चौबीस या पच्चीस अंगुल का हो तो दशा क्रमशः नौ, आठ या सात अंगुल की ले। दोनों (दंड और दशा) में एक यथाकृत हो तो दूसरे का विकल्प है।

८५६. एसेव^१ गमो^२ नियमा, गहणे धरणे तहेव य वियारे।
परिभायण परिभोगे, पुव्वे अवरम्मि य पदम्मि ॥ ८३५ ॥
८५७. काउं सयं न कप्पति, पुव्वकतं पि हु ण कप्पती घेतुं।
धरणं तु अपरिभोगो, वितरण पुट्टे पराणुण्णा ॥ ८३६ ॥
८५८. परिभायणं तु दाणं, सयं तु परिभुंजणं तदुपभोगो।
गहणं पुव्वकतस्स उ, सयं 'परकते व'^३ धरणादी ॥ ८३७ ॥
८५९. उस्सग्गियवाघातं^४, अहवा तं खलु तहेव दुविधं तु।
जे भिक्खू परिकड्ढति^५, परं दिवड्ढाउ मासाओ ॥ ८३८ ॥ नि १८० ॥
८६०. सो आणा-अणवत्थं, मिच्छत्त-विराधणं तहा दुविधं।
पावति जम्हा तेणं, अण्णं पाउंछणं^६ मग्गे ॥ ८३९ ॥ नि १८१ ॥
८६१. इहरहं^७ वि ताव गुरुगं^८, किं पुण भत्तोग्गहे अहव पाणे।
भारे हत्थुवघातो, जदि पडणं संजमायाए ॥ ८४० ॥
८६२. उस्सग्गियवाघाते, सुत्तत्थ करेति^९ मग्गणा होति^{१०}।
बितियम्मि सुत्तवज्जं, ततियम्मि य^{११} दो वि वज्जेज्जा ॥ ८४१ ॥
८६३. चत्तारि अहाकडगे, दो मासा होंति अप्पपरिकम्मे।
तेण पर वि^{१२} मग्गेज्जा, दिवड्ढमासं सपरिकम्मं ॥ ८४२ ॥
८६४. एवं विमग्गमाणे, जदि^{१३} अण्णं पादपुंछणं न लभे।
तं चेवऽणुकड्ढेज्जा, जावऽण्णं 'लभ्भती ताव'^{१४} ॥ ८४३ ॥
८६५. एसेव गमो नियमा, समणीणं पादपुंछणे दुविधे।
णवरं पुण णाणत्तं, चप्पडगो दंडगो तासिं ॥ ८४४ ॥

१. सूत्र २-६ (नव २/२-६)।

२. गमो (क, सर्वत्र)।

३. परिकप्पते य (मु)।

४. सूत्र ७ (नव २/७)।

५. परियट्ठइ (मु)।

६. पाउग्गणं (दे)।

७. इधरध (क), इतरह (भ)।

८. गरुयं (भ, मु)।

९. करेति (भ, क)।

१०. होंति (क)।

११. तु (भ)।

१२. वि य (मु)।

१३. जे (भ)।

१४. लभते जाव (क), लभते ताव (पा)।

८५६. काष्ठदंडयुक्त पादप्रोज्छन को ग्रहण करने, धारण करने, वितरण (ग्रहण की अनुज्ञा) करने, दान करने तथा परिभोग करने के पूर्व (उत्सर्ग) पद तथा अपर (अपवाद) पद के विषय में नियमतः यही गम (विधि) है।

८५७, ८५८. भिक्षु को काष्ठदंड युक्त पादप्रोज्छन स्वयं बनाना नहीं कल्पता। पूर्वकृत को भी ग्रहण करना नहीं कल्पता। धारण का अर्थ है अपरिभोग (अपरिभुक्त रूप में पास में रखना।) दूसरे के पूछने पर उसे अनुज्ञा प्रदान करना वितरण है। परिभाजन का अर्थ है दान अर्थात् देना। स्वयं वस्तु का उपयोग करना उपभोग कहलाता है। इनमें ग्रहण नियमतः पूर्वकृत का ही होता है। धारण आदि चारों पद स्वयं और पर के द्वारा कृत पादप्रोज्छन से संबंधित हैं।

८५९, ८६०. जो भिक्षु औत्सर्गिक व्याघातित अथवा दोनों प्रकार का आपवादिक पादप्रोज्छन डेढ महिने से अधिक धारण करता है, वह आज्ञा, अनवस्था, मिथ्यात्व तथा दोनों प्रकार की विराधना को प्राप्त होता है। अतः अन्य (औत्सर्गिक निर्व्याघातित) पादप्रोज्छन की मार्गणा करे।

८६१. जब भक्तपान नहीं होता, तब भी साधु के पास भार बहुत होता है फिर भक्तपान हो तब तो बात ही क्या? साधु जब अत्यधिक भार के साथ काष्ठदंड वाला पादप्रोज्छन लेकर विहार आदि करेगा तो उसके हाथ का उपहनन होगा, अतिभार के कारण यदि पादप्रोज्छन गिर जाएगा तो प्राणियों का उपहनन होगा और पैर आदि पर गिर जाए तो आत्मविराधना होगी। अतः काष्ठदण्ड युक्त पादप्रोज्छन डेढ मास से अधिक नहीं रखना चाहिए।

८६२. यदि भिक्षु के पास औत्सर्गिक व्याघातित पादप्रोज्छन हो तो वह सूत्रपौरुषी और अर्थपौरुषी करता हुआ अन्य पादप्रोज्छन की गवेषणा करे। यदि उसके पास द्वितीय प्रकार का अर्थात् अपवादादौत्सर्गिक पादप्रोज्छन हो तो वह सूत्रपौरुषी का वर्जन कर तथा तृतीय अर्थात् अपवादापवादिक पादप्रोज्छन हो तो दोनों पौरुषियों का वर्जन कर पहले पादप्रोज्छन की गवेषणा करे।

८६३, ८६४. मुनि पहले चार महीने यथाकृत पादप्रोज्छन की गवेषणा करे। यदि चार महीने खोजने पर भी यथाकृत पादप्रोज्छन न मिले तो दो महीने तक अल्पपरिकर्म पादप्रोज्छन की मार्गणा करे। वह भी न मिले तो डेढ महीना सपरिकर्म पादप्रोज्छन की मार्गणा करे। (अवशिष्ट अर्धमास में परिकर्म किया जाता है तब तक वर्षाकाल प्रारम्भ हो जाता है, उसके बाद परिकर्म नहीं किया जाता।)

उपर्युक्त विधि से (साढ़े सात महीने तक) मार्गणा करने पर भी यदि अन्य पादप्रोज्छन न मिले तो जब तक अन्य पादप्रोज्छन न मिले तब तक मुनि उसी पादप्रोज्छन से काम चलाए।

८६५. श्रमणियों के भी दोनों प्रकार के पादप्रोज्छन के विषय में यही विधि है। भिन्नता केवल इतनी है कि उनके पादप्रोज्छन का डंडा चपटा होता है।^१

१. दंड वृत्ताकार हो तो हस्तकर्म आदि दोषों की संभावना रहती है।

८६६. विसुयावण^१ सुक्कवणं, तं 'वच्चय मुंज पिच्च संबद्धे'^२।
तं कढिण दोसकारण, ण कप्पती सुक्कवेउं जे ॥ ८४५ ॥ नि १८२ ॥
८६७. णट्टे हित-विस्सरिते, ज्ञामित वूढे तहेव परिजुण्णे।
असती दुल्लभपडिसेहतो य जतणा इमा तत्थ ॥ ८४६ ॥
८६८. उस्सगियस्स पुव्विं, निव्वाघाते गवेसणं कुज्जा।
तस्सऽसती वाघाते, तस्सऽसती दारुदंडमए^३ ॥ ८४७ ॥
८६९. बितियपदे वासासू, उडुबद्धे वा सिय त्ति तिम्मज्जा।
विसुयावण छायाए, अद्धातवमातवे मलणा ॥ ८४८ ॥
८७०. उत्तरमाणस्स नदिं^४, सोधेंतस्स^५ व दवं तु उल्लेज्जा।
पडिणीय जलक्खेवे, धुवणे फिडिते व्व सिण्हाए ॥ ८४९ ॥
८७१. कुच्छणदोसा उल्लेण य^६ दावित कज्जपूरणं कुणति।
उंडा य पमज्जंते, मलो य आरु अतो^७ विसुवे ॥ ८५० ॥
८७२. जो^८ गंधो जीवजढो, दव्वम्मी सो तु^९ होति अच्चित्तो।
संबद्धासंबद्धा, य जिंघणा तस्स णातव्वा ॥ ८५१ ॥ नि १८३ ॥
८७३. जो तं संबद्धं वा, अहवाऽसंबद्ध जिंघती भिक्खू।
सो आणा-अणवत्थं, मिच्छत्त विराधणं पावे^{१०} ॥ नि १८४ ॥
८७४. बितियपदमणप्पज्जे, अप्पज्जे वा पजागरादीसु।
वाही हवेज्ज कोई, वेज्जुवदेसा ततो कप्पे ॥

१. सूत्र ८ (नव २/८)।

२. पिच्चय-वच्च-मुंजसंबद्धे (क)।

३. ८६७, ८६८—इन दोनों गाथाओं का प्रतियों में केवल प्रथम चरण ही मिलता है। चूर्णि सहित भाष्य में पूरी गाथाएं मिलती हैं।

४. णतिं (क)।

५. सोधितस्स (क)।

६. × (मु)।

७. ततो (मु)।

८. सूत्र ९ (नव २/९)।

९. य (भ, मु)।

१०. ८७३-७५—इन तीनों गाथाओं के स्थान पर प्रतियों में 'जो जं संबद्धं वा, बितियपदं, अच्चित्तमसंबद्धे जहा पढमुद्देसगे तहा दडुव्वा' मात्र इतना ही उल्लेख मिलता है। मुद्रित चूर्णि में 'सर्वा निर्युक्तिः पूर्ववत्' का उल्लेख है। पूर्व गाथाओं के आधार पर इन गाथाओं की पूर्ति की गई है।

८६६. विसुयावण का अर्थ है—सुखाना। वह वच्च, मूज और पिच्च से निर्मित पादप्रोज्छन के विषय में संभव है। वे सूख जाने पर कठोर स्पर्श वाले हो जाते हैं। अतः प्रतिलेखना आदि में दोषों की संभावना के कारण उन्हें सुखाना नहीं कल्पता।

८६७. वच्च आदि से निर्मित पादप्रोज्छन को सुखाने के अपवाद हैं—पूर्व पादप्रोज्छन का १. नष्ट हो जाना, २. हरण हो जाना, ३. विस्मृति के कारण अन्यत्र छूट जाना, ४. जल जाना, ५. डूब जाना, ६. अत्यन्त जीर्ण हो जाना—इत्यादि कारणों से पूर्व पादप्रोज्छन न हो, अन्य पादप्रोज्छन दुर्लभ हो अथवा कोई दण्डिक पुरुष आदि पादप्रोज्छन लेने के लिए न जाने दे तो निम्नोक्त यतनापूर्वक पादप्रोज्छन को ग्रहण करे।

८६८. सर्वप्रथम औत्सर्गिक निर्व्याघातित पादप्रोज्छन की गवेषणा करे। उसके अभाव में औत्सर्गिक व्याघातित पादप्रोज्छन की गवेषणा करे, वह भी न मिले तो काष्ठदण्डमय पादप्रोज्छन लिया जा सकता है।

८६९. अपवाद पद में यदि वर्षावास में अथवा कदाचित् ऋतुबद्ध काल में भी पादप्रोज्छन भीग जाए तो उसे छाया में सुखाए। यदि छाया में न सूखे तो आधी धूप में सुखाए अथवा धूप में सुखाए तो बीच-बीच में उसे मलता रहे ताकि वह कठोर न हो जाए।

८७०. नदी उतरते हुए, पानी का शोधन करते हुए, प्रत्यनीक के द्वारा जल प्रक्षेप किये जाने पर, धुलाई के समय अथवा मार्ग भटक कर जाते हुए ओस से पादप्रोज्छन गीला हो सकता है।

८७१. गीला पादप्रोज्छन कुथित हो जाता है। यदि गीले पादप्रोज्छन से प्रमार्जन का कार्य करता है तो उसकी दशाओं के अंत में गोलक से बंध जाते हैं। उनको मलने से अप्काय के जीवों का वध होता है। मलिन पादप्रोज्छन को धारण करने से वर्षावास में अप्काय का वध होता है अतः निर्ग्रन्थ उसे सुखा ले।

८७२. जो गन्ध जीवत्यक्त (अचित्त) पदार्थ में होती है, वह अचित्त अथवा अचित्त प्रतिष्ठित गन्ध कहलाती है। उसको सूंघने के दो प्रकार ज्ञातव्य हैं—१. संबद्ध तथा २. असंबद्ध।

८७३. जो भिक्षु संबद्ध अथवा असंबद्ध विधि से अचित्त पदार्थ की गन्ध को सूंघता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व और विराधना—इन दोषों को प्राप्त करता है।

८७४. कोई मुनि अज्ञानता अथवा परवशता में अचित्त पदार्थ को सूंघ लेता है। अथवा कभी रात्रि जागरण करना हो, तब ऐसी गंध सूंघी जाती है, जिससे नींद न आए। अथवा अनिद्रा की व्याधि में निद्रालाभ के लिए और अन्य किसी बीमारी में वैद्य के उपदेश (निर्देश) से अचित्त गंध सूंघना—अपवादपद में विधि-सम्मत है।

८७५. अच्चित्तमसंबद्धं, पुब्बिं जिंघे ततो य संबद्धं।
सच्चित्तमसंबद्धं, सच्चित्तं चेव संबद्धं ॥
८७६. पदमग्गसंकमालंबणे^१ य 'वसही संबद्धमेतरा चेव'^२।
हरिते कद्दम उदए, विसमे तसपाणमादिसु वा^३ ॥ नि १८५ ॥
८७७. पदमग्गे सोवाणा, ते तज्जाता व होज्ज इतरे वा।
तज्जाता पुढवीए, इट्टगमादी अतज्जाता ॥ नि १८६ ॥
८७८. दुविधो य संकमो खलु, अणंतरपतिट्ठितो य वेहासे।
दव्वे एगमणेगो, चलाचलो चेव णातव्वो ॥ नि १८७ ॥
८७९. आलंबणं तु दुविधं, भूमीए संकमे तु णातव्वं।
दुहतो व एगतो वा, वि वेदिया सा तु णातव्वा ॥ नि १८८ ॥
८८०. एतेसामण्णतरं, पदमग्गं जो सयं करे भिक्खू।
सो आणा-अणवत्थं मिच्छत्त-विराधणं पावे ॥ नि १८९ ॥
८८१. खणमाणे कायवधो, अच्चित्ते वि य वणस्सति-तसाणं।
खणणेण तच्छणेण व, अहि-दद्दुरमादिया घाते ॥
८८२. जित्तिंदियो घिणी दक्खो, पुब्बं तक्कम्मभावितो।
उवउत्तो जती कुज्जा, गीतत्थो वा असागरे ॥
८८३. कतकज्जे तु मा होज्जा, ततो जीवविराधणा।
मोत्तुं तज्जात सोवाणे, सेसे वि करणं करे ॥

१. सूत्र १० (नव २/१०)।

२. एतेसि अण्णतरं चेव (क)।

३. गा. ८७६-८३—इन आठ गाथाओं के लिए प्रतियों में

'णवरं पदमग्गु त्ति अभिलावो' का उल्लेख है तथा मुद्रित चूर्ण में 'शेषं सनिर्युक्तिकं पूर्ववत्' का उल्लेख है। इन गाथाओं की पूर्ति पूर्व गाथाओं के आधार पर की गई है।

८७५. द्वितीय पद में यदि गन्ध सूंघना हो तो सर्वप्रथम अचित्त गंध को असंबद्ध रूप से सूंघे। यदि उससे काम न चले तो संबद्ध अचित्त गंध का प्रयोग करे। इसी प्रकार सचित्त पर निक्षिप्त अचित्त वस्तु की गन्ध में भी पहले असंबद्ध और बाद में संबद्ध का विकल्प ग्राह्य है।

८७६. पदमार्ग, संक्रम और आलम्बन—ये वसति से सम्बद्ध भी होते हैं और असंबद्ध भी। असंबद्ध पदमार्ग आदि बनाने का हेतु है—विषम भूमि, कीचड़, जल, हरितकाय (काई आदि की उत्पत्ति) तथा मार्ग का त्रस जीवों से संसक्त हो जाना।

८७७. पदमार्ग का अर्थ है—सोपान (सीढियां)। वे दो प्रकार की होती हैं—१. तज्जात और २. अतज्जात। जो तज्जात होती हैं, वह भूमि को खोदकर बनाई जाती है। जो ईंट, पाषाण आदि से बनाई जाती है, वे अतज्जात सोपान कहलाती हैं।

८७८. संक्रम (काष्ठ आदि से निर्मित पुल) दो प्रकार का होता है—१. अनन्तर प्रतिष्ठित और २. आकाश प्रतिष्ठित। द्रव्य की दृष्टि से वह दो प्रकार का होता है—१. एकांगिक (एक पाटिए से निर्मित) और २. अनेकांगिक (अनेक पाटियों वाला)। उनके भी पुनः दो-दो प्रकार ज्ञातव्य हैं—१. चल और २. अचल (स्थिर)।

८७९. आलम्बन (रस्सी आदि का सहारा) दो प्रकार का होता है—१. भूमि पर अर्थात् विषम भूमि में स्थिर रखने के लिए और २. संक्रम पर। वह दोनों तरफ भी होता है और एक तरफ भी। आलम्बन वेदिका (वरंडा) रूप भी होता है।

८८०. जो भिक्षु स्वयं पदमार्ग, संक्रम आदि में से किसी का निर्माण करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

८८१. भिक्षु पदमार्ग आदि बनाने के लिए पृथ्वी का खनन करता है तो पृथ्वीकायिक आदि जीवों (जीवनिकायों) की विराधना होती है। यदि अचित्त पृथ्वी पर सोपान, संक्रम आदि बनाता है तो वनस्पतिकाय तथा तदाश्रित त्रसकायिक जीवों की विराधना होती है। पृथ्वी खोदने तथा काष्ठ आदि को छीलने में सांप, मेंढक आदि (उनमें रहने वाले प्राणियों) की घात भी हो सकती है।

८८२. जिस मुनि को सोपान आदि का निर्माण करना हो, वह जितेन्द्रिय, घृणी (जीवों के प्रति दयालु), दक्ष (अन्यान्य क्रियाओं में निपुण) और पूर्व अर्थात् गृहस्थ अवस्था में तत्कर्मभावित अर्थात् खाती आदि के कार्यों का जानकार हो, गीतार्थ हो, वह उपयुक्त होकर सोपान, संक्रम आदि बनाए, जिससे जीवोपघात न हो। यदि तत्कर्मभावित मुनि न हो तो गीतार्थ वह कार्य करे और गीतार्थ भी न हो तो अनिवार्यता में अगीतार्थ भी पदमार्ग आदि का निर्माण करे। पर मुनि जब सोपान आदि बनाए, तब वहां गृहस्थ न हों।

८८३. कार्य (प्रयोजन) समाप्त होने पर साधु उन सोपान आदि का विनाश कर दे ताकि साधु के द्वारा निर्मित वस्तु से जीव-विराधना न हो। तज्जात सोपान का विनाश करने से पृथ्वीकाय की विराधना होती है अतः केवल उनका विनाश न करे।

८८४. वासासू^१ दगवीणिय, वसधी संबद्ध एतरे चेव ।
वसहीसंबद्धा पुण, बहिया अंतोवरिं तिविधा^२ ॥ नि १९० ॥
८८५. णिच्चपरिगले बहिया, उम्मज्जण अंत वास उदए वा ।
हम्मियतलमाले वा, पणालच्छिडुं व उवरिं तु ॥ नि १९१ ॥
८८६. वसधी य असंबद्धा, उदगागम-ठाण-कद्दमे चेव ।
पढमा वसधिनिमित्तं, मग्गणिमित्तं दुवे इतरा ॥ नि १९२ ॥
८८७. एतेसामण्णतरं, दगवीणिय जो सयं करे भिक्खू ।
सो आणा-अणवत्थं मिच्छत्त-विराधणं पावे ॥ नि १९३ ॥
८८८. दगवीणिय दगवाहो, दगपरिगालो य होति एगद्धा ।
विणयति जम्हा उदगं, दगवीणिय भण्णते तम्हा ॥ नि १९४ ॥
८८९. आया तु हत्थ-पादं, इंदियजातं व पच्छकम्मं वा ।
फासुगमफासु देसे, सव्वसिणाणे य लहु-लहुगा ॥
८९०. पणगादि हरितमुच्छण, संजम आया अजीर गेलण्णे ।
बहिया वि आतसंजम, उवधीणासो दुगुंछा य ॥
८९१. सिक्कगकरणं^३ दुविधं, तस-थावरजीवदेहनिप्फणं ।
अंडज-कीडज^४-वालज, वब्भमयं ण्हारुज-तसेसु ॥ नि १९५ ॥

१. सूत्र ११ (नव २/११) ।

२. गा. ८८४-९०—इन सात गाथाओं के लिए हस्तप्रतियों में
“दगवीणियगाहाओ सयंकरणे भाणियव्वओ” का उल्लेख
है तथा मुद्रित चूर्ण में ‘सभाष्यं पूर्ववत्’ का संकेत है । इन

सब गाथाओं की पूर्ति पूर्व गाथाओं के आधार पर की गई
है ।

३. सूत्र १२ (नव २/१२) ।

४. कीलज (दे) ।

८८४. वर्षावास में दकवीणिका (पानी निकालने की नाली) बनाई जाती है। वह दो प्रकार की होती है— १. संबद्ध और २. इतर (असंबद्ध)। वसति से संबद्ध दकवीणिका तीन प्रकार की होती है— १. बाहर, २. अन्दर और ३. ऊपर।

८८५. वसति से संबद्ध (संलग्न) बाहर की नाली वह होती है, जो निरन्तर बाहर की ओर बहती रहती है। जहां वसति से पानी चूता है अथवा वर्षा का पानी अन्दर प्रविष्ट हो जाता है, वहां अन्दर पानी की नाली बनाई जाती है। हर्म्यतल (छत) अथवा ऊपर की मंजिल (माले) पर जो पानी निकालने की नाली या प्रणालिछिद्र बनाया जाता है, वह ऊपर की दकवीणिका है।

८८६. वसति से असंबद्ध (असंलग्न) नाली के तीन प्रकार होते हैं— १. उदकागम—जिससे वसति में पानी आता है। २. स्थान—साधुओं के बैठने के स्थान में पानी आता है। ३. निर्गमपथ में पानी आने से कीचड़ होता है, उसे रोकने (निकालने) की नाली। प्रथम प्रकार की दकवीणिका वसति के निमित्त (वसति का विनाश न हो, इसलिए) की जाती है। शेष दोनों प्रकार की दकवीणिका मार्ग के लिए की जाती है ताकि मार्ग रुके नहीं और कीचड़ के कारण त्रसप्राणी संसक्त न हों।

८८७. जो भिक्षु उपर्युक्त में से किसी भी प्रकार की दकवीणिका का स्वयं निर्माण करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व और विराधना—इन दोषों को प्राप्त होता है।

८८८. दकवीणिका, दकवाह और दकपरिगाल—ये एकार्थक (पर्यायवाची) नाम हैं। उससे उदक (जल) का विनयन होता है, अतः वह दकवीणिका कहलाती है।

८८९. दकवीणिका बनाते समय असावधानी से हाथ, पैरों में चोट आ सकती है—यह आत्मविराधना है। इन्द्रियजात अर्थात् द्वीन्द्रिय आदि प्राणियों का उपहनन हो सकता है, दकवीणिका बनाने में पश्चात्कर्म दोष का आसेवन हो—यह संयमविराधना है। यदि प्रासुक जल से देशस्नान किया जाए तो मासलघु और सर्वस्नान किया जाए तो चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। अप्रासुक जल से देश या सर्वस्नान करने से चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

८९०. वर्षाकाल में पानी निकालने की नाली न होने से काई तथा द्वीन्द्रिय आदि जीव पैदा हो जाते हैं, हरियाली हो जाती है, जिससे संयमविराधना होती है। शीतल अर्थात् सीलनयुक्त उपाश्रय में रहने से भोजन का पाचन सम्यक् प्रकार से नहीं होता, अजीर्ण से रोग पैदा हो जाते हैं—यह आत्मविराधना है। वसति से असंबद्ध दकवीणिका न हो तो उपाश्रय में जलप्रवेश हो जाने से मुनि के रहने के स्थान एवं गमनागमन के मार्ग में कीचड़ हो जाता है, फिसल जाने से गिरने पर आत्मविराधना होती है। जीवोत्पत्ति होने से उपधि का नाश (उपकरण खराब) होने की संभावना रहती है, मैले कपड़ों से मुनि के प्रति लोगों को जुगुप्सा भाव पैदा होता है। काई, द्वीन्द्रिय आदि जीव पैदा होने से संयमविराधना भी होती है।

८९१. सिक्कग (छींका) दो प्रकार का होता है— १. त्रस प्राणियों के शरीर से निष्पन्न और २. स्थावर प्राणियों के शरीर से निष्पन्न। त्रसजीवों की देह से निष्पन्न छींके के अनेक प्रकार हैं— १. अंडज, २. बालज (और्गिक और औष्ट्रिक), ३. कीटज, ४. स्नायुज आदि।

८९२. थावरणिप्फण्णं पुण, बोंडमयं^१ वागयं व पगडिमयं ।
मुंजमयं वच्चमयं^२, कुस-वेत्तमयं च वेलुमयं ॥ नि १९६ ॥
८९३. एतेसामण्णतरं, तु सिक्कगं जो 'सयं करे'^३ भिक्खू ।
सो आणा-अणवत्थं, मिच्छत्त-विराधणं पावे ॥ नि १९७ ॥
८९४. बितियपद-वूढ-झामित, हरितऽद्धाणे तहेव गेलण्णे ।
असिवादि अण्णलिंगे, पुव्वकताऽसति सयंकरणं ॥
८९५. अह सिक्कणंतगं पुण, सिक्कगओ पूणओ मुणेत्तव्वो ।
सो जंग-भंगिओ वा, सण-पोत्त-तिरीडपट्टमओ ॥ नि १९८ ॥
८९६. एतेसामण्णतरं, उ पोणयं जो करे सयं भिक्खू ।
सो आणा-अणवत्थं, मिच्छत्त-विराधणं पावे ॥ नि १९९ ॥
८९७. बितियपद वूढ-झामित, हरितऽद्धाणे तहेव गेलण्णे ।
असिवादि अण्णलिंगे, पुव्वकताऽसति सयंकरणं ॥
८९८. बितिओ वि य आदेसो, सिंहणंतग वत्थ अंतकम्मं तु ।
तं^४ दुल्लभवत्थम्मी, देसम्मि^५ सयं करे भिक्खू^६ ॥
८९९. सुत्तमयी^७ रज्जुमयी, वागमयी चेव दंड-कडगमयी ।
पंचविध 'चिलिमिली ऊ'^८, उवग्गहकरी भवे गच्छे ॥ नि २०० ॥
९००. सागारिय सज्झाए, पाणिदय^९ गिलाण-सावगऽद्धाणे ।
संधार मरण वासासु, चेव सा कप्पती^{१०} गच्छे ॥

१. पोंडं (भ) ।

२. पुप्फमयं (भ) ।

३. करे सयं (पा) ।

४. जं (भ) ।

५. देसेसु (भ) ।

६. सिक्कगकरणं से लेकर बितियपद (गा. ८९१-९८) तक की आठ गाथाएं हस्तप्रतियों में मिलती हैं, किन्तु मुद्रित

भाष्य में 'सभाष्यं पूर्ववत्' का उल्लेख है । भ प्रति में ८९४ एवं ८९७—इन दो गाथाओं का केवल संकेत मिलता है ।

७. सूत्र १३ (नव २/१३) ।

८. °मिणी या (भ) ।

९. पाणदय (भ) ।

१०. कप्पते (दे) ।

८९२. स्थावर जीवों की देह से निर्मित छींके अनेक प्रकार के होते हैं, जैसे—पोंड (कपास) से बना हुआ, वल्क (सन आदि की छाल) से बना हुआ, प्रकृति (नारियल आदि की त्वचा) से बना हुआ, मूंज, वच्चक (कुश जैसी अन्य घास), दर्भ, बेंत (जलज बांस) और वेणु (स्थलज बांस) से बना हुआ।

८९३. जो भिक्षु उपर्युक्त में से किसी प्रकार का छींका स्वयं बनाता है, वह आज्ञाभंग, विराधना आदि दोषों को प्राप्त होता है।

८९४. अपवाद पद में अनेक कारणों से छींका ग्रहण किया जा सकता है, जैसे—१. बाढ़ आदि में जलप्रवाह में सारे उपकरण बह जाएं। २. नदी आदि पार करते समय उपकरण डूब जाएं। ३. आग लगने से उपकरण जल जाएं। ४. कोई चोर सारे उपकरण चुरा ले। ५. अटवी में विहार करते समय पल्ली आदि में जा पड़े। ६. रोग आदि की अवस्था में औषध आदि को रखने के लिए तथा ७. अशिव आदि कारणों में अन्यलिंग (अन्यतीर्थिक, परिव्राजक आदि का वेश) बनाना हो। उपर्युक्त स्थितियों में यदि पूर्वकृत छींका न मिले तो साधु स्वयं छींका बना सकता है।

८९५. सिक्कयंतय का अर्थ है छींके का ढक्कन, जिसे देशीभाषा में पोणअ नाम से जाना जाता है। वह दो प्रकार का होता है—जांगिक-हंसगर्भ आदि त्रस जीवों की देह से निष्पन्न तथा स्थावर जीवों की देह से निर्मित, जैसे—भांगिक (अतसी), सन, पोत (वस्त्र) और त्रिरीड वृक्ष की छाल से निर्मित।

८९६. जो भिक्षु उपर्युक्त में से किसी प्रकार का छींके का ढक्कन बनाता है, वह आज्ञाभंग, विराधना आदि दोषों को प्राप्त होता है।

८९७. अपवाद पद में अनेक कारणों से छींका ग्रहण किया जा सकता है, जैसे—१. बाढ़ आदि में जलप्रवाह में सारे उपकरण बह जाएं। २. नदी आदि पार करते समय उपकरण डूब जाएं। ३. आग लगने से उपकरण जल जाएं। ४. कोई चोर सारे उपकरण चुरा ले। ५. अटवी में विहार करते समय पल्ली आदि में भिक्षा के लिए जाना पड़े। ६. रोग आदि की अवस्था में औषध आदि को रखने के लिए तथा ७. अशिव आदि कारणों में अन्यलिंग (अन्यतीर्थिक, परिव्राजक आदि का वेश) बनाना हो। उपर्युक्त स्थितियों में यदि पूर्वकृत ढक्कन न मिले तो साधु स्वयं छींके का ढक्कन बना सकता है।

८९८. प्रस्तुत सूत्र का दूसरा आदेश (प्रकार) है—शिखानन्तक अर्थात् दशा (किनारी) युक्त वस्त्र का अन्तकर्म करना अर्थात् उसकी दशा का परिकर्म करना। आपवादिक रूप में, वह क्षेत्र जहां वस्त्र दुर्लभ हों, वस्त्र का अन्तकर्म करना कल्पता है, विधिसम्मत है।

८९९. पांच प्रकार की चिलिमिली (पर्दा, यवनिका) गच्छ में उपग्रहकारक होती है—१. सूत्रमयी, २. रज्जुमयी, ३. वल्कमयी, ४. दंडमयी और ५. कटकमयी।

९००. इन आठ प्रयोजनों से गच्छ में चिलिमिली रखना कल्पता है—१. सागारिक (गृहस्थ) २. स्वाध्याय ३. प्राणदया ४. ग्लान ५. श्वापदभय ६. अटवी ७. मरण और ८. वर्षा।^१

१. विस्तार हेतु द्रष्टव्य गा. ६५७-६५९ का अनुवाद।

१०१. पंचविधचिलिमिलीए^१, पुव्वकताए य^२ कप्पती^३ गहणं ।
असती पुव्वकताए, कप्पति ताहे सयंकरणं ॥
१०२. सूईमादीयाणं^४, उत्तरकरणं तु जो करे भिक्खू ।
सो आणा-अणवत्थं, मिच्छत्त-विराधणं पावे ॥ नि २०१ ॥
१०३. उवग्गहिता सूयादीता^५ तु एक्केक्कए गुरुस्सेव ।
गच्छं व समासेज्जा, अणायसेक्केक्क सेसेसु ॥
१०४. पासग मट्टि^६ णिसीयण, पज्जण^७ रिजुकरण उत्तरं करणं ।
सुहुमं पि जं तु कीरति, तदुत्तरं मूलणिव्वत्ती ॥
१०५. सूईमादीयाणं, पुव्वकताणं तु कप्पती गहणं ।
असती पुव्वकताणं, कप्पति ताहे सयंकरणं^८ ॥
१०६. दव्वे^९ खेत्ते काले, भावम्मि य लहुसगं भवे फरुसं ।
एतेसिं नाणत्तं, वोच्छामि अहाणुपुव्वीए ॥ ८५२ ॥ नि २०२ ॥
१०७. दव्वम्मि वत्थपत्तादिगेसु, खेत्ते^{१०} संथारवसधिमादीसु ।
कालेऽतीतमणागत, भावे भेदा इमे होंति ॥ ८५३ ॥ नि २०३ ॥
१०८. वत्थादिमपस्संतो, भणाति को 'णं सुवति'^{११} महं तेणं ।
खेत्ते को मम ठाते, चिट्ठति 'मा वा'^{१२} इहं ठाहि^{१३} ॥ ८५४ ॥
१०९. गंतव्वस्स न कालो, सुहसुत्ता केण बोधिता अम्हे ।
हीणाहियकालं वा, केण कतमिणं हवति काले ॥ ८५५ ॥
११०. गंतव्वोसह पडिलेह^{१४}-परिण्णा-सुवण^{१५}-भिक्ख-सज्झाए ।
हीणाहिवितहकरणे, एमादी चोदितो फरुसं ॥ ८५६ ॥

१. 'मिणीए (भ) ।

२. उ (भ, दे) ।

३. कप्पते (क) ।

४. सूत्र १४-१७ (नव २/१४-१७) ।

५. सुया' (भ) ।

६. मट्टि (दे), मिट्टि (भ) ।

७. पयज्जण (भ) ।

८. गा. ८९९-९०५ तक की सात गाथाएं हस्तप्रतियों में प्राप्त हैं, किन्तु मुद्रित भाष्य में नहीं मिलती हैं। वहां 'सभाष्यं

पूर्ववत्' का उल्लेख मिलता है ।

९. सूत्र १८ (नव २/१८) ।

१०. छंद की दृष्टि से 'खेत्ते' पाठ अतिरिक्त प्रतीत होता है ।

११. ण सुवती (भ, दे) ।

१२. × (क) ।

१३. ठाई (क), ठाहिं (भ, दे) ।

१४. 'लेहसु (क) ।

१५. सुवण्ण (दे) ।

१०१. उपर्युक्त पांच प्रकार की चिलिमिली यदि पूर्वकृत (गृहस्थ के पास बनी हुई) मिल जाए तो उसे ग्रहण करना कल्पता है। यदि पूर्वकृत चिलिमिली न मिले तो मुनि को प्रयोजनवश स्वयं चिलिमिली का निर्माण करना कल्पता है।

१०२. जो भिक्षु स्वयं सूई आदि (कैंची, नखच्छेदनक और कर्णशोधनक) का उत्तरकरण (परिष्कार या परिकर्म) करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

१०३. सूई आदि औपग्रहिक उपकरण हैं, जो गुरु के पास एक-एक होते हैं। बड़े गच्छ की अपेक्षा से प्रत्येक साधु एक-एक अनायस (लोहे रहित—बांस या सींग से निर्मित) सूई रख सकता है।

१०४. मूल रचना के उत्तरकाल में (पश्चात्) जो भी सूक्ष्म परिष्कार किया जाता है, वह उत्तरकरण है, जैसे पासग अर्थात् सूई का छेद ठीक करना, मट्टि—श्लक्ष्ण करना, निसीयण अर्थात् उनकी धार को तेज करना, पज्जण—लोहार के घर जाकर उसे ठीक करवाना तथा उसे ऋजु (सीधा) करवाना आदि।

१०५. मुनि को निष्प्रतिकर्म (जिसमें परिष्कार करने की अपेक्षा न हो) सूई आदि को ग्रहण करना कल्पता है। यदि निष्प्रतिकर्म सूई आदि न मिलें तो मुनि उनका परिष्कार स्वयं कर सकता है।

१०६. लघुस्वक (ईषत्) परुष वचन के चार प्रकार प्रज्ञप्त हैं—१. द्रव्य विषयक, २. क्षेत्र विषयक, ३. काल विषयक और ४. भाव विषयक। इनमें जो नानात्व है, उनका क्रमशः कथन करूंगा।

१०७, १०८. वस्त्र, पात्र आदि के विषय में परुष बोलना द्रव्यविषयक परुष वचन है। संस्तारक, वसति (उपाश्रय) आदि के विषय में परुष कथन क्षेत्रविषयक तथा अतीत, अनागत के विषय में परुषकथन कालविषयक परुषवचन है। भावविषयक परुषवचन के ये भेद होते हैं—कोई निर्ग्रन्थ स्वयं के वस्त्र आदि कहीं छोड़ देता है, अन्यत्र जाकर वहां खोजते हुए ईर्ष्या भाव से कहता है—पता नहीं कौन मेरा वस्त्र आदि ले गया। कोई निर्ग्रन्थ अपनी संस्तारक भूमि आदि पर दूसरे को बैठा देखकर कहता है—यह संस्तारक भूमि मेरी है, यहां क्यों बैठे हो? अथवा यहां मत बैठो इत्यादि।

१०९. कोई साधु सुबह प्रस्थान करने का इच्छुक है, वह दूसरे को उठाता है तो वह परुष वचन बोलता है—अभी जाने का समय नहीं हुआ। आज ही तो सुख से सोये थे। किसने हमें जगाया? अथवा काल के विषय में हीन या अधिक की प्ररूपणा करते हुए यह कहना कि अमुक काम अभी किसने किया—इत्यादि कालविषयक परुष वचन हैं।

११०. आचार्य किसी को ग्लान साधु के औषध लाने के लिए प्रेषित करता है अथवा प्रतिलेखना में नियुक्त करता है अथवा किसी ने पौरिषी आदि के प्रत्याख्यान किए हैं, वह पारणा करने हेतु भक्तपान लाने के लिए जाना चाहता है—इत्यादि विषयों में प्रेरित करने पर कोई परुष वचन बोलता है और काल को हीन या अधिक बताया हुआ मिथ्या कथन करता है, यह काल विषयक परुष वचन है। इसी प्रकार सुबह कोई सोना चाहता है, उसे उठाने पर वह कहता है, अभी उठने का समय नहीं हुआ अथवा भिक्षार्थ गमन करने या स्वाध्याय करने के लिए कहे जाने पर हीन या अधिक का कथन करना भी कालविषयक परुष वचन है।

९११. गच्छसि न ताव कालो, लभसु धितिं किं तडप्फडस्सेवं^१।
अतिपच्छसि विबुद्धो, किं झूससियं^२ पएतव्वं ॥ ८५७ ॥
९१२. वत्थं वा 'पायं वा'^३, गुरूण 'जोगं ति'^४ केणिमं लद्धं।
किं वा तुमं लभिस्ससि, इति पुट्टो बेति तं फरुसं ॥ ८५८ ॥
९१३. खेत्तमहायणजोगं, वसधी^५ संथारगा य पाओग्गा।
केणुग्गमिता एते, तहेव फरुसं वदे पुट्टो ॥ ८५९ ॥
९१४. उडुवास सुहो कालो, ऽतीतो केणेष जो इतो अम्हं।
जो एस्सति वा एस्से, तहेव फरुसं वदे अहवा ॥ ८६० ॥
९१५. दव्वे खेत्ते काले, मासो लहुगो तु तीसु वि पदेसु।
तवकालविसिट्ठो^६ वा, आयरियादी चउण्हं पि ॥ ८६१ ॥
९१६. भावे पुण कोधादी, कोधादि विणा तु किं^७ भवे फरुसं।
उवयारो पुण कीरति, दव्वादि समुप्पती जेणं ॥ ८६२ ॥ नि २०४ ॥
९१७. आलत्ते वाहित्ते, वावारित पुच्छित्ते णिसट्टे य।
फरुसवयणम्मि एते, पंचेव गमा मुणेतव्वा^८ ॥ ८६३ ॥ नि २०५ ॥
९१८. आलावो देवदत्तादि, किं भो त्ति किं वा वदे त्ति^९।
वाहरणं एहि इतो, वावारण गच्छ कुण वावि ॥ ८६४ ॥
९१९. पुच्छा कताकतेसुं^{१०}, आगत वच्चंत आतुरादीहिं^{११}।
णिसिरण हिंडसुं^{१२} गेणहसु, भुंजसु पिय वा इमं भंते ॥ ८६५ ॥

१. चडप्फड° (क, भ)।
२. ज्ञसितं (मु, भ)।
३. × (भ)।
४. जोगं तु (मु, भ)।
५. वसहिं (दे)।
६. विसुद्धो (भ)।

७. कंहं (मु), कं (भ)।
८. उ णेयव्वा (दे)।
९. गाथा के दूसरे चरण में छंदभंग है।
१०. तेसू (दे)।
११. आउरादीसु (क)।
१२. हंदसु (दे, भ)।

९११ गुरु ने एक साधु को औषध आदि लाने का निर्देश दिया। उसने उसी ओर जाने के इच्छुक अन्य साधु से पूछा—चल रहे हो क्या? वह कहता है—अभी नहीं? धैर्य रखो। क्यों छटपटा रहे हो? बहुत विलम्ब से तुम जागे हो। प्रयत्न करने में शीघ्रता क्यों?

९१२. किसी साधु ने गुरु के योग्य वस्त्र अथवा पात्र की गवेषणा की। दूसरे साधु ने पूछा—ये (वस्त्र/पात्र) किसे मिले? वह बोलता है—मुझे मिले। तुम्हें क्या मिलेंगे? द्रव्य आदि के विषय में पूछे जाने पर इस प्रकार बोलना परुष वचन है।

९१३. किसी साधु ने विशाल एवं अयन योग्य (ऋतुक्षम) क्षेत्र की गवेषणा की, प्रायोग्य वसति अथवा संस्तारक की गवेषणा की। दूसरा साधु उसे पूछता है—इनकी गवेषणा किसने की? इत्यादि पूछे जाने पर वैसे ही (मैंने की, तुम्हें क्या मिलेगा। तुम तो अलब्धिमान् हो इत्यादि) कहना क्षेत्रनिमित्तक परुषवचन है।

९१४. किसी साधु ने अतीत के विषय में कहा कि अमुक क्षेत्र में ऋतुबद्ध वास (शेषकालीन प्रवास) अथवा वर्षावास सुखकर था। अन्य साधु ने पूछा—वह क्षेत्र किसने देखा था? परुषभाषी साधु कहता है—हमने ही उसकी गवेषणा की थी और कौन कर सकता था। इसी प्रकार भविष्यत् काल के विषय में भी कोई कहे कि मैं ही अमुक क्षेत्र आदि की एषणा करूंगा—इत्यादि अतीत और अनागत काल विषयक परुष वचन है।

९१५. द्रव्य, क्षेत्र और काल—तीनों ही पदों के विषय में (स्थानों में) परुष वचन का प्रायश्चित्त है मासलघु। अथवा परुष वचन से आचार्य आदि चारों ही पुरुषों को तप और काल से विशिष्ट मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। (आचार्य को तप और काल दोनों से गुरु, उपाध्याय को तप से गुरु, भिक्षु को काल से गुरु और क्षुल्लक को दोनों से लघु)।

९१६. भाव परुष वचन में क्रोध आदि (क्रोध आदि के कारण बोले गए परुष वचन) का ग्रहण किया गया है। प्रश्न होता है कि क्रोध आदि के बिना अर्थात् केवल द्रव्य आदि में परुष वचन कैसे होगा? आचार्य कहते हैं—जो क्रोध आदि कषायित भाव द्रव्य आदि से समुत्पन्न होते हैं, वहां द्रव्य आदि का उपचार किया गया है। (भावपरुष में द्रव्यादि निरपेक्ष परुषवचन का कथन किया गया है।)

९१७. भावपरुषवचन में ये पांच गम (प्रकार) ज्ञातव्य हैं^१—१. आलाप—कथन, २. बुलाना, ३. किसी कार्य में नियुक्त करना, ४. पूछना ५. निसृष्ट करना (आदेश देना)।

९१८. आलाप का अर्थ है—कथन करना, आवाज देना, देवदत्त आदि को बुलाना, अरे कौन है? आदि आलाप हैं। व्याहरण का अर्थ है बुलाना, जैसे—इधर आओ आदि। व्यापरण का अर्थ है—किसी कार्य में लगाना, जैसे—वहां जाओ, यह करो आदि।

९१९. पृच्छा का अर्थ है—कृत अथवा अकृत के विषय में पूछना, आतुर आदि के साथ आने-जाने के विषय में पूछना आदि। निसर्जन (निसृष्ट करने) का अर्थ है अनुज्ञा देना, जैसे—हे भदंत! गमन करो, ग्रहण करो, यह खाओ अथवा यह पीओ आदि।

१. जीभा में ये पांच प्रकार आशातना के साथ संबद्ध हैं।

१२०. तुसिणीए हुंकारे, किं ति च किं चडकरं करेसि त्ति ।
किं णिव्वुतिं^१ ण देसी, केवइयं वावि रडसि^२ त्ति^३ ॥ ८६६ ॥
१२१. मासो लहुगो गुरुगो, चउरो 'लहुगा य होंति गुरुगा य'^४ ।
छम्मासा लहु-गुरुगा, छेदो मूलं तह दुगं च ॥ ८६७ ॥
१२२. आयरिणाऽऽलत्तो, आयरिए चेव^५ तुसिणीए लहुगो ।
रडसि त्ति छग्गुरंतं, वाहितं^६ गुरुगादि छेदंतं^७ ॥ ८६८ ॥
१२३. लहुगादी वावारित, मूलंतं 'पुच्छिते गुरु'^८ नवमं ।
णिस्सट्ठे^९ छसु पदेसु^{१०}, छल्लहुगादी तु चरमंतं^{११} ॥ ८६९ ॥
१२४. पप्पायरियं सोधी, आयरियस्सेव एस णातव्वा ।
एक्केक्कगपरिहीणा, पप्पऽभिसेगादि तस्सेव^{१२} ॥ ८७० ॥
१२५. आयरिया अभिसेगो^{१३}, एक्कगहीणो तदेक्कणा^{१४} भिक्खू ।
थेरो तु तदेक्केणं^{१५}, थेरा खुड्डो वि एक्केणं ॥ ८७१ ॥
१२६. भिक्खुसरिसी^{१६} उ गणिणी, थेरसरिच्छी तु होति अभिसेगा ।
भिक्खुणि^{१७} खुड्डुसरिच्छा^{१८}, गुरु-लहु-पणगादि दो इतरे ॥ ८७२ ॥

१. णिव्वुती (मु) णेव्वुती (भ) ।

२. चडसि (भ) ।

३. बृभा ६१०५ ।

४. मासा हवंति लहु गुरुगा (बृभा ६१०६) ।

५. सोच्च (दे, मु, भ) ।

६. वाहिते (मु, क, भ) ।

७. बृभा ६१०७ ।

८. चतुगुरुगाइ पुच्छिए (बृभा ६१०८) ।

९. णीसट्ठ (बृभा) ।

१०. पदेसू (क, भ) ।

११. चरिमंतं (दे, बृभा) ।

१२. दे प्रति में इस गाथा का दूसरा और तीसरा चरण नहीं मिलता है ।

१३. दभिं (बृभा ६११०) ।

१४. तदिक्कणा (बृभा) ।

१५. तदिक्केणं (बृभा) ।

१६. भिक्खू (भ, दे), भिक्खु सदृशी गणिणीरिति वचनात् सर्वत्र भिक्षु स्थानात् प्रथमं प्रवर्तते (चू) ।

१७. भिक्खूणि (भ) ।

१८. °सरिच्छी (बृभा ६१११) ।

१२०. एक पुरुष^१ अन्य पुरुष के द्वारा आलाप आदि किए जाने पर निम्न छह प्रतिक्रियाएँ करता है—१. तूष्णीक—चुप रहना २. हुंकार देना (हुं इस प्रकार बोलकर स्वीकार मात्र करता है)। ३. क्या है?—इस प्रकार कहना ४. क्यों आडम्बर कर रहे हो—क्यों चड़-चड़ कर रहे हो? ५. सुख (शान्ति) से क्यों नहीं रहने देते? और ६. कब से चिल्ला रहे हो?

१२१. आचार्य आदि के द्वारा आलाप आदि किए जाने पर तूष्णीक आदि प्रतिक्रियाएँ करने पर क्रमशः लघुमास, गुरुमास, चतुर्लघु, चतुर्गुरु, षड्लघु, षड्गुरु, छेद, मूल तथा द्विक अर्थात् अनवस्थाप्य और पाराञ्चित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१२२, १२३. एक आचार्य ने दूसरे आचार्य से आलाप किया, उसे सुनकर वह चुप रहता है तो उसे मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है, इसी क्रम से कब से चिल्ला रहे हो—ऐसा कहने पर षड्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। एक आचार्य दूसरे आचार्य को बुलाए और उस समय दूसरा यदि तूष्णीक आदि प्रतिक्रियाएँ करता है तो अन्तिम पद में छेद प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। इसी प्रकार व्यापृत किए जाने पर चतुर्लघु से प्रायश्चित्त प्रारम्भ होकर अन्तिम पद में मूल, पृच्छा में अन्तिम पद में नवम (अनवस्थाप्य) प्रायश्चित्त तथा निसृष्ट के छह पदों में षड्लघु से प्रारम्भ होकर अन्तिम पद में चरम (पाराञ्चित) प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१२४. यह (उपर्युक्त) विशोधि आचार्य की आचार्य के आलाप आदि की अपेक्षा से कही गई है—यह ज्ञातव्य है। अन्य पुरुषों के विषय में यह क्रमशः एक-एक हीन होती जाती है। ऐसा अभिषेक (उपाध्याय) आदि की अपेक्षा से ज्ञातव्य है।^२

१२५. आचार्य से अभिषेक एक पद हीन होता है। उससे भिक्षु, भिक्षु से स्थविर तथा स्थविर से क्षुल्लक एक पदहीन होता है अतः उपर्युक्त चारणिका से उनकी विशोधि भी एक-एक पद हीन होती जाती है।^३

१२६. प्रस्तुत प्रायश्चित्त के प्रसंग में गणिनी (प्रवर्तिनी) भिक्षु के समान है, अभिषेक स्थविर के सदृश, भिक्षुणी क्षुल्लक के समान है। अन्य दो—स्थविरा और क्षुल्लिका का प्रायश्चित्त क्रम क्रमशः गुरुपनक (पांच रात-दिन) तथा लघुपनक से प्रारम्भ होकर षड्लघु और चतुर्गुरु में पूर्ण होता है।^४

१. पुरुष के पांच प्रकार हैं—आचार्य, उपाध्याय, भिक्षु, स्थविर और क्षुल्लक (बाल साधु)।

२. आचार्य उपाध्याय से आलाप आदि करे। उस समय उपाध्याय यदि तूष्णीक आदि पदों का आचरण करे तो प्रायश्चित्त का क्रम गुरु भिन्नमास से शुरू होकर अनवस्थाप्य में पूर्ण होता है। आचार्य भिक्षु से आलाप आदि करे तो भिक्षु के उपर्युक्त प्रतिसेवनापदों का प्रायश्चित्त लघु भिन्नमास से शुरू होकर मूल में पूर्ण होता है। उपर्युक्त प्रसंग में स्थविर के बीस दिनरात के गुरु प्रायश्चित्त से शुरू होकर छेद में और क्षुल्लक के बीस दिनरात के लघु से शुरू होकर षड्गुरु में पूर्ण होता है।

३. उपाध्याय आचार्य, उपाध्याय भिक्षु, स्थविर और क्षुल्लक से आलाप आदि करता है। इस क्रम में प्रत्येक के साथ आलाप आदि पांच पद तथा तूष्णीक आदि छह प्रकारों के गुणन से तीस प्रकार की प्रतिसेवना हो जाती है। इस प्रकार उसका प्रायश्चित्त पन्द्रह दिनरात के गुरु प्रायश्चित्त से प्रारम्भ होकर अनवस्थाप्य में पूर्ण होता है। इसी क्रम में भिक्षु यदि आचार्य आदि से आलाप आदि करे तो प्रायश्चित्त पन्द्रह दिनरात के लघु प्रायश्चित्त से प्रारम्भ होकर मूल में, स्थविर का दस दिन रात गुरु से छेद में तथा क्षुल्लक का दस दिनरात लघु से प्रारम्भ होकर षड्गुरु में पूर्ण होता है।

४. उपर्युक्त प्रायश्चित्त आचार्य के परिप्रेक्ष्य में हैं अर्थात् आचार्य प्रवर्तिनी आदि से आलाप आदि करे और वे तूष्णीक आदि पदों का आचरण करें तो लघुभिन्नमास आदि प्रायश्चित्त प्राप्त होते हैं। यदि उपाध्याय प्रवर्तिनी आदि से आलाप आदि करे तो इन पदों में दस दिनरात गुरु से छेद प्रायश्चित्त आता है। भिक्षु के विषय में यही क्रम दस दिनरात लघु, स्थविर के गुरु पनक तथा क्षुल्लक के लघु पनक से प्रारम्भ होता है। प्रवर्तिनी, अभिषेक आदि आचार्य, उपाध्याय आदि के साथ आलाप आदि करें तथा वे तूष्णीक आदि पदों का आचरण करे, तब भी यही चारणिका वक्तव्य है।

९२७. एतेसामण्णतरं, जो भिक्खू लहुसगं वदे फरुसं।
सो आणा-अणवत्थं, मिच्छत्त-विराधणं पावे ॥ ८७३ ॥ नि २०६ ॥
९२८. बितियपदमणप्पज्जे, अप्पज्जे वा वदेज्ज खरसज्जे।
अणुसासणावदेसा, वदेज्ज व विगिंचणट्टाए ॥ ८७४ ॥
९२९. दव्वे^१ खेत्ते काले, भावे 'य लहूसगं'^२ मुसं होति।
एतेसिं नाणत्तं, वोच्छामि अहाणुपुव्वीए ॥ ८७५ ॥ नि २०७ ॥
९३०. दव्वम्मि वत्थपत्तादिगेसु खेत्ते^३ संथार-वसधिमादीसु^४।
काले तीतमणागत, भावे भेदा इमे होति ॥ ८७६ ॥ नि २०८ ॥
९३१. मज्झ पडो णेस तुहं, न यावि सोतस्स दव्वतो अलियं।
गोरस्सं व भणंते^५, दव्वब्भूतो व जं भणती^६ ॥ ८७७ ॥
९३२. वत्थं वा पायं वा, अण्णेणुप्पाइयं^७ तु सो पुट्ठो।
भणति मए उप्पादित^८, दव्वे^९ अलियं भवे अहवा ॥ ८७८ ॥
९३३. णिसिमादी सम्मूढो, परसंथारं भणाति मज्झेसो।
खेत्त वसधी व अण्णणुगगमिता^{१०} बेति तु मए त्ति ॥ ८७९ ॥
९३४. केणुवसमितो सद्धो^{११}, मए त्ति ण य सो तु तेण इति तीए।
को णु हु उवसामेहिति^{१२}, अणातिसेसी अहंउवस्सं^{१३} ॥ ८८० ॥
९३५. तीतम्मि य अट्टुम्मी, पच्चुप्पण्णे अणागते चेव।
विधिसुत्ते जं भणितं, अणात^{१४} निस्संकिंतं भावे ॥ ८८१ ॥

१. सूत्र १९ (नव २/१९)।

२. लहुं (भ)।

३. छंद की दृष्टि से 'खेत्ते' पाठ अतिरिक्त प्रतीत होता है।

४. °मादिसु (मु)।

५. वदंते (क, पा)।

६. भणति (भ, मु)।

७. अण्णाणुं (दे)।

८. उप्पाइयं (मु)।

९. दव्वतो (भ)।

१०. अण्णेणुगं (मु, भ)।

११. सद्धो (क)।

१२. तं उवसामे (भ, मु)।

१३. अहं एसे (भ)।

१४. अण्णात (क)।

१२७. जो भिक्षु इनमें से किसी भी प्रकार का लघुस्वक परुष वचन बोलता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व और विराधना—इन दोषों को प्राप्त होता है।

१२८. अपवाद पद में जो क्षिप्तचित्त आदि अनात्मवश हो अथवा आत्मवश होने पर भी कोई परुषवचन साध्य (खरसाध्य) आचार्य आदि हों तो उन्हें समझाने हेतु परुषवचन बोल सकता है। अथवा मृदु आचार्य भी अनुशासन की दृष्टि से मालवा, सिंधुदेश आदि के शिष्यों को परुषवचन बोल सकता है। अथवा नपुंसक आदि अयोग्य शिष्य को पृथक् करने के लिए परुषवचन कहा जा सकता है ताकि वे उसे सहन न कर सकें तो स्वयं ही गण को छोड़ दें।

१२९. लघुस्वक मृषावचन के चार प्रकार प्रज्ञप्त हैं—१. द्रव्य-विषयक, २. क्षेत्र-विषयक, ३. काल-विषयक और ४. भाव-विषयक। इनमें जो नानात्व है, उनका क्रमशः कथन करूंगा।

१३०. वस्त्र, पात्र आदि के विषय में मृषा बोलना द्रव्य-विषयक मृषावचन है। संस्तारक, वसति आदि के विषय में मृषा बोलना क्षेत्र-विषयक मृषावचन है। अतीत और अनागत के विषय में मृषा बोलना काल-विषयक मृषा वचन है। भाव-विषयक मृषावचन के ये भेद होते हैं—

१३१. द्रव्यविषयक मृषावाद के तीन प्रकार हैं—१. द्रव्य के विषय में मृषावाद—जिस साधु का वस्त्र नहीं है यदि वह कहता है—यह वस्त्र मेरा है, तुम्हारा नहीं—यह द्रव्य विषयक मृषावाद है। २. विपरीत द्रव्य का कथन, जैसे गाय को घोड़ा कहना। ३. द्रव्यभूत अर्थात् अनुपयुक्त अवस्था में बोलना।

१३२. अथवा कोई वस्त्र या पात्र एक साधु लेकर आया। दूसरे साधु को पूछा गया। वह अन्य के द्वारा उत्पादित (लाए गए) वस्त्र आदि के विषय में कहता है—मैं लाया—यह द्रव्य मृषावाद है।

१३३. रात्रि के अन्धकार आदि से सम्मूढ बना साधु दूसरे की संस्तारक-भूमि आदि के विषय में 'यह मेरी है' ऐसा कहता है अथवा दूसरे साधु के द्वारा उद्गमित (गवेषित) वर्षावास आदि के अनुकूल वसति, क्षेत्र आदि के विषय में मैंने इसकी गवेषणा की—ऐसा प्रतिपादन करता है, वह क्षेत्रविषयक मृषावाद है।

१३४. एक साधु ने किसी आभिग्राहिक मिथ्यात्वी को उपशान्त किया। दूसरे साधु को पूछा गया। उसने कहा—मैंने इसे उपशान्त किया। जबकि वह अन्य के द्वारा उपशान्त किया गया था, उसके द्वारा नहीं। इसी प्रकार अतीत के विषय में मिथ्या प्रतिपादन करना काल विषयक मृषावाद है। अथवा किसी अर्हत् प्रत्यनीक को समझाना है और कोई अनतिशायी साधु कहे कि मैं उसे अवश्य समझा दूंगा, उपशान्त कर दूंगा—यह भविष्यत्कालीन मृषावाद है।

१३५. अथवा अतीत, प्रत्युत्पन्न (वर्तमान) अथवा अनागत के विषय में जो तथ्य अज्ञात हो, उसके विषय में निःशंकित कथन करना काल-विषयक मृषावाद है। अथवा विधिसूत्र (दशवैकालिक के वाक्यशुद्धि नामक अध्ययन) में जो मृषावाद के काल विषयक सूत्र कहे गये हैं, वे यहां द्रष्टव्य हैं।

९३६. पयला-उल्ले मरुगे, पच्चक्खाणे य गमण-परियाए।
‘समुदेस संखडी खुडुगे य’^१ परिहारिय मुहीओ ॥ ८८२ ॥ नि २०९ ॥
९३७. अवस्सगमणं दिसासु^२, एगकुले चेव एगदव्वे य।
पडियाइखित्त^३ गमणं, पडियाखित्ता^४ य भुंजणयं^५ ॥ ८८३ ॥ नि २१० ॥
९३८. एतेसामण्णतरं, जो भिक्खू लहुसगं मुसं वदति।
सो आणा-अणवत्थं मिच्छत्त-विराधणं पावे ॥ ८८४ ॥ नि २११ ॥
९३९. बितियपदं उडुहे, संजमहेतुं च बोहिगे तेणे।
खेत्ते वा पडिणीए, सेहे वा वादिमादीसु^६ ॥ ८८५ ॥
९४०. दव्वे^७ खेत्ते काले, भावे उ^८ लहुसगं अदत्तं तु।
एतेसिं नाणत्तं, वोच्छामि अहाणुपुव्वीए ॥ ८८६ ॥ नि २१२ ॥
९४१. दव्वे इक्कड^९-कडिणादिगेसु खेत्ते^{१०} उच्चारभूमिमादीसु।
काले इत्तरियमवी, अजाइतुं चिट्ठणादीसुं^{११} ॥ ८८७ ॥ नि २१३ ॥
९४२. भावे पाउग्गस्सा, अणणुणवणातु^{१२} तप्पढमताए।
ठायंते उडुबद्धे, वासाणं वुडुवासे य ॥ ८८८ ॥ नि २१४ ॥
९४३. एतेसामण्णतरं, लहुसमदत्तं तु जो तु आदियति।
सो आणा-अणवत्थं, मिच्छत्त-विराधणं पावे ॥ ८८९ ॥ नि २१५ ॥
९४४. अद्धाणे गेलण्णे, ओमऽसिवे गामऽणुगामियवियाले^{१३}।
तेणा सावय मसगा, सीतं वासं दुरहियासं ॥ ८९० ॥

१. समुदेस संखडीओ खुडुग (मु, बृभा ६०६६) ।
२. दिसासू (क), दिसासुं (बृभा), दिस्सासू (भ) ।
३. पडियाइखित्ता (मु), °याइखित्ता (बृभा ६०६७) ।
४. °याइखित्ता (भ) ।
५. भुंजणं (मु, भ) ।
६. वादिमा (मु) ।
७. सूत्र २० (नव २/२०) ।

८. य (मु) ।
९. वणस्सतिभेदो इक्कडा लाडाणं पसिद्धा (चू) ।
१०. छंद की दृष्टि से यहां ‘खेत्ते’ पाठ अतिरिक्त प्रतीत होता है ।
११. चिट्ठमाईसु (मु, भ) ।
१२. अणुणवणाउ (दे) ।
१३. °गामिमतिवेला (भ, मु) ।

९३६, ९३७. भाव मृषावाद निम्नांकित पदों से ज्ञातव्य है—१. प्रचला, २. आर्द्र, ३. मरुक, ४. प्रत्याख्यान, ५. गमन, ६. पर्याय, ७. समुद्देश, ८. संखडी, ९. क्षुल्लक, १०. परिहारी, ११. (अश्व) मुखी स्त्रियां, १२. अवश्यगमन, १३. दिशा, १४. एक कुल में गमन १५. एक द्रव्य का भोग १६. प्रत्याख्यान करके गमन और १७. प्रत्याख्यान करके भोजन।

९३८. जो भिक्षु इनमें से किसी भी प्रकार का लघुस्वक मृषा वचन बोलता है वह आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व और विराधना—इन दोषों को प्राप्त होता है।

९३९. अपवाद पद में निम्नांकित कारणों से लघुस्वक मृषा का प्रयोग विहित है—१. उड्डाह (लोकापवाद), २. संयम हेतु, ३. बोधिक (म्लेच्छ), ४. स्तेन, ५. क्षेत्र, ६. प्रत्यनीक, ७. शैक्ष और ८. वाद आदि में।^१

९४०. लघुस्वक अदत्तादान के चार प्रकार प्रज्ञप्त हैं—१. द्रव्यविषयक, २. क्षेत्रविषयक, ३. कालविषयक और ४. भावविषयक। इनमें जो नानात्व है उनका क्रमशः कथन करूंगा।

९४१. द्रव्यविषयक अदत्त जैसे—इक्कड़ (घासविशेष), कठिन (बांस), अवलेहनिका आदि को बिना अनुज्ञा लेना।

* क्षेत्र विषयक अदत्त जैसे—उच्चारभूमि, प्रस्रवणभूमि आदि में बिना अनुज्ञा उच्चार आदि का विसर्जन करना।

* कालविषयक अदत्त—अल्पकाल के लिए भी कहीं बिना अनुज्ञा खड़े होना, बैठना आदि, जैसे—वर्षा, अटवी आदि में वृक्ष के नीचे खड़े होना।

९४२. ऋतुबद्धकाल, वर्षाकाल अथवा वृद्धावास में प्रायोग्य द्रव्य आदि के विषय में यदि निर्ग्रन्थ अनुज्ञा न लेने के भाव से परिणत होकर उन्हें ग्रहण करे तो वह भाव अदत्त कहलाता है।

९४३. जो भिक्षु इनमें से किसी भी प्रकार का लघुस्वक अदत्त ग्रहण करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व और विराधना—इन दोषों को प्राप्त होता है।

९४४. आपवादिक परिस्थितियों में निम्न कारणों से अदत्त ग्रहण कर सकता है—

१. अद्धाण—अटवी में निर्गत मुनि विकाल वेला में गांव में पहुंचे और कोई अनुज्ञा देने वाला न मिले तो इक्कड़ आदि को बिना अनुज्ञा लेना।

२. आगाढ़ ग्लान्य में अतिशीघ्रता के कारण बिना अनुज्ञा कोई द्रव्य लेना।

३. अवम काल में अदत्त आहार का ग्रहण।

४. अशिव ग्रस्त अवस्था में अननुज्ञात तृण, संस्तारक आदि का ग्रहण तथा

५. ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए विकाल वेला में उपलब्ध वसति आदि को अनुज्ञा लिए बिना ग्रहण। यदि बाहर दो प्रकार के स्तेन (उपधिस्तेन और शरीरस्तेन) हो, सिंह आदि श्वापद या मच्छरों का परीषह हो, असह्य शीत अथवा अनवरत वर्षा हो तो बाहर न रहे।

१. किसी ने पूछा—क्या आप तुम्बे में खाते हैं? जहां लोकापवाद का प्रसंग हो, वहां साधु कह देते हैं—नहीं। हरिण आदि को देखने पर भी व्याध के पूछने पर साधु कहते हैं—नहीं देखा। म्लेच्छ, स्तेन आदि का भय हो, वहां कह देते हैं—सेना आ रही है या सार्थ आ रहा है। ब्राह्मण भावित क्षेत्र में 'हम ब्राह्मण हैं', प्रत्यनीक के पूछने पर 'मैं वह नहीं हूँ या अमुक साधु कहां है पता नहीं' आदि कहना अपवाद है। इसी प्रकार उत्पन्नजित करने के लिए ज्ञातिजनों के पूछने पर शैक्ष विषयक मृषावाद तथा प्रतिवादी को असद् दोष से निगृहीत करना वाद विषयक मृषा है।

१४५. एतेहि कारणेहिं, पुव्वं उग्घेतुं^१ पच्छऽणुणवणा ।
अद्धानिग्गतादी, दिट्ठमदिट्ठे इमं होति ॥ ८९१ ॥
१४६. 'पडिलेहणऽणुणवणा'^२, अणुलोमण फरुसणा य अधियासे ।
अतिरिचणम्मि^३ दायण, णिग्गमणे वा दुविधभेदो ॥ ८९२ ॥
१४७. अब्भासत्थं गंतूण, पुच्छणा दूरयत्तिमा^४ जतणा ।
तदिसमेत्तपडिच्छण^५, पत्तम्मि कहिंति^६ सब्भावं ॥ ८९३ ॥
१४८. अणुसासणं सजाती, सजातिमेवेति तह वि उ अठंते^७ ।
अभियोगनिमित्तं वा, बंधण गोसे य ववहारो ॥ ८९४ ॥
१४९. तिण्णि^८ पसती य लहुसं, वियडं पुण होति विगतजीवं तु ।
उच्छोलणा तु तेणं, देसे सव्वे य णातव्वा^९ ॥ ८९५ ॥ नि २१६ ॥
१५०. आइण्णमणाइण्णा, दुविधा देसम्मि होति णातव्वा ।
आइण्णा वि य दुविधा, निक्कारणया^{१०} य कारणओ ॥ ८९६ ॥ नि २१७ ॥
१५१. भत्तामासे^{११} लेवे, कारण निक्कारणे य विवरीतं ।
मणिबंधादिकरेसुं, जेत्तियमेत्तं तु लेवेणं ॥ ८९७ ॥ नि २१८ ॥
१५२. एतं खलु आइण्णं, तव्विवरीतं भवे अणाइण्णं ।
चलणादी जाव सिरं, सव्वम्मी^{१२} 'होतऽणाइण्णं'^{१३} ॥ ८९८ ॥ नि २१९ ॥
१५३. मुह-णयण-चलण^{१४}-दंता, णक्क-सिरा-बाहु-वत्थिदेसा य ।
परिदाह^{१५} दुगुंछावत्तियं च उच्छोलणा देसे ॥ ८९९ ॥

१. यहां छंद की दृष्टि से प्रतियों में 'उ घेतु' के स्थान पर 'उग्घेतु' पाठ मिलता है ।

२. °लेह अणुण्णं (क) ।

३. °रिच्चं (मु) ।

४. पूरयं (क) ।

५. °सपत्तपं (भ) ।

६. काहंति (क) ।

७. अधन्ने (दे) ।

८. सूत्र २१ (नव २/२१) ।

९. इस गाथा के बाद चूर्ण में 'णिज्जुत्तिवत्थरो इमो' का उल्लेख है ।

१०. °रणओ (मु) ।

११. तत्थ भत्तामासे मणिबंधादिकरेसु त्ति असणाइणा लेवाडेण हत्था लेवाडिया ते मणिबंधातो जाव धोवति, एसा भत्तामासे (चू) ।

१२. भव्वम्मि (भ) ।

१३. होति णातव्वं (दे) ।

१४. चलणं (क) ।

१५. परिडाह (भ, मु) ।

१४५. उपाश्रय का स्वामी दिखाई दे तो पहले अनुज्ञा लेकर रहे। किन्तु वह दिखाई न दे या कहीं गया हुआ हो (मार्ग निर्गत हो) तो इन अटवी निर्गत आदि कारणों में पहले पड़ोसी आदि से अनुज्ञा लेकर रह जाए। जब गृहस्वामी आए तो उससे आज्ञा ले ले।

१४६. यदि गृहस्वामी खेत आदि में गया हुआ हो तो उसकी प्रतीक्षा करे, अनुज्ञा ले, अनुलोम वचनों से उसे उपाश्रय देने के लिए तैयार करे। वह उपाश्रय में न रहने दे या परुष भाषा का प्रयोग करे तो उसे सहन करे। इतना करने पर भी उस प्रज्ञापन का अतिरेक करे (न समझे) और बाहर रहने में यदि आत्मभेद और संयमभेद की संभावना हो तो उसे अपनी शक्ति से परिचित करा दे। (कृतकरण साधु शक्तिप्रयोग करे।^१)

१४७. यदि गृहस्वामी निकट ही कहीं गया हो तो मुनि उसके पास जाकर पूछे—अनुज्ञा ले। यदि वह दूर गया हुआ हो तो यतना यह है कि नाम, चिह्न आदि के द्वारा उसके विषय में जानकारी करे, उस दिशा में कुछ दूर सामने जाकर प्रतीक्षा करे और उसके आने पर सद्भाव (यथार्थ) का कथन करे कि हम तुम्हारे घर में अमुक काल तक रहना चाहते हैं।

१४८. यदि कोई गृहस्वामी सहज में मुनि को वसति की अनुज्ञा न दे तो उसे अनुकूल वचनों से प्रज्ञापना दे कि देखो हर प्राणी अपनी जाति वालों के पास ही जाता है (कोई गाय यदि अपने समूह से बिछुड़ जाए तो वह पुनः किसी गोसमूह के पास ही जाएगी, निकटस्थ महिषमण्डल में नहीं। वैसे ही हम तुम्हारे पास आए हैं।) यदि अनुकूल वचनों के द्वारा भी वह न रुके—परुष वचनों का प्रयोग करे और वसति की अनुज्ञा न दे तो वशीकरण, निमित्त आदि का प्रयोग कर उसे वश में करे। यदि प्रयोग ज्ञात न हों तो बाहर ही रह जाएं, उसके साथ कलह न करें। इसके बावजूद भी न माने^२ तो उसे बांधकर उसके घर में रह जाए और प्रातःकाल न्याय के लिए उपस्थित हो जाए।^३

१४९. लघुस्वक अर्थात् अल्प जल का अर्थ है—तीन चुल्लू पानी। विकट का अर्थ है—अचित्त जल। प्रक्षालन के दो प्रकार ज्ञातव्य हैं—देशप्रक्षालन और सर्वप्रक्षालन।

१५०. देश (आंशिक) प्रक्षालन के दो प्रकार ज्ञातव्य हैं—१. आचीर्ण, २. अनाचीर्ण। आचीर्ण के पुनः दो प्रकार होते हैं—१. निष्कारण और २. सकारण।

१५१. कारणतः प्रक्षालन के दो प्रकार हैं—१. भोजन के अन्त में मणिबन्ध तक हाथ धोना तथा २. अशुचि पदार्थ—मूत्र, पुरीष आदि से शरीर का जितना अवयव लिप्त हो, उतना मात्र धोना। इसके विपरीत अर्थात् उक्त कारणों के अभाव में शरीर के किसी अवयव विशेष को धोना निष्कारण देश प्रक्षालन है।

१५२. कारण में अवयव विशेष का प्रक्षालन आचीर्ण प्रक्षालन है। इसके विपरीत अर्थात् निष्कारण पैर से लेकर सिर तक चाहे आंशिक हो या सर्वप्रक्षालन, वह अनाचीर्ण है।

१५३. मुंह, नेत्र, पैर, दांत, नाक, सिर, बाहु तथा वस्तिदेश के परिदाह (गर्मी) के निवारण तथा जुगुप्सा निवारण के लिए प्रक्षालन करना देश प्रक्षालन है।

१. प्रस्तुत प्रसंग में चूर्णिकार ने विश्वभूति का दृष्टान्त प्रस्तुत किया है।

२. वसति से बाहर चारित्रदोष, स्तेन या श्वापदभय होने पर भी गृहस्वामी वसति न दे तो उसे कहे—देखो, हम सहन कर लेंगे पर अमुक मुनि सहस्रयोधी/कृतकरण है, वह सहन नहीं करेगा। यह रुष्ट होकर आपको कष्ट न दे दे। अतः आप हमारी बात मान लें।

३. यदि गृहस्वामी न्यायालय में मुकदमा करे तो मुनि न्यायाधीश को कहे—हमने राज्यहित की दृष्टि से ही इसे बांधा था। अन्यथा रात्रि में बाहर रहते हुए हमारे साथ कोई अप्रिय घटना होती तो राज्य का ही अपयश होता।

१५४. आइण्ण लहुसएणं, कारण-निक्कारणे वऽणाइण्णे।
देसे सव्वे य तथा, बहुएणेमेव^१ अट्टपदा ॥ १०० ॥
१५५. जत्थाइण्णं सव्वं, 'व जत्थ वा'^२ कारणे अणाइण्णं।
भंगाण सोलसण्हं, ते वज्जा सेसगा गेज्झा ॥ १०१ ॥
१५६. 'आइण्ण देसकारण, देसितरे'^३ भंग सोलस हवन्ति।
एवं^४ पुण जे गेज्झा^५, ते 'सुण वोच्छं'^६ समासेणं ॥ १०२ ॥
१५७. पढमो तति 'एक्कारो, बारो'^७ तह पंचमो य सत्तमगो।
पण्णर सोलसमो वि य, परिवाडी होति अट्टण्हं ॥ १०३ ॥
१५८. आइण्ण^८ लहुसएणं, कारण-निक्कारणे वि तत्थेव।
णाइण्ण देस-सव्वे, लहुस तहिं कारणं णत्थि ॥ १०४ ॥
१५९. आइण्णे बहुगेणं, कारण-निक्कारणे वि तत्थेव।
णाइण्ण देससव्वे, बहुसे^९ तहिं कारणं नत्थि ॥ १०५ ॥
१६०. आइण्ण लहुसएणं, 'कारणतो देसियं'^{१०} अणुण्णातं।
सेसा णाणुण्णाता, उवरिल्ला सत्त वि पदा उ ॥ १०६ ॥
१६१. आइण्ण लहुसएणं, निक्कारण देसतो भवे बितिओ।
'णाइण्ण लहुसएणं'^{११}, णिक्कारण देसतो ततिओ ॥ १०७ ॥
१६२. 'णाइण्णे लहुसेणं'^{१२}, निक्कारण सव्वतो चउत्थो उ।
एवं बहुणा वि अण्णे, भंगा चत्तारि णेतव्वा^{१३} ॥ १०८ ॥

१. एवशब्दग्रहणात् तृतीय-चतुर्थ-पंचम-षष्ठ भंगविपर्यासः

प्रदर्शितः (चू)।

२. जत्थ व (मु)।

३. आइण्णे लहुसकारण देसेतरे (मु, भ)।

४. एत्थं (मु, भ)।

५. गज्झा (दे, भ)।

६. वोच्छं सुण (मु)।

७. एक्कार बार (क)।

८. आदिण्ण (दे), सर्वत्र।

९. बहुणा (भ, मु)।

१०. कारणतो देसे तं (मु), °तो देसितं (दे)।

११. णाइण्णे लहुसेणं (क)।

१२. णाइण्ण लहुसएणं (मु)।

१३. णायव्वा (क, भ, मु)।

१५४. आचीर्ण, स्वल्प जल से, सकारण और देश प्रक्षालन—यह प्रथम भंग बनता है। स्वल्प जल से इनके प्रतिपक्ष भंगों की संयोजना से आठ भंग बन जाते हैं। इसी प्रकार बहुत जल से भी ये ही आठ भंग बनते हैं।

१५५. उपर्युक्त भंगों में जहां-जहां आचीर्ण के साथ सर्व का ग्रहण हुआ है तथा जहां कारण में अनाचीर्ण पद का ग्रहण हुआ है, उनको छोड़कर शेष भंग ग्राह्य हैं अर्थात् पूर्वापर विरोध न होने से संगत हैं।^१

१५६. आचीर्ण, स्वल्प, सकारण तथा देश के साथ इतर अर्थात् प्रतिपक्ष विकल्पों (अनाचीर्ण, बहुत, निष्कारण और सर्व) को ग्रहण करने से सोलह भंग बनते हैं। इनमें जो ग्राह्य (संगत) भंग हैं, उनको संक्षेप में कह रहा हूँ, तुम सुनो।

१५७. पहला, तीसरा, ग्यारहवां, बारहवां, पांचवां, सातवां, पन्द्रहवां तथा सोलहवां—ये आठ भंग क्रमशः संगत हैं^२।

१५८, १५९. प्रथम भंग है—आचीर्ण, स्वल्प, सकारण, देश। द्वितीय भंग है—आचीर्ण, स्वल्प, निष्कारण, देश, तृतीय भंग है—अनाचीर्ण, स्वल्प, निष्कारण, देश। चतुर्थ भंग है—अनाचीर्ण, स्वल्प, निष्कारण, सर्व। पंचम भंग है—आचीर्ण, बहुत, सकारण, देश। षष्ठ भंग है—आचीर्ण, बहुत, निष्कारण, देश। सप्तम भंग है—अनाचीर्ण, बहुत, निष्कारण, देश। अष्टम भंग है—अनाचीर्ण, बहुत, निष्कारण, सर्व।

१६०. आचीर्ण, स्वल्प जल से, कारणतः, देश प्रक्षालन—यह पहला भंग अनुज्ञात है, शेष अग्रिम सातों ही पद अनुज्ञात नहीं हैं।

१६१-१६२. दूसरा भंग है—आचीर्ण, स्वल्प, निष्कारण, देश। तीसरा भंग है—अनाचीर्ण, स्वल्प, निष्कारण, देश। चौथा भंग है—अनाचीर्ण, स्वल्प, निष्कारण, सर्व। इसी प्रकार बहुत के साथ भी ये ही चार भंग होते हैं—ऐसा ज्ञातव्य है।^३

१. सर्व प्रक्षालन आचीर्ण नहीं तथा कारण में प्रक्षालन अनाचीर्ण नहीं, अतः ये दोनों पद पूर्वापर विरोधी है।

२. अग्रिम गाथाओं (गा. १५८-१६२) में रचित भंगों के साथ इन भंगों को संगति विमर्शनीय है।

३. विमर्श—निशीथभाष्य गा. १५४ में १६ भंगों की रचना का निर्देश है, जबकि गा. १५८, १५९ में प्रथम आठ भंग तथा पुनः १६०-१६२ में भी वे ही आठ भंग निर्दिष्ट हैं। इनके अतिरिक्त शेष आठ भंग हैं—९. आचीर्ण, स्वल्प, सकारण, सर्व।

१०. आचीर्ण, स्वल्प, निष्कारण, सर्व। ११. अनाचीर्ण, स्वल्प, सकारण, सर्व। १२. अनाचीर्ण, स्वल्प, सकारण, देश।

१३. आचीर्ण, बहुत, सकारण, सर्व। १४. आचीर्ण, बहुत, निष्कारण, सर्व। १५. अनाचीर्ण, बहुत, सकारण, सर्व।

१६. अनाचीर्ण, बहुत, सकारण, देश।

१६३. सुद्धो लहुगो लहुगा, 'बिसु तिसु'^१ लहुग चउलहु य अट्टमगे ।
पच्छित्ते परिवाडी, अट्टसु भंगेसु एतेसु ॥ १०९ ॥
१६४. सुत्तनिवातो बितिए, ततिए य पदम्मि पंचमे चेव ।
छट्टे य सत्तमे वि य, तं सेवंताऽऽणमादीणि ॥ ११० ॥ नि २२० ॥
१६५. छक्कायाण विराधण, तप्पडिबंधो य गारव-विभूसा ।
परिसहभीरुत्तं पि य, ऽविस्साओ^२ चेव ण्हाणम्मि ॥ १११ ॥
१६६. बितियपदं^३ गेलण्णे, अद्धाणुव्वात वादि आयरिए ।
मोहतिगिच्छऽभियोगे, ओमे जतणा य जा जत्थ ॥ ११२ ॥
१६७. सकलप्पमाणवण्णं^४, 'बंधणकसिणं चतुत्थमजिणं तु'^५ ।
अकसिणमट्टारसगं^६, दोसु वि 'पादेसु दो खंडा'^७ ॥ ११३ ॥ नि २२१ ॥
१६८. एगपुड-सगलकसिणं, दुपुडादीयं पमाणतो कसिणं ।
'कोसग खल्लग'^८ वग्गुरि, खपुसा^९ जंघऽद्धजंघा य ॥ ११४ ॥ नि २२२ ॥
१६९. पादस्स जं पमाणं, तेण पमाणेण जा^{१०} भवे कमणी ।
मज्झम्मि तु अक्खंडा, अण्णत्थ व सकलकसिणं तु^{११} ॥ ११५ ॥
१७०. वण्णट्ठ वण्णकसिणं, तं पंचविधं तु होति णातव्वं ।
बहुबंधणकसिणं पुण, परेण जं तिण्ह बंधाणं^{१२} ॥ ११६ ॥
१७१. 'एगपुड-दुप्पुडादी'^{१३}, खल्लग-खपुस-ऽद्धजंघ 'जंघा य'^{१४} ।
लहुगो लहुगा गुरुगा, वग्गुरि गुरुगा य जति वारे ॥ ११७ ॥

१. तिसु दुसु (मु) ।

२. अवि^० (भ) ।

३. °पदे (क) ।

४. °ण्णे (दे), सूत्र २२ (नव २/२२) ।

५. °सिणे य होइ णायव्वे (बृभा ३८४६) ।

६. °ट्टादसगं (मु) ।

७. पासेसु खंडाई (बृभा), इस गाथा के लिए बृभा की टीका में 'संग्रहगाथासमासार्थः' का उल्लेख है ।

८. खल्लग खउसा (बृभा ३८४७) ।

९. कोसग (बृभा) ।

१०. जं (दे) ।

११. बृभा ३८४८ ।

१२. बृभा ३८५१ ।

१३. दुगपुड-तिगपु^० (मु) ।

१४. वण्णट्ठे (भ) ।

१६३, १६४. इन पूर्वोक्त आठ भंगों में पहला भंग शुद्ध है। सूत्रोक्त अपेक्षा से दूसरे, तीसरे, पांचवे, छठे और सातवें भंग का आसेवन करने पर मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। चौथे और आठवें भंग में चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है—यह प्रायश्चित्त का क्रम है तथा इनका प्रतिसेवन करने वाले को आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व और विराधना—इन दोषों की प्राप्ति होती है।

१६५. स्नान करने में ये दोष हैं—१. षड्जीवनिकाय की विराधना, २. स्नान-प्रतिबंध अर्थात् पुनः-पुनः स्नान करने की भावना पैदा होना, ३. गौरव, ४. विभूषा, ५. परीषहभीरूता और ६. अविश्वास।

१६६. अपवाद पद में निम्नांकित कारणों से, जो जहां यतना करणीय है उस यतनापूर्वक स्नान किया जा सकता है—१. ग्लान्य, २. मार्ग की श्रान्ति, ३. वाद आदि में जाते हुए आचार्य, ४. मोह-चिकित्सा, ५. राज-अभियोग और ६. अवम^१।

१६७. कृत्स्न (प्रधान, श्रेष्ठ) चर्म के चार प्रकार प्रज्ञप्त हैं—१. सकलकृत्स्न, २. प्रमाणकृत्स्न, ३. वर्णकृत्स्न और ४. बन्धनकृत्स्न। प्रश्नकर्ता कहता है कि चूंकि कृत्स्न चर्म धारण करना मुनि के लिए विहित नहीं है अतः दो खंडों (पदत्राणों) को अकृत्स्न अठारह खंडों में विभक्त कर दोनों पैरों में धारण करना चाहिए।^२

१६८. जिस पदत्राण (जूते) में अखंड एक तला हो, उसे सकल कृत्स्न कहते हैं। जिस जूते में दो या उससे अधिक तले हों, वह प्रमाणकृत्स्न कहलाता है। कोशक, खल्लक, वग्गुरी, खपुस, अर्द्धजंघा और समस्तजंघा जो तलप्रतिबद्ध (दो आदि तलों से युक्त) हों, प्रमाणकृत्स्न कहलाते हैं।

१६९. पैर का जो प्रमाण है, उस प्रमाण से जो सम्पूर्ण हो तथा मध्य में एवं अन्यत्र भी जो अखंड हो, वह चर्म (जूता) सकलकृत्स्न होता है।

१७०. जो चर्म वर्णाढ्य अर्थात् उज्ज्वल वर्ण वाला हो, वह वर्णकृत्स्न कहलाता है। वह पांच प्रकार का होता है, ऐसा ज्ञातव्य है। जो चर्म तीन से अधिक बंधन वाला होता है, वह बहुबंधन चर्म बंधनकृत्स्न कहलाता है।

१७१. जो भिक्षु एक तल वाला चर्म धारण करता है, उसे मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। दो तल या उससे अधिक तल वाला चर्म धारण करने पर चतुर्लघु तथा खल्लक, खपुस, अर्द्धजंघा और समस्तजंघा चर्म को धारण करने पर चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। वग्गुरी चर्म को जितनी बार धारण किया जाता है, उतने ही चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होते हैं।

१. वाद आदि में अथवा राज्याभिषेक से अन्तःपुर में जाते समय मलिनवेश अपभ्राजना का कारण हो सकता है। दुर्भिक्ष में मलिन वेश में भिक्षा न मिले तो अपवादपद में स्नान अनुज्ञात है।

२. प्रस्तुत विषय में शंका समाधान हेतु द्रष्टव्य गा. १९७-१०००।

१७२. उवरिं तु अंगुलीओ, जा छाए सा तु वग्गुरी होति ।
खपुसा उ^१ खलुगमेत्तं, अद्धं सव्वं च दो इतरे ॥ ११८ ॥
१७३. लहुगो लहुगा दुपडादिगोसु गुरुगा य खल्लगादीसु^२ ।
आणादिणो य दोसा, विराधणा संजमायाए ॥ ११९ ॥ नि २२३ ॥
१७४. अंगुलिकोसे पणगं, सकले सुक्के य खल्लगे लहुगो ।
बंधणवण्णपमाणे, लहुगा तह पूरपुण्णे य^३ ॥ १२० ॥
१७५. अद्धे समत्तखल्लग, वग्गुरि खपुसा य अद्धजंघा य ।
गुरुगा दोहि विसिद्धा, वग्गुरिए अण्णतरगेण^४ ॥ १२१ ॥
१७६. जत्तियमेत्ता वारा, तु बंधते मुंचते तु जति वारा ।
सट्ठाणं ततिवारे, होति विवड्डी य पच्छित्ते^५ ॥ १२२ ॥
१७७. सुत्तणिवातो सगलकसिणम्मि तं जो तु गेणहती भिक्खू ।
सो आणा-अणवत्थं, मिच्छत्तविराधणं पावे^६ ॥ १२३ ॥ नि २२४ ॥
१७८. गव्वो णिम्मद्वता, णिरवेक्खो णिद्वओ णिरंतरता ।
भूताणं उवघातो, कसिणे चम्मम्मि छदोसा^७ ॥ १२४ ॥ नि २२५ ॥
१७९. आसगतो हत्थिगतो, गव्विज्जति भूमितो य^८ कमणिल्लो ।
पादो तु समाउक्को, कमणी तु खरा अधियभारा^९ ॥ १२५ ॥
१८०. कंटादी पेहंतो^{१०}, जीवे वि हु सो तहेव पेहेज्जा^{११} ।
अत्थि महं ति य कमणी, 'णाऽवेक्खति कंटगेण'^{१२} जिए ॥ १२६ ॥

१. य (बृभा ३८५०) ।

२. °मादीसु (दे) ।

३. बृभा ३८५३, भ प्रति में गाथाओं में क्रमव्यत्यय है । पहले १७४ फिर १७२ तथा उसके बाद १७३ वीं गाथा है ।

४. बृभा ३८५४ ।

५. बृभा ३८५५ ।

६. गाथाओं के क्रम में बृभा में यह गाथा नहीं है ।

७. बृभा ३८५६ ।

८. तु (मु, भ) ।

९. अवि य भारो (बृभा ३८५७, भ) ।

१०. देहंतो (बृभा) ।

११. देहिज्जा (बृभा ३८५८) ।

१२. ण पेक्खती कंटगेण (क) ।

१७२. अंगुलियों और पैर के ऊपरी भाग को आच्छादित करने वाला चर्म (जूता) वग्गुरी कहलाता है। टखने तक पहना जाने वाला जूता खपुस कहलाता है। दो अन्य जूते अर्द्धजंघा (मोचक) और समस्तजंघा कहलाते हैं।

१७३. जो भिक्षु सकलकृत्स्न चर्म धारण करता है, उसे मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है, दो तल वाला या उससे अधिक तल वाला चर्म धारण करता है, उसे चतुर्लघु, खल्लक, खपुस आदि को धारण करता है, उसे चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। सकलकृत्स्न आदि चर्म को धारण करने वाले भिक्षु को आज्ञाभंग आदि दोष लगते हैं तथा वह संयमविराधना एवं आत्मविराधना आदि दोषों को प्राप्त होता है।

१७४. जो भिक्षु अंगुली, अंगूठे आदि में कोशक धारण करता है, उसे पनक प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। जो सूखा सकलकृत्स्न खल्लक धारण करता है, उसे मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। जो बन्धनकृत्स्न, वर्णकृत्स्न और प्रमाणकृत्स्न चर्म धारण करना है, उसे चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है तथा जो पूरा पूर्ण अर्थात् सकलकृत्स्न चर्म धारण करता है, उसे भी चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१७५. जो भिक्षु अर्द्धखल्लक, समस्तखल्लक, खपुस, अर्धजंघा और समस्तजंघा—इन सब को धारण करता है, उसे तप और काल दोनों दृष्टियों से गुरु चौमासी प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। वग्गुरी धारण करने पर भी गुरु चौमासी प्रायश्चित्त प्राप्त होता है, जो तप अथवा काल में से एक की अपेक्षा गुरु होता है।

१७६. जितनी बार अंगुलिकोशक आदि बांधे जाते हैं तथा जितनी बार खोले जाते हैं, स्वस्थान प्रायश्चित्त में उतनी ही वृद्धि हो जाती है^१ तथा आज्ञाभंग, मिथ्यात्व आदि दोषों के कारण प्रायश्चित्त में वृद्धि भी हो जाती है।

१७७. सूत्रनिपात सकलकृत्स्न मात्र का है अर्थात् सूत्र के द्वारा सकलकृत्स्न चर्म के ग्रहण का निषेध ही प्राप्त होता है अतः जो भिक्षु कृत्स्न चर्म को धारण करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व और विराधना—इन दोषों को प्राप्त होता है।

१७८. कृत्स्न चर्म को धारण करने में छह दोष आते हैं—१. गर्व, २. निर्मार्दवता, ३. निरपेक्षता, ४. निर्दयता, ५. निरन्तरता और ६. भूतोपघात।

१७९. अश्वारोही को देखकर हाथी पर चढ़ा हुआ व्यक्ति गर्व का अनुभव करता है, वैसे ही नंगे पैर भूमि पर चलने वाले व्यक्ति को देखकर जूते पहना हुआ व्यक्ति गर्व करता है—अपने को बड़ा मानता है। पैर मृदु होते हैं, जूते कठोर तथा भारी होते हैं अतः उनसे जीवोपघात की संभावना ज्यादा रहती है।

१८०. जिस व्यक्ति के पैर में जूते नहीं होते, वह भूमि पर कांटे देखता हुआ चलता है तो वह नीचे चलने वाले जीवों को भी देख लेता है। (फलतः जीव हिंसा से बच जाता है।) जूते पहनने वाला व्यक्ति मेरे पैर में जूते हैं—ऐसा सोचकर कांटों की उपेक्षा करता है तो जीवों को भी नहीं देख पाता।

१. जिस दोष का जो मूल प्रायश्चित्त होता है, वह उसका स्वस्थान प्रायश्चित्त होता है। जैसे अंगुलिकोशक का पनक।
अभीक्षण आसेवन में उसमें क्रमशः वृद्धि हो जाती है।

१८१. पुव्वं अदया भूतेसु, होति बंधति कमेसु तो कमणी।
जायति हु तदब्भासा, सुदयालुस्सा वि णिद्वयता^१ ॥ १२७ ॥
१८२. अवि^२ अंबखुज्जपादेण^३, पेल्लितो अंतरंगुलगतो वा।
मुंचेज्ज कुलिंगादी, न य कमणीपेल्लितो जियति^४ ॥ १२८ ॥
१८३. किह भूताणुवघातो, न होहिती^५ पगतिदुब्बलतणूणं^६।
सभराहि पेल्लिताणं, कक्खडदेहाहि^७ कमणीहिं ॥ १२९ ॥
१८४. अद्धाने गेलण्णे, अरिसो असहू य घट्ट-भिण्णे य^८।
दुब्बलचक्खू बाले, अज्जाणं कारणज्जाते^९ ॥ १३० ॥ नि^{१०} २२६ ॥
१८५. कंटाऽहिशीतरक्खट्टया विहे^{११} खउसमादि^{१२} जा गहणं।
ओसधपाण-गिलाणे, अहुणुट्टित भेसयट्टा वा ॥ १३१ ॥
१८६. अरिसिल्लस्स व अरिसा, मा खुब्भे तेण बंधते कमणी।
असहुमवंताहरणं, पादो घट्टो व्व^{१३} गिरिदेसे ॥ १३२ ॥
१८७. कुट्टिस्स सक्करादीहि^{१४}, वा विभिन्नो^{१५} कमो तु महुला^{१६} वा।
बालो असंफुरो^{१७} पुण, अज्जा विह^{१८} दोच्च पासादी ॥ १३३ ॥
१८८. कुलमादिकज्ज दंडिग, पासादी तुरिय धावणट्टा वा।
कारणजाते वऽण्णे, सागारमसागरे जतणा^{१९} ॥ १३४ ॥

१. बृभा ३८५९।

२. अवि संभावणत्थे (चू)।

३. अंबकुज्ज—पादतलमध्यं (चू)।

४. जियती (बृभा ३८६०)।

५. होहिति (भ)।

६. °तिपेलवत° (बृभा)।

७. कक्खलफासाहिं (मु, भ), कक्खडफासाहिं (बृभा ३८६१)।

८. वा (भ)।

९. बृभा (३८६२) में इस गाथा के स्थान पर निम्न गाथा मिलती है—

विह अतराऽसहु संभम, कोट्टाऽरिस चक्खुदुब्बले बाले।

अज्जा कारणजाते, कसिणगगहणं अणुण्णायं ॥

१०. यह गाथा भाष्य की भी संभव है, लेकिन इसकी व्याख्या

अनेक गाथाओं में होने के कारण इस गाथा को निर्युक्तिगाथा के क्रमांक में रखा है।

११. विधे (दे)।

१२. खवुस° (बृभा ३८६३)।

१३. तु (बृभा ३८६४), व (भ, मु)।

१४. अक्खरा° (पा)।

१५. वि भिण्णो (बृभा ३८६५, भ)।

१६. पादे गंडं महुला भण्णति (चू), मधुला (मु),

मधूला (बृभा)।

१७. असंवुडो (मु, चू)।

१८. विहि (बृभा)।

१९. बृभा ३८६६।

९८१. पहले जब जीवों के प्रति अकरुणा के भाव आते हैं, तभी व्यक्ति पैरों में जूते पहनता है (चर्ममय पदत्राण बांधता है), धीरे-धीरे उसके अभ्यास से सुदयालु (अत्यन्त करुणार्द्र चित्त वाले) व्यक्ति के मन में भी निर्दयता पैदा हो जाती है।

९८२. पैर का मध्य भाग आम्रफल के समान वक्र होता है। उससे आक्रान्त होने पर अथवा अंगुलियों आदि के मध्य में आया हुआ द्विन्द्रिय आदि छोटा जीव तो बच सकता है, पर जूतों के मध्य में वैसा कोई अन्तर नहीं होता। अतः उनसे आक्रान्त जीव बच नहीं पाता।

९८३. भार से आक्रान्त और कर्कश स्पर्श वाले जूतों से आक्रान्त होने पर स्वभावतः दुर्बल शरीर वाले छोटे जीवों का उपहनन कैसे नहीं होगा अर्थात् उनका उपघात संभव ही है।

९८४. चर्म धारण करने के ये अपवाद हैं—१. अट्टाण (अटवी) गमन, २. ग्लान्य, ३. बवासीर, ४. असहिष्णु, ५. तलुवे घिसना, ६. भिन्न कुष्ठ, ७. चक्षुदौर्बल्य, ८. बाल, ९. आर्या और १०. कारण-जात।^१

९८५. कांटे, सर्प, सर्दी आदि से रक्षा के लिए अटवी निर्गत मुनि खपुस आदि का ग्रहण कर सकता है। कोई मुनि रोगी है, उसे औषध पीने के बाद भूमि पर पैर नहीं रखना अथवा कोई अभी-अभी रोग मुक्त हुआ है, उसको शीतरक्षा अथवा अग्निबल बढ़ाने के लिए भूमि पर पैर नहीं रखना है—वह खपुस आदि का प्रयोग कर सकता है। कभी ग्लान भिक्षु की औषध आदि लाने के लिए शीघ्र कहीं जाना हो तो खपुस आदि का ग्रहण किया जा सकता है।

९८६. कोई भिक्षु बवासीर से ग्रस्त है, पांव के तलुवे की कमजोरी के कारण उसका रोग कहीं क्षुब्ध न हो जाए इसलिए वह पैरों में जूते पहनता है। राजा आदि सुकोमल पैरों के कारण नंगे पैर नहीं चल सकते, जैसे—अवंती सुकुमाल। उन्हें जूते पहनना पड़ता है। पहाड़ी क्षेत्रों में जहां पैरों के तलुवे घिस जाते हैं, जूते पहने बिना चला नहीं जा सकता, वहां भी खपुस आदि का ग्रहण किया जा सकता है।

९८७. भिन्न कुष्ठ (गलित कोढ़) नामक रोग से ग्रस्त भिक्षु के पैर कांटे, कंकर आदि से दर्द करने लगते हैं अथवा किसी के पैर में महोला—पादगंड (चिलोड़ी) हो जाते हैं, उसे चर्म धारण करना पड़ता है।

शैक्ष भिक्षु असंवृत होने के कारण जहां तहां पैर रख देता है, उसकी सुरक्षा के लिए चर्म पहनाया जाता है। अटवी में साध्वियों की चोर आदि से सुरक्षा^२ के लिए वृषभ साधु मार्ग के पार्श्ववर्ती उन्मार्ग में चलते हैं अथवा सभी उन्मार्ग में चलते हैं, वहां भी चर्म धारण करना आवश्यक हो जाता है। किसी की आंखें कमजोर हैं, वह नेत्रज्योति के लिए पैरों का अभ्यंगन (मालिश) आदि करता है तब अथवा वैद्य के निर्देश से पैरों में खपुस आदि धारण करना पड़ता है।

९८८. कभी कुल, गण आदि के विशिष्ट प्रयोजन से शीघ्र कहीं जाना हो, दंडिकपुरुष (आरक्षिक) आदि पीछा कर रहे हों, अथवा अन्य किसी प्रयोजन से आचार्य ने कहीं भेजा हो या अन्य कोई ऐसा विशेष प्रयोजन—जलपूर (बाढ़), अग्नि, चोर आदि के कारण भागना पड़े तो भिक्षु चर्म धारण कर सकता है। उपर्युक्त आपवादिक परिस्थितियों में जहां गृहस्थ उड्डाह न करें, वहां यतनापूर्वक चर्म धारण कर गमन किया जा सकता है। जहां उड्डाह आदि की संभावना हो, वहां उसका अपनयन कर गांव आदि में प्रवेश करें।

१. द्वारों के विस्तार हेतु द्रष्टव्य गा. ९८५-९८८।

२. निभा २ चू. पृ. ९०—दोच्चं चोरातिभयं।

१८९. 'पंचविध वण्णकसिणे'^१, किण्हग्गहणं^२ तु पढमतो कुज्जा ।
किण्हम्मि असंतम्मी, विवण्णकरणं^३ तहिं कुज्जा ॥ १३५ ॥
१९०. कसिणं^४ पि गेण्हमाणो, झुसिरग्गहणं तु वज्जते साधू ।
बहुबंधणकसिणं पुण, वज्जेतव्वं पयत्तेणं ॥ १३६ ॥
१९१. दोरेहि व वज्झेहि व, दुविधं तिविधं च बंधणं तस्स ।
'कत'-कारित-अणुमोदित'^५, पुव्वकतम्मी^६ अहीगारो ॥ १३७ ॥
१९२. खुलगे एक्को बंधो, एक्को पंचंगुलस्स दोण्णेते ।
खलुगे^७ एक्को अंगुट्टु, बितिय चउरंगुले ततिओ^८ ॥ १३८ ॥
१९३. सयकरणे चउलहुगा, परकरणे मासिगं अणुग्घातं ।
अणुमोदणे वि लहुगो, तत्थ वि आणादिणो दोसा^९ ॥ १३९ ॥ नि २२७ ॥
१९४. अकसिणसगलग्गहणे^{१०}, लहुगो मासो तु दोस आणादी ।
बितियपद घेप्पमाणे, अट्टारस जाव उक्कोसा ॥ १४० ॥
१९५. जदि दोसा भवन्तेते, जहुत्ता कसिणाऽजिणे ।
अत्थावत्तीएँ सूएमो, एरिस दाइ^{११} कप्पति ॥ १४१ ॥
१९६. अकसिणमट्टारसगं, एगपुडविवण्ण एगबंधं च ।
तं कारणम्मि कप्पति, निक्कारण धारणे लहुगो^{१२} ॥ १४२ ॥

१. 'विहम्मि वि कसिणे (बृभा ३८६७) ।

२. किण्हं गहणं (मु) ।

३. 'न्नकसिणं (मु, बृभा) ।

४. किण्हं (बृभा ३८६८) ।

५. कित (मु, भ) ।

६. अणुमोदण कारावण (बृभा ३८६९) ।

७. 'म्मि (बृभा) ।

८. खलुते (क) ।

९. ततियओ (दे), बृभा ३८७० ।

१०. बृभा ३८७१ ।

११. 'णचम्मग्ग' (बृभा ३८७२) ।

१२. दाणि (क), दाइ ति अभिप्रायदर्शनं (चू) ।

१३. बृभा (३८७३) में इस गाथा के लिए 'एषा पुरातना गाथा' का उल्लेख है ।

१८९. अद्धाण आदि कारणों में जहां कृत्स्न चर्म ग्रहण करना हो, वहां पांच प्रकार के वर्णकृत्स्न चर्म में सर्वप्रथम कृष्णवर्ण का ग्रहण किया जाए। यदि वह न मिले तो लाल आदि रंगों के कृत्स्न चर्म को तैल आदि से विवर्ण बना लिया जाए ताकि लोकनिन्दा एवं राग से बचाव हो सके।

१९०. कृत्स्न चर्म^१ को ग्रहण करने वाला मुनि भी शुषिर चर्म के ग्रहण का वर्जन करे। मुनि बहुबंधन कृत्स्न चर्म का प्रयत्नपूर्वक वर्जन करे।

१९१. जिस चर्म को दो अथवा तीन स्थानों पर धागे अथवा वर्ध्र (चमड़े) से बांधा जाता है, वह बंधनकृत्स्न चर्म होता है। मुनि स्वयं चर्म को बन्धनकृत्स्न नहीं करता, दूसरे से नहीं करवाता तथा अनुमोदन भी नहीं करता अतः यहां पूर्वकृत अर्थात् यथाकृत के ग्रहण का अधिकार है।

१९२. जिस चर्म में एक बन्धन टखने पर लगता है तथा दूसरा पांच अंगुलियों पर, उसमें ये दो बन्धन हो जाते हैं। जिसमें एक बन्धन टखने पर, दूसरा अंगूठे पर और तीसरा चार अंगुलियों पर लगाया जाता है, उसमें तीन बन्धन हो जाते हैं।

१९३. जो भिक्षु कृत्स्न बन्धन वाले चर्म (जूते) का स्वयं निर्माण करता है, उसे चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। जो दूसरे से उसका निर्माण करवाता है, उसे मासिक अनुद्घातिक (गुरुमास) प्रायश्चित्त प्राप्त होता है तथा जो उसका अनुमोदन करता है उसे भी लघुमास प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। वह भिक्षु आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

१९४. जो भिक्षु अकृत्स्न—सकल अर्थात् प्रमाण, वर्ण और बंधन की दृष्टि से अकृत्स्न, सकलकृत्स्न चर्म^२ को धारण करता है उसे भी लघुमास प्रायश्चित्त एवं आज्ञाभंग आदि दोष प्राप्त होते हैं। अतः अपवाद पद में भी भिक्षु उत्कृष्टतः अठारह खण्ड वाले चर्म तक को ग्रहण कर सकता है।

१९५-१९६. प्रेरक—यदि कृत्स्न चर्म को धारण करने में ये यथोक्त दोष होते हैं तो अर्थापत्ति से^३ यह अभिप्राय जानते हैं^४ कि इस प्रकार का चर्म कल्पता (विधि सम्मत) है—जो अकृत्स्न हो, अठारह स्थानों पर खंडित (विभक्त), एक तल वाला, विवर्ण और एक बन्धन वाला हो, उसे मुनि कारण में ग्रहण कर सकता है। जो मुनि निष्कारण (अद्धाण आदि प्रयोजनों के अभाव में) चर्म धारण करता है, उसे लघुमास प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१. कृत्स्न चर्म के अन्तर्गत सकलकृत्स्न एवं प्रमाणकृत्स्न दोनों का ग्रहण हुआ है।

२. चतुर्विध कृत्स्न के वैकल्पिक भंग सोलह होते हैं, उनमें आठवां भंग है—प्रमाणाकृत्स्न, वर्णाकृत्स्न, बंधनाकृत्स्न, सकलकृत्स्न।

३. अर्थापत्ति—अन्यथा अनुपपन्न अर्थ को घटित करने के लिए किसी नवीन अर्थ की कल्पना करना, जैसे कृत्स्न चर्म धारण करना अकल्प्य है, अपवाद में चर्म धारण करना कल्पता है अर्थात् कारण में अकृत्स्न चर्म धारण करना कल्पता है।

४. निचू २ पृ. ९२, सुएमो जाणामो।

१९७. जइ अकसिणस्स गहणं, भागे काउं 'कमेण अट्टदस'^१।
एगपुड विवण्णेहि य, तहिं तहिं बंधते कज्जे^२ ॥ ९४३ ॥
१९८. पंचंगुलपत्तेयं, अंगुट्टमहे^३ य छट्टखंडं तु।
सत्तममगतलम्मी^४, मज्झऽट्टम पण्हिगा णवमं^५ ॥ ९४४ ॥
१९९. एवतियाणं गहणे, 'मुंचते वावि'^६ होति पलिमंथो।
बितियपद घेप्पमाणे, दो खंडा मज्झ पडिबद्धा^७ ॥ ९४५ ॥
१०००. पडिलेहा पलिमंथो, णदिमादुदए य मुंच बंधंते।
'सत्थे फिट्टण'^८ तेणा, अंतरवेधे य उंकणता ॥ ९४६ ॥
१००१. तज्जातमतज्जातं^९, दुविधं तिविधं च बंधणं तस्स।
तज्जातम्मि वि^{१०} लहुगो, तत्थ वि आणादिणो दोसा^{११} ॥ ९४७ ॥ नि २२८ ॥
१००२. दव्वे^{१२} खेत्ते काले, भावे कसिणं चउव्विहं वत्थं।
दव्वकसिणं तु दुविधं, सगलं च पमाणकसिणं च ॥ ९४८ ॥ नि २२९ ॥
१००३. घण^{१३}-मसिणं निरुवहतं^{१४}, जं वत्थं लब्भते सदसियाणं।
एगं तु सगलकसिणं, जहण्णगं मज्झिमुक्कोसं^{१५} ॥ ९४९ ॥ नि २३० ॥
१००४. वित्थारायामेणं, जं वत्थं लब्भते समतिरेगं।
एतं पमाणकसिणं, जहण्णगं मज्झिमुक्कोसं^{१६} ॥ ९५० ॥ नि २३१ ॥
१००५. जं वत्थं जम्मि देसम्मि, 'दुल्लभं अग्घियं'^{१७} च जं जत्थ।
तं खेत्तजुतं कसिणं^{१८}, जहण्णगं मज्झिमुक्कोसं^{१९} ॥ ९५१ ॥ नि २३२ ॥

१. कमे तु अट्टरसा (मु, भ)।

२. बृभा ३८७४।

३. °मज्झे (बृभा)।

४. °अग्ग° (भ), °म्मिं (क)।

५. बृभा ३८७५।

६. मासो मुच्चंति (बृभा ३८७६)।

७. पडिबंधा (बृभा)।

८. सत्थफिट्टणेण (बृभा ३८७७)।

९. तज्जातं नाम तस्मिन्—चर्मणि जातम् वर्धादिबंधन-मित्यर्थः, तद् विपरीतं दवरकादिकमतज्जातम् (बृभाटी)।

१०. व (मु)।

११. बृभा ३८७८।

१२. सूत्र २३ (नव २/२३), इस गाथा के प्रारम्भ में चूर्णिकार ने 'इदाणि निर्युक्तिविस्तरः' का उल्लेख किया है।

१३. घणं—तंतुहिं समं (चू)।

१४. गिरुवहतं—ण अंजणखंजणोवलित्तं वा अग्गिदिदुं मूसगखइयं वा (चू)।

१५. बृभा ३८८२।

१६. बृभा ३८८३।

१७. °अच्चियं (बृभा ३८८४), अग्घियं दुल्लभं (दे)।

१८. करणं (क, पा)।

१९. भ प्रति में १००५-०८—ये चार गाथाएं नहीं हैं।

१९७, १९८. प्रेरक—यदि अकृत्स्न चर्म को ग्रहण किया जाए तो मुनि एक तल वाले विवर्ण चर्म को दो भागों में विभक्त कर उनके अठारह खण्ड करे और पैर के जिस-जिस भाग में पीड़ा हो, वहां-वहां एक, दो खण्डों को बांध ले। वे अठारह खण्ड हैं—प्रत्येक अंगुली में एक खण्ड (पांच खण्ड) अंगूठे के नीचे एक खण्ड, अग्रतल में सातवां, मध्य तल में आठवां और पृष्णिका (एड़ी) में नवां, इसी प्रकार दूसरे पैर में भी नौ खण्ड—कुल अठारह खण्ड हो जाते हैं।

१९९. आचार्य—इतने (उपर्युक्त अठारह) खण्डों वाले चर्म को बांधने और खोलने में सूत्र और अर्थ में विघ्न होता है। अतः द्वितीय पद—अपवाद में जो भिक्षु चर्म धारण करता है, वह मध्य में प्रतिबद्ध दो खंडों वाले चर्म को धारण करे।

१०००. अनेक खंडों वाले चर्म को धारण करने पर अनेक दोष आते हैं, यथा—दोनों संध्याओं में अठारह खंडों वाले चर्म की प्रतिलेखना करने से सूत्र और अर्थ में व्याघात पैदा होता है। नदी आदि में उतरते समय इतने खंडों को खोलने और पुनः उत्तीर्ण होने के बाद बांधने में इतना समय लग जाता है कि सार्थ का साथ छूट जाता है, जिससे स्तेन तथा अटवी आदि में श्वापद भय की संभावना रहती है। उन खंडों के मध्यान्तरों में कांटे लग जाते हैं। अनेक बन्धनों से पैर क्षत-विक्षत हो जाते हैं।

१००१. चर्म तल के बंधन के दो प्रकार हैं—१. तज्जात बन्धन—चर्म से और, २. अतज्जात बन्धन—धागे आदि से। वे बंधन एक पदत्राण में दो या तीन हो सकते हैं।^१ विजातीय (अतज्जात) तथा कारण के बिना सजातीय बन्धन भी बांधने वाले मुनि को मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है तथा वह भिक्षु आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

१००२. कृत्स्न वस्त्र के चार प्रकार प्रज्ञप्त हैं—१. द्रव्य, २. क्षेत्र, ३. काल और ४. भाव। द्रव्यकृत्स्न वस्त्र के दो प्रकार हैं—१. सकलकृत्स्न और २. प्रमाणकृत्स्न।

१००३. जो वस्त्र घन (सम तंतुओं वाला—निश्छिद्र), कोमल और निरुपहत^२ हो तथा दशा (किनारी) सहित उपलब्ध हो, वह सकल कृत्स्न वस्त्र होता है। उसके तीन प्रकार होते हैं—१. जघन्य (मुखपत्ती आदि), २. मध्यम (पटल आदि) तथा ३. उत्कृष्ट (कल्प-पछेवड़ी आदि)।

१००४. जो वस्त्र यथोक्त प्रमाण से विस्तार (चौड़ाई) और आयाम (लम्बाई) में अधिक हो, वह प्रमाणकृत्स्न होता है। उसके भी तीन प्रकार होते हैं—जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट।

१००५. जो वस्त्र जिस क्षेत्र में दुर्लभ होता है अथवा जिस क्षेत्र में जाने पर दुर्लभ या बहुमूल्य हो जाता है, वह उस क्षेत्र की अपेक्षा से कृत्स्न (क्षेत्रकृत्स्न) होता है, जैसे पूर्वी देशों का वस्त्र लाट देश में। वह तीन प्रकार का होता है—जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट।

१. दो या तीन बन्धन के विस्तार हेतु द्रष्टव्य गा. १९२।

२. जो वस्त्र अंजन, खंजन आदि से लिप्त चूहों आदि से क्षत हो, वह उपहत होता है, तद्विपरीत निरुपहत होता है।

१००६. जं वत्थं जम्मि कालम्मि, 'दुल्लभं अग्घतं'^१ च जं जत्थ।
तं कालजुतं कसिणं, जहण्णगं मज्झिमुक्कोसं^२ ॥ ९५२ ॥ नि २३३ ॥
१००७. दुविधं च भावकसिणं, वण्णजुतं चेव होति मोल्लजुतं।
वण्णजुतं पंचविधं, तिविधं पुण होति मोल्लजुतं^३ ॥ ९५३ ॥ नि २३४ ॥
१००८. पंचहं वण्णाणं, अण्णतरागेण^४ जं तु वण्णट्ठं^५।
तं वण्णजुतं कसिणं, जहण्णगं मज्झिमुक्कोसं^६ ॥ ९५४ ॥
१००९. चाउम्मासुक्कोसे, 'मासिग मज्झम्मि'^७ पंच य जहण्णे।
तिविधम्मि वि वत्थम्मिं^८, तिविधा आरोवणा भणिता ॥ ९५५ ॥
१०१०. दव्वादितिविधकसिणे, एसा आरोवणा भवे तिविधा।
एसेव वण्णकसिणे, चउरो लहुगा व तिविधे विं^९ ॥ ९५६ ॥
१०११. मोल्लजुतं पुण तिविधं, जहण्णगं मज्झिमं च उक्कोसं।
'जहण्णेणऽट्टारसगं'^{१०}, सतसाहस्सं च उक्कोसं^{११} ॥ ९५७ ॥
१०१२. दो साभरगा^{१२} दीविच्चगा उ सो उत्तरापधे एगो।
दो उत्तरापधे^{१३} पुण, पाडलिपुत्ते हवति एक्को^{१४} ॥ ९५८ ॥
१०१३. दो दक्खिणापहाओ^{१५}, कंचीए गेलओ स 'दुगुणो उ'^{१६}।
एगो^{१७} कुसुमनगरगो, तेण पमाणं इमं होति ॥ ९५९ ॥

१. अग्घतं दुल्लभं (बृभा, पा)।
२. बृभा ३८८५।
३. बृभा ३८८६।
४. °तरेणं (दे)।
५. वण्णट्ठे (क)।
६. बृभा ३८८७।
७. मासो मज्झे य (बृभा ३८८८)।
८. °म्मी (भ)।
९. बृभा ३८८९।

१०. जहण्णे अट्ठा° (मु)।
११. बृभा ३८९०।
१२. साहरको गाम रूपकः (चू)।
१३. °रावहे (दे)।
१४. बृभा ३८९१।
१५. °णावहा तू (बृभा ३८९२), °पहा वा (मु)।
१६. दुगुणओ (क)।
१७. एक्को (दे, भ)।

१००६. जो वस्त्र जिस काल में दुर्लभ तथा बहुमूल्य होता है, वह उस काल की अपेक्षा से कृत्स्न (कालकृत्स्न) होता है, जैसे वर्षाऋतु में कुंकुमखचित वस्त्र। वह तीन प्रकार का होता है—जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट।

१००७. भावकृत्स्न वस्त्र के दो प्रकार प्रज्ञप्त हैं—१. वर्णयुक्त (वर्णतः कृत्स्न), और २. बहुमूल्य (मूल्यतः कृत्स्न)। वर्णतः कृत्स्न के पांच तथा मूल्यतः कृत्स्न के तीन प्रकार होते हैं।

१००८. पांच वर्णों—कृष्ण, नील आदि में से किसी एक वर्ण से वर्णाढ्य अर्थात् उज्वलवर्ण वाला होता है, वह वर्णकृत्स्न होता है, जैसे मयूरग्रीवा के समान नीला। वह पुनः तीन-तीन प्रकार का होता है—जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट।

१००९. तीन प्रकार के वस्त्रों के विषय में तीन प्रकार की आरोपणा (प्रायश्चित्त) प्रज्ञप्त है—द्रव्य, क्षेत्र और काल से उत्कृष्ट कृत्स्न वस्त्र धारण करने वाले भिक्षु को चतुर्लघु, द्रव्य आदि से मध्यम कृत्स्न वस्त्र धारण करने वाले को मासलघु तथा जघन्य वस्त्र धारण करने वाले भिक्षु को पांच रात्रि-दिन का (पनक) प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१०१०. उपर्युक्त गाथा में द्रव्य आदि त्रिविध कृत्स्न के विषय में जो त्रिविध आरोपणा प्रज्ञप्त है, वही वर्णकृत्स्न के विषय में ज्ञातव्य है। साथ ही जघन्य आदि तीनों ही प्रकार के वर्णकृत्स्न के प्रति राग के कारण चतुर्लघु प्रायश्चित्त और प्राप्त होता है।

१०११. मूल्यकृत्स्न अर्थात् बहुमूल्य वस्त्र के तीन प्रकार प्रज्ञप्त हैं—जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। अठारह रुपये मूल्य तक का वस्त्र जघन्य मूल्यकृत्स्न तथा एक लाख रुपये मूल्य वाला वस्त्र उत्कृष्ट मूल्यकृत्स्न वस्त्र कहलाता है।

१०१२. साहरक का अर्थ है—द्वीपवासी^१ लोगों का रुपया। दो साहरक से उत्तरापथ वासियों का एक रुपया होता है तथा उत्तरापथ के दो रुपयों से पाटलिपुत्र का एक रुपया होता है।

१०१३. दक्षिणापथ के दो रुपयों से कांचीपुरी में एक नेलक (रुपया) होता है और दो नेलकों से कुसुमपुर (पाटलिपुत्र) का एक रुपया होता है। मूल्यकृत्स्न के विषय में पाटलिपुत्र का रुपया ही प्रमाण रूप में गृहीतव्य है।

१. द्वीप से यहां सौराष्ट्र के दक्षिण में एक योजन समुद्र का अवगाहन करने के बाद प्राप्त होने वाले द्वीप का ग्रहण किया गया है।

१०१४. अट्टारसवीसा या^१, अउणप्पण्णा^२ य पंच य सयाईं ।
एगूणगं सहस्सं, दसपण्णासं^३ सतसहस्सं ॥ १६० ॥
१०१५. चत्तारि छच्च लघु-गुरु, छेदो मूलं च होति बोधव्वं ।
अणवट्ठप्पो य तहा, पावति पारंचियं ठाणं^४ ॥ १६१ ॥
१०१६. अट्टारस-वीसा या, सतमड्डाइज्ज^५, पंच 'य सयाईं'^६ ।
सहसं^७ च दससहस्सा, पण्णास तहा सतसहस्सं ॥ १६२ ॥
१०१७. लहुगो लहुगा गुरुगा, छम्मासा होति लहुग गुरुगा य ।
छेदो मूलं च तहा, अणवट्ठप्पो य पारंची^८ ॥ १६३ ॥
१०१८. अट्टारसवीसा या, पण्णास तहा सतं सहस्सं च ।
पण्णासं च सहस्सा, तत्तो य भवे सतसहस्सं^९ ॥ १६४ ॥
१०१९. चतुगुरुग छच्च लहु-गुरु, छेदो मूलं च होति बोधव्वं^{१०} ।
अणवट्ठप्पो य तहा, पावति पारंचियं ठाणं^{११} ॥ १६५ ॥
१०२०. एतं तु मुल्लकसिणं^{१२}, को णु विसेसो हु^{१३} दव्वभावाणं ।
भण्णति सुणसु विसेसं, इणमो फुडपागडं एत्थं^{१४} ॥ १६६ ॥
१०२१. कज्जकारणसंबंधो, दव्ववत्थं तु आहितं ।
भावतो वण्णमायुत्तं^{१५}, लक्खणादी य जे^{१६} गुणा ॥ १६७ ॥

१. य (मु, पा) ।

२. अगुणापण्णा (बृभा ३८९३, भ) ।

३. ण्णासा (मु) ।

४. बृभा ३८९४, यह गाथा प्रतियों में नहीं है, लेकिन मुद्रित भाष्य में मिलती है ।

५. ण्तिज्जा य (भ, मु) ।

६. सतसयाईं (दे) ।

७. बृभा ३८९५, छंद की दृष्टि से यहां 'सहस्सं' के स्थान पर 'सहसं' पाठ है ।

८. बृभा ३८९६ ।

९. बृभा ३८९७ ।

१०. बोद्धव्वं (बृभा ३८९८) ।

११. चूर्ण में 'अहवा' उल्लेख के साथ १०१८, १०१९— ये दो गाथाएं मिलती हैं । हस्तप्रतियों में ये दोनों गाथाएं नहीं मिलती हैं । इसमें प्रकारान्तर से प्रायश्चित्त का वर्णन है । बृहत्कल्पभाष्य में भी गाथाओं के क्रम में ये दोनों गाथाएं मिलती हैं, अतः इन दोनों गाथाओं को भाष्यगाथा के क्रम में रखा है ।

१२. भावकं (मु, भ) ।

१३. उ (मु) ।

१४. गाथाओं के क्रम में १०२०, १०२१—ये दो गाथाएं बृभा में नहीं मिलती हैं ।

१५. ण्माउक्कं (दे, पा) ।

१६. ते (दे) ।

१०१४-१९. प्रस्तुत छह गाथाओं में मूल्य कृत्स्न वस्त्र के विषय में क्रमशः तीन आदेश उल्लिखित हैं, वे इस प्रकार हैं—

१. गा. १०१४, १०१५		२. गा. १०१६, १०१७		३. गा. १०१८, १०१९	
मूल्य	प्रायश्चित्त	मूल्य	प्रायश्चित्त	मूल्य	प्रायश्चित्त
१८ रु.	चतुर्गुरु	१८ रु.	लघुमास	१८ रु.	चतुर्गुरु
२० रु.	षड्लघु	२० रु.	चतुर्लघु	२० रु.	षड्लघु
४९ रु.	षड्गुरु	१०० रु.	चतुर्गुरु	५० रु.	षड्गुरु
५०० रु.	छेद	२५० रु.	षड्लघु	१०० रु.	छेद
९९९ रु.	मूल	५०० रु.	षड्गुरु	१००० रु.	मूल
५००० रु.	अनवस्थाप्य	१००० रु.	छेद	५०००० रु.	अनवस्थाप्य
१००००० रु.	पारांचित	१०००० रु.	मूल	१००००० रु.	पारांचित ^१
		५०००० रु.	अनवस्थाप्य		
		१००००० रु.	पारांचित		

१०२०. यह भावकृत्स्न—मूल्यकृत्स्न है। प्रेरक पूछता है—द्रव्य और भाव वस्त्र में क्या अन्तर है?^२ आचार्य कहते हैं—सुनो, इनमें स्पष्ट और व्यक्त अन्तर है।

१०२१. कार्य (पट) और कारण (तन्तु) का सम्बन्ध (उन तन्तुओं का आतान-वितान/ताना-बाना) द्रव्य वस्त्र कहलाता है तथा उस द्रव्य वस्त्र में जो वर्ण, मृदुत्व, श्लक्ष्णत्व आदि गुण हैं, वे भाव वस्त्र हैं।

१. प्रस्तुत आदेशत्रयी निशीथभाष्य तथा बृहत्कल्पभाष्य दोनों में गृहीत है किन्तु चूर्ण या टीका में यह उल्लिखित नहीं है कि ये आदेश किस आचार्य के हैं और उनमें भिन्नता का क्या कारण हो सकता है ?

२. जो द्रव्य वस्त्र है वह भाव—वर्ण, मृदुत्व आदि के बिना नहीं हो सकता। इसी प्रकार भाव भी द्रव्यरहित नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में द्रव्य और भाव में कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता—यह प्रेरक का मत है।

१०२२. अहवा रागसहगतो, वत्थं धारेति दोससहितो वा ।
एतं तु भावकसिणं, तिविधं परिणामनिष्फणं^१ ॥ १६८ ॥ नि २३५ ॥
१०२३. सुत्तनिवातो कसिणे, चतुर्विधे मज्झिमम्मि वत्थम्मी^२ ।
जहण्णग^३ मोल्लकसिणे, तं सेवंतम्मि आणादी^४ ॥ १६९ ॥ नि २३६ ॥
१०२४. भारो भय-परितावण, मारणमधिकरण^५ अधियकसिणम्मि^६ ।
पडिलेहाणालोवे^७, मणसंतावो^८ उवादाणं ॥ १७० ॥
१०२५. गोम्मियगहणं^९ अण्णेसि, रुंभणं धुवण-कम्मबंधो य ।
ते चेव होंति तेणा, तण्णीसाए^{१०} अहव अण्णे^{११} ॥ १७१ ॥
१०२६. कसिणे चतुर्विधम्मी, इति दोसा एवमादिणो अण्णे^{१२} ।
उप्पज्जंते जम्हा^{१३}, अकसिणगहणं ततो भणितं ॥ १७२ ॥
१०२७. भिण्णं गणणाजुत्तं, च दव्वतो खेत्त-कालतो उचितं ।
मोल्ललहु वण्णहीणं, च भावतो तं अणुण्णातं ॥ १७३ ॥
१०२८. बितियपदे जावोग्गह^{१४}, गणचिंतग उचितदेस गेलण्णे ।
तब्भाविते य तत्तो, पत्तेयं चउसु वि पदेसु ॥ १७४ ॥
१०२९. लाउय^{१५}-‘मट्टियपाए, दारुयपाए^{१६} य तिविधमेक्केक्के ।
बहु-अप्प-अपरिकम्मे, एक्केक्कं तं भवे कमसो ॥ १७५ ॥ नि २३७ ॥

१. बृभा ३८९९ ।

२. °म्मि (क, भ) ।

३. जहण्णे य (मु, दे, भ) ।

४. बृभा में यह गाथा नहीं है ।

५. °ण अहि° (बृभा) ।

६. दव्वक° (बृभा ३९००) ।

७. °लोए (क), °लेहणालोए (पा) ।

८. °ताणो (भ) ।

९. गोमिय° (मु) ।

१०. तण्णिस्साए (भ) ।

११. बृभा ३९०१ में यह गाथा कुछ अंतर के साथ इस प्रकार मिलती है—

गहणं च गोम्मिएहिं, परितावण धोव कम्मबंधो य ।

अन्ने वि तत्थ रुंभइ, तेणक ते वा अहव अन्ने ॥

१२. होंति (मु, भ) ।

१३. तम्हा (भ) ।

१४. °ग्गहो (मु, क, भ) ।

१५. सूत्र २४, २५ (नव २/२४) ।

१६. दारुयपाए मट्टियपाए (भ) ।

१०२२. अथवा राग या द्वेष से वस्त्र को धारण करना भावकृत्स्न है। परिणाम (भाव) की न्यूनाधिकता के आधार पर उसके तीन प्रकार होते हैं—जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट।

१०२३. सूत्रनिपात कृत्स्न विषयक है अर्थात् सूत्र के आधार पर चार प्रकार के मध्यम कृत्स्न—द्रव्य, क्षेत्र, काल और वर्ण की अपेक्षा मध्यम कृत्स्न तथा मूल्य की अपेक्षा जघन्य कृत्स्न वस्त्र धारण करने वाले मुनि को मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है तथा वह आज्ञाभंग आदि दोषों को प्राप्त होता है।

१०२४. अधिकृत्स्न (प्रमाणकृत्स्न) तथा सकलकृत्स्न वस्त्र को धारण करने में ये दोष आते हैं—१. भार, २. (चोर आदि का) भय, ३. परितापना, ४. मारण^१ और ५. अधिकरण।^२ क्षेत्रकृत्स्न, कालकृत्स्न तथा भावकृत्स्न वस्त्र को धारण करने में ये दोष आते हैं—१. प्रतिलेखना, २. आज्ञालोप,^३ ३. मनःसंताप,^४ ४. उपादान।^५

१०२५. कृत्स्न वस्त्र को देखकर शुल्कपाल पकड़ लेते हैं। वे एक साधु के आधार पर अन्य साधुओं को भी वस्त्र के निमित्त बंदी बना लेते हैं। महाप्रमाण वाले वस्त्र को धोना बहुप्रयत्न साध्य होता है अतः उसमें परितापना होती है। तीर्थकरों के द्वारा प्रतिषिद्ध होने के कारण कृत्स्न वस्त्र रखना कर्मबन्ध का हेतु है। यदि शुल्कपाल आदि के भय से मुनि अन्य मार्ग से जाता है तो वे शुल्कपाल आदि स्वयं उनसे वस्त्र हरण कर लेते हैं—स्वयं चोर बन जाते हैं अथवा उनकी निश्रा में कोई अन्य व्यक्ति उसकी चोरी कर लेते हैं।

१०२६. चारों ही प्रकार के कृत्स्न वस्त्र को ग्रहण करने से पूर्वोक्त प्रकार के दोष उत्पन्न होते हैं अतः अकृत्स्न वस्त्र के ग्रहण का प्रज्ञापन किया गया है।

१०२७. जो वस्त्र भिन्न—दशरहित हो, गणना की दृष्टि से परिमित हो, द्रव्यतः अगर्हित हो, क्षेत्र और काल की दृष्टि से उचित अर्थात् सर्वजनभोग्य हो, अल्पमूल्य हो तथा वर्णहीन—उज्ज्वल वर्ण वाला न हो, वह वस्त्र मुनि के लिए अनुज्ञात है।

१०२८. अपवाद पद में चारों ही पदों में अपवाद प्रज्ञप्त है—१. द्रव्यतः—१. आचार्य चिरकाल से किसी विशेष अनुष्ठान आदि के लिए निर्गत हैं। जब तक वे नहीं लौटते, तब तक उनकी अनुमति लिए बिना वस्त्र की दशा का छेदन नहीं किया जा सकता। २. गणचिंतक प्रमाणातिरिक्त वस्त्र रख सकता है, ताकि अवम काल (दुर्भिक्ष) आदि में किसी आगाढ़ प्रयोजन में काम में लिया जा सके।

२. क्षेत्रतः—जिस देश में सभी लोग कृत्स्न वस्त्र धारण करते हैं, उस क्षेत्र में वही उचित होता है।

३. कालतः—रोग आदि में किसी काल विशेष में कृत्स्न वस्त्र (बहुमूल्य या प्रमाणातिरिक्त) वस्त्र धारण करना पड़ सकता है।

४. भावतः—राजा आदि ऋद्धिमान पुरुष निरन्तर कृत्स्न वस्त्र को पहनने, ओढ़ने से उसी से भावित हो जाते हैं अतः उनके वस्त्र को खण्डित नहीं किया जा सकता।

१०२९. तुम्बे का पात्र, काष्ठपात्र और मिट्टी का पात्र—इन तीनों के तीन-तीन प्रकार होते हैं—

१. बहुपरिकर्म, २. अल्पपरिकर्म और ३. अपरिकर्म। पुनः उनके क्रमशः तीन-तीन प्रकार होते हैं—

१. जघन्य, २. मध्यम और ३. उत्कृष्ट।

१. मार्ग में कृत्स्न उपधि (प्रमाणाधिक वस्त्र) से भार अधिक होता है। भार के निमित्त से परितापना आदि दोष भी संभव है तथा वस्त्र के निमित्त हत्या आदि भी हो सकती है।

२. कोई वस्त्र हरण कर ले तो उसके साथ अधिकरण (कलह) हो जाता है।

३. अटवी, दुर्भिक्ष आदि में उपधिस्तेन के भय से बहुमूल्य वस्त्रों की प्रतिलेखना नहीं हो पाती। फलतः 'मुनि स्वल्प उपधि भी अप्रतिलेखित न रखे।' इस जिनाज्ञा का लोप होता है।

४. दुर्लभ एवं बहुमूल्य वस्त्रों का हरण मनःसंताप का हेतु बनता है।

५. उत्प्रवजित होने के इच्छुक शैक्ष के लिए वस्त्र उपादान (जीविका का निमित्त) बन सकता है।

१०३०. परिकम्मणमुक्कोसं, गुणेहि तं जहण्णं पढमपायं ।
बितियं दोहि वि मज्झं, पढमेण विवज्जतो ततिए ॥ नि २३८ ॥
१०३१. अद्धंगुला परेणं, छिज्जंतं होति सपरिकम्मं तु ।
अद्धंगुलमेगं तू, छिज्जंतं अप्पपरिकम्मं^१ ॥
१०३२. जं पुव्वकतमुहं वा, कयलेवं वावि लब्भते पायं ।
तं होति अहाकडगं, तेसि पमाणं इमं होति ॥
१०३३. तिण्णि विहत्थी चउरंगुलं तु भाणस्स मज्झिमपमाणं ।
एत्तो हीण-जहण्णं, अतिरेगतरं तु उक्कोसं ॥
१०३४. उक्कोसतिसामासे, दुगा उ अद्धाणमागतो साधू ।
चउरंगुलं तु वज्जे, भारं पज्जत्तियं हेट्ठा ॥
१०३५. एयं चेव पमाणं, सविसेसतरं अणुग्गहपवत्तं ।
कंतारे दुब्भिकखे, रोहगमादीसु भइयव्वं ॥
१०३६. भत्तस्स व पाणस्स व, एगतरागस्स जो भवे भरितो ।
पज्जत्तो साहुस्स तु, एयं किर मत्तगपमाणं ॥
१०३७. वट्टं समचतुरंसं, होति थिरं थावरं च वण्णं च ।
हुंडं वाताइद्धं, भिण्णं च अधारणिज्जाइं ॥
१०३८. परिघट्टण निम्मोयण, तं पुण अंतो व होज्ज बाहिं वा ।
संठवणं मुहकरणं, जमणं विसमाण समकरणं ॥ नि २३९ ॥
१०३९. पढम-बितियाण करणं, सुहुममवी जो करे सयं भिक्खू ।
सो आणा-अणवत्थं मिच्छत्त-विराधणं पावे ॥ नि २४० ॥

१. भाष्य की मुद्रित पुस्तक में १०३० से १०३९ तक की १० गाथाओं के आद्य पदांशों का संकेत मात्र है तथा 'एता दसगाहा' का उल्लेख है। हस्तप्रति में परिघट्टण (१०३१) गाथा को छोड़कर बाकी नौ गाथाओं के एक-एक अक्षर का संकेत है तथा 'एता णव गाथा' का उल्लेख है। इन सब गाथाओं की पूर्ति पूर्व गाथाओं के आधार पर की गई है।

१०३०. प्रथम पात्र वह है, जिसमें परिकर्म (सुधार) उत्कृष्ट मात्रा में (बहुत अधिक) करना होता है, वह गुणों से जघन्य है। दूसरा दोनों दृष्टियों (परिकर्म और गुण) से मध्यम है। तृतीय पात्र (उत्कृष्ट पात्र) प्रथम अर्थात् परिकर्म से रहित होता है।

१०३१. जिस पात्र का आधा अंगुल से ज्यादा छेदन किया जाए, वह सपरिकर्म (बहुपरिकर्म) पात्र होता है। जिसका आधा अंगुल जितना (या उससे कम) छेदन किया जाए, वह पात्र अल्पपरिकर्म होता है।

१०३२. यथाकृत (परिकर्म) पात्र वह होता है, जिसका मुंह पहले से ही ठीक किया हुआ हो तथा जो लेप किया हुआ मिल जाए। उनका प्रमाण (परिमाण) इस प्रकार है—

१०३३. जिसका परिमाण तीन वितस्ति और चार अंगुल होता है, वह मध्यम प्रमाण पात्र होता है। इससे कम परिमाण वाला पात्र जघन्य और अधिक परिमाण वाला पात्र उत्कृष्ट परिमाण वाला कहलाता है।

१०३४. ज्येष्ठ और आषाढ उत्कृष्ट तृषामास (वे महीने जिनमें सर्वाधिक प्यास लगती है) होते हैं। ऊपर के चार अंगुल छोड़कर शेष नीचे के पात्र को भोजन या पानी से पूरा भरा जाए और वह यदि उत्कृष्ट तृषामास में दो गव्यूत दूरी से आए हुए साधु के लिए पर्याप्त हो जाए, वह प्रमाणोपेत पात्र होता है।

१०३५. इसी से कुछ बड़े प्रमाण वाला पात्र गच्छ के अनुग्रह के लिए रखा जाता है। कान्तार (अटवी), दुर्भिक्ष, नगररोध आदि आपवादिक परिस्थितियों में इसके उपयोग की भजना है।

१०३६. भक्त (आहार) अथवा पानी में से किसी एक से भरा जाने पर जो एक साधु के लिए पर्याप्त होता है, वह मात्रक प्रमाणोपेत होता है।

१०३७. जो पात्र वृत्ताकार, समचतुरस्र, मजबूत तथा स्थावर अर्थात् अप्रातिहार्य हो, वह वर्ण अर्थात् लक्षणयुक्त होता है। जो हुंड अर्थात् विषम संस्थान वाला, अनिष्पन्न तथा भिन्न (खंडित) हो, वह अधारणीय (न रखने योग्य) होता है।

१०३८. परिघट्टन का अर्थ है—निर्माण, निर्मोक—मोक रहित करना, चारों ओर से घर्षण करना। वह अन्दर और बाहर दोनों तरफ होता है। संस्थापन का अर्थ है मुंह आदि को व्यवस्थित करना और जमाने का अर्थ है विषम को सम करना।

१०३९. जो भिक्षु स्वयं थोड़ा-सा भी प्रथम अर्थात् परिघट्टन (बहुपरिकर्म वाला घर्षण) और द्वितीय अर्थात् संस्थापन (अल्प परिकर्म वाला कार्य) करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व और विराधना— इन दोषों को प्राप्त होता है।

१०४०. घट्टितसंठविताणं, पुव्विं^१ जमिताण होति^२ गहणं तु ।
असती पुव्वकताणं, कप्पति ताहे सयंकरणं ॥ १७६ ॥
१०४१. बितियपदमणिउणे वा, णिउणे वा केणई भवे असहू ।
वाघातो व सहुस्सा, परकरणं कप्पती ताहे ॥
१०४२. पच्छकड साभिग्गह, णिरभिग्गह भद्दए य अस्सण्णी ।
गिहि-अण्णतित्थिगे वा, गिहि पुव्वं एतरे पच्छा^३ ॥
१०४३. दंडग^४-विदंडगे वा^५, लट्ठि- विलट्ठी य तिविध तिविधा तु ।
वेणुमय^६ वेत्त दारुग, बहु-अप्प अहाकडे चेव ॥ १७७ ॥
१०४४. तिन्नि उ हत्थे दंडो, दोण्णि उ हत्थे विदंडगो होति ।
लट्ठी आतपमाणा, विलट्ठि चउरंगुलेणूणा^७ ॥
१०४५. अद्धंगुला परेणं, छिज्जंती होंति सपरिकम्मा उ ।
अद्धंगुलमेगे तू, छिज्जंती अप्पपरिकम्मा ॥
१०४६. जे पुव्ववट्ठिता वा, जमिता संठवित तच्छिता वावि ।
होंति तु पमाणजुत्ता, ते णातव्वा अहाकडगा ॥
१०४७. दुपद-चउप्पद-बहुपद, निवारणट्ठाय रक्खणा हेउं ।
अद्धाण-मरणभय-वुड्ढ-वासऽवट्ठंभगा कप्पे ॥
१०४८. पढम-बितियाण करणं, सुहुममवी जो सयं करे भिक्खू ।
सो आणा-अणवत्थं मिच्छत्त-विराधणं पावे ॥ नि २४१ ॥

१. पुव्वं (दे) ।

२. होतु (भ) ।

३. गा. १०४१ तथा १०४२—इन दोनों गाथाओं का प्रतियों में संकेत नहीं मिलता है, किन्तु भाष्य में इनका संकेत है । यद्यपि ये गाथाएं 'परकरण' से संबद्ध हैं, किन्तु मुद्रित प्रति में ये पदांश एवं संख्यांक के साथ निर्दिष्ट हैं अतः इनकी पूर्ति की गई है ।

४. सूत्र २६ (नव २/२५) ।

५. या (क, पा, भ) ।

६. वेलु^७ (मु, भ) ।

७. गाथा १०४४ से लेकर गा. १०६९ तक की २६ गाथाओं का हस्तप्रति तथा मुद्रितभाष्य में गाथा के प्रथम अक्षर के रूप में संकेत मात्र मिलता है । उसके बाद 'ताओ चेव गाहाओ' तथा 'जहा पढमे ताधेव' का उल्लेख मिलता है ।

१०४०. मुनि को यदि पहले से परिघट्टित, संस्थापित और समीकृत पात्र मिल जाए तो उसका ग्रहण किया जा सकता है। यदि पूर्वकृत पात्र न मिले तो उसे स्वयं परिकर्म करना कल्पता है।

१०४१. साधु यदि पात्र के परिघट्टन आदि में स्वयं निपुण न हो अथवा निपुण होने पर भी अक्षम हो अथवा निपुण एवं सक्षम साधु के किसी प्रकार का व्याघात होने के कारण वह पात्र-परिघट्टन आदि कार्य स्वयं न कर सके तो द्वितीय पद में गृहस्थ या अन्यतीर्थिक से परिघट्टन आदि कार्य करवाना कल्पता है।

१०४२. साधु जिस से पात्र का परिघट्टन आदि करवाए, वह पच्छाकड़ हो, पच्छाकड़ न मिले तो अणुव्रती श्रावक हो, उसके न मिलने पर दर्शनश्रावक या यथाभद्रक मिथ्यादृष्टि गृहस्थ से पात्र का परिकर्म करवाए। उपर्युक्त गृहस्थ न मिले तो अन्यतीर्थिक में भी इसी क्रम से पहले गृहस्थ और उनके अभाव में अन्यतीर्थिक संन्यासियों से पात्र का परिकर्म करवाया जा सकता है।

१०४३. दण्ड, विदण्ड, लाठी और विलट्टी (छोटी लाठी)—इनके तीन-तीन प्रकार होते हैं—1. वेणुमय, 2. वेत्रमय और 3. दारु (काष्ठ) मय। पुनः उनके तीन-तीन प्रकार होते हैं—1. बहुपरिकर्म, 2. अल्पपरिकर्म और 3. अपरिकर्म।

१०४४. दंड तीन हाथ का होता है। विदंड दो हाथ का होता है। लाठी आत्मप्रमाण अर्थात् शरीर प्रमाण होती है और विलट्टी उससे चार अंगुल कम होती है।

१०४५. जिस दंड आदि का आधा अंगुल से ज्यादा छेदन किया जाए, वह सपरिकर्म (बहुपरिकर्म) दंड होता है। जिसका आधा अंगुल जितना (या उससे कम) छेदन किया जाए, वह दंड आदि अल्पपरिकर्म होता है।

१०४६. जो दंड, विदंड आदि पहले से ही वर्धित (काटे हुए), समीकृत (सम किये हुए), संस्थापित अथवा तक्षित (छीले हुए) हों तथा प्रमाणयुक्त (प्रमाणोपेत) हों, उन्हें यथाकृत जानना चाहिए।

१०४७. मुनि को इन प्रयोजनों से लाठी आदि रखना कल्पता है—१. द्विपद, चतुष्पद और बहुपद आदि प्राणियों के निवारण के लिए। २. इन प्राणियों से रक्षा के लिए। ३. अटवी आदि में (प्रलंब आदि लेने के लिए)। ४. मृतक का वहन करने के लिए। ५. म्लेच्छ, अपहर्ता स्तेन आदि के भय में प्रहरण के लिए। ६. वृद्धावस्था में सहारे के लिए।

१०४८. जो भिक्षु स्वयं थोड़ा सा भी प्रथम—परिघट्टन आदि बहु परिकर्म वाला कार्य तथा द्वितीय—संस्थापन आदि अल्पपरिकर्म वाला कार्य करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व और विराधना—इन दोषों को प्राप्त होता है।

१०४९. घट्टित-संठविते वा, पुव्विं जमिताएँ होति गहणं तु ।
असती पुव्वकताए, कप्पति ताहे सयंकरणं ॥
१०५०. परिघट्टणं तु लिहणं, मूलग्गा पव्वमादि संठवणं ।
उज्जूकरणं जमणं, दंडगमादीण सव्वेसिं ॥
१०५१. बितियपदमणिउणे वा, निउणे वा केणई भवे असहू ।
वाघातो व सहुस्सा, परकरणं कप्पति ताहे ॥
१०५२. पच्छाकड साभिग्गह, निरभिग्गह भद्दए य अस्सण्णी ।
गिहि-अण्णत्तिथिएण व, गिहि पुव्वं एतरे पच्छा ॥
१०५३. उडुबद्धे रयहरणं, वासावासासु पादलेहणिया ।
वड-उंबरे-पिलक्खू, तेसि अलंभम्मि अंबिलिया ॥
१०५४. बारसअंगुलदीहा, अंगुलमेगं तु होति वित्थिण्णा ।
घण मसिण णिव्वणा वि य, पुरिसे पुरिसे य पत्तेयं ॥
१०५५. एक्केक्का सा तिविधा, बहुपरिकम्मा य अप्पपरिकम्मा ।
अप्परिकम्मा य तहा, जलभावित एतरा चेव ॥
१०५६. अद्धंगुला परेणं, छिज्जंती होति सपरिकम्मा तु ।
अद्धंगुलमेगं तू, छिज्जंती अप्पपरिकम्मा ॥
१०५७. जा पुव्ववड्डिता वा, जमिता संठवित तच्छिता वावि ।
लब्भति पमाणजुत्ता, सा णातव्वा अहाकडगा ॥
१०५८. पढम-बितियाण करणं, सुहुममवी जो सयं करे भिक्खू ।
सो आणा-अणवत्थं मिच्छत्त-विराधणं पावे ॥ नि २४२ ॥
१०५९. घट्टित-संठविताए, पुव्विं जमिताएँ होति गहणं तु ।
असती पुव्वकडाए, कप्पति ताहे सयंकरणं ॥
१०६०. बितियपदमणिउणे वा, निउणे वा केणई भवे असहू ।
वाघातो व सहुस्सा, परकरणं कप्पती ताहे ॥

१०४९. मुनि को यदि पहले से घट्टित (अवलेखित), संस्थापित (पार्श्व भाग आदि से ठीक किया हुआ) और यमित (ऋजु—सीधा किया हुआ) दंड आदि मिल जाए तो उसका ग्रहण किया जा सकता है। यदि पूर्वकृत वैसा दंड आदि न मिले तो उसे स्वयं स्वल्प परिकर्म करना कल्पता है।

१०५०. दंड आदि सब के प्रसंग में परिघट्टन का अर्थ है—घिसना, संस्थापन का अर्थ है—मूलभाग, अग्रभाग और पर्व आदि को ठीक करना तथा यमन का अर्थ है—ऋजु (सीधा) करना।

१०५१, १०५२. भिक्षु यदि दंड, लाठी आदि का परिकर्म करने में निपुण न हो अथवा निपुण होने पर भी अक्षम हो अथवा निपुण और सक्षम भिक्षु के किसी प्रकार का व्याघात (बाधा) होने के कारण दंड, लाठी आदि का परिकर्म न कर सके तो गृहस्थ अथवा अन्यतीर्थिक से दंड, लाठी आदि का परिकर्म करवा सकता है। भिक्षु जिससे दंड, लाठी का परिकर्म करवाए, वह पच्छाकड़ हो, पच्छाकड़ न हो तो अणुव्रती श्रावक हो। उसके न मिलने पर क्रमशः दर्शनश्रावक या यथाभद्रक मिथ्यादृष्टि गृहस्थ से दंड आदि का परिकर्म करवाए। उपर्युक्त गृहस्थ न मिले तो अन्यतीर्थिक में भी इसी क्रम से पहले गृहस्थ और उनके अभाव में अन्यतीर्थिक संन्यासियों से दंड आदि का निर्माण करवाया जा सकता है।

१०५३. ऋतुबद्ध काल में रजोहरण से पैरों का प्रमार्जन किया जाता है और वर्षावास में पादलेखनिका (पैर आदि से कीचड़ आदि का अपनयन करने का उपकरण) का प्रयोग किया जाता है। पादलेखनिका प्रायः बड़, उदुम्बर तथा पीपल की लकड़ी से बनती है। वह न मिले तो इमली की लकड़ी की भी बनाई जाती है।

१०५४. पादलेखनिका बारह अंगुल लम्बी और एक अंगुल चौड़ी होती है। वह घन (दृढ़/ठोस) मसृण और निर्घ्रण (क्षयरहित) होनी चाहिए। वह प्रत्येक पुरुष (मुनि) के पास एक-एक होती है।

१०५५. प्रत्येक पादलेखनिका (बड़ आदि से निर्मित अवलेखनिका) के तीन-तीन प्रकार हैं—१. बहुपरिकर्म, २. अल्पपरिकर्म और ३. अपरिकर्म। पुनः उसके दो-दो प्रकार हैं—जलभावित और अजलभावित।

१०५६. जिस पादलेखनिका का आधा अंगुल से ज्यादा छेदन किया जाए, वह सपरिकर्म (बहुपरिकर्म) तथा जिसका आधा अंगुल (या उससे कम) छेदन किया जाए, वह अल्पपरिकर्म होती है।

१०५७. जो पादलेखनिका पहले से ही वर्धित (काटी हुई), समीकृत (सम बनाई हुई) संस्थापित अथवा तक्षित (घीसी हुई) हो तथा प्रमाणोपेत प्राप्त हो, उसे यथाकृत जानना चाहिए।

१०५८. जो भिक्षु स्वयं सूक्ष्म (थोड़ा) सा भी प्रथम (बहुपरिकर्म-काटना आदि) तथा द्वितीय (अल्पपरिकर्म-संस्थापन आदि) कार्य करता है, उसे आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व और विराधना—ये दोष प्राप्त होते हैं।

१०५९. भिक्षु को यदि पहले से घट्टित, संस्थापित और समित (समीकृत) पादलेखनिका मिल जाए तो उसका ग्रहण किया जा सकता है। यदि पूर्वकृत वैसी पादलेखनिका न मिले तो उसे स्वयं परिकर्म करना कल्पता है।

१०६०. भिक्षु यदि पादलेखनिका का परिकर्म करने में निपुण न हो अथवा निपुण होने पर भी अक्षम हो अथवा निपुण एवं सक्षम साधु के किसी प्रकार का व्याघात (बाधा) होने के कारण वह पादलेखनिका का परिकर्म न कर सके तो द्वितीय पद में गृहस्थ या अन्यतीर्थिक से उसका परिकर्म करवाना कल्पता है।

१०६१. पच्छाकड साभिग्गह, निरभिग्गह भद्दए य अस्सण्णी।
गिहि-अण्णतित्थिएण व, गिहि पुव्वं एतरे पच्छा ॥
१०६२. वेणुमयी लोहमयी, दुविधा सूई समासतो होति।
चउरंगुलप्पमाणा, सा सिव्वण-संधणट्टाए ॥ नि २४३ ॥
१०६३. एक्केक्का सा तिविधा, बहुपरिकम्मा य अप्पपरिकम्मा।
अद्धंगुलमेगं तू, छिज्जंती अप्पपरिकम्मा ॥
१०६४. अद्धंगुला परेणं, छिज्जंती होंति सपरिकम्मा तु।
अद्धंगुलमेगं तू, छिज्जंती अप्पपरिकम्मा ॥
१०६५. जे पुव्ववड्ढिता वा, पुव्वं संठवित तच्छिता वावि।
लब्भति पमाणजुत्ता, सा णातव्वा अहाकडगा ॥
१०६६. पढम-बितियाण करणं, सुहुममवी जो करे सयं भिक्खू।
सो आणा-अणवत्थं मिच्छत्त-विराधणं पावे ॥ नि २४४ ॥
१०६७. घट्टित-संठविताए, पुव्वं जमिताएँ होति गहणं तु।
असती पुव्वकडाए, कप्पति ताहे सयंकरणं ॥
१०६८. बितियपदमणिउणे वा, निउणे वा केणई भवे असहू।
वाघातो व सहुस्सा, परकरणं कप्पती ताहे^१ ॥
१०६९. पच्छाकड साभिग्गह, निरभिग्गह भद्दए य अस्सण्णी।
गिहि-अण्णतित्थिएण व, गिहि पुव्वं एतरे पच्छा^२ ॥
१०७०. संजतनिए^३ गिहिणिए, उभयणिए चेव होति बोधव्वे।
एते तिन्नि विकप्पा, णियगम्मी^४ होंति नातव्वा^५ ॥ १७८ ॥ नि २४५ ॥

१. एक पत्र लुप्त होने से १०४९ से १०६८ तक की गाथाएं पा प्रति में नहीं है।

२. गा. १०५१, १०५२ तथा १०६०, १०६१, १०६८, १०६९ — ये छहों गाथाएं परकरण से सम्बद्ध हैं अतः यहां संगत नहीं हैं क्योंकि सूत्र स्वयंकरण का निषेधक है, लेकिन प्रतियों में तथा मुद्रित भाष्य में इनका गाथा रूप में संकेत

मिलता है अतः इन गाथाओं को भाष्यगाथा के क्रम में रखा है।

३. 'णिते (क), सूत्र २७ (नव २/२६)।

४. णियम्मि य (क)।

५. इस गाथा के प्रारम्भ में चूर्णिकार ने 'अधुना निर्युक्ति-विस्तरः' का उल्लेख किया है।

१०६१. भिक्षु जिस से पादलेखनिका का परिकर्म करवाए, वह पच्छाकड हो। पच्छाकड न मिले तो अणुव्रती श्रावक हो। उसके न मिलने पर क्रमशः दर्शनश्रावक अथवा यथाभद्रक मिथ्यादृष्टि गृहस्थ से पादलेखनिका का परिकर्म करवाए। उपर्युक्त गृहस्थ न मिले तो अन्यतीर्थिक में भी इसी क्रम से पहले गृहस्थ और उसके अभाव में अन्यतीर्थिक संन्यासियों से पादलेखनिका का परिकर्म करवाया जा सकता है।
१०६२. सूई संक्षेप में दो प्रकार की होती है—१. वेणु (बांस) निर्मित और २. लोहनिर्मित। परिमाण की अपेक्षा से वह चार अंगुल लम्बी होती है। वह सिलाई (फटे हुए वस्त्र आदि को सिलना) तथा संधान (दो, तीन वस्त्रखंडों को जोड़ना) के लिए रखी जाती है।
१०६३. प्रत्येक सूई के क्रमशः तीन प्रकार ज्ञातव्य हैं—१. बहुपरिकर्म २. अल्पपरिकर्म और ३. अपरिकर्म।
१०६४. जिस सूई का आधा अंगुल से ज्यादा छेदन किया जाता है, वह सपरिकर्म होती है। जिसका आधा अंगुल जितना (या उससे कम) छेदन किया जाए वह सूई अल्पपरिकर्म होती है।
१०६५. वेणु आदि की जो सूई पहले से ही वर्धित, संस्थापित और तक्षित हो तथा प्रमाणोपेत प्राप्त हो, उसे यथाकृत जानना चाहिए।
१०६६. जो भिक्षु स्वयं थोड़ा सा भी प्रथम—बहुपरिकर्म और द्वितीय—अल्पपरिकर्म वाला कार्य करता है उसे आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व और विराधना—ये दोष प्राप्त होते हैं।
१०६७. भिक्षु को यदि पहले से घट्टित (अवलेखित) संस्थापित और दमित (समीकृत) वेणु आदि की सूई मिल जाए तो उसका ग्रहण किया जा सकता है। यदि पूर्वकृत वैसी सूई न मिले तो उसे स्वयं परिकर्म करना कल्पता है।
१०६८. भिक्षु यदि सूई का परिकर्म करने में निपुण न हो अथवा निपुण होने पर भी अक्षम हो अथवा सक्षम एवं निपुण साधु के किसी प्रकार का व्याघात (बाधा) होने के कारण वह सूई का परिकर्म न कर सके तो द्वितीय पद में गृहस्थ या अन्यतीर्थिक से उसका परिकर्म करवाना कल्पता है।
१०६९. भिक्षु जिससे सूई का परिकर्म करवाए, वह पच्छाकड हो, पच्छाकड न मिले तो अणुव्रती श्रावक हो। उसके न मिलने पर क्रमशः दर्शनश्रावक अथवा यथाभद्रक मिथ्यादृष्टि गृहस्थ से सूई का परिकर्म करवाए। उपर्युक्त गृहस्थ न मिले तो अन्यतीर्थिक में भी इसी क्रम से पहले गृहस्थ से और उसके अभाव में अन्यतीर्थिक संन्यासियों से सूई का परिकर्म करवाया जा सकता है।
१०७०. निजक (स्वजन) के विषय में तीन विकल्प ज्ञातव्य हैं—१. साधु का स्वजन, २. गृहस्थ का स्वजन और ३. दोनों का स्वजन।^१

१. कोई साधु का स्वजन है, गृहस्थ का नहीं, कोई गृहस्थ का है, साधु का नहीं। इस प्रकार चतुर्भंगी का चौथा भंग शून्य होने से तीन विकल्प बनते हैं।

१०७१. आसण्णतरो भयमायतीय कारोवकारिता चेव ।
इति णीयपरे वावी, णियएण^१ गवेसए वावि^२ ॥ ९७९ ॥ नि २४६ ॥
१०७२. एत्तो एगतरेणं, णीएणं^३ जो गवेसणं कारे ।
भिकखू पडिग्गहम्मी, सो पावति आणमादीणि ॥ ९८० ॥ नि २४७ ॥
१०७३. लज्जाएँ गारवेण^४ व, 'देइ णं'^५ समूहपेल्लितो वावि ।
मित्तेहि दावितो वा, निस्सो^६ लुद्धो विमं कुज्जा ॥ ९८१ ॥
१०७४. पच्छाकम्मपवहणे, अचियत्ताऽसंखडे पदोसे^७ य ।
एगतरमुभयतो वा, कुज्जा पत्थारतो वावि^८ ॥ ९८२ ॥
१०७५. संतासंतसतीए, अथिर-अपज्जत्तऽलब्भमाणे वा^९ ।
पडिसेधऽणेसणिज्जे, असिवादी संततो असती ॥ ९८३ ॥
१०७६. असिवे ओमोदरिए, रायहुट्टे भए व गेलण्णे ।
असती दुल्लभ पडिसेहतो य गहणं भवे पाओ^{१०} ॥ ९८४ ॥
१०७७. भिण्णे व झामिते वा, पडिणीए साण-तेणमादीसु ।
एतेहि कारणेहिं, णातव्वाऽसंततो असती ॥ ९८५ ॥
१०७८. संतासंतसतीए, गवेसणं पुव्वमप्पणो^{११} कुज्जा ।
तो पच्छा 'उ परेणं, जतणाए'^{१२} गवेसणं कारे ॥ ९८६ ॥
१०७९. पुव्वाभट्टमलद्धे^{१३}, णीयपरं^{१४} वावि पट्टवेरुणं^{१५} ।
पच्छा गंतुं जायति, समणुव्वूहंति य गिही वि ॥ ९८७ ॥

१. णीएण (भ, मु) ।

२. कोयी (भ, मु) ।

३. णितिएणं (भ, मु) ।

४. गोरं (मु) ।

५. दारुणं (दे, पा), कारुण (भ) ।

६. णिस्सो—दरिद्रः (चू) ।

७. य दोसे (मु) ।

८. यावि (भ) ।

९. य (दे) ।

१०. इस गाथा के लिए दे प्रति में 'असिवे गाहा' केवल इतना उल्लेख है ।

११. 'मप्पणा (मु, भ) ।

१२. जतणाए णीएण (भ, मु) ।

१३. पुव्वोवट्टमं (मु, पा, भ), चूर्णि पाठ के अनुसार 'पुव्वग-विट्टमलद्धे' पाठ होना चाहिए ।

१४. णीयमपरं (मु) ।

१५. 'वेत्ताणं (दे) ।

१०७१. निजक—स्वजन अनेक कारणों से (अनेक प्रकार से) होता है—१. कोई निकटतर सम्बन्धी होता है। २. कोई थोड़ा दूर का सम्बन्धी होता है। ३. कोई भविष्यत् काल में सम्बन्धी बनने वाला है। ४. कोई उपकार-प्रत्युपकार की भावना से प्रतिबद्ध है।

निजक के समान पर के विषय में भी पूर्वोक्त विकल्प हो सकते हैं। प्रस्तुत सूत्र में कोई साधु अपने स्वजन से पात्र की गवेषणा करवाए—इसका निषेध प्रज्ञप्त है।

१०७२. जो भिक्षु उपर्युक्त तीनों (गाथा १०७० में कथित) में से किसी भी स्वजन से पात्र की गवेषणा करवाता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

१०७३. कोई व्यक्ति दरिद्र है अथवा उस पात्र में आसक्त है, वह साधु को पात्र देना नहीं चाहता, पर बहुत से लोगों के बीच मांग लिया, अतः लज्जा से दे देता है। मांगने वाले के गौरव के कारण दे देता है। बहुत से लोगों के द्वारा प्रेरित किया जाने के कारण दे देता है। किसी ने उसके मित्रों के सामने मांगा, अब मित्र उसे कह रहे हैं इसलिए वह पात्र दे देता है।

१०७४. गृहस्थ मुनि को देने के लिए अन्य किसी पात्र के कोरण आदि पश्चात्कर्म कर देता है, अन्य अपरिभुक्त पात्र को धुलवाता है। उस मुनि अथवा गवेषणा करने वाले गृहस्थ के प्रति मन में अप्रीति की अनुभूति करता है—द्वेष करता है। अप्रीति के कारण उनके साथ कलह करता है, उनकी वृत्ति (जीविका) का व्यवच्छेद कर देता है। उस मुनि अथवा गृहस्थ में से एक अथवा दोनों के प्रति प्रद्वेष के कारण उस साधु अथवा सभी साधुओं का विनाश कर देता है, प्रस्तार के रूप में दहन अथवा घात कर देता है अथवा हत्या करवा देता है।

१०७५. पात्र का अभाव हो (न मिले) ऐसी स्थिति में अपवाद स्वरूप भिक्षु स्वजन के द्वारा गवेषित पात्र को ग्रहण कर सकता है। वह पात्र का अभाव (असती) दो प्रकार का हो सकता है—१. संतासती (पात्र के होने पर होने वाला अभाव अर्थात् यथोचित पात्र का अभाव) और २. असंतासती (पात्र के न होने पर होने वाला अभाव)। संतासती के हेतु हैं—१. अस्थिरत्व, २. अपर्याप्तत्व, ३. अप्राप्ति, ४. प्रतिषेध, ५. अनेषणीयत्व और ६. अशिव आदि।^१

१०७६. पात्र की संतासती के हेतु हैं—१. अशिव, २. अवमौदरिका, ३. राजद्वेष, ४. भय, ५. ग्लान्य, ६. उस क्षेत्र में पात्र की दुर्लभता, ७. राजा, दंडिक आदि के द्वारा प्रतिषेध।

१०७७. पात्र की असंतासती के हेतु हैं—१. पात्र टूट जाए, जल जाए, कोई प्रत्यनीक अथवा स्तेन पात्र का हरण कर ले, कोई कुत्ता अथवा हिंस्र पशु पात्र को उठा ले जाए—इत्यादि कारणों से पूर्व पात्र न हो।

१०७८. उपर्युक्त कारणों से होने वाले पात्राभाव की स्थिति में भिक्षु पहले स्वयं पात्र की गवेषणा करे। यदि उसे पात्र उपलब्ध न हो तो बाद में यतनापूर्वक स्वजन के द्वारा पात्र की गवेषणा करवाए।

१०७९. पहले मुनि स्वयं गृहस्थ के घर पात्र की गवेषणा करे। यदि पात्र न मिले तो वह अपने किसी स्वजन अथवा अन्य व्यक्ति को वहां भेजे। तत्पश्चात् स्वयं भी वहां जाए और उसके समक्ष पात्र की याचना करे तथा वह स्वजन भी दाता की भावना का उपबृंहण करे, कहे—मुनियों को पात्र देने से महान् पुण्य का बन्ध होता है आदि। इस प्रकार गवेषणा कर पात्र ग्रहण करने पर पूर्वोक्त दोषों का परिहार संभव है।

१. विवरण हेतु द्रष्टव्य निभा गा. ७३७ के पादटिप्पण।

१०८०. संजयपरे^१ गिहिपरे^२, उभयपरे चेव होति बोधव्वे ।
एते तिन्नि विकप्पा, नातव्वा होंति उ परम्मि ॥ १८८ ॥ नि २४८ ॥
१०८१. एत्तो एगतरेणं, परेणं उ जो गवेसणं कारे ।
भिक्खू पडिग्गहम्मी, सो पावति आणमादीणि^३ ॥ नि २४९ ॥
१०८२. लज्जाएँ गारवेण व, देइ णं समूहपेल्लितो वावि ।
मित्तेहि दावितो वा, णिस्सो लुद्धो विमं कुज्जा ॥
१०८३. पच्छाकम्मपवहणे, अचियत्ताऽसंखडे पदोसे य ।
एगतरमुभयतो वा, कुज्जा पत्थारतो वावि ॥
१०८४. संतासंतसतीए, अथिर-अपज्जत्तऽलब्भमाणे वा ।
पडिसेधऽणेसणिज्जे, असिवादी संततो असती ॥
१०८५. असिवे ओमोदरिए, रायहुट्टे भए व गेलण्णे ।
असती दुल्लभपडिसेहतो य गहणं भवे पाओ ॥
१०८६. भिण्णे व झामिते वा, पडिणीए साण-तेणमादीसु ।
एतेहि कारणेहिं, णातव्वाऽसंततो असती ॥
१०८७. संतासंतसतीए, गवेसणं पुव्वमप्पणा^४ कुज्जा ।
तो पच्छा उ परेणं, जतणाएँ गवेसणं कारे ॥
१०८८. पुव्वाभट्टमलद्धे, णीयपरं वावि पट्टवेऊणं ।
पच्छा गंतुं जायति, समणुव्वूहंति य गिही वि ॥
१०८९. जो^५ जत्थ अच्चित्तो खलु, पमाणपुरिसो पधाणपुरिसो वा ।
तम्मि^६ य वरसद्धो खलु, सो गामिय^७ 'रट्टियादी' य^८ ॥ १८९ ॥ नि २५० ॥

१. सूत्र २८ (नव २/२७) ।

२. × (क) ।

३. गा. १०८१-८८—इन आठ गाथाओं का दे और पा प्रति तथा मुद्रित भाष्य में गाथा संकेत तथा 'ताओ चेव गाहाओ' का निर्देश है । भ प्रति में गा. १०८१-८६ तक की छह गाथाओं का संकेत है तथा अंतिम दोनों गाथाएं प्राप्त हैं । इन गाथाओं की पूर्ति पूर्व गाथाओं के आधार

पर की गई है ।

४. मप्पणो (दे) ।

५. सूत्र २९ (नव २/२८) ।

६. तम्मी (भ, मु) ।

७. गामिए त्ति गाममहत्तरः (चू) ।

८. रट्टिए त्ति राष्ट्रमहत्तरः (चू) ।

९. व होइ जं जत्थ (भ) ।

१०८०. पर—अस्वजन के विषय में तीन विकल्प ज्ञातव्य हैं—१. साधु का अस्वजन, २. गृहस्थ का अस्वजन और ३. दोनों का अस्वजन।

१०८१. जो भिक्षु उपर्युक्त तीनों (गाथा १०८० में कथित) में से किसी भी अस्वजन से पात्र की गवेषणा करवाता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

१०८२. कोई व्यक्ति दरिद्र है अथवा उस पात्र में आसक्त है, वह साधु को पात्र देना नहीं चाहता, पर बहुत से लोगों के बीच मांग लिया अतः लज्जा से दे देता है। मांगने वाले के गौरव के कारण दे देता है। बहुत से लोगों के द्वारा प्रेरित किया जाने के कारण दे देता है। किसी ने उसके मित्रों के सामने मांगा, अब मित्र उसे कह रहे हैं इसलिए वह पात्र दे देता है।

१०८३. गृहस्थ मुनि को देने के लिए अन्य किसी पात्र के कोरण आदि पश्चात्कर्म कर देता है, अन्य अपरिभुक्त पात्र को धुलवाता है। उस मुनि अथवा गवेषणा करने वाले गृहस्थ के प्रति मन में अप्रीति की अनुभूति करता है—द्वेष करता है। अप्रीति के कारण उनके साथ कलह करता है, उनकी वृत्ति (जीविका) का व्यवच्छेद कर देता है। उस मुनि अथवा गृहस्थ में से एक अथवा दोनों के प्रति प्रद्वेष के कारण उस साधु अथवा सभी साधुओं का विनाश कर देता है, प्रस्तार के रूप में दहन अथवा घात कर देता है अथवा हत्या करवा देता है।

१०८४. पात्र का अभाव हो (न मिले) ऐसी स्थिति में अपवाद स्वरूप भिक्षु अस्वजन के द्वारा गवेषित पात्र को ग्रहण कर सकता है। वह पात्र का अभाव (असती) दो प्रकार का हो सकता है—१. संतासती (पात्र के होने पर होने वाला अभाव अर्थात् यथोचित पात्र का अभाव) और असंतासती (पात्र के न होने पर होने वाला अभाव)। संतासती के हेतु हैं—१. अस्थिरत्व, २. अपर्याप्तत्व, ३. अप्राप्ति, ४. प्रतिषेध, ५. अनेषणीयत्व और ६. अशिव आदि।^१

१०८५. पात्र की संतासती के हेतु हैं—१. अशिव, २. अवमौदरिका, ३. राजद्वेष, ४. भय, ५. ग्लान्य, ६. उस क्षेत्र में पात्र की दुर्लभता, ७. राजा, दंडिक आदि के द्वारा प्रतिषेध।

१०८६. पात्र की असंतासती के हेतु हैं—१. पात्र टूट जाए, जल जाए, कोई प्रत्यनीक अथवा स्तेन पात्र का हरण कर ले, कोई कुत्ता अथवा हिंस्र पशु पात्र को उठा ले जाए—इत्यादि कारणों से पूर्व पात्र न हो।

१०८७. उपर्युक्त कारणों से होने वाले पात्राभाव की स्थिति में भिक्षु पहले स्वयं पात्र की गवेषणा करे। यदि उसे पात्र उपलब्ध न हो तो बाद में यतनापूर्वक पर—अस्वजन के द्वारा पात्र की गवेषणा करवाए।

१०८८. पहले मुनि स्वयं गृहस्थ के घर पात्र की गवेषणा करे। यदि उसे पात्र न मिले तो वह अपने किसी स्वजन से भिन्न व्यक्ति^२ को वहां भेजे। उसके पश्चात् स्वयं भी वहां जाए और उसके समक्ष पात्र की याचना करे तथा वह अन्य गृहस्थ भी दाता की भावना का उपबृंहण करे, कहे—मुनियों को पात्र देने से महान् पुण्य का बन्ध होता है आदि। इस प्रकार गवेषणा कर पात्र ग्रहण करने पर पूर्वोक्त दोषों का परिहार संभव है।

१०८९. जो व्यक्ति जिस ग्राम, नगर आदि में पूज्य अथवा सम्मान्य होता है, ग्राम आदि के कार्यों में जिसे प्रमाणभूत माना जाता है अथवा धन, कुल आदि के कारण जो जहां प्रधान (मुख्य) होता है, उसके विषय में वर शब्द का प्रयोग किया जाता है, जैसे—ग्राममहत्तर, राष्ट्रमहत्तर आदि।

१. विवरण हेतु द्रष्टव्य निभा ७३७ के पादटिप्पण।

२. गाथा का पाठ समान होने पर भी सूत्रानुबंध से अनुवाद में परिवर्तन किया गया है।

१०९०. एत्तो एगतरेणं, अच्चित्तो तु जो गवेसणं कारे ।
भिक्खू पडिग्गहम्मी, सो पावति आणमादीणि^१ ॥ नि २५१ ॥
१०९१. पच्छाकम्मपवहणे, अचियत्ताऽसंखडे पदोसे य ।
एगतरमुभयतो वा, कुज्जा पत्थारतो वावि ॥
१०९२. संतासंतसतीए, अथिर-अपज्जत्तऽलब्भमाणे वा ।
पडिसेधऽणेसणिज्जे, असिवादी संततो असती ॥
१०९३. 'असिवे ओमोदरिए'^२, रायहुट्टे भए व गेलण्णे ।
असती दुल्लभपडिसेहतो य गहणं भवे पाओ ॥
१०९४. भिण्णे व झामिते वा, पडिणीए साण-तेणमादीसु ।
एतेहि काणेहिं, णातव्वाऽसंततो असती ॥
१०९५. संतासंतसतीए, गवेसणं पुव्वमप्पणा कुज्जा ।
तो^३ पच्छा जतणाए, वरगविट्ठं^४ पि कारेज्जा ॥ ९९० ॥
१०९६. जो^५ जस्सुवरिं तु पभू, बलियतरो वावि जस्स जो उवरिं ।
एसो बलवं भणितो, सो गहवति-सामि-तेणादी ॥ ९९१ ॥ नि २५२ ॥
१०९७. एत्तो एगतरेणं, बलियतरो जो गवेसणं कारे ।
भिक्खू पडिग्गहम्मी, सो पावति आणमादीणि^६ ॥ नि २५३ ॥
१०९८. पच्छाकम्मपवहणे, अचियत्ताऽसंखडे पदोसे य ।
एगतरमुभयतो वा, कुज्जा पत्थारतो वावि ॥

१. गा. १०९०-९४—इन पांच गाथाओं का प्रतियों में एक-
एक शब्द द्वारा संकेत मात्र दिया है। मुद्रित चूर्ण में भी
गाथा संकेत तथा 'शेषं पूर्ववत्' का उल्लेख है। इन गाथाओं
की पूर्ति पूर्व गाथाओं के आधार पर की गई है।

२. असिवादिकारणेहिं (पा) ।

३. एत्तो (दे) ।

४. वरं ग° (क), परगं° (भ) ।

५. सूत्र ३० (नव २/२९) ।

६. १०९७-११०१—इन पांच गाथाओं का प्रतियों एवं मुद्रित
भाष्य में गाथा का संकेत मात्र है। इन गाथाओं की पूर्ति पूर्व
गाथाओं के आधार पर की गई है।

१०९०. जो भिक्षु उपर्युक्त ग्राम, नगर आदि में पूज्य या प्रमाणभूत में से किसी भी प्रवर—श्रेष्ठ पुरुष से पात्र की गवेषणा करवाता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

१०९१. गृहस्थ मुनि को देने के लिए अन्य किसी पात्र के कोरण आदि पश्चात्कर्म कर देता है, अन्य अपरिभुक्त पात्र को धुलवाता है। उस मुनि अथवा गवेषणा करने वाले गृहस्थ के प्रति मन में अप्रीति की अनुभूति करता है। अप्रीति के कारण उनके साथ कलह करता है, उनकी जीविका का व्यवच्छेद कर देता है। मुनि अथवा गृहस्थ में से एक अथवा दोनों के प्रति प्रद्वेष के कारण उस साधु अथवा सभी साधुओं का विनाश कर देता है, प्रस्तार के रूप में दहन अथवा घात कर देता है अथवा हत्या करवा देता है।

१०९२. पात्र का अभाव हो (न मिले) ऐसी स्थिति में अपवाद स्वरूप भिक्षु किसी प्रकार पुरुष के द्वारा गवेषित पात्र को ग्रहण कर सकता है। वह पात्र का अभाव (असती) दो प्रकार का हो सकता है—१. संतासती (पात्र के होने पर होने वाला अभाव अर्थात् यथोचित पात्र का अभाव) और असंतासती (पात्र के न होने पर होने वाला अभाव)। संतासती के हेतु हैं—१. अस्थिरत्व, २. अपर्याप्तत्व, ३. अप्राप्ति, ४. प्रतिषेध, ५. अनेषणीयत्व और ६. अशिव आदि।

१०९३. पात्र की संतासती के हेतु हैं—१. अशिव, २. अवमौदरिका, ३. राजद्वेष, ४. भय, ५. ग्लान्य, ६. उस क्षेत्र में पात्र की दुर्लभता, ७. राजा, दंडिक आदि के द्वारा प्रतिषेध।

१०९४. पात्र की संतासती के हेतु हैं—पात्र टूट जाए, जल जाए, कोई प्रत्यनीक अथवा स्तेन पात्र का हरण कर ले, कोई कुत्ता अथवा हिंस्र पशु पात्र को उठा ले जाए—इत्यादि कारणों से पूर्व पात्र न हो।

१०९५. पात्र की असंतासती और असंतासती की स्थिति में मुनि पहले स्वयं पात्र की गवेषणा करे। यदि पात्र उपलब्ध न हो तो बाद में पूर्वोक्त प्रवर अथवा सम्मान्य व्यक्ति के द्वारा भी यतनापूर्वक पात्र की गवेषणा करवा सकता है।

१०९६. जो व्यक्ति जिसके ऊपर प्रभुत्व रखता है अथवा जो जिससे ज्यादा बलवान होता है, वह उसकी अपेक्षा बलवान कहलाता है, जैसे—गृहपति, ग्रामस्वामी अथवा स्तेन (डाकू) आदि।

१०९७. जो भिक्षु उपर्युक्त गृहपति, ग्राम स्वामी आदि में से किसी भी प्रभुत्व सम्पन्न से पात्र की गवेषणा करवाता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

१०९८. गृहस्थ मुनि को देने के लिए अन्य किसी पात्र के कोरण आदि पश्चात्कर्म कर देता है, अन्य अपरिभुक्त पात्र को धुलवाता है। उस मुनि अथवा गवेषणा करने वाले गृहस्थ के प्रति मन में अप्रीति की अनुभूति करता है। अप्रीति के कारण उनके साथ कलह करता है, उनकी जीविका का व्यवच्छेद कर देता है। उस मुनि अथवा गृहस्थ में से एक अथवा दोनों के प्रति प्रद्वेष के कारण उस साधु अथवा सभी साधुओं का विनाश कर देता है, प्रस्तार के रूप में दहन अथवा घात कर देता है अथवा हत्या करवा देता है।

१०९९. संतासंतसतीए, अथिर-अपज्जत्तऽलब्भमाणे वा ।
पडिसेधऽणेसणिज्जे, असिवादी संततो असती ॥
११००. 'असिवे ओमोदरिए'^१, रायहुट्टे भए व गेलण्णे ।
असती दुल्लभपडिसेहतो य गहणं भवे पाओ ॥
११०१. भिण्णे व झामिते वा, पडिणीए साण-तेणमादीसु ।
एतेहि कारणेहिं, णातव्वाऽसंततो असती ॥
११०२. संतासंतसतीए, गवेसणं पुव्वमप्पणा^२ कुज्जा ।
तो पच्छा उ बलवता, जतणाएँ गवेसणं कारे ॥ ९९२ ॥
११०३. दाणफलं^३ लविरुणं, लावावेउँ गिहि-अण्णतित्थीहिं ।
जो पायं उप्पाए, लवगविट्ठं^४ तु तं होति ॥ ९९३ ॥ नि २५४ ॥
११०४. लोइय^५ लोउत्तरियं, दाणफलं तु दुविधं समासेणं ।
लोइय णेगविधं पुण, लोउत्तरियं इमं तत्थ ॥ ९९४ ॥ नि २५५ ॥
११०५. अण्णे पाणे भेसज्ज-‘पत्त वत्थे’^६ य सेज्ज-संधारे ।
भोज्जविहि पाणऽऽरोगे, भायणं^७-भूसा-गिहा-सयणा ॥ ९९५ ॥ नि २५६ ॥
११०६. अधवा वि समासेणं, साधूणं पीतिकारगो पुरिसो ।
इह य परत्थ य पावति, पीतीओ पीवरतरीउ ॥ ९९६ ॥ नि २५७ ॥
११०७. एत्तो एगतरेणं, लवगविट्ठं जो गवेसणं कारे ।
भिक्खू पडिग्गहम्मी, सो पावति आणमादीणि^८ ॥ नि २५८ ॥
११०८. पच्छाकम्मपवहणे, अचियत्ताऽसंखडे पदोसे य ।
एगतरमुभयतो वा, कुज्जा पत्थारतो वावि ॥

१. असिवादि कारणेहिं (क, पा) ।

२. °मप्पणो (भ) ।

३. सूत्र ३१ (नव २/३०), दारफं (पा) ।

४. लवगं (भ, मु) ।

५. लोतिय (दे) ।

६. वत्थ पत्ते (क) ।

७. भोयण (भ) ।

८. गा. ११०७ से ११११—इन पांच गाथाओं का प्रतियों में केवल प्रथम चरण मिलता है। मुद्रित चूर्ण में भी 'शेषं पूर्ववत् ताओ चेव गाहाओ' का उल्लेख है। पूर्व गाथाओं के आधार पर इन गाथाओं की पूर्ति की गई है।

१०९९. पात्र का अभाव हो (न मिले) ऐसी स्थिति में अपवाद स्वरूप भिक्षु प्रभुत्व सम्पन्न आदि के द्वारा गवेषित पात्र को ग्रहण कर सकता है। वह पात्र का अभाव (असती) दो प्रकार का हो सकता है—
१. संतासती (पात्र के होने पर होने वाला अभाव अर्थात् यथोचित पात्र का अभाव) और असंतासती (पात्र के न होने पर होने वाला अभाव)। संतासती के हेतु हैं—१. अस्थिरत्व, २. अपर्याप्तत्व, ३. अप्राप्ति, ४. प्रतिषेध, ५. अनेषणीयत्व और ६. अशिव आदि।

११००. पात्र की संतासती के हेतु हैं—१. अशिव, २. अवमौदरिका, ३. राजद्वेष, ४. भय, ५. ग्लान्य, ६. उस क्षेत्र में पात्र की दुर्लभता, ७. राजा, दंडिक आदि के द्वारा प्रतिषेध।

११०१. पात्र की असंतासती के हेतु हैं—पात्र टूट जाए, जल जाए, कोई प्रत्यनीक अथवा स्तेन पात्र का हरण कर ले, कोई कुत्ता अथवा हिंस्र पशु पात्र को उठा ले जाए—इत्यादि कारणों से पूर्व पात्र न हो।

११०२. पात्र की संतासती और असंतासती की स्थिति में मुनि पहले स्वयं पात्र की गवेषणा करे, यदि पात्र न मिले तो बाद में प्रभुत्व सम्पन्न बलवान व्यक्ति के द्वारा भी पात्र की गवेषणा करवा सकता है।

११०३. दान के फल का स्वयं निरूपण कर अथवा गृहस्थ या अन्यतीर्थिक के द्वारा दानफल का निरूपण करवाकर जिस पात्र का उत्पादन (गवेषणा) किया जाता है, वह लव-गवेषित पात्र कहलाता है।

११०४, ११०५. दान फल के संक्षेप में दो प्रकार प्रज्ञप्त हैं—१. लौकिक और २. लोकोत्तर। लौकिक दान के अनेक प्रकार हैं—गोदान, भूदान आदि। लोकोत्तर दान फल ये हैं—अन्न दान से अनेक भोज्य पदार्थ, पानक देने से अनेक पेय पदार्थ, भैषज्यदान से अनेक आरोग्यवर्धक पदार्थ, पात्रदान से अनेक पात्र, वस्त्रदान से अनेक विभूषायोग्य पदार्थ, शय्यादान से विविध घर तथा संस्तारक-दान से अनेक प्रकार की शय्या उपलब्ध होती है।

११०६. अथवा संक्षेप में भक्तपान आदि के द्वारा साधुओं के लिए प्रीति उत्पन्न करने वाला व्यक्ति इहलोक और परलोक—दोनों में श्रेष्ठतर प्रीति का पात्र बनता है—सब व्यक्तियों के लिए प्रीति का पात्र होता है।

११०७. जो भिक्षु उपर्युक्त में से किसी भी प्रकार के दानफल का निरूपण कर पात्र की गवेषणा करता है अथवा वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

११०८. गृहस्थ मुनि को देने के लिए अन्य किसी पात्र के कोरण आदि पश्चात्कर्म कर देता है, अन्य अपरिभुक्त पात्र को धुलवाता है। उस मुनि अथवा गवेषणा करने वाले गृहस्थ के प्रति मन में अप्रीति की अनुभूति करता है—द्वेष करता है। अप्रीति के कारण उनके साथ कलह करता है, उनकी वृत्ति (जीविका) का व्यवच्छेद कर देता है। उस मुनि अथवा गृहस्थ में से एक अथवा दोनों के प्रति प्रद्वेष के कारण उस साधु अथवा सभी साधुओं का विनाश कर देता है, प्रस्तार के रूप में दहन अथवा घात कर देता है अथवा हत्या करवा देता है।

११०९. संतासंतसतीए, अथिर-अपज्जत्तऽलब्भमाणे वा ।
पडिसेधऽणेसणिज्जे, असिवादी संततो असती ॥
१११०. असिवे ओमोदरिए, रायहुट्टे भए व गेलण्णे ।
असती दुल्लभपडिसेहतो य गहणं भवे पाओ ॥
११११. भिण्णे व झामिते वा, पडिणीए साण-तेणमादीसु ।
एतेहि कारणेहिं, णातव्वाऽसंततो असती ॥
१११२. संतासंतसतीए, गवेसणं पुव्वमप्पणा^१ कुज्जा ।
तो पच्छा जतणाए, लवग्गविट्ठं पि कारेज्जा ॥ ११७ ॥
१११३. एसेव गमो नियमा, दुविधे उवधिम्मि होति णातव्वो ।
पुव्वे अवरे य पदे, सेज्जाहारे वि य तहेव ॥ ११८ ॥
१११४. णितिए^३ उ अग्गपिंडे, णिमंतणोवीलणा^३ य परिमाणे ।
साभाविए य तत्तो^४, तिण्णि ण कप्पंति उ कमेणं^५ ॥ ११९ ॥ नि २५९ ॥
१११५. भगवं! अणुग्गहंता, करेहिं^६ मज्झं ति भणति आमं ति ।
किं दाहिसि जेणऽट्ठो, गतस्स तं दाहिसिं^७ ण व त्ति ॥ १००० ॥
१११६. दाहामिं^८ त्ति य भणिते, तं केवइयं व केच्चिरं^९ वावि ।
दाहिसि तुमं न दाहिसि, 'दिण्णमदिण्णे य'^{१०} किं तेण ॥ १००१ ॥
१११७. जावतिएणऽट्ठो भे^{११}, जच्चिरकालं च रोयते तुब्भं ।
तं तावइयं तच्चिर, दाहामि अहं अपरिहीणं ॥ १००२ ॥

१. °मप्पणो (मु) ।

२. सूत्र ३२ (नव २/३१) ।

३. °तणावी° (क), °णोव्वी° (पा) ।

४. एत्तो (भ) ।

५. चूर्णि में इस गाथा के प्रारम्भ में 'अधुना निर्युक्तिविस्तरः' का उल्लेख है, लेकिन इससे अगली गाथाओं के लिए 'तिण्णि वक्खाणगाहाओ' का संकेत है अतः यहां निर्युक्ति

के साथ 'विस्तरः' शब्द का प्रयोग विमर्शनीय है ।

६. करेह (दे) ।

७. दाहिति (भ) ।

८. दाहामो (क, पा) ।

९. केच्चिरं (दे) ।

१०. दिण्णादिण्णे ण (क), दिण्णादिण्णे य (भ) ।

११. × (क) ।

११०९. पात्र का अभाव हो (न मिले) ऐसी स्थिति में अपवाद स्वरूप भिक्षु दानफल के निरूपण द्वारा गवेषित पात्र को ग्रहण कर सकता है। वह पात्र का अभाव (असती) दो प्रकार का हो सकता है—१. संतासती (पात्र के होने पर होने वाला अभाव अर्थात् यथोचित पात्र का अभाव) और असंतासती (पात्र के न होने पर होने वाला अभाव)। संतासती के हेतु हैं—१. अस्थिरत्व, २. अपर्याप्तत्व, ३. अप्राप्ति, ४. प्रतिषेध, ५. अनेषणीयत्व और ६. अशिव आदि।

१११०. पात्र की संतासती के हेतु हैं—१. अशिव, २. अवमौदरिका, ३. राजद्वेष, ४. भय, ५. ग्लान्य, ६. उस क्षेत्र में पात्र की दुर्लभता, ७. राजा, दंडिक आदि के द्वारा प्रतिषेध।

११११. पात्र की असंतासती के हेतु हैं—१. पात्र टूट जाए, २. जल जाए, ३. कोई प्रत्यनीक अथवा स्तेन पात्र का हरण कर ले, ४. कोई कुत्ता अथवा हिंस्र पशु पात्र को उठा ले जाए—इत्यादि कारणों से पूर्व पात्र न हो।

१११२. पात्र की संतासती और असंतासती की स्थिति में मुनि पहले स्वयं पात्र की गवेषणा करे, यदि पात्र न मिले तो बाद में दान फल का निरूपण करके भी पात्र की गवेषणा करे।

१११३. औघिक और औपग्रहिक—दोनों ही प्रकार की उपधि के विषय में यही भंग (गवेषणा-विधि) ज्ञातव्य है। ये ही उत्सर्ग और अपवाद हैं तथा शय्या और आहार के विषय में भी यही विधि है।

१११४. नैतिक अग्रपिण्ड^१ में चार विकल्प होते हैं—१. गृहस्थ द्वारा निमन्त्रण, २. प्रेरणा या उत्पीड़न, साधु द्वारा संशयकरण—दबाव डाला जाना—घर आने पर देगा या नहीं, ३. परिमाण—साधु द्वारा परिमाण की पृच्छा करना—तू कितना देगा और कितने समय तक देगा?, ४. स्वाभाविक।

इनमें क्रमशः प्रथम तीन विकल्प वर्जित हैं (जहां ये तीनों विकल्प किए, वहां वह नैतिक अग्रपिण्ड अग्राह्य है।)

१११५. गृहस्थ—भगवन्! अनुग्रह करें, मेरे घर आहार ग्रहण करें।

साधु—ठीक है, अनुग्रह करूं तो तुम मुझे क्या दोगे?

गृहस्थ—जिससे आपको प्रयोजन है (आपको जो चाहिए), वह दूंगा।

साधु—घर आने पर दोगे या नहीं?

१११६, १११७. गृहस्थ के 'दूंगा' यह कहने पर साधु पुनः पूछता है—तुम कितना दोगे? जितने से आपका प्रयोजन होगा, उतना दूंगा। कितने समय तक दोगे? इतना कम तो नहीं दोगे कि दिया हुआ 'न दिए' के समान हो क्योंकि उससे क्या लाभ? जितने समय तक आपको जिस द्रव्य की जितने परिमाण में आवश्यकता होगी, मैं उतना और उतने काल तक अपरिहीन—कोई कमी किए बिना, देता रहूंगा।

१. (क) दसवे. (३/२) का नियाग का टिप्पण द्रष्टव्य है।

(ख) चूर्णिकार ने नितिय के दो अर्थ किए हैं—१. ध्रुव या शाश्वत २. जो प्रथम दिया जाता है। अग्रपिण्ड अर्थात् निष्पन्न भोजन का कुछ अंश, जो देवता आदि के लिए निश्चित रूप से दिया जाए।

१११८. साभावियं च उचियं^१, चोदगपुच्छा ण पेच्छिमो कोवि^२ ।
दोसो चतुव्विधम्मी, णितियम्मी अग्गपिंडम्मि ॥ १००३ ॥
१११९. साभावि णितिय कप्पति, ऽणिमंतणोवील अपरिमाणे य ।
जं वावि सामुदाणी^३, तं भिक्खं देज्ज साधूणं ॥ १००४ ॥
११२०. णिप्फण्णे वि सअट्ठा^४, उग्गमदोसा उ ठवितगादीया ।
उप्पज्जंते जम्हा, तम्हा सो वज्जणिज्जो उ ॥ १००५ ॥
११२१. उस्सक्कण^५ अहिसक्कण, अज्झोयरगे तहेव 'णिककं ति'^६ ।
अण्णत्थ भोयणम्मि य, कीते पामिच्चकम्मे य ॥ १००६ ॥
११२२. असिवे ओमोदरिए, रायहुट्ठे भए व गेलण्णे ।
अद्धाण-रोहए वा, जतणा गहणं तु गीतत्थे ॥ १००७ ॥
११२३. एसेव^७ गमो नियमा, णितिए पिंडम्मि 'होतऽवट्ठे य'^८ ।
भागो 'य तस्सऽवट्ठे'^९, पुव्वे अवरम्मि य पदम्मि ॥ १००८ ॥
११२४. पिंडो खलु भत्तट्ठो, अवट्ठपिंडो तु तस्स जं अद्धं ।
भागो तिभागमादी, तस्सऽद्धमवट्ठभागो उ^{१०} ॥ १००९ ॥
११२५. दव्वे^{११} खेत्ते काले, भावे णितियं चउव्विधं होति ।
एतेसिं णाणत्तं, वोच्छामि अहाणुपुव्वीए^{१२} ॥ १०१० ॥ नि २६० ॥
११२६. दव्वेण य खेत्तेण^{१३} य, णितियाणितिए चउक्कभयणा उ ।
एमेव काल-भावे, दुवस्स^{१४} व दुए समोतारो ॥ १०११ ॥ नि २६१ ॥

१. उदियं (क, भ) ।

२. केति (क, दे) ।

३. °दाणि (दे) ।

४. य अट्ठे (क, पा) ।

५. ओसक्कण (मु) ।

६. णेक्कंती (मु, भ) ।

७. सूत्र ३३-३६ (नव २/३२-३५) ।

८. होति उ अवट्ठे (क) ।

९. तस्सा उ वट्ठे (क), तस्सुवट्ठे (भ) ।

१०. य (मु) ।

११. सूत्र ३७ (नव २/३६) ।

१२. इस गाथा के प्रारम्भ में चूर्णिकार ने 'इदाणिं निर्युक्तिमाह' का उल्लेख किया है ।

१३. भावेण (मु) ।

१४. दुयस्स (मु, भ) ।

१११८. प्रश्नकर्ता—जो आहार गृहस्थ के घर में स्वाभाविक—स्वयं के लिए बना है तथा उचित मात्रा में प्रतिदिन पकाया जाता है, वैसे नैतिक अग्रपिण्ड के उपर्युक्त चारों ही प्रकारों में कोई दोष नहीं दिखाई देता।

१११९. आचार्य—जो आहार गृहस्थ के स्वयं के लिए बनाया गया है तथा जिसमें निमन्त्रण, उत्पीड़न (संशयकरण) तथा परिमाण में से कोई दोष नहीं है, वह नैतिक पिण्ड मुनि को कल्पता है। अथवा जो सामुदानिक भिक्षा साधु को दी जाए, वह उसके लिए कल्प्य (विधिसम्मत) है।

११२०. गृहस्थ के स्वयं के लिए आहार निष्पन्न हुआ, उसके साथ भी यदि निमन्त्रण, उत्पीड़न आदि दोष हों तो उसमें स्थापित आदि उद्गम दोष उत्पन्न हो सकते हैं अतः निमन्त्रणा पूर्वक स्वाभाविक आहार का ग्रहण भी वर्जनीय है।

११२१. मुनिजन को निमन्त्रित किया हुआ है अतः उन्हें अवश्य देना है—ऐसा सोचकर गृहस्थ पूर्व निष्पन्न आहार के नीचे से ईंधन निकाल लेता है अथवा साधु जल्दी आ जाएंगे, ऐसा सोचकर ईंधन डाल देता है। अथवा आहार पकाते समय साधु की याद आने पर अधिक पका लेता है अथवा साधु अवश्य आयेंगे ऐसा सोच, उनके लिए किसी वस्तु को खरीद लेता है, उधार ले लेता है, उनके निमित्त आहार आदि बना लेता है अतः साधु को निकाचना पिण्ड—निमन्त्रण आदि से युक्त नैतिक आहार नहीं लेना चाहिए।^१

११२२. नैतिक अग्रपिण्ड ग्रहण करने के अपवाद हैं—१. अशिव, २. अवमौदरिका, ३. राजद्वेष, ४. भय, ५. ग्लान्य, ६. अटवी और ७. नगररोध। अशिव आदि में मुनि कारणवश प्रवास करें और अशिवगृहीत तथा गर्हित कुलों का परिहार करने पर अनिर्वाह की स्थिति हो अथवा आगाढ़ ग्लान्य आदि में अति आवश्यक हो तो गीतार्थ यतनापूर्वक—पनक—परिहानि पूर्वक नैतिक अग्रपिण्ड ले सकते हैं।

११२३. नैतिक पिण्ड, उसके अपार्थ (अर्ध) भाग, भाग (तीसरा हिस्सा) तथा उपार्थ भाग (छठा हिस्सा) सम्बन्धी पूर्व (उत्सर्ग) पद एवं अपर (अपवाद) पद में यही भंग नियमतः ज्ञातव्य है।

११२४. पिण्ड का अर्थ है—आहार। उसका आधा भाग (१/२ भाग) अपार्थ, तीसरा हिस्सा (1/3 भाग) भाग तथा छठा हिस्सा (१/६ भाग) उपार्थ कहलाता है।

११२५. नैतिक वास^२ के चार प्रकार प्रज्ञप्त हैं—१. द्रव्य, २. क्षेत्र, ३. काल और ४. भाव। उनमें जो परस्पर भिन्नता (नानात्व) है, उनका मैं क्रमशः प्ररूपण करूंगा।

११२६. द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव—इन चारों के नैतिक और अनैतिक की भजना से चतुर्भंगी की रचना होती है।^३ इनमें काल और भाव—इन दो का क्रमशः द्रव्य और क्षेत्र—इन दो में समवतार हो जाता है।

१. विशेष हेतु देखें द्रष्टव्य दसवे. ३/२ का टिप्पण।

२. नैतिक वास—ऋतुबद्ध एवं वर्षा काल में मर्यादा के अतिरिक्त निवास करना।

३. द्रव्य और क्षेत्र, काल और भाव, क्षेत्र और काल—इस प्रकार विविध चतुर्भंगियां संभव हैं।

११२७. कालो 'दव्वऽवतरती, जस्स व'^१ दव्वस्स सो तु पज्जाओ।
भावो खेत्ते जम्हा, ओवासादीसु य ममत्तं ॥ १०१२ ॥ नि २६२ ॥
११२८. परिसाडिमपरिसाडी, संथाराऽऽहार 'दुविध उवधिम्मि'^२।
डगलग सरक्ख मल्लग, 'मत्तगमादीसु दव्वम्मि'^३ ॥ १०१३ ॥
११२९. कालदुगातीताइं, संथारादीणि सेवमाणा उ।
एसो तु दव्वणित्तो, पुण्णेवंतो बहिं णेंतो ॥ १०१४ ॥
११३०. ओवासे संथारे, 'विहार-उच्चार-वसहि-कुल-गामे'^४।
णगरादि देसरज्जे, वसमाणो खेत्तओ णित्तिए ॥ १०१५ ॥
११३१. चाउम्मासातीतं, वासाणुडुबद्ध'^५ मासऽतीतं वा।
वुड्ढावासातीतं, वसमाणो कालतो णित्तिए ॥ १०१६ ॥
११३२. ओवासे संथारे, भत्ते पाणे पडिग्गहे^६ सड्ढे।
सेहेसु संथुएसु य^७, पडिबद्धे भावतो णित्तिए ॥ १०१७ ॥
११३३. वसधी न एरिसा खलु, होहिति अण्णत्थ णेव संथारे।
न य भत्तमणुण्णविधी, सड्ढा सेहादि वऽण्णत्थ ॥ १०१८ ॥
११३४. उक्कोसोवधिफलगे, देसे रज्जे य वुड्ढावासे य।
लहुगा 'गुरुगा भावे'^८, सेसे पणगं च लहुगो तु ॥ १०१९ ॥
११३५. सुत्तणिवातो णित्तिए, चउच्चिधे मासिगं जहिं लहुगं।
उच्चारितसरिसाइं, सेसाइं विगोवणट्टाए ॥ १०२० ॥
११३६. असिवे ओमोदरिए, रायहुट्टे भए व आगाढे।
गेलण्ण-उत्तमट्टे^९, चरित्त सज्झाइए असती ॥ १०२१ ॥

१. दव्वेऽवरई जेणं (क), °जम्हा (मु, दे)।

२. दुविहमुव° (मु)।

३. °मादीण पच्छित्तं (बृभा २०२४), बृभा की टीका में इस गाथा के लिए 'निर्युक्तिगाथा' का उल्लेख है।

४. वीयारुच्चार वसहि गामे य (बृभा २०२५) बृभा में गाथा का उत्तरार्ध इस प्रकार है—

मास-चउम्मासाधिग, वसमाणे होइमा सोही।

५. °णुडुबद्ध (मु)।

६. परिग्गहे (भ)।

७. वि (दे)।

८. भावे गुरुगा (भ)।

९. उत्तिमट्टे (भ, पा)।

११२७. काल का समवतार द्रव्य में हो जाता है क्योंकि वह द्रव्य का पर्याय है। भाव का समवतार क्षेत्र में हो जाता है क्योंकि अवकाश—स्थान आदि के प्रति ममत्व होना ही भाव-प्रतिबन्ध (भाव नैतिक वास) है।

११२८, ११२९. द्रव्य नैतिक—दो प्रकार के संस्तारक (परिशाटी और अपरिशाटी), आहार, दो प्रकार की उपधि (औघिक और औपग्रहिक), ईंट, पाषाण के टुकड़े, राख, मल्लक तथा मात्रक आदि द्रव्यों को वर्षाकाल अथवा ऋतुबद्ध काल में मर्यादा के अतिरिक्त उपयोग में लेना अथवा काल पूरा होने पर उन्हें उस क्षेत्र से बाहर ले जाकर उपयोग में लेना द्रव्य नैतिक वास है।

११३०. क्षेत्र नैतिक—पुनः-पुनः उसी संस्तारक भूमि, विहार—स्वाध्याय भूमि, उच्चार—संज्ञाभूमि, उपाश्रय, कुल, ग्राम, नगर, देश अथवा राज्य में रहना (उसी का उपयोग करना) क्षेत्र नैतिक वास है।

११३१. काल नैतिक—चतुर्मास के स्थान पर चतुर्मास से अधिक तथा ऋतुबद्ध काल में मासकल्प से अधिक रहना काल—काल नैतिक वास है। स्थविरत्व के निमित्त (अथवा स्थविर की सेवा के लिए) कालातिक्रान्त रहने पर भी मुनि काल नैतिक नहीं होता।

११३२. भावनैतिक—अवकाश (स्थान), संस्तारक, भक्त, पान, प्रतिग्रह (पात्र), श्रावक, शैक्ष और परिचितों के प्रति प्रतिबद्ध होना (राग करना) भाव नैतिकवास है।

११३३. अन्यत्र ऐसा उपाश्रय नहीं मिलेगा, ऐसा संस्तारक, मनोज्ञ भोजन, ऐसे श्रावक अथवा ऐसे शैक्ष आदि नहीं मिलेंगे—इस प्रकार राग करना भाव नैतिक है।

११३४. द्रव्यतः उत्कृष्ट उपधि तथा फलक के निरन्तर उपयोग में, क्षेत्रतः देश और राज्य में निरन्तर वास में तथा कालतः वर्षाकाल तथा वृद्धावास (स्थविरनिमित्त रहना) का अतिक्रमण करने पर चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। भावतः राग से नैतिक वास में चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। संस्तारक को छोड़कर तृण, ईंट आदि के टुकड़े, क्षार आदि के निरन्तर उपयोग में पनक प्रायश्चित्त तथा द्रव्य आदि अन्य सब के विषय में नैतिक वास का मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

११३५. द्रव्य आदि चारों के विषय में जहां लघुमासिक प्रायश्चित्त का कथन है, वह सूत्रनिपात है। शेष प्रायश्चित्तों का कथन (उच्चारण) शिष्य के विकोपन—विकास के लिए है।

११३६. मासकल्प योग्य अन्य स्थान का अभाव होने पर अपवाद में निम्नांकित कारणों से नैतिक वास किया जा सकता है—१. अशिव, २. अवमौदरिका, ३. आगाढ़ राजद्वेष, ४. आगाढ़ भय, ५. ग्लान्य, ६. उत्तमार्थ—अनशन प्रतिपन्न की सेवा, ७. चारित्र और ८. स्वाध्याय।^१

१. यदि अन्यत्र चरक आदि के कारण चारित्रदोष की संभावना हो या स्वाध्याय शुद्धि के लिए वहां रहना अपेक्षित हो तो नैतिक वास किया जा सकता है।

११३७. एगक्खेत्तणिवासी, कालातिक्कंतचारिणो जति वि।
तह वि य विसुद्धचरणा, विसुद्धमालंबणं^१ जेणं ॥१०२२॥
११३८. आणाएऽमुक्कधुरा^२, गुणवुद्धी^३ जेण णिज्जरा तेणं।
मुक्कधुरस्स मुणिणो, ण^४ सोधी संविज्जति^५ चरित्ते ॥१०२३॥
११३९. गुणपरिवुद्धिणिमित्तं, कालातीते ण होंति दोसा तु।
जत्थ उ बहिया हाणी, हवेज्ज तहियं न विहरेज्जा ॥१०२४॥
११४०. दव्वे^६ खेत्ते काले, भावम्मि य संथवो मुणेतव्वो।
आय-पर-तदुभए वा, एक्केक्को सो पुणो दुविधो ॥१०२५॥ नि २६३ ॥
११४१. दव्वे पुट्टमपुट्टो^७, परिहीणधणा व^८ पव्वयंती त्तिं^९।
खेत्ते कतरा खेत्ता, कम्मि वए दिक्खितो काले ॥१०२६॥ नि २६४ ॥
११४२. सयणे तस्स^{१०} सरिसगो^{११}, आमं तुसिणीओं पुच्छितो को वा।
आउट्टणानिमित्तं, वयणे आउट्टिओ वावि ॥१०२७॥ नि २६५ ॥
११४३. धण्णाइ रतणथावर, दुपद-चतुप्पद तहेव कुवियं च।
चउवीसं चउवीसं, तिग दुग दसधा अणेगविधं^{१२} ॥१०२८॥
११४४. धण्णाइ चतुव्वीसं, जव-गोहुम-सालि-वीहि सट्टीया^{१३}।
'कोद्व-अणुया'^{१४} कंगू, रालग-तिल-मुग-मासा य^{१५} ॥१०२९॥
११४५. अतसि-हरिमंथं^{१६}-तिपुडग, 'णिप्फायऽलिसिंद'^{१७}-रयमासा य।
इक्खू-मसू^{१८}-तुवरी, कुलत्थ तह धण्णग^{१९} कलाया ॥१०३०॥

१. °वणा (दे)।

२. अमुक्क° (दे)।

३. °वुद्धी (मु, पा, भ)।

४. × (भ)।

५. संविज्जति (क)।

६. सूत्र ३८ (नव २/३७), चूर्णिकार ने इस गाथा के प्रारम्भ में 'अत्र निर्युक्तिमाह' का उल्लेख किया है।

७. पुव्वम° (दे)।

८. तु (भ, मु)।

९. उ (मु, भ)।

१०. कस्स (भ)।

११. सरिच्छओ (क)।

१२. दशवैकालिक निर्युक्ति में इस गाथा के स्थान पर दो गाथाएं (दशनि २२७, २२८) मिलती हैं।

१३. सट्टिया (मु)।

१४. वीणओ अणुया (क, पा)।

१५. दशनि २२९।

१६. हरिमिथ (पा)।

१७. णिप्फाय अलिसिंद (दे) °सिलिंद (दशनि २३०), °लसिंद (भ)।

१८. मसूरी (क), मसूरा (पा)।

१९. धाणग (मु)।

११३७. यदि विशुद्ध आलम्बन से^१ मुनि काल (वर्षाकाल और ऋतुबद्ध काल)का अतिक्रमण करके भी एक क्षेत्र में निवास करें तो भी उनका चारित्र मलिन नहीं होता।

११३८. संयमधुरा को धारण करने वाला मुनि आज्ञा—जिन वचनों में वर्तन करता है, अतः उसके गुणों की वृद्धि होती है। फलतः उसके निर्जरा होती है। संयमधुरा का त्याग करने वाले मुनि के चारित्र में विशोधि नहीं रहती।

११३९. ज्ञान आदि गुणों की वृद्धि के लिए मुनि यदि एक क्षेत्र में अधिक काल तक (काल का अतिक्रमण करके) रहता है, तब भी दोष नहीं। संयम क्षेत्र से बाहर विहरण करने पर ज्ञान आदि गुणों की हानि होती है अतः मुनि वहां विहरण न करे।

११४०. संस्तव (स्तुति) अथवा परिचय के चार प्रकार प्रज्ञप्त हैं—१. द्रव्य, २. क्षेत्र, ३. काल और ४. भाव। उनके पुनः तीन-तीन प्रकार होते हैं—१. आत्मसंस्तव, २. परसंस्तव और ३. तदुभयसंस्तव। प्रत्येक के पुनः दो-दो प्रकार होते हैं—१. सत् (वास्तविक) और २. असत् संस्तव।

११४१. द्रव्य संस्तव—दूसरे के द्वारा पूछे जाने पर या बिना पूछे स्वयं को ऐश्वर्यवान बताना। प्रायः परिहीन धन (निर्धन) व्यक्ति दीक्षित होते हैं, इत्यादि दूसरे से निन्दा सुनकर अपनी समृद्धि का वर्णन करना।

क्षेत्र संस्तव—तुम किस क्षेत्र से दीक्षित हो—इत्यादि पूछे जाने पर या बिना पूछे अपने क्षेत्र के वैशिष्ट्य का प्रतिपादन।

काल संस्तव—तुम किस वय में दीक्षित हो—इत्यादि पूछे जाने पर या बिना पूछे अपने आपको प्रथम वय आदि में दीक्षित बताना।

११४२. भाव संस्तव के दो प्रकार हैं—१. स्वजन संस्तव और २. वचन संस्तव।

स्वजन संस्तव—किसी ने पूछा—वह जो इन्द्रदत्त का भाई प्रव्रजित हुआ, तुम उसके समान दिखाई देते हो। मुनि कहता है—हां अथवा वह चुप रह जाता है या कहता है—ऐसा कौन पूछता है ?

वचन संस्तव—गृहस्थ के दान देने से पूर्व अथवा पश्चात् उसकी आराधना (प्रसन्नता) के लिए उसके दान आदि गुणों की प्रशंसा करना वचन संस्तव है ताकि वह प्रसन्न होकर दान देता रहे।

११४३. द्रव्य संस्तव (द्रव्य) के चौसठ प्रकार हैं—चौबीस प्रकार के धान्य, चौबीस—रत्न आदि, तीन स्थावर, दो द्विपद, दस चतुष्पद तथा कुप्य के अनेक प्रकार।

११४४, ११४५. धान्य के चौबीस प्रकार हैं—१. जौ, २. गेहूं, ३. शालि, ४. ब्रीहि, ५. षष्टिक चावल, ६. कोद्रव, ७. अणयाधान्य, ८. कंगु (कांगन), ९. रालक,^२ १०. तिल, ११. मूंग, १२. उड़द, १३. अतसी, १४. गोल चना, १५. त्रिपुडगधान्य, १६. निष्पाव (वल्लधान्य), १७. अलिसिंदा, १८. राजमाष (सफेद चवला), १९. वरट्टिका धान्य, २०. मसूर, २१. तुवर, २२. कुलथा, २३. धानक (कुथुंभरी नामक धान्य) और २४. वृत्ताकार चना।

१. ज्ञानवृद्धि, दर्शनशुद्धि, चारित्र दोषों का वर्जन आदि नैतिक वास के विशुद्ध आलम्बन हैं।

२. निभा २ पृ. १०९—बृहच्छिरा कंगू, अल्पतरशिरा रालकः।

११४६. रतणाइ चतुव्वीसं, सुवण्ण-तवु-तंब-रयय-लोहाइं ।
सीसग-हिरण्ण-पासाण, वइरमणि^१ मोत्तिय पवाले^२ ॥ १०३१ ॥
११४७. संखो 'तिणिसाऽगरु-चंदणाणि'^३ वत्थामिलाणि कट्टाइं ।
तह 'दंत-चम्म'^४-वाला, गंधा दव्वोसधाइं च ॥ १०३२ ॥
११४८. भूमि घर तरुगणादी^५, तिविधं पुण थावरं मुणेत्तव्वं^६ ।
चक्कारबद्धमाणुस, दुविधं पुण होति दुपदं तु ॥ १०३३ ॥
११४९. गावी-'उट्टी-महिसी'^७, अय-एलग-आस-आसतरगा य ।
घोडग-गद्दभ-हत्थी, चतुप्पदा होंति दसधा तु ॥ १०३४ ॥
११५०. णाणाविधोवकरणं, 'लक्खण कुप्पं समासतो होति'^८ ।
'चतुसट्ठिपडोगारा, एवं भणितो भवे अत्थो'^९ ॥ १०३५ ॥
११५१. चतुसट्ठिपगारेणं, जहेव अट्टेण^{१०} उवचितो सि त्ति ।
किं अप्पसंथवेणं, कतेण एमेव अहयं पि ॥ १०३६ ॥
११५२. तं अम्हे सहदेसी, एगगामेण^{११} णगर वत्थव्वो ।
पुण्णाओ खेत्ताओ, अम्हे मो वच्चिमो व त्ति^{१२} ॥ १०३७ ॥
११५३. जइ भणति लोइगं तू^{१३}, पुण्णं खेत्तं तहिं भवे गुरुगा ।
अह आरुहयं अम्ह वि, जिणजम्मादी तहिं^{१४} लहुगो ॥ १०३८ ॥
११५४. एवइयं मे जम्मं, परियाओ वावि मज्झ एवतिओ ।
मदणसमत्थ णिविट्ठो, णिव्विसमाणो^{१५} पसूतो वा ॥ १०३९ ॥

१. वेरमणि (मु, भ) ।
२. पवालं (दशनि २३१) ।
३. 'सागलुचं' (दे), 'सागलुचंदणाइं' (भ) ।
४. चम्म दंत (दशनि २३२) ।
५. 'गणा य' (दशनि २३३) ।
६. समासेणं (मु, भ) ।
७. महिसी उट्टी (भ, दशनि २३४) ।
८. गेगविहं कुप्पलक्खणं होति (दशनि २३५) ।

९. एसो अत्थो भणितो, छव्विह चतुसट्ठिभेओ उ (दशनि) ।
१०. अत्थेण (दे) ।
११. 'मेग' (भ) ।
१२. ती (भ) ।
१३. तं (दे) ।
१४. तेहि (क) ।
१५. णिविस्सं (क), णिमिस्सं (भ) ।

११४६, ११४७. रत्न आदि चौबीस ये हैं—१. रत्न, २. स्वर्ण, ३. रांगा, ४. तांबा, ५. चांदी, ६. लोहा, ७. सीसा, ८. हिरण्य (रूपये), ९. स्फटिक आदि पाषाण, १०. वज्र, ११. मणि (चन्द्रकान्त आदि), १२. मोती, १३. प्रवाल, १४. शंख, १५. तिनिश, १६. अगरु, १७. चन्दन, १८. अम्लान वस्त्र, १९. काष्ठ (शाक आदि के स्तम्भ), २०. हाथीदांत, २१. व्याघ्रचर्म, २२. चंवर (बाल), २३. गंधद्रव्य, २४. द्रव्य (औषधद्रव्य) और औषध।

११४८. स्थावर द्रव्य के संक्षेप में तीन प्रकार हैं—१. भूमि, २. घर और ३. वृक्षसमूह (बगीचा आदि)। द्विपद द्रव्य के दो प्रकार हैं—१. शकट (रथ आदि)^१ और २. मनुष्य।

११४९. चतुष्पद के दस प्रकार हैं—१. गाय, २. ऊंट, ३. भेंस, ४. बकरी, ५. भेड़, ६. घोड़ी, ७. खच्चर, ८. घोड़ा, ९. गधा और १०. हाथी।

११५०. संक्षेप में नाना लक्षणों वाले उपकरण—कांस्यपात्र, लोहपात्र आदि कुप्य द्रव्य में आते हैं। इस प्रकार अर्थ (द्रव्य) का अवतार चौसठ पदों में प्रज्ञप्त है।

११५१. द्रव्य से आत्मस्तव करने वाला मुनि कहता है—जैसे तुम (गृहस्थ जीवन में) उपर्युक्त चौसठ द्रव्यों से उपचित (समृद्ध) हो, वैसे मैं भी बहुत समृद्ध था, अतः आत्मस्तव से क्या लाभ?

११५२. क्षेत्र संस्तव—गृहस्थ के पूछने पर या बिना पूछे क्षेत्र से आत्मस्तव करने वाला मुनि कहता है—तुम हमारे सहदेशी हो अर्थात् हम दोनों उस पुण्य क्षेत्र में उत्पन्न हुए हैं अथवा हम अमुक पवित्र नगर के अथवा एक ग्राम के निवासी हैं। अथवा हम उस पुण्य क्षेत्र में जा रहे हैं, इत्यादि।

११५३. यदि लौकिक दृष्टि से अपने क्षेत्र को पवित्र कहता है—क्षेत्र की प्रशंसा करता है तो मुनि को चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। यदि आर्हत अर्थात् लोकोत्तर दृष्टि से 'जहां जिन भगवान का जन्म हुआ' इस प्रकार अपने क्षेत्र की प्रशंसा करता है तो चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

११५४. कालसंस्तव—किसी ने पूछा—आपने कब दीक्षा ली? साधु कहता है—मेरा जन्म अमुक समय में हुआ। मेरे दीक्षा पर्याय का इतना काल सम्पन्न हो गया। मैं पूर्ण युवा अवस्था में दीक्षित हुआ अथवा विवाह के पश्चात् दीक्षित हुआ। मैं सगाई के बाद दीक्षित हुआ। अथवा मैं पुत्र होने के बाद दीक्षित हुआ—इस प्रकार कालविषयक प्रशंसा करना कालतः आत्मसंस्तव है।

१. चक्कारबद्ध—शकट, गाड़ी। प्राचीन काल में रथ आदि में दो पहिए होते थे, इसलिए उन्हें द्विपद द्रव्य में गिना गया है—ऐसी संभावना की जा सकती है।

११५५. दुविधो तु भावसंथव^१, संबन्धी वयणसंथवो चेव ।
एक्केक्को वि य दुविधो, पुव्विं पच्छा व णातव्वो ॥ १०४० ॥ नि २६६ ॥
११५६. 'माति-पिति'^२ पुव्वसंथव, सासू-ससुरादिगाण पच्छा तु ।
गिहिसंथव संबन्धं, करेति पुव्वं च पच्छा वा^३ ॥ १०४१ ॥
११५७. आयवयं च परवयं, णाउं संबन्धते^४ तदणुरूवं ।
मम एरिसगा माया, ससा व सुण्हा^५ व णत्तादी ॥ १०४२ ॥
११५८. अद्धिति दिट्ठीपण्हय, पुच्छा कहणं ममेरिसी जणणी^६ ।
थणखेवो संबन्धो, विधवा सुण्हा 'य दाणं वा'^७ ॥ १०४३ ॥
११५९. पच्छासंथवदोसा, सासू-विधवादि धूतदाणं च ।
भज्जा 'ममेरिसि त्ति य'^८, सज्जं घातो व भंगो वा ॥ १०४४ ॥
११६०. मायावी चडुयारो^९, अम्हं ओभावणं कुणति एसो ।
णिच्छुभणादी पंतो, करेज्ज भद्देसु पडिबन्धो ॥ १०४५ ॥
११६१. गुणसंथवेण पुव्वं^{१०}, संतासंतेण 'जो थुणेज्जाहि'^{११} ।
दातारमदिण्णम्मी^{१२}, सो पुव्विं संथवो होति^{१३} ॥ १०४६ ॥
११६२. सो एसो जस्स गुणा, वियरंति अवारिया दसदिसासु ।
इहरा कहासु सुणिमो^{१४}, पच्चक्खं अज्जदिट्ठो^{१५} सि^{१६} ॥ १०४७ ॥
११६३. गुणसंथवेण पच्छा, संतासंतेण जो थुणिज्जाहि ।
दातारं दिण्णम्मी^{१७}, सो पच्छासंथवो होति^{१८} ॥ १०४८ ॥

१. संथवो खलु (पिनि २२१) ।

२. माता पितु (भ) ।

३. पिनि २२२ ।

४. संबन्धतो (क) ।

५. धूता (पिनि २२२/१) ।

६. जाण (दे) ।

७. पदाणं च (भ, पिनि २२२/२), य दाणं च (पा) ।

८. °सिच्चिय (पिनि २२३) ।

९. चडुकारी (पिनि २२४) ।

१०. पुव्विं (भ, मु) ।

११. संथुणि° (भ) ।

१२. °णम्मि (क) ।

१३. पिनि २२५ ।

१४. सुव्वसि (दे) ।

१५. °सिट्ठो (भ) ।

१६. पिनि २२५/१ ।

१७. °म्मि (क) ।

१८. पिनि २२६ ।

११५५. भाव संस्तव—भाव संस्तव के दो प्रकार होते हैं—१. स्वजन और २. वचन। दान के पूर्व एवं पश्चात् की अपेक्षा से प्रत्येक के दो-दो प्रकार हो जाते हैं।

११५६. स्वजन संस्तव—किसी गृहस्थ को अपने माता या पिता बनाना पूर्वसंस्तव तथा सास और ससुर बनाना पश्चात्संस्तव है। अथवा दान के पूर्व गृहस्थ से सम्बन्ध बनाना पूर्व संस्तव और दान के पश्चात् सम्बन्ध बनाना पश्चात् संस्तव है।

११५७. मुनि स्वयं की अवस्था तथा गृहस्थ की अवस्था को जानकर उसके अनुरूप उससे सम्बन्ध जोड़ता है कि जैसी तुम हो, मेरी मां भी वैसी ही है अथवा आप मेरी बहिन जैसी लगती हैं, तुम तो मेरी पुत्रवधु जैसी लगती हो। अथवा किसी बालक को देखकर कहता है यह तो मेरे पौत्र जैसा लगता है इत्यादि (यह वय के अनुरूप भाव संस्तव है।)

११५८. स्वजन संस्तव के दोष—भिक्षा लेने के बाद भी मुनि डबडबाई आंखों से अधैर्य पूर्वक देखता है तो स्त्री पूछती है—महाराज! क्या बात है? साधु कहता है—मेरी मां भी ऐसी ही लगती है। आपको देखकर उनकी स्मृति हो आई। वह कहती है—ठीक है मुझे अपनी मां समझ लें। यह स्तनक्षेप—माता का संबंध है। फलतः वह अपनी विधवा पुत्रवधु का सम्बन्ध उसके साथ जोड़ देती है। (पूर्वसंस्तव—माता-पिता आदि के सम्बन्ध में इस प्रकार के दोषों की संभावना रहती है।)

११५९. पश्चात्संस्तव—सास आदि का सम्बन्ध जोड़ने पर वह कदाचित् अपनी विधवा पुत्री का सम्बन्ध उससे जोड़ देती है। अथवा किसी स्त्री को देखकर मुनि कहता है—मेरी पत्नी ऐसी ही लगती है—ऐसा सुनकर स्त्री को आघात लगता है अथवा उसके चरित्रभंग की संभावना हो सकती है।

११६०. मुनि के द्वारा ऐसे सम्बन्धों का निरूपण सुनकर गृहस्थ समझता है—यह मायावी है, भिक्षा प्राप्त करने के लिए चापलूसी कर रहा है अथवा पता नहीं, इससे सम्बन्ध जोड़ने पर लोक में हमारी अपभ्राजना (निन्दा) तो नहीं होगी। प्रान्त प्रकृति वाला गृहस्थ मुनि की ऐसी बातें सुनकर उसकी निर्भर्त्सना आदि कर सकता है। उसे निकाल सकता है, दुर्व्यवहार करता है। यदि गृहस्थ भद्रप्रकृति है तो उसका मुनि के प्रति रागात्मक सम्बन्ध हो जाता है।

११६१, ११६२. वचन संस्तव—दान देने से पूर्व दाता (गृहस्थ) के यथार्थ अथवा अयथार्थ गुणों की स्तुति करना पूर्वसंस्तव है। जैसे—कोई मुनि पूछता है—अच्छा, यही वह इन्द्रदत्त है क्या? गृहस्थ—कौन इन्द्रदत्त? मुनि—जिसका दान गुण दसों दिशाओं में निर्बाध रूप से फैल रहा है। अन्यथा (अन्यत्र) तो हम इनकी बातें ही सुनते हैं, आज प्रत्यक्ष देख लिया।

११६३. दान देने के पश्चात् दाता के यथार्थ अथवा अयथार्थ गुणों की स्तुति करना पश्चात् संस्तव है।

११६४. विमलीकतऽम्ह चक्खू, जहत्थतो विसरिता^१, गुणा तुज्झं।
आसि पुरा णे संका, इदाणि^२ णिस्संकितं जातं ॥ १०४९ ॥
११६५. सुत्तणिवातो णियमा, चतुव्विधे संधवम्मि संतम्मि।
मोत्तूण सयणसंधव, तं सेवंतम्मि आणादी^३ ॥ १०५० ॥ नि २६७ ॥
११६६. अधिकरण-रायदुट्टे, गेलण्णऽद्धाण संभम-भए वा।
पुरिसिस्थी संबंधे, समणाणं संजतीणं च ॥ १०५१ ॥
११६७. वयसंधवसंतेणं, पुव्व थुणे पुरिससंधवेण ततो।
तो णातित्थिगतेण व, भोइयवज्जं च इतरेणं ॥ १०५२ ॥
११६८. पुव्वे अवरे य पदे, एसेव गमो तु होति समणीणं।
जह समणाणं गुरुगी^४ इत्थी तह तासि पुरिसा तु ॥ १०५३ ॥
११६९. समाणे^५ वुडुवासी, वसमाणे नवविकप्पवेहारी^६।
दूतिज्जंता दुविधा, 'णिककारणिगा य कारणिगा'^७ ॥ १०५४ ॥ नि २६८ ॥
११७०. आयरिय-साधुवंदण, चेइय णीयल्लगा तहा सण्णी।
गमणं च देसदंसण, णिककारणिए य वइगादी^८ ॥ १०५५ ॥ नि २६९ ॥
११७१. अप्पुव्व^९-विचित्त-बहुस्सुता य परिवारवं च आयरिया।
परिवारवज्जसाधू, चेतियऽपुव्वा अभिणवा वा ॥ १०५६ ॥
११७२. दच्छीहामि व णीते, सण्णीसु य^{१०} भोयणादि लब्भामो।
देसो व मे अपुव्वो, वइगादिसु^{११} खीरमादीणि ॥ १०५७ ॥

१. विचरिया (पिनि २२६/१)।

२. संपइ (पिनि, भ)।

३. दे और क हस्तप्रति में इस गाथा के बाद 'चिइ अपद गाहा' मात्र इतना उल्लेख है।

४. गरुई (भ, मु)।

५. सूत्र ३९ (नव २/३८), सामाण (पा), समाणो नाम समधीनः अप्रवसितः (चू)।

६. छंद की दृष्टि से 'विहारी' के स्थान पर 'वेहारी' पाठ

हुआ है।

७. × (दे), इस गाथा के प्रारम्भ में चूर्णिकार ने 'इदाणि णिज्जुत्तिवित्थरो' का उल्लेख किया है।

८. यह गाथा दे प्रति में नहीं है।

९. अपुव्व (भ)।

१०. व (भ)।

११. वतियादिसु (क)।

११६४. आज तुम्हें देखकर हमारे नेत्र निर्मल (प्रसन्न) हो गए हैं। तुम्हारे गुणों ने तुम्हारी जो प्रसिद्धि की है, वह यथार्थ है। पहले हमारे मन में शंका थी (कि कोई इतना उदार हो सकता है क्या)? पर अब तो हम निःशंक हो गए। (हमें विश्वास हो गया।)

११६५. सूत्रनिपात की अपेक्षा से स्वजनसंस्तव^१ को छोड़कर चारों ही प्रकार के यथार्थ संस्तव का प्रयोग करने वाले मुनि को मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है तथा उसे आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोष प्राप्त होते हैं।

११६६. अपवाद में निम्न कारणों से संस्तव किया जा सकता है—१. अधिकरण (कलह)—उपशान्ति के लिए, २. राजद्वेष, ३. ग्लान (के लिए औषधि) हेतु, ४. अटवी, ५. संभ्रम, ६. भय^२—इन कारणों से मुख्यतः साधु पुरुष के साथ एवं साध्वी स्त्री के साथ संस्तव करे।

११६७. उपर्युक्त कारणों से यदि संस्तव करना अपेक्षित हो तो सर्वप्रथम यथार्थ वयसंस्तव करे, वह न हो तो पुरुष के साथ पूर्व अथवा पश्चात् यथार्थ संस्तव करे। वह संभव न हो तो ज्ञाति स्त्री के साथ यथार्थ संस्तव करे। वह न हो सके तो भोजिक (ग्राम-प्रमुख) को छोड़कर अन्य के साथ पश्चात्संस्तव करे। वह न हो सके तो वचन आदि से अयथार्थ संस्तव भी किया जा सकता है।

११६८. पूर्व (उत्सर्ग) और अपर (अपवाद) पद में जो विधि साधुओं के लिए निर्दिष्ट है, वही साध्वियों के विषय में ज्ञातव्य है। केवल साधु के प्रसंग में स्त्रीविषयक संस्तव में गुरुप्रायश्चित्त है, वैसे ही साध्वी के प्रसंग में पुरुषविषयक संस्तव में गुरुप्रायश्चित्त है।

११६९. जो स्थिरवासी है, विहरण नहीं करता, वह समाण—समधीन कहलाता है। जो ऋतुबद्धकाल और वर्षाकाल में नवकल्पी विहार करता है, वह वसमाण कहलाता है। ग्रामानुग्राम परिव्रजन करने वाले भिक्षु के दो प्रकार हैं—१. निष्कारणिक (निष्प्रयोजन), २. कारणिक (प्रयोजनवश)।

११७०. निष्प्रयोजन विहार के उदाहरण हैं—१. आचार्यवन्दन, २. साधु-वन्दन, ३. चैत्यवन्दन ४. आत्मीय जनों को दर्शन, ५. श्रावकों को दर्शन, ६. भोजन वस्त्रादि की प्राप्ति और, ७. अपूर्व देशदर्शन।

११७१, ११७२. अमुक आचार्य विशिष्ट चारित्र सम्पन्न हैं, विचित्र—विविध प्रकार के श्रुत के विशारद हैं, बहुश्रुत हैं, समृद्ध शिष्य परिवार वाले हैं, अभी तक मैंने कभी उनके दर्शन नहीं किए तो मैं जाऊँ और उन्हें वन्दना आदि करूँ। अमुक साधु निरतिचार चारित्र, बहुश्रुतता आदि गुणों से युक्त हैं, उनके वन्दनार्थ जाऊँ। अथवा अमुक स्थान पर अपूर्व जिनचैत्य हैं, सनातन चैत्य है अथवा अभिनव चैत्य है अतः उनके वन्दन हेतु जाऊँ। अथवा आत्मीय जनों, ज्ञातिजनों को दर्शन दूँगा, आध्यात्मिक सहयोग दूँगा। अथवा श्रावकों को दर्शन दूँगा, वहाँ विशिष्ट आहार आदि की प्राप्ति होगी। अथवा मुझे अपूर्व—नए-नए क्षेत्र देखने को मिलेंगे। अथवा ब्रजिका—गोकुल आदि में क्षीर आदि की प्राप्ति होगी—इत्यादि उद्देश्यों से देशाटन निष्प्रयोजन विहार के उदाहरण हैं।

१. स्वजनसंस्तव में भिक्षु के पुरुषसंस्तव से चतुर्लघु और स्त्री संस्तव से चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२. किसी के दीक्षा-योग्य पुत्र आदि हो तो अटवी, संभ्रम आदि में संतानार्थ (प्रवचन की अव्युच्छित्ति) या ग्लान की परिचर्या के लिए संस्तव किया जा सकता है।

११७३. अद्भाणे उव्वाता, भिक्खूवहि^१ तेण साण-पडिणीए।
ओमाण अभोज्जघरे, थंडिल्लऽसती य^२ जे 'जं च'^३ ॥ १०५८ ॥
११७४. संजमतो छक्काया, आया^४ कंटट्टि वातखुलगा य।
उवधि-अपेह हरावण, परिहाणी जा य तेण विणा ॥ १०५९ ॥
११७५. वेलातिक्कमपत्ता अणेसणादातुरा तु जं सेवे।
पडिणीयसाणमादी, पच्छाकम्मं च वेलम्मि ॥ १०६० ॥
११७६. कारणे वि य दुविधे, णिव्वाघाते तहेव वाघाते।
णिव्वाघाते खेत्ते, संकंती दुविधकालम्मि ॥ १०६१ ॥ नि २७० ॥
११७७. दोणहेगतरे काले, जं खेत्ता खेत्तऽणंतरं गमणं।
एतं निव्वाघातं, जइ खेत्तातिक्कमे लहुगा ॥ १०६२ ॥
११७८. वाघाते असिवादी^५, उवधिस्स व कारणा व लेवेणं^६।
बहुगुणतरं च गच्छे, आयरियादी व आगाढे ॥ १०६३ ॥
११७९. दव्वे खेत्ते काले, भावे पुरिसे तिगिच्छ असहाए^७।
सत्तविधं आगाढं, णातव्वं आणुपुव्वीए^८ ॥ १०६४ ॥
११८०. दव्वं जोग्गं न लभति^९, खेत्ते खलु खेत्तपडिणिमादीया^{१०}।
कालम्मि न रितुक्खमं, भावे गिलाणादीण^{११} न वि जोग्गं ॥ १०६५ ॥
११८१. पुरिसा आयरियादी, तेसि अजोग्गं तिगिच्छगा णत्थि।
नत्थि सहाया व तहिं^{१२}, आगाढं एव णातव्वं ॥ १०६६ ॥

१. भिक्खू वसहि (क, भ)।

२. ते (दे)।

३. जत्थ (भ)।

४. आत (मु, भ)।

५. आदिसद्दाओ वा सज्झाओ तत्थ ण सुज्झति (चू)।

६. लेवस्स (भ, मु)।

७. 'हाते (क)।

८. आणपुं (क)।

९. लब्भति (मु)।

१०. 'मादी य (भ)।

११. 'णादिण (भ), छंद की दृष्टि से यहां 'गिलाणस्स' पाठ होना चाहिए।

१२. तिहिं (क)।

११७३, ११७४. निष्प्रयोजन विहार के दोष—१. मार्गश्रम (थकान), २. अनुकूल भिक्षा व वसति का अभाव, ३. शरीर व उपधि स्तेन का उपद्रव, ४. कुत्ते, प्रत्यनीक आदि का उपद्रव, ५. स्वपक्ष और परपक्ष द्वारा अपमान, ६. अभोज्य घरों में जाने से प्रवचन-हानि, ७. स्थंडिल के अभाव में पृथ्वीकायिक आदि जीवों की विराधना, परितापना, ८. निरन्तर प्रव्रजन में षट्काय विराधना—संयम विराधना, ९. कांटे, हड्डी आदि से उपघात तथा बिवाई^१ के कारण आत्म-विराधना, १०. उपधि अप्रेक्षा^२, ११. उपधि अपहरण से तथा उसके अभाव में होने वाली प्रतिसेवना से प्रायश्चित्त।

११७५. निष्प्रयोजन विहार करने वाला भिक्षु भिक्षावेला की समाप्ति के कारण अथवा अपर्याप्त आहार मिलने से जो अनेषणीय भिक्षा लेता है, भूख एवं प्यास के परीषह से आतुरता के कारण दोष सेवन करता है, प्रत्यनीक के द्वारा उपधि अपहरण होने से, कुत्ते आदि के द्वारा काट लिए जाने पर आत्म-विराधना होती है, कालातिक्रमण के कारण पश्चात्कर्म आदि दोषों का सेवन करता है, उसके विषय में किसी को स्तेन या मैथुनार्थी होने की शंका होती है—इत्यादि से निष्पन्न प्रायश्चित्त भी निष्प्रयोजन विहार के ही दोष हैं।

११७६. प्रयोजनवश विहार के दो प्रकार हैं—१. निर्व्याघात में और २. व्याघात में। दोनों कालों (शेष काल एवं वर्षाकाल) के सम्पन्न होने पर प्रवास क्षेत्र से संक्रमण (प्रव्रजन) करना निर्व्याघात विहार है।

११७७. दोनों (ऋतुबद्ध एवं वर्षा) काल में से किसी एक की सम्पन्नता से एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में गमन करना निर्व्याघात परिव्रजन है। यदि भिक्षु बिना कारण मासकल्प प्रायोग्य क्षेत्र को लांघकर आगे जाता है तो जितने क्षेत्रों का अतिक्रमण करता है, उसे उतने ही चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होते हैं।

११७८. व्याघात होने पर मासकल्प प्रायोग्य क्षेत्र का अतिक्रमण किया जाए तो दोष नहीं, वे व्याघात-कारण हैं—१. अशिव आदि, २. उपधि और लेप की अप्राप्ति (या अन्यत्र प्राप्ति), ३. गच्छ के लिए एक अधिक गुण वाले क्षेत्र की प्राप्ति, ४. आचार्य आदि,^३ ५. आगाढ़ कारणों से।

११७९. क्रमशः सात प्रकार के आगाढ़ ज्ञातव्य हैं—१. द्रव्य, २. क्षेत्र, ३. काल, ४. भाव, ५. पुरुष, ६. चिकित्सा और ७. असहाय।

११८०, ११८१. वहां योग्य (अनुकूल/स्वतन्त्र) द्रव्य नहीं मिलता। वह क्षेत्र अत्यन्त क्षुद्र (छोटा या क्षुद्रप्रकृति वाला) उपद्रवाकुल हो। वह क्षेत्र ऋतुक्षम (विवक्षित ऋतु के योग्य) न हो। वह ग्लान आदि के योग्य न हो अथवा वहां ग्लान प्रायोग्य द्रव्य आदि का अभाव हो। पुरुष (आचार्य आदि) के लिए वह क्षेत्र अकारक (अहितकर) हो। वहां चिकित्सा, वैद्य आदि दुर्लभ हों। वहां कोई सहायक न हो—ये द्रव्यादि आगाढ़ ज्ञातव्य हैं।

१. वातखुलगा (वायखुला)—वायु से पैरों का प्रस्फुटित हो जाना, फटना।

२. उपधि अप्रेक्षा—गृहस्थ भय से अर्थात् मूल्यवान् उपधि के प्रति गृहस्थ के मन में लालच न आ जाए इसलिए या थकान अथवा प्रमाद से मुनि उपधि का प्रतिलेखन नहीं करता।

३. मासकल्प प्रायोग्य क्षेत्र में अशिव, दुर्भिक्ष आदि का होना, स्वाध्याय शुद्धि का न होना, अन्य क्षेत्र में उपद्रव रहितता, भिक्षा सुलभता आदि बहुगुणत्व तथा आचार्यादि के प्रायोग्य द्रव्यों की अप्राप्ति आदि कारणों से मासकल्प प्रायोग्य क्षेत्र का अतिक्रमण किया जा सकता है।

११८२. एतेहि कारणेहिं, एग दुगंतर-तिगंतरं वावि ।
संकममाणो खेतं, पुट्टो वि जई णऽतिक्कमति ॥ १०६७ ॥
११८३. णिक्कारणगमणम्मी^१, जे च्चिय आलंबणा तु पडिकुट्टा^२ ।
कज्जम्मि संकमतो, तेहिं चिय सुद्धजतणाए ॥ १०६८ ॥
११८४. कुलसंथवो तु तेसिं, गिहत्यधम्ममे तहेव सामण्णे ।
एक्केक्को वि य दुविधो, पुव्विं पच्छा य णातव्वो ॥ १०६९ ॥ नि २७१ ॥
११८५. अम्मा-पिउमादी 'ऊ, पुव्विं'^३ गिहिसंथवो^४ य^५ णातव्वो ।
सासू-ससुरादीओ, पच्छा गिहिसंथवो^६ होति ॥ १०७० ॥ नि २७२ ॥
११८६. सामण्णे जे पुव्विं, दिट्ठाभट्टा व परिचिता वावि ।
ते होंति^७ पुव्वसंथुत, जे पच्छा एतरा होंति ॥ १०७१ ॥ नि २७३ ॥
११८७. अण्णया विहरंतेणं, संथुता पुव्वसंथुता ।
संपयं विहरंतेणं, संथुता पच्छसंथुता ॥ १०७२ ॥ नि २७४ ॥
११८८. एतेसामण्णतरं, कुलम्मि जो पविसती अकालम्मि ।
अप्पत्तमतिक्कंते, सो पावति आणमादीणि ॥ १०७३ ॥ नि २७५ ॥
११८९. सड्ढि^८-गिहि-अण्णतित्थी^९, करेज्ज तं पासिउं अकालम्मि ।
उग्गमदोसेगतं, खिप्पं से संजतट्टाए ॥ १०७४ ॥
११९०. पुव्वपतावितमुदगे, चाउलल्लुभणोदणो व पेज्जा वा ।
आसण्ण पूवि सत्तुग, ओदण^{१०} उच्छिन्न समितादी ॥ १०७५ ॥
११९१. एमेव अतिक्कंते, उग्गममादी तु संजमे दोसा ।
संकाइ दुविधकाले, कोइ^{११} पदुट्टो व्व^{१२} ववरोवे ॥ १०७६ ॥

१. 'म्मि (क) ।
२. पडिसिद्धा (दे) ।
३. उ पुव्वं (मु) ।
४. गिहिसं (दे) ।
५. उ (दे) ।
६. गिहं (मु) ।

७. होति (क) ।
८. सड्ढी (भ, मु) ।
९. 'तित्था (दे) ।
१०. ओयण कय (भ, दे) ।
११. कोति (क), कोई (भ, मु) ।
१२. व (भ, मु) ।

११८२. उपर्युक्त कारणों से भिक्षु यदि एक, दो अथवा तीन क्षेत्रों का अतिक्रमण करता है, और क्षेत्र संक्रमण करते हुए पूर्वोक्त दोषों से स्पृष्ट होता है, तब भी वह दोषभाक् (दोषी) नहीं, क्योंकि क्षेत्र का अतिक्रमण करने पर भी वह जिनाज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता।

११८३. विशेष प्रयोजन के बिना गमन में आचार्य वन्दन आदि जिन आलम्बनों का प्रतिषेध किया गया है, प्रयोजनवश उन्हीं का आलम्बन लेकर यतनापूर्वक विहरण करना शुद्ध है, निर्दोष है।

११८४. मुनि का उन कुलों से परिचय दो प्रकार से हो सकता है—१. गृहस्थ धर्म में रहते हुए और २. श्रामण्य-स्थित होने पर। पूर्वसंस्तव और पश्चात् संस्तव के रूप में प्रत्येक के दो-दो प्रकार ज्ञातव्य हैं।

११८५. गृहस्थ धर्म में रहते हुए माता-पिता आदि का संस्तव पूर्वसंस्तव है तथा सास ससुर आदि पश्चात् गृही संस्तव है—ऐसा ज्ञातव्य है।

११८६. श्रामण्य (दीक्षा) से पूर्व जिनको देखा, बातचीत की^१ तथा जिन से परिचय हुआ वे पूर्वसंस्तुत तथा श्रामण्य के पश्चात् जिनसे परिचय हुआ वे पश्चात्संस्तुत कहलाते हैं।

११८७. दीक्षा लेने के बाद अन्यदा—कभी अतीत काल में विहरण करते हुए जिनसे परिचय हुआ, वे कुल आदि पूर्वसंस्तुत तथा जो वर्तमान में परिचित हो रहे हैं, वे पश्चात् संस्तुत कहलाते हैं।

११८८. पूर्वोक्त विधि से संस्तुत इन में से किसी भी कुल में जो मुनि अकाल में, भिक्षाकाल से पूर्व अथवा भिक्षाकाल के अतिक्रान्त होने पर प्रविष्ट होता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

११८९. श्रावक, यथाभद्रक गृहस्थ अथवा शैव आदि अन्यमतावलम्बी गृहस्थ जब परिचित मुनि को अकाल में भिक्षार्थ पर्यटन करता हुआ देखता है तो वह शीघ्र ही मुनि हेतु उद्गम दोषों में से किसी दोष का आचरण कर उसे भिक्षा दे देता है।

११९०. मुनि को शीघ्र आते हुए देखकर वह (श्रावक आदि गृहस्थ) पहले से गर्म किये हुए पानी में चावल डालकर ओदन अथवा पेया बना सकता है अथवा आसन्नवर्ती हलवाई आदि से सत्तू आदि खरीद कर ले आता है, कूर (खाद्य विशेष) आदि उधार ले आता है, आटे से मंडक आदि बना लेता है।

११९१. इसी प्रकार भिक्षाकाल का अतिक्रमण होने पर भी गृहस्थ उद्गम आदि दोष करता है तो संयम विराधना होती है। भिक्षाकाल से पूर्व या पश्चात् गृहस्थ के घर जाने पर मुनि के प्रति शंका आदि की भी संभावना रहती है, फलतः प्रद्विष्ट होकर कोई मुनि का हनन या व्यपरोपण (हत्या) आदि कर सकता है।

१. अर्धमा. को.—दिट्ठाभट्टा—दृष्टाभाषिता।

११९२. अप्पत्तमतिककंते, काले दोसा हवंति जम्हेते ।
तम्हा पत्ते काले, पविसेज्ज कुलं तहारूवं ॥ १०७७ ॥
११९३. बितियपदमणाभोगे, अतिककमंते तहेव गेलण्णे ।
असिवे ओमोदरिए, रायद्दुट्टे भए व आगाढे ॥ १०७८ ॥
११९४. संथरमाणमजाणंत, पविट्ठो कुणति तत्थ उवयोगं ।
मा पुव्वुत्ते दोसे, करेज्ज इहरा उ तुसिणीओ ॥ १०७९ ॥
११९५. णो^१ कप्पति भिक्खुस्सा, गिहिणा अहवा वि अण्णतित्थीणं ।
परिहारियस्स ऽपरिहारिएण सद्धिं^२ पविसिउं जे^३ ॥ १०८० ॥ नि २७६ ॥
११९६. आधाकम्मादीणिं, काए सावज्जजोगकरणं च ।
परिहारि परिहरंतो, अपरिहरंतो अपरिहारी ॥ १०८१ ॥
११९७. गाहं^४ गिहं तस्स पती, तु गिहवती^५ सुत्तपाद जहं^६ वणिओ ।
'पिंडप्पाए वि'^७ तहा, उभए सण्णाति^८ सामयिगी^९ ॥ १०८२ ॥
११९८. चरगादिणियट्टेसुं, पागेव कते तु पविसणं जं तु ।
'तं होतऽणुप्पविसणं'^{१०}, अणुपच्छा^{११} जोगतो सिद्धं ॥ १०८३ ॥
११९९. एत्तो एगतरेणं, सहितो जो पविसती तु भिक्खस्स ।
सो आणा-अणवत्थं, मिच्छत्त-विराधणं पावे ॥ १०८४ ॥ नि २७७ ॥
१२००. ओभावणा^{१२} पवयणे, अलद्धिमंता अदिण्णदाणा य ।
जाणंति ण^{१३} अप्पाणं, वसंति वा सीसगणिवासं ॥ १०८५ ॥
१२०१. अधिकरणमंतराए, अचियत्ताऽसंखडे पदोसे य ।
एगस्सऽट्ठा^{१४} दोण्हं, दोण्ह व अट्ठाएँ एगस्स ॥ १०८६ ॥

१. सूत्र ४० (नव २/३९) ।

२. सद्धिं समानं युगपद् एकत्र (चू) ।

३. भ प्रति में ११९३-९५—ये तीन गाथाएं नहीं हैं ।

४. गाहा (क) ।

५. गहं (भ), गिहिं (क) ।

६. जधा (मु) ।

७. पिंडपादे वि (मु), पिंडिपादे वि (दे), °पादम्मि (भ) ।

८. सण्णातु (भ) ।

९. सामतिगी (दे) ।

१०. तत्थ उ अणुपं (क) ।

११. अनुशब्दः पश्चाद्योगे सिद्धः (चू) ।

१२. °वणा य (दे) ।

१३. च (क, मु, भ) ।

१४. एगट्ठस्स (भ) ।

११९२. अप्राप्त भिक्षाकाल और अतिक्रान्त भिक्षाकाल में ये दोष होते हैं अतः भिक्षाकाल प्राप्त होने पर तथारूप^१ कुल में प्रवेश करे।

११९३. अपवाद में भिक्षाकाल से पूर्व या पश्चात् संस्तुत कुल में प्रविष्ट होने के कारण हैं—१. अनाभोग, २. अतिक्रमण करते समय,^२ ३. ग्लान्य, ४. अशिव, ५. अवमौदरिका, ६. राजद्वेष और ७. आगाढ़ भय।^३

११९४. जहां निर्वाह करना शक्य हो और अनाभोग (अज्ञान) से मुनि संस्तुत कुल में अवेला में (भिक्षाकाल से पूर्व या पश्चात्) प्रविष्ट हो गया हो तो वह गृहस्थों को उपयोग दे ताकि वे सदोष आहार आदि न बनाएँ और पूर्वोक्त दोषों से बचें। यदि निर्वाह अशक्य हो तो मुनि उन्हें रोके नहीं, चुप रहे।

११९५. भिक्षु को गृहस्थ अथवा अन्यतीर्थिक के साथ तथा पारिहारिक (उद्युक्त विहारी जैन साधु) को अपारिहारिक (सावद्य की वर्जना न करने वाले साधु) के साथ गृहपति कुल आदि में प्रवेश करना नहीं कल्पता—विधिसम्मत नहीं है।

११९६. जो भिक्षु आधाकर्म आदि दोषों का, षड्जीवनिकाय का तथा सावद्य व्यापार का तीन करण और तीन योग से परिहार (वर्जन) करता है, वह परिहारी कहलाता है तथा जो इनका परिहार नहीं करता, वह अपरिहारी होता है।

११९७. गाह अर्थात् गृह उसके पति (स्वामी) को गृहपति कहते हैं। जिस प्रकार वणिक सूत्रपात—सूत ग्रहण करने की प्रतिज्ञा से गांव में जाता है, वैसे ही मुनि पिण्डपात (आहार ग्रहण करने) की प्रतिज्ञा से गृहपति कुल में प्रवेश करता है। उद्देश्य या अभिप्राय अर्थ में प्रतिज्ञा शब्द उभय (लोक और लोकोत्तर) संज्ञा तथा सामयिक संज्ञा में प्रसिद्ध है।

११९८. अनु शब्द पश्चाद् योग के अर्थ में प्रसिद्ध है। अतः चरक आदि अन्यतीर्थिकों के लौटने पर अथवा आहार पकाने की क्रिया के पश्चात् प्रविष्ट होना अनुप्रवेश कहलाता है।

११९९. जो भिक्षु इनमें से एक अर्थात् गृहस्थ अथवा अन्यतीर्थिक के साथ भिक्षा के लिए प्रविष्ट होता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व और विराधना—इन दोषों को प्राप्त होता है।

१२००. गृहस्थ, शैव आदि संन्यासियों के साथ भिक्षार्थ गमन करने से प्रवचन की अपभ्राजना (निन्दा) होती है। लोग कहते हैं—ये मुनि स्वयं लब्धिमान् नहीं हैं, इन्होंने परलोक (पूर्वभव) में दान नहीं दिया अतः स्वयं को अलब्धिमान् जानते हुए इनके शिष्यत्व को स्वीकार कर इनके साथ भिक्षार्थ जाते हैं।

१२०१. गृहस्थ को आओ, बैठो आदि आदेशात्मक भाषा बोलने से अधिकरण होता है—असंयम हेतुक क्रिया लगती है। गृहस्थ अथवा साधु दोनों में से एक अलब्धिक हो तो दूसरे के अन्तराय लगती है। गृहस्थ को साथ देखकर दाता के मन में अप्रीति होती है। मेरे साथ-साथ क्यों आ रहे हो—इत्यादि कहने से परस्पर कलह हो जाती है। कलह आदि से प्रद्विष्ट गृहस्थ मुनि को प्रान्तापित (ताड़ित) कर सकता है। ताड़ना आदि एक के लिए निकाला गया आहार आदि दोनों को या दोनों के लिए निकाला गया आहार आदि एक को मिलने से भी अप्रियता, कलह आदि दोष आते हैं।

१. तथारूप पद को कुल का विशेषण मानें तो उसका अर्थ होगा अजुंगित आदि कुल। यदि इसे क्रियाविशेषण माने तो उसका अर्थ होगा—गृहीकुल में मुनि वैसे खड़ा रहे, जिससे वह बेला से पूर्व गृहस्थों को दिखाई न दे।

२. मध्यवर्ती ग्राम से शीघ्र जिगमिषु मुनि बासी आहार आदि के लिए जा सकता है।

३. आगाढ़ अवम, राजद्वेष आदि में अनिर्वाह के कारण या राजपुरुषों से अदृष्ट रहने हेतु अकाल में भिक्षार्थ प्रवेश विहित है।

१२०२. संजयपदोस गहवति, उभयपदोसे अणेगधा वावि ।
णट्टे हित-विस्सरिते, संकेगतरे उभयतो वा ॥ १०८७ ॥
१२०३. बितियपदमंचियम्मी^१, रायहुट्टे सपत्थ^२ गेलण्णे ।
उवधी-सरीरतेणग, पडिणीए साणमादीसु^३ ॥ १०८८ ॥
१२०४. पुव्वगते पुरतो वा, समगपविट्टे व^४ अण्णभावेणं ।
पच्छाकडादि मरुगादि णाति^५ पच्छा कुलिंगीणं^६ ॥ १०८९ ॥
१२०५. णो^७ कप्पति भिक्खुस्सा, गिहिणा अहवावि अण्णतित्थीणं ।
परिहारियस्सऽपरिहारिएण गंतुं विवाराए^८ ॥ १०९० ॥ नि २७८ ॥
१२०६. एत्तो एगतरेणं, सहितो जो गच्छती विवाराए^९ ।
सो आणा-अणवत्थं, मिच्छत्त-विराधणं पावे ॥ १०९१ ॥ नि २७९ ॥
१२०७. वीयारभूमिदोसा, संका अपवत्तणं कुरुकुया य^{१०} ।
दव अप्पकलुसगंधे, असती व करेज्ज उड्डाहं ॥ १०९२ ॥
१२०८. वीयारभूमि असती, पडिणीए तेण सावय-भए वा^{११} ।
रायहुट्टे रोहग, जतणाए कप्पते^{१२} गंतुं ॥ १०९३ ॥
१२०९. पच्छाकड वत दंसण, असण्णि गिहिए तहेव लिंगीसु ।
पुव्वमसोए सोए, पउरदवे मत्तकुरुगा य ॥ १०९४ ॥

१. °यमिं (दे), अंचियं दुब्धिक्खं (चू) ।

२. सहत्थ (मु, भ) ।

३. आदिसद्दातो गोण-सूयराती (चू) ।

४. तू (दे) ।

५. णातु (क) ।

६. कुलिंगेणं (दे) ।

७. सूत्र ४१ (नव २/४०) ।

८, ९. विवाराए (क) ।

१०. या (भ) ।

११. व (दे) ।

१२. कप्पती (क, भ) ।

१२०२. उपर्युक्त प्रद्वेष आदि दोष संयत पक्ष, गृहस्थ पक्ष अथवा उभय पक्ष—तीनों ही प्रकार से संभव हैं। अथवा अन्य भी अनेक प्रकार के दोष होते हैं यथा संयोगवश दाता के घर से कोई द्विपद, चतुष्पद आदि भाग गया, किसी ने उनका हरण कर लिया अथवा वह स्वयं दाता किसी वस्त्र आदि को रखकर भूल गया तो न मिलने पर दाता को मुनि, सहवर्ती गृहस्थ अथवा दोनों के प्रति शंका हो सकती है।

१२०३. द्वितीय पद (अपवाद) में दुर्भिक्ष आदि में यदि गृहस्थ आदि के साथ ही भिक्षा मिले, अन्यथा न मिले तो मुनि एक, दो या तीन यथाभद्रक कुलों में उनके साथ भिक्षार्थ जा सकता है। जहां आगाढ़ राजद्वेष के कारण रोगी के लिए औषध, पथ्य आदि न मिले तो औषध आदि के लिए राजवल्लभ गृहस्थ आदि के साथ जा सकता है। गोचरी जाते समय यदि मार्ग में उपधिस्तेन, शरीरस्तेन, प्रत्यनीक, कुत्ते आदि का भय हो तो उनका निवारण करने वाले गृहस्थ के साथ गृहपतिकुल में प्रवेश करना कल्पता है।

१२०४. गृहस्थ आदि के साथ गोचरी जाते हुए चाहे वे पहले प्रविष्ट हों, चाहे मुनि पहले प्रवेश करे या दोनों साथ-साथ प्रवेश करे, मुनि अन्य भाव का प्रदर्शन करे अर्थात् यह जताए मानो उसे दूसरे का पता ही न हो। गृहस्थ आदि के साथ भिक्षार्थ भ्रमण करने में क्रम यह है—पहले पच्छाकड़ विप्र के साथ जाए, वह न हो तो पच्छाकड़ अन्यलिंगी के साथ जाए, वह भी न हो तो यथाभद्रक विप्र के साथ जाए और वह न हो तो यथाभद्रक अन्यलिंगी के साथ जाए।

१२०५. भिक्षु को गृहस्थ अथवा अन्यतीर्थिक के साथ तथा पारिहारिक (उद्युक्त विहारी जैन साधु) को अपारिहारिक (सावद्य की वर्जना न करने वाले साधु) के साथ विचारभूमि—उत्सर्गभूमि में जाना नहीं कल्पता—विधिसम्मत नहीं है।

१२०६. जो भिक्षु इनमें से एक अर्थात् गृहस्थ आदि में से किसी के साथ विचारभूमि में जाता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व और विराधना—इन दोषों को प्राप्त होता है।

१२०७. गृहस्थ आदि के साथ विचारभूमि में जाने से—* आपात (आवागमन) और संलोक (दिखाई देना) आदि विचारभूमि सम्बन्धी दोष होते हैं। * शंका के कारण मुनि मूत्र आदि का उत्सर्ग नहीं कर पाता। * फलतः मूत्रनिरोध आदि से होने वाले आत्म-विराधना आदि दोषों की उत्पत्ति होती है। * लोकभय से मिट्टी तथा अधिक जल से शौचक्रिया, पादप्रक्षालन आदि करना पड़ता है। * फलतः उत्क्षालना, उत्पलावन आदि दोष होते हैं। * अल्प जल या कलुषित जल से शौचक्रिया करने अथवा जलाभाव के कारण शौचक्रिया न करने पर उड्डाह होता है।

१२०८. गृहस्थ आदि के साथ यतनापूर्वक संज्ञाभूमि (विचारभूमि) जाना कल्पता है, यदि—* अन्य संज्ञाभूमि का अभाव हो। * रास्ते में अथवा विचारभूमि में प्रत्यनीक, स्तेन, श्वापद, म्लेच्छ आदि का भय हो। * राजद्वेष के कारण राजवल्लभ व्यक्ति के साथ जाना आवश्यक हो। * नगररोध के कारण एक ही उत्सर्गभूमि अवशिष्ट हो।

१२०९. यतना—यदि गृहस्थ के साथ विचारभूमि में जाना हो तो सर्वप्रथम पश्चात्कृत अणुव्रती श्रावक के साथ जाए, वह न हो तो पश्चात्कृत दर्शनश्रावक अथवा पश्चात्कृत कुतीर्थिक आदि के साथ जाए। वे न हों तो असंज्ञी (मिथ्यादृष्टि) के साथ जाए। यही विधि अन्यलिंगी के विषय में ज्ञातव्य है। इनमें भी पहले अशौचवादी के साथ जाए। वह न मिले तो शौचवादी गृहस्थ आदि के साथ यतनापूर्वक^१ जाए तथा प्रचुर जल एवं मिट्टी से शौचक्रिया करे।

१. निभा २ चू. पृ. १२९—दूर दूरेण परम्मुहो, वेलं वज्जंतो।

१२१०. एमेव 'विहारम्मि वि'^१, दोसा उडुं चगादिगा बहुगा^२ ।
असती पडिणीयादिसु, बितियं आगाढजोगिस्स^३ ॥ १०९५ ॥
१२११. णो^४ कप्पति भिक्खुस्सा, परिहारियस्स^५ 'तु अपरिहारीणं'^६ ।
गिहि-अण्णतित्थिएण व, गामऽणुगामं तु विहरित्ता ॥ १०९६ ॥ नि २८० ॥
१२१२. एत्तो एगतरेणं, सहितो दूइज्जती तु जे भिक्खू ।
सो आणा-अणवत्थं, मिच्छत्त-विराधणं पावे ॥ १०९७ ॥ नि २८१ ॥
१२१३. मासादी जा गुरुगा, मासो व विसेसितो^७ चउण्हं पि ।
एवं सुत्ते सुत्ते, आरुवणा होति^८ सट्ठाणे ॥ १०९८ ॥
१२१४. संजतगतीएँ गमणं^९, ठाण-णिसीदण-तुयट्टणं वावि ।
वीसमणादियणेसु य, उच्चारादी अवीसत्थो^{१०} ॥ १०९९ ॥
१२१५. मासादी जा गुरुगा, भिक्खू वसभाभिसेग-आयरिए ।
मासो^{११} विसेसिओ वा, चउण्ह वी चउसु सुत्तेसु ॥ ११०० ॥
१२१६. अत्थंडिलमेगतरे, ठाणादी खद्ध^{१२} उवधि उडुहो ।
धरणिसग्गे^{१३} वातोभयस्स दोसाऽपमज्जरओ^{१४} ॥ ११०१ ॥
१२१७. बितियपदं अद्धाणे, मूढमयाणंत दुट्टणट्टे वा ।
उवधी-सरीरतेणग, सावयभय दुल्लभपवेसे ॥ ११०२ ॥

१. °रम्मी (भ, मु) ।

२. बहुधा (भ, मु) ।

३. °स्सा (दे) ।

४. सूत्र ४२ (नव २/४१) ।

५. °रिस्सा (भ, मु) ।

६. °रिएणं तु (दे, पा) ।

७. विसेसतो (क, भ) ।

८. होंति (क) ।

९. गमणा (दे), गमणे (पा) ।

१०. य वीस° (पा) ।

११. मासा (क) ।

१२. अट्ट (पा) ।

१३. धरण° (मु, भ) ।

१४. °ज्जरा य (क) ।

१२१०. गृहस्थ आदि के साथ विहारभूमि—स्वाध्यायभूमि में जाने पर भी प्रायः ये ही दोष आते हैं। साथ ही उडुंचग—उपहास करने वाले, नकलची गृहस्थ आदि वन्दना आदि में नकल या उपहास करते हैं, वे दोष वहां विशेष होते हैं।

प्रश्नकर्ता—जहां इतने दोष हों, वहां अपवाद पद में भी स्वाध्याय न किया जाए।

आचार्य—आगाढयोगी को उद्देश, समुद्देश आदि अवश्यकरणीय हैं, अतः यदि उपाश्रय में अस्वाध्यायी हो तथा बाहर प्रत्यनीक आदि भय हों तो गृहस्थ आदि के साथ स्वाध्याय भूमि में जाना शुद्ध (निर्दोष) है।

१२११. भिक्षु को गृहस्थ अथवा अन्यतीर्थिक के साथ तथा पारिहारिक को अपरिहारिक के साथ ग्रामानुग्राम विहरण करना नहीं कल्पता (विधिसम्मत नहीं) है।

१२१२. जो भिक्षु इन गृहस्थ आदि में से किसी के साथ ग्रामानुग्राम परिव्रजन करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व और विराधना—इन दोषों को प्राप्त होता है।

१२१३. उपर्युक्त प्रतिसेवनाओं का प्रायश्चित्त पुरुष विभाग की अपेक्षा से^१ लघुमास से लेकर चतुर्गुरु पर्यन्त ज्ञातव्य है। अथवा दूसरे आदेश से चारों को ही तप आदि से विशेषित मासिक प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। **प्रश्नकर्ता**—प्रस्तुत सूत्र में प्रायश्चित्त पुरुष विभाग से क्यों दिया गया? **आचार्य**—प्रत्येक सूत्र में स्वस्थान आरोपणा पुरुष विभाग से होती है, यह बताने के लिए यहां प्रायश्चित्त का कथन पुरुष विभाग से किया गया।

१२१४. मुनि जिस गति से चलता है, उसी गति से गृहस्थ के चलने पर अधिकरण की संभावना रहती है। वह भूख, प्यास आदि से परितप्त होता है तो तन्निष्पन्न प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। गृहस्थ विश्राम करते समय प्रमादवश सचित्तपृथ्वीकाय आदि पर खड़ा हो जाए, बैठे या सोए तो उनकी विराधना होती है। भक्तपान का ग्रहण तथा उच्चार आदि का उत्सर्ग करते समय गृहस्थ की उपस्थिति के कारण मुनि अविश्वस्त (सशंक) रहता है।

१२१५. चारों ही सूत्रों में कथित दोषों का प्रायश्चित्त भिक्षु, वृषभ, अभिषेक तथा आचार्य के लिए क्रमशः लघुमास से लेकर चतुर्गुरु पर्यन्त ज्ञातव्य है। अथवा दूसरे आदेश से चारों को ही तप आदि से विशेषित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१२१६. साधु की निश्रा में गृहस्थ या गृहस्थ की निश्रा में साधु यदि अस्थंडिल में स्थान, निषीदन आदि करता है तो तन्निष्पन्न दोष एवं प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। साधु के पास उपधि की प्रचुरता के कारण भार अधिक हो तो लोक में उडुह होता है। वायु वेग, मूत्र, उच्चार आदि को धारण करे अथवा उत्सर्जन—दोनों में दोष की संभावना रहती है। मुनि पैर-प्रमार्जन आदि क्रियाएँ करे तो उडुह की संभावना रहती है और प्रमार्जन न करे तो सचित्तरजों की विराधना होती है।

१२१७. द्वितीय पद में १. अटवी में सार्थ के साथ २. मार्ग भूल जाने या दिग्भ्रान्त हो जाने पर ३. मार्ग न जानता हो तो मार्गज्ञ के साथ ४. राजद्वेष ५. म्लेच्छ, उपधि स्तेन, शरीर स्तेन, श्वापद भय आदि से भागते हुए राजपुरुषों आदि के साथ ग्रामानुग्राम विहार करना अनुज्ञात है तथा ६. जिन नगर, राज्य आदि में प्रवेश दुर्लभ हो, वहां अन्यथा प्रवेश नहीं मिलता अतः राजपुरुषों आदि के साथ प्रवेश अनुज्ञात है।

१. अगीतार्थ, गीतार्थ भिक्षु, उपाध्याय और आचार्य को क्रमशः गुरुतर प्रायश्चित्त देना पुरुष विभागकृत आरोपणा है।

१२१८. निब्भय^१ पिट्ठत्तो गमणं, वीसमणादी पदा तु अण्णत्थ।
सावय सरीर तेणग, भएसु तिट्ठाणभयणा तु ॥ ११०३ ॥
१२१९. जं^२ गंधरसोवेतं, अच्छं व दवं तु तं भवे पुप्फं।
जं दुब्भिगंधमरसं, कलुसं वा तं भवे कलुसं^३ ॥ ११०४ ॥ नि २८२ ॥
१२२०. घेतूण दोण्णि वि दवे^४, पत्तेयं अहव एक्कतो चेव।
जं पुप्फमादिइत्ता, कुज्ज कसाए विगिंचणयं ॥ ११०५ ॥ नि २८३ ॥
१२२१. सो आणा-अणवत्थं, मिच्छत्त-विराधणं तथा दुविधं।
पावति जम्हा तेणं, पुव्व कसाएतरं पच्छा ॥ ११०६ ॥ नि २८४ ॥
१२२२. तम्मि य गिद्धो अण्णं, णेच्छे अलभंत एसणं पेल्ले।
परिठाविते य कूडं, तसाण संगामदिट्ठंतो ॥ ११०७ ॥
१२२३. आयरियअभावितपाणगट्टया पायुपोसधुवणट्ठा^५।
होति य सुहं विवेगो^६, सुहआयमणं च सागरिए ॥ ११०८ ॥
१२२४. भाणस्स कप्पकरणं, दट्ठूणं बाहि आयमंता वा।
ओभावणमग्गहणं, कुज्जा दुविधं च वोच्छेदं ॥ ११०९ ॥
१२२५. बितियपद दोण्णि वि बहू, मीसे व विगिंचणारिहं होज्जा।
अविगिंचणारिहे वा, जवणिज्ज गिलाणमायरिए ॥ १११० ॥
१२२६. जं होति अपेज्जं जं, वऽणेषियं तं विगिंचणरिहं^७ तु।
विसकडमंतकडं^८ वा, दव्वविरुद्धं कतं वावि ॥ ११११ ॥
१२२७. वण्णेण^९ य गंधेण य, रसेण फासेण^{१०} जं तु उव्वेतं।
तं भोयणं तु सुब्भिं, तव्विवरीतं भवे दुब्भिं ॥ १११२ ॥ नि २८५ ॥
१२२८. रसालमवि दुग्गंधिं, भोयणं तु न पूइतं।
सुगंधमरसालं पि, पूइयं तेण सुब्भिं तु ॥ १११३ ॥ नि २८६ ॥

१. णिब्भए (मु)।

२. सूत्र ४३ (नव २/४३)।

३. कसायं (मु, पा), चूर्णिकार ने इस गाथा के लिए 'अहुणा णिज्जुत्ती' का उल्लेख किया है।

४. दव्वे य (दे)।

५. पायुपोसं अपानद्वारम् (चू)।

६. विगिंचि (पा)।

७. विगिंचि^० (दे)।८. ^०कतमंतकतं (भ, मु)।

९. सूत्र ४४ (नव २/४२)।

१०. फासेणं (क)।

१२१८. गृहस्थ आदि के पीछे-पीछे विहार करने में कोई भय न हो तो मुनि उपर्युक्त अपवादों में पीछे-पीछे चले तथा सारी सामाचारी का यथोचित प्रयोग करे। विश्राम आदि पद (कार्य) यदि गृहस्थ स्थंडिल पर करे तो मुनि अन्य स्थंडिल पर करे। श्वापद, शरीरस्तेन, उपधिस्तेन आदि का भय हो तो मुनि के लिए तीनों स्थान—आगे, पीछे या मध्य में—भाज्य हैं अर्थात् मुनि यथोचित कहीं भी गमन करे।

१२१९. जो जल गंध, रस आदि से युक्त हो—प्रधान/श्रेष्ठ गंधादि से युक्त हो, स्वच्छ हो, वह पुष्प जल कहलाता है तथा जो दुरभि गंध वाला, रसविहीन (कुत्सित रस वाला) और कलुषित हो, वह कषाय जल कहलाता है। पुष्प और कषाय—दोनों सामयिकी संज्ञाएं हैं।

१२२०, १२२१. जो मुनि पुष्प और कषाय—दोनों प्रकार के जल को एक साथ या अलग-अलग पात्रों में ग्रहण कर पुष्पजल को पी लेता है तथा कषायजल का परिष्ठापन करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व और विराधना—इन दोषों को प्राप्त होता है अतः ऐसी स्थिति में मुनि पहले कषायजल को पीए तथा बाद में पुष्प (मनोज्ञ) जल को।

१२२२. मनोज्ञ जल पीने वाला मुनि उसी में गृद्ध हो जाता है, अन्य जल पीना नहीं चाहता। अमनोज्ञ जल का परिष्ठापन कर वह बार-बार अन्य जल लाने के लिए घूमता है, फलतः सूत्र आदि का पलिमंथु होता है। मनोज्ञ जल में आसक्त मुनि एषणा में दोष लगाता है। परिष्ठापित किया हुआ अमनोज्ञ जल मक्खी, मच्छर आदि त्रस प्राणियों के लिए जाल (वधस्थान) बन जाता है। यहां संग्रामदृष्टान्त^१ ज्ञातव्य है।

१२२३. भिक्षु अमनोज्ञ जल पीए और मनोज्ञ जल बचाए ताकि उसे उत्तरकाल में आचार्य एवं अभावित शैक्ष मुनियों को पिलाया जा सके, उनके अपान आदि के प्रक्षालन में काम में लिया जा सके। यदि मनोज्ञ जल बच भी जाए तो उसका विवेक करना—परिष्ठापन करना आसान है क्योंकि उसमें कूट (जाल) आदि दोष नहीं आते तथा गृहस्थों के समक्ष भी शौच आदि में उपयोग करने पर उड्डाह नहीं होता।

१२२४. स्वच्छ जल से पात्र का कल्प किया जा सकता है। बचे हुए कलुष जल से उपाश्रय के बाहर या चंक्रमण भूमि में मुनि को आचमन आदि करते देख कर लोग अपभ्राजना करते हैं, अन्यतीर्थकों से अधमतर मानकर उनका अग्रहण—अनादर करते हैं, जल अथवा आहारादि का व्यवच्छेद कर देते हैं।

१२२५. अपवाद में यदि मनोज्ञ और अमनोज्ञ दोनों प्रकार के जल अलग-अलग पात्र में पर्याप्त मात्रा में प्राप्त हो और लगे कि एक को अवश्य परिष्ठापित करना होगा तो पुष्पजल पीया जा सकता है। यदि दोनों जल एक पात्र में गृहीत हों और छानने से पुष्प जल अधिक और कषाय जल कम निकले तो उसे परिष्ठापित किया जा सकता है अथवा यदि कषाय जल अपेय या अनेषणीय आदि कारणों से परित्याज्य हो तो उसे परिष्ठापित किया जा सकता है। वह परित्याज्य न भी हो, पर ग्लान अथवा आचार्य आदि के लिए यापनीय (निर्वाहयोग्य/उपयोगी) न हो तो परिष्ठापित किया जा सकता है।

१२२६. विवेचनायोग्य (परित्याज्य) जल—* जो अपेय (मद्य-मांस आदि से युक्त) हो, * दोषयुक्त होने से अनेषणीय हो, * जो विषमिश्रित अथवा मंत्रित हो, * जो विरुद्ध द्रव्यों से निर्मित हो, जैसे—दूध और खटाई से मिला धोवण।

१२२७. जो आहार शुभ वर्ण, गंध, रस और स्पर्श से युक्त होता है, वह सुरभि भोजन कहलाता है। जो इसके विपरीत होता है, वह दुरभि भोजन कहलाता है।

१२२८. सरस भोजन भी यदि पूजित—सेव्य न हो तो वह दुरभिगंध या दुरभि होता है तथा रसविहीन भोजन भी यदि पूजित हो तो शुभगंध युक्त है, सुरभि है।

१. विस्तार हेतु द्रष्टव्य परिशिष्ट २, कथा सं. ३१।

१२२९. घेतूण भोयणदुगं, पत्तेयं अहव एक्कतो चव ।
जे सुब्भिं भुंजिता, 'दुब्भिं तु'^१ विगिंचणं^२ कुज्जा ॥ १११४ ॥ नि २८७ ॥
१२३०. सो आणा-अणवत्थं, मिच्छत्त-विराधणं तथा दुविधं ।
पावति जम्हा तेणं, दुब्भिं पुव्वेतरं पच्छा ॥ १११५ ॥ नि २८८ ॥
१२३१. रसगेहि अधिकखाए, अविधि सइंगालऽपक्कमे माया ।
लोभे एसणघातो, दिट्ठंतो अज्जमंगूहिं ॥ १११६ ॥ नि २८९ ॥
१२३२. सुब्भिं^३ दढग्गजीहो, णेच्छति छातो वि भुंजती^४ इतरं ।
आवस्सगपरिहाणी, गोयरदीहो उ उज्झिमिगा^५ ॥ १११७ ॥
१२३३. मणुण्णं^६ भोयणज्जातं, भुंजंताणं^७ तु एक्कतो ।
अधियं खायते जो उ, अहिकखाए स वुच्चति ॥ १११८ ॥
१२३४. तम्हा विधीय भुंजे, दिण्णम्मि गुरूण^८ सेसराइणिओ ।
भुंजति^९ करंबेऊणं^{१०}, एवं समता तु सव्वेसिं ॥ १११९ ॥
१२३५. बितियपदे दो^{११} वि बहू, मीसे व विगिंचणारिहं होज्जा ।
अविगिंचणारिहे वा, जवणिज्ज गिलाणमायरिए ॥ ११२० ॥
१२३६. जं होज्ज अभोज्जं जं, चऽणेसियं तं विगिंचणरिहं तु^{१२} ।
विसकडमंतकडं^{१३} वा, दव्वविरुद्धं कतं वावि ॥ ११२१ ॥
१२३७. जं^{१४} चव सुब्भिसुत्ते, वुत्तं तं भोयणं मणुण्णं तु ।
अहवा वि परिब्भुसितस्स^{१५} मणुण्णं होति पंतं पि ॥ ११२२ ॥ नि २९० ॥
१२३८. जावतियं उवउज्जति, तत्तियमेत्ते^{१६} तु भोयणे गहणं ।
अतिरेगमणट्टाए, गहणे आणादिणो दोसा ॥ ११२३ ॥ नि २९१ ॥

१. दुब्भिमि (क) ।

२. विगिंचणे (मु) ।

३. सुब्भी (मु, भ) ।

४. भुंजितं (मु), भुंजति (क), भुंजितं (भ) ।

५. उज्झिमिया—परिट्टावणिग्या (चू) ।

६. मनसो रुचितं मनोज्ञं (चू) ।

७. ताणं (दे) ।

८. गुरुहि (दे) ।

९. मुयति (दे, भ), सुयति (पा) ।

१०. ऊणं (क, भ) ।

११. दोणिण (मु, भ) ।

१२. व्व (भ) ।

१३. विसगयमंतगयं (दे) ।

१४. सूत्र ४५ (नव २/४४) ।

१५. परब्भु (क), परिब्भुसितो—बुभुक्षितः (चू) ।

१६. जत्ति (भ) ।

१२२९, १२३०. जो मुनि सुरभि और दुरभि—दोनों प्रकार के आहार को एक साथ या अलग-अलग पात्रों में ग्रहण कर सुरभि (मनोज्ञ) भोजन को खा लेता है तथा कषाय (अमनोज्ञ) भोजन का परिष्ठान करता है वह आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व और विराधना—इन दोषों को प्राप्त होता है अतः ऐसी स्थिति में मुनि पहले दुरभि (अमनोज्ञ) आहार को खाए तथा बाद में सुरभि आहार को।

१२३१. दोष—रसासक्त मुनि अन्य साधुओं से अथवा प्रमाण से अधिक आहार करता है। वह अविधिपूर्वक—पात्र से मनोज्ञ-मनोज्ञ आहार निकाल कर अकेला जाकर खा लेता है। भोज्य की प्रशंसा करने से उसके अंगार दोष लगता है। रसगृद्ध व्यक्ति धैर्य के अभाव में गच्छ से अपक्रान्त हो जाता है। मनोज्ञ आहार हेतु वह माया का आचरण भी कर लेता है। लोभ के कारण वह एषणा समिति को आघात पहुँचाता है, पूरी पिंडेषणा कर नहीं पाता। रसगृद्धि के विषय में आर्यमंगू^१ का दृष्टान्त ज्ञातव्य है।

१२३२. जो मुनि सुरभि (मनोज्ञ) भोजन के प्रति दृढ अग्रजिह्वा वाला है—अत्यधिक आसक्त होता है, वह भूखा होने पर भी दुरभि भोजन नहीं करना चाहता, फलतः वह सुरभि भोजन की गवेषणा में सुदीर्घ भिक्षाचर्या करता है, सूत्र पौरुषी आदि आवश्यकों के प्रति जागरूक नहीं रहता, हानि करता है। दुरभि भोजन के परिष्ठापन में भी आवश्यक परिहाणी होती है।

१२३३. जो मुनि मंडली में भोजन करता हुआ विविध प्रकार के भोज्य पदार्थों में मनोज्ञ भोजन अकेला अधिक खाता है, वह अधिभक्षक कहलाता है।

१२३४. रसगृद्धि से पूर्वोक्त दोषों की संभावना रहती है अतः मुनि विधिपूर्वक आहार करे—गुरुजनों (आचार्य, ग्लान, अतिथि आदि) को (उत्कृष्ट/उनके अनुकूल) आहार परोसने के बाद मंडली में जो रात्निक मुनि है, वह शेष सुरभि और दुरभि अविरोधी आहार को मिला दे, फिर मंडली के सभी मुनि आहार करें ताकि सबके समता हो—सबको समान भोजन मिले।

१२३५. अपवाद में मनोज्ञ और अमनोज्ञ दोनों प्रकार का आहार चाहे वह अलग-अलग पात्रों में गृहीत हो या एक साथ, यदि दोनों पर्याप्त मात्रा में प्राप्त हो और लगे कि एक को अवश्य परिष्ठापित करना होगा तो पहले मनोज्ञ आहार किया जा सकता है। अथवा मनोज्ञ आहार अधिक हो और अमनोज्ञ अत्यल्प हो तो उसे परठा जा सकता है। यदि अमनोज्ञ आहार अखाद्य, अनेषणीय आदि कारणों से परित्याज्य हो तो भी उसे परिष्ठापित किया जा सकता है। वह परित्याज्य न हो, पर ग्लान, आचार्य आदि के लिए यापनीय (निर्वाह योग्य) न हो तो उसे परिष्ठापित किया जा सकता है।

१२३६. वह आहार विवेचना (त्याज्य) है, जो अखाद्य (मद्य, मांस आदि से युक्त), उद्गम आदि दोषों से युक्त होने से अनेषणीय, विषमिश्रित, मंत्रकृत—वशीकरण आदि से अभिमंत्रित अथवा विरुद्ध द्रव्यों से निर्मित हो जैसे दूध और खटाई से युक्त भोज्य पदार्थ।

१२३७. सुरभिसूत्र (सूत्र-४२) में जिसे सुरभि भोजन कहा गया है, वही भोजन मनोज्ञ कहलाता है। अथवा बुभुक्षित के लिए प्रान्त (नीरस) भोजन भी मनोज्ञ होता है।

१२३८. जितने भोजन का उपयोग हो, मुनि को उतना मात्र ही भोजन ग्रहण करना चाहिए। निष्प्रयोजन परिमाण से अधिक आहार ग्रहण करने से आज्ञाभंग तथा आत्म-संयम विराधना आदि दोष होते हैं।

१. विस्तार हेतु द्रष्टव्य परिशिष्ट २, कथा सं. ३२।

१२३९. तम्हा पमाणगहणे, परियावण्णं निरत्थगं होति।
अहवा परियावण्णं, पमाणगहणं ततोऽजुत्तं ॥ ११२४ ॥ नि २९२ ॥
१२४०. एवं उभयविरोधे, दो वि पया तू निरत्थगा होंति।
जह होंति ते सयत्था^१, 'तं पुण'^२ वोच्छं समासेणं ॥ ११२५ ॥ नि २९३ ॥
१२४१. आयरिए य गिलाणे, पाहुणगे दुल्लभे सहसदाणे।
पुव्वगहिते व पच्छा, अभत्तच्छंदो भवेज्जाहि ॥ ११२६ ॥ नि २९४ ॥
१२४२. एतेहि कारणेहिं, अतिरेगं होज्ज पज्जयावण्णं।
तमणालोएत्ताणं, परिट्टुवेंताण^३ आणादी ॥ ११२७ ॥ नि २९५ ॥
१२४३. बाला वुड्ढा सेहा, खमग-गिलाणा महोदरा एसा।
सव्वे वि परिच्चत्ता, परिट्टुवेंताणऽणापुच्छा ॥ ११२८ ॥
१२४४. आयरिए य गिलाणे, गुरुगा लहुगा य खमग-पाहुणगे।
गुरुगो य बाल-वुड्ढे, सेहे य महोदरे लहुगो ॥ ११२९ ॥
१२४५. जदि तेसिं तेण विणा, आबाधा होज्ज तो भवे चत्ता।
णीते वि हु परिभोगो, भइओ तम्हा अणेगंतो ॥ ११३० ॥
१२४६. भुंजंतु मा व समणा, आतविसुद्धीय निज्जरा विउला।
तम्हा छउमत्थेणं, पेयं अतिसेसिए भयणा ॥ ११३१ ॥
१२४७. आतविसुद्धीय जती, अवि हिंसापरिणतो सति वहे पि।
सुज्झति जतणाजुत्तो, अवहे वि हु^४ लग्गति पमत्तो ॥ ११३२ ॥
१२४८. एमेव अगहितम्मि वि, निज्जरलाभो हु होति समणस्स।
अलसस्स सो न जायति, तम्हा णेज्जा सति बलम्मि ॥ ११३३ ॥
१२४९. तम्हा आलोएज्जा, सक्खेत्ते सालएतरे^५ पच्छा।
खेत्तंत अण्णगामे, खेत्तबहिं वा अवोच्चत्थं ॥ ११३४ ॥

१. सत्था (दे)।

२. तह सुण (मु, भ)।

३. वेंतम्मि (भ)।

४. तु (भ)।

५. सयाल° (पा)।

१२३९, १२४०. प्रश्न—यदि मुनि को प्रमाणोपेत (उचितमात्रा में) ही भोजन ग्रहण करना चाहिए तो यह परियावण्ण पद—परिष्ठापन योग्य आहार विधिविषयक प्रस्तुत सूत्र निरर्थक हो जाता है। अथवा यदि प्रस्तुत पद सार्थक है तो प्रमाणोपेत ग्रहण करना चाहिए—यह कहना अयुक्त है। इस प्रकार दोनों पद परस्पर विरोधी हैं अतः दोनों निरर्थक हो जाते हैं। समाधान—जिस प्रकार वे दोनों पद सदर्थ (सार्थक) होते हैं, उसका संक्षेप में कथन करूंगा, सुनो।

१२४१, १२४२. जहां स्थापित कुल नहीं होते, वहाँ प्रत्येक संघाटक आचार्य, ग्लान और अतिथि साधुओं के लिए आहार आदि लाते हैं। आचार्य आदि सब के द्वारा आनीत आहार, पथ्य आदि से कुछ-कुछ लेते हैं, फलतः कुछ आहार आदि अतिरिक्त हो जाता है। कभी कोई संघाटक दुर्लभ द्रव्य अधिक मात्रा में ले आता है अथवा कोई दाता अचानक अधिक मात्रा में डाल देता है या कभी आहार लेने के बाद अभक्तछंद (उपवास का मानस) बन जाए। इन कारणों से अतिरिक्त (परिमाणातिक्रान्त) आहार परिष्ठाप्य हो सकता है। जहां भिक्षु पार्श्ववर्ती क्षेत्र में प्रवासित साधर्मिक भिक्षुओं को पूछे बिना, उनको निमन्त्रित किए बिना उस परियावण्ण आहार का परिष्ठापन करता है, वह आज्ञाभंग, मिथ्यात्व आदि दोषों को प्राप्त होता है।

१२४३. साधर्मिक साधुओं को पूछे बिना अतिरिक्त आहार का परिष्ठापन करने से बाल, वृद्ध, शैक्ष, क्षपक (तपस्वी), ग्लान और महोदर (बहुभक्षी) मुनि परित्यक्त (उपेक्षित) होते हैं।

१२४४. उचित आहार के अभाव में यदि आचार्य और ग्लान की विराधना हो तो परियावण्णा आहार को बिना पूछे परिष्ठापन करने वाले मुनि को चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है, तपस्वी एवं प्राघुर्णक की विराधना हो तो चतुर्लघु, बाल एवं वृद्ध की विराधना हो तो गुरुमास एवं शैक्ष और महोदर की विराधना हो तो लघुमास प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१२४५. प्रश्न—यदि उस आहार के बिना आचार्य आदि को परिष्ठापना आदि पीड़ा हो तो वे परित्यक्त हुए, ऐसा कहा जा सकता है। पर उनको आमन्त्रित करने पर भी वे उसका परिभोग करेंगे ही, ऐसा कोई नियम नहीं है (इसकी भजना है) अतः अनेकान्त है—बिना पूछे आहार का परिष्ठापन एकान्ततः दोष क्यों?

१२४६. समाधान—चाहे आचार्य आदि श्रमण उस आहार को खाएं या न खाएं किन्तु आत्मविशुद्धि (विशुद्ध भाव) से उनके पास आहार ले जाने वाले भिक्षु को विपुल निर्जरा होती है अतः छद्मस्थ मुनि को आहार अवश्य उनके पास ले जाना चाहिए (उन्हें आहार हेतु निमन्त्रित करना चाहिए।) सातिशय (विशिष्ट) ज्ञानी के लिए भजना है—वे अपने ज्ञान से जान लें कि आचार्यादि उसका उपयोग करेंगे तो ले जाएँ अन्यथा न भी ले जाएँ।

१२४७, १२४८. जो मुनि आत्मविशुद्धि से युक्त और अहिंसा के भावों में परिणत (उपयुक्त) वह प्राणिवध होने पर भी शुद्ध है क्योंकि वह यतनायुक्त है। जो प्रमत्त है उसके द्वारा प्राणिवध न होने पर भी उसे प्राणातिपात पाप लगता है। इसी प्रकार आचार्य आदि आहार ग्रहण न भी करें पर जो मुनि विशुद्धभाव से उन्हें आहार आदि के लिए निमन्त्रित करता है, उसे निर्जरा-लाभ होता है। जो आलसी होता है (आहार आदि के लिए निमन्त्रित करने में आलस्य करता है) उसे वह लाभ प्राप्त नहीं होता। अतः सामर्थ्य हो तो निर्जरार्थी मुनि को आहार लेकर अवश्य आचार्य आदि के पास जाना चाहिए।

१२४९. अतः सर्वप्रथम अपने क्षेत्र में, अपने प्रतिश्रय में जो ज्येष्ठ सांभोजिक साधु हों, उन्हें आहार हेतु निमन्त्रित करे। यदि वे न लेना चाहें तो अपने क्षेत्र में अन्य प्रतिश्रय में प्रवासित मुनियों को निमन्त्रित करे। वे भी न लें तो अपने क्षेत्र में अन्य गांव में तथा बाद में क्षेत्र के बाहर वाले साधुओं को भी अविपरीत क्रम से आहार हेतु निमन्त्रित करे।

१२५०. आसण्णुवस्सए मोत्तुं, दूरत्थाणं^१ तु जो णए।
तस्स सव्वे य बालादी, परिच्चाय विराधणा ॥ ११३५ ॥
१२५१. ण पमाणं गणो एत्थं, ण सीसो णावि^२ णातिओ^३।
समणुण्णा^४ पमाणं तु, कारणे वा विवज्जणा^५ ॥ ११३६ ॥
१२५२. बितियपद होज्ज मप्पं^६, दूरऽद्धाणे 'सपच्चवाए य'^७।
कालो वातिक्कमती, सुब्भिं^८ लंभे व तं दुब्भिं ॥ ११३७ ॥
१२५३. सागारिउं^९ त्ति को पुण, काहे वा कतिविधो व सो^{१०} पिंडो।
असेज्जतरो व काहे, परिहरितव्वो व सो कस्स^{११} ॥ ११३८ ॥ नि २९६ ॥
१२५४. दोसा वा के तस्सा, कारणजाते व कप्पते^{१२} कम्मि^{१३}।
जतणाए वा काए, एगमणेगेसु घेत्तव्वो ॥ ११३९ ॥ नि २९७ ॥
१२५५. सागारियस्स णामा, एगट्ठा णाणवंजणा पंच।
सागारिय सेज्जातर, दाता^{१४} य धरे तरे यावि^{१५} ॥ ११४० ॥ नि २९८ ॥
१२५६. अगमकरणादगारं, तस्स हु जोगेण होति सागारी^{१६}।
सेज्जाकरणा^{१७} सेज्जाकरो तु दाता तु तद्दाणा^{१८} ॥ ११४१ ॥
१२५७. जम्हा धरेति^{१९} सेज्जं, पडमाणिं^{२०} छज्ज-लेप्पमादीहिं।
जं वा तीय^{२१} धरेती, नरगा आयं धरो तेणं^{२२} ॥ ११४२ ॥
१२५८. गोवाइऊण वसधिं, तत्थ ठिते^{२३} यावि रक्खितुं तरती।
तद्दाणेण भवोघं, तरती^{२४} सेज्जातरो तम्हा ॥ ११४३ ॥

१. दूरट्ठाणं (भ)।

२. णेव (मु, भ)।

३. णायतो (दे, भ)।

४. ण्णता (मु, भ)।

५. ण्जओ (भ)।

६. मणं (मु), मणुं (भ)।

७. णाते वा (क, पा)।

८. सुब्भी (भ)।

९. सूत्र ४५, ४६ (नव २/४५, ४६), मुद्रित भाष्य में ४५ क्रमांक पुनरुक्त हुआ है।

१०. से (दे, बृभा ३५१९)।

११. कस्सा (मु)।

१२. कप्पती (बृभा ३५२०)।

१३. कम्मिं (दे, भ), कम्मि (बृभा)।

१४. दायार (दे, भ)।

१५. वावि (मु, भ), चेव (बृभा ३५२१)।

१६. अगमा रुक्खा, तेहिं कतं अगारं घरं, तेण सह जस्स जोगो सो सागारिउ त्ति भण्णति (चू)।

१७. णा तु (दे)।

१८. बृभा ३५२२।

१९. धारइ (बृभा ३५२४)।

२०. पडमाणं (भ, क), ण्माणं (मु), पडमाणं (पा)।

२१. तीते (क)।

२२. तम्हा (बृभा)।

२३. वि ते (बृभा ३५२३)।

२४. व तरति (दे), च तरति (बृभा)।

१२५०. जो मुनि निकटस्थ उपाश्रय को छोड़कर पक्षपात के कारण दूरस्थ मुनियों के पास आहार लेकर जाता है, वह बाल, वृद्ध आदि के परित्याग, विराधना आदि पूर्वोक्त सभी दोषों को प्राप्त होता है।

१२५१. आहार की निमन्त्रणा के विषय में गण (गच्छ) प्रमाण नहीं और स्वयं का शिष्य होना या ज्ञाति होना भी प्रमाण नहीं। यहाँ तो समनोज्ञता (सांभोजिकत्व) ही प्रमाण है अर्थात् मुनि आहार लेकर जिन साधुओं के पास जाए वे सांभोजिक हों, स्वयं के गण के होना, शिष्य अथवा ज्ञाति होना आवश्यक नहीं। कारण (आपवादिक परिस्थितियों—ग्लान्य आदि) में आसन्नवर्ती को छोड़कर दूरस्थ तथा सांभोजिक को छोड़कर अन्यसांभोजिक मुनियों के पास भी आहार लेकर जाना विधिसम्मत है।

१२५२. द्वितीय पद (अपवाद) में मुनि परियावण्ण आहार को सांभोजिक मुनियों के पास न ले जाए, तब भी शुद्ध (अप्रायश्चित्ती) है, वे कारण हैं—१. आहार अत्यल्प हो। २. उनका उपाश्रय बहुत दूर हो। ३. सांभोजिक मुनियों के उपाश्रय तक जाने का मार्ग सप्रत्यपाय (बाधायुक्त) हो अथवा वहाँ पहुँचने पर कोई प्रत्यपाय हो। ४. समय इतना कम हो कि पहुँचते-पहुँचते वह समाप्त हो जाए—सूर्य अस्त हो जाए आदि। ५. यह पता चल जाए कि जिनके पास आहार लेकर जा रहे हैं, उन्हें पर्याप्त मात्रा में सुरभि आहार प्राप्त है। ६. वह परियावण्ण आहार दुरभि है, परिष्ठाप्य है।

१२५३, १२५४. इन दो द्वार गाथाओं में संक्षेप में नौ द्वारों का प्ररूपण हुआ है—१. सागारिक (शय्यातर) कौन होता है? २. शय्यातर कब होता है? ३. वह शय्यातरपिण्ड कितने प्रकार का है? ४. अशय्यातर कब होता है? (शय्यातर कब नहीं होता?) ५. किस (मुनि) का शय्यातर परिहर्तव्य है—छोड़ा जाए? ६. शय्यातर पिण्ड को ग्रहण करने के कौन-कौन से दोष हैं? ७. किस कारणजात (किन विविध कारणों) में शय्यातरपिण्ड कल्प्य है? ८. शय्यातर-पिण्ड को ग्रहण करते समय कौनसी यतना करणीय है? ९. जहाँ अनेक शय्यातर हों, वहाँ किस एक को शय्यातर बनाया जाए?

१२५५. शय्यातर के पांच पर्यायवाची नाम हैं जो एकार्थक एवं भिन्न-भिन्न व्यंजनों (अक्षरों) वाले हैं—१. सागारिक २. शय्याकर ३. शय्यादाता ४. शय्याधर और ५. शय्यातर।

१२५६. सागारिक—अगम (अग) का अर्थ है वृक्ष। वृक्षों (लकड़ी) से निर्मित होने के कारण घर को अगार कहते हैं। उस (अगार) के योग से शय्यातर (गृहस्थ) सागारिक होता है।

शय्याकर—गृहस्थ शय्या (घर) का निर्माण करता है, अतः वह शय्याकर होता है।

शय्यादाता—वह शय्या (घर) का दान करता है अतः शय्यादाता है।

१२५७. शय्याधर—वह गिरती हुई, शय्या (मकान) को छादन, लेपन आदि के द्वारा धारण करता है (जीर्णोद्धार करता है) अतः शय्याधर है। अथवा शय्यादान के द्वारा वह नरक में गिरती अपनी आत्मा को धारण करता है—बचाता है, अतः उसका एक नाम है शय्याधर।

१२५८. शय्यातर—वह शय्या के संगोपन-संरक्षण करने में सक्षम है, अथवा उस शय्या में रहने वाले साधुओं का आपदाओं से संरक्षण में सक्षम है, अथवा शय्यादान के द्वारा वह भव-सन्तति को तरता—पार करता है अतः शय्यादाता का एक नाम है शय्यातर।

१२५९. सेज्जातरो पभू वा, पभुसंदिट्टो व होति कातव्वो ।
एगमणेगो व पभू, पभुसंदिट्टो वि एमेव^१ ॥ ११४४ ॥ नि २९९ ॥
१२६०. सागारियसंदिट्टे, एगमणेगे चउक्कभयणा तु ।
एगमणेगा वज्जा, णेगेसु तु ठावते^२ एक्कं ॥ ११४५ ॥
१२६१. अणुण्णवितउग्गहंउगण, पाउग्गाणुण्ण^३ अतिगते ठविते ।
सज्झाय भिक्ख भुत्ते, णिक्खित्ताऽऽवासए एक्के^४ ॥ ११४६ ॥ नि ३०० ॥
१२६२. पढमे बितिए ततिए, 'चउत्थजामम्मि होति'^५ वाघाते ।
णिव्वाघाते भयणा^६, सो वा इतरो व उभयं वा ॥ ११४७ ॥ नि ३०१ ॥
१२६३. जदि जग्गंति सुविहिता, 'करंति आवासगं'^७ तु^८ अण्णत्थ ।
सेज्जातरो न होती, सुत्ते व कते व सो होति ॥ ११४८ ॥
१२६४. अण्णत्थ वसेऊणं, आवासग चरिममण्णहिं तु करे ।
दोण्णि वि तरा भवंती, सत्थादिसु अण्णहा^९ भयणा ॥ ११४९ ॥
१२६५. असति वसधीय वीसुं, वसमाणाणं तरा तु भइतव्वा ।
तत्थऽण्णत्थ व वासे, छत्तच्छायं^{१०} विवज्जेति^{११} ॥ ११५० ॥
१२६६. दुविध-चउव्विध-छव्विध, अट्टुविधो होति बारसविधो वा ।
सेज्जातरस्स पिंडो, तव्वतिरित्तो^{१२} अपिंडो उ ॥ ११५१ ॥ नि ३०२ ॥
१२६७. आहारोवधि दुविधो, विदु^{१३} अण्णप्पाणं^{१४} ओहुवग्गहिओ ।
असणादि चउर ओहे, उवग्गहे छव्विधो एसो ॥ ११५२ ॥
१२६८. असणे पाणे वत्थे, पाए सूयादिगा य चउरट्टा^{१५} ।
असणादी वत्थादी, सूचादि चउक्कगा तिण्णि^{१६} ॥ ११५३ ॥

१. बृभा ३५२५ ।

२. वज्जाए (बृभा ३५२६) ।

३. पायोगाणुण्णवणा (क) ।

४. एक्को (बृभा ३५२७) ।

५. °जामे व होज्ज (बृभा ३५२८), °जामम्मी एव होति (भ) ।

६. भइणा (क) ।

७. करंति आवस्सगं (क) ।

८. च (बृभा ३५२९) ।

९. इधरधा (बृभा ३५३०) ।

१०. सुत्त° (दे) ।

११. च वज्जेति (मु, भ), तु वज्जेति (बृभा ३५३१) ।

१२. तव्विवरीओ (बृभा ३५३२) ।

१३. विहु (क) ।

१४. अण्णे पाण (बृभा ३५३३), अण्ण पाण (मु) ।

१५. °रट्ट (पा) ।

१६. बृभा ३५३४ ।

१२५९. शय्यातर कौन—जो शय्या का स्वामी हो या उसके द्वारा संदिष्ट हो। शय्या का स्वामी एक भी हो सकता है और अनेक भी। वैसे ही प्रभूसंदिष्ट व्यक्ति भी एक और अनेक—दोनों हो सकते हैं।

१२६०. शय्यातर तथा शय्यातरसंदिष्ट, एक और अनेक के आधार पर चतुर्भंगी होते हैं।^१ शय्यातर एक हो या अनेक—उनका वर्जन करना चाहिए। अपवाद में अनेक में से एक व्यक्ति को शय्यातर नियुक्त किया जाए।

१२६१, १२६२. शय्यातर कब होता है—इस विषय में नैगमनय से अनेक मत प्रस्तुत हैं—१. उपाश्रय में रहने की अनुज्ञा ले लेने पर। २. शय्यातर के अवग्रह में प्रविष्ट हो जाने पर ३. आंगन में प्रविष्ट हो जाने पर ४. अपने प्रायोग्य तृण, डगलग आदि की अनुज्ञा लेने पर ५. उपाश्रय में प्रविष्ट होने पर ६. तुंबे आदि पात्रों को रखने तथा स्थापनाकुलों की स्थापना करने पर ७. वहाँ स्वाध्याय प्रारम्भ करने पर ८. भिक्षार्थ चले जाने पर ९. आहार करना प्रारम्भ करने पर १०. पात्रों को पुनः रख देने पर तथा ११. दैवसिक आवश्यक करने पर। १२. रात्रि में प्रथम प्रहर के बीतने पर १३. द्वितीय प्रहर के बीतने पर १४. तृतीय प्रहर के बीतने पर और १५. चतुर्थ प्रहर के बीतने पर। आचार्य कहते हैं उपर्युक्त सभी मत अनादेश हैं क्योंकि यदि वसति में कोई व्याघात हो जाए अथवा म्लेच्छ आदि के भय के कारण मुनि अन्यत्र चले जाएं तो अवश्य ही वह मकानमालिक शय्यातर नहीं होता। यदि कोई व्याघात न हो और मुनि रात्रि में वहीं रहे तो शय्यातर की भजना है—वह भी शय्यातर हो सकता है, अन्य व्यक्ति भी हो सकता है और दोनों भी हो सकते हैं।

१२६३. जो सुविहित मुनि रातभर जागते हैं और प्राभातिक आवश्यक (प्रतिक्रमण) अन्यत्र जाकर करते हैं तो मूल उपाश्रय का स्वामी शय्यातर नहीं होता। किन्तु रात्रि में वहीं सोते हैं और प्राभातिक आवश्यक वहीं करते हैं तो उपाश्रय का स्वामी शय्यातर होता है।

१२६४. जो मुनि एक स्थान पर रहते हैं तथा दूसरे स्थान में जाकर प्रतिक्रमण करते हैं तो दोनों स्थानों के स्वामी शय्यातर होते हैं। यह स्थिति सार्थ आदि के विषय में ज्ञातव्य है, ग्राम आदि में भजना है।

१२६५. वसति संकीर्ण होने पर शय्यातर की भजना है—जो साधु अन्य वसति से आए और दूसरे दिन सूत्रपौरुषी वहीं सम्पन्न कर मूल वसति में जाए तो दोनों गृहस्वामी शय्यातर हैं। लाटाचार्य के अनुसार साधु मूल वसति में रहें या अन्यत्र रहें, उससे प्रयोजन नहीं है। वे छत्र छाया—आचार्य के शय्यातर^२ का वर्जन करते हैं अर्थात् जहाँ आचार्य रहते हैं, उस गृहपति का आहार आदि नहीं लेते।

१२६६. शय्यातरपिण्ड दो प्रकार का, चार प्रकार का, छह प्रकार का, आठ प्रकार का और बारह प्रकार का होता है। उसके अतिरिक्त तृण आदि वस्तुएं शय्यातर पिण्ड नहीं।

१२६७. शय्यातर पिण्ड के दो प्रकार हैं—१. आहार और २. उपधि। अथवा उसके चार प्रकार हैं—१. अन्न २. पान ३. औषधिक उपकरण और औपग्रहिक उपकरण। पुनः उसके छह प्रकार हैं—१. अन्न २. पान ३. खाद्य ४. स्वाद्य ५. औषधिक उपकरण और ६. औपग्रहिक उपकरण।

१२६८. शय्यातर पिण्ड के आठ प्रकार हैं—१. अन्न २. पान ३. वस्त्र ४. पात्र और ५-८ सूई आदि चार (सूई, कैंची, नखच्छेदनी तथा कर्णशोधनी)। उसके बारह प्रकार हैं—अशनादि चतुष्क, वस्त्रादि चतुष्क तथा सूई आदि चतुष्क—१. अशन २. पान ३. खाद्य ४. स्वाद्य ५. वस्त्र ६. पात्र ७. कम्बल ८. पादप्रोज्छन ९. सूई १०. कैंची ११. नखच्छेदनी और १२. कर्णशोधनी।

१. चतुर्भंगी—१. एक प्रभु, एक प्रभूसंदिष्ट २. एक प्रभु, अनेक प्रभूसंदिष्ट ३. अनेक प्रभु, एक प्रभूसंदिष्ट ४. अनेक प्रभु, अनेक प्रभूसंदिष्ट।

२. निभा २ चू. पृ. १३३—छतो आयरिओ, तस्स छांयं वज्जेति—जत्थायरिओ वसति स सेज्जायरो वज्जो।

१२६९. तण-डगल-छार-मल्लग-सेज्जा-संथार-पीढ-लेवादी ।
सेज्जातरपिंडेसो^१, न होति सेहो य^२ सोवधिओ ॥ ११५४ ॥
१२७०. आपुच्छित उग्गाहित^३, वसधीओ निग्गतोग्गहे एगो ।
'पढमादि जाव^४ दिवसं, वुत्थे^५ वज्जेज्जऽहोरत्तं^६ ॥ ११५५ ॥ नि ३०३ ॥
१२७१. अग्गहणं जेण निसिं, अणंतरेगंतरा^७ दुहिं च ततो ।
गहणं तु पोरिसीहिं, चोदग! एते अणादेसा ॥ ११५६ ॥
१२७२. सूरत्थमणम्मि तु निग्गताण^८ दोण्ह रयणीण अट्ट भवे ।
देवसिग मज्झ 'चउरो, दिणणिग्गत बितिय सा वेला^९ ॥ ११५७ ॥
१२७३. लिंगत्थस्स तु वज्जो, तं परिहरतो व भुंजतो वावि ।
जुत्तस्स अजुत्तस्स व, रसावणो^{१०} तत्थ दिट्ठंतो^{११} ॥ ११५८ ॥ नि ३०४ ॥
१२७४. 'तित्थंकर-पडिकुट्ठो^{१२}, आणा-अण्णात उग्गमो न सुज्जे^{१३} ।
अविमुत्ति-अलाघवता, दुल्लभसेज्जा 'य वोच्छेदो^{१४} ॥ ११५९ ॥ नि ३०५ ॥
१२७५. पुरपच्छिमवज्जेहिं, अवि कम्मं जिणवरेहि लेसेण^{१५} ।
भुत्तं विदेहगेहि य, ण य सागरियस्स पिंडो तु^{१६} ॥ ११६० ॥
१२७६. सव्वेसि तेसि^{१७} आणा, तप्परिहारीण गेण्हता ण कता ।
अण्णाउंछ न जुज्जति, जहिं ठितो 'तत्थ गेण्हंतो^{१८} ॥ ११६१ ॥

१. 'पिंडो सो (दे, बृभा ३५३५) ।

२. व (मु) ।

३. मुग्गा (दे) ।

४. 'मादी जा (मु, भ) ।

५. वुच्छे (मु, चू) ।

६. बृभा ३५३६ ।

७. 'तरं (बृभा ३५३७) ।

८. 'ताणि (क) ।

९. चउ दिणणिग्गति बितियम्मि सा वेला (बृभा ३५३८) ।

१०. रसावणो नाम मज्जावणो मरहट्टविसए रसावणे मज्जं भवतु मा वा भवतु तहावि तत्थ ज्झयो बज्जति, तं ज्झयं

दट्ठं सव्वे भिक्खायरियादी परिहरंति (चू) ।

११. बृभा ३५३९ ।

१२. तित्थगरप्पं (दे) ।

१३. अण्णातुंल्लुग्गमो वि य ण सुज्जे (दे, भ) ।

१४. वि उच्छेदो (दे), चिरच्छेदो (भ), पंकभा १२९८, बृभा ३५४०, बृहत्कल्प भाष्य की टीका में इस गाथा के लिए 'एषा निर्युक्तिगाथा' का उल्लेख है ।

१५. लेसेण (क, पा) ।

१६. बृभा ३५४१ ।

१७. तेसु (पा) ।

१८. गेण्हतो तत्थ (बृभा ३५४२) ।

१२६९. तृण, ढेला, राख, मल्लक (सकोरा), शय्या, संस्तारक, पीठ-फलक, लेप आदि शय्यातरपिण्ड नहीं होते। यदि शय्यातर का पुत्र दीक्षित होता हो तो उपधि सहित वह शैक्ष शय्यातर पिण्ड नहीं होता।

१२७०, १२७१. अशय्यातर कब होता है—इस विषय में अनेक मत हैं—१. **आपुच्छित**—क्षेत्र प्रतिलेखना के लिए चले जाने के बाद जब आचार्य उसे विहार हेतु पूछें। २. **उग्गाहित**—जब विहारहेतु उपकरण आदि ग्रहण कर लें। ३. **वसधीतो**—जब वसति से निर्गमन करें। ४. **णिग्गाहोग्गाहे**—जब शय्यातर के अवग्रह से निष्क्रमण कर दें। ५. सूर्योदय से पूर्व निर्गमन करें तो सूर्योदय होने पर शय्यातर नहीं। ६. सूर्योदय होने पर निर्गमन करें तो प्रथम प्रहर के बाद शय्यातर नहीं ७. दो प्रहर बीतने के बाद शय्यातर नहीं। ८. तीन प्रहर बीतने के बाद शय्यातर नहीं। ९. चार प्रहर बीतने के बाद शय्यातर नहीं। कुछ आचार्यों के अनुसार सूर्योदय के बाद प्रथम से लेकर चतुर्थ प्रहर तक शय्यातर का आहार ग्रहण करना नहीं कल्पता। इसका अर्थ हुआ अहोरात्र का वर्जन करें क्योंकि रात्रि में आहार का ग्रहण नहीं करना अतः जो अनन्तर, एक प्रहर के अन्तर, दो प्रहर के अन्तर आदि से शय्यातर के पिण्डग्रहण का कथन करते हैं वे भी इसी मत के प्ररूपक हैं। आचार्य कहते हैं—प्रेरक। ये सब अनादेश हैं। जघन्यतः चार प्रहर बीतने पर^१ तथा उत्कृष्टतः बारह प्रहर बीतने पर अशय्यातर होता है। यह पहला आदेश है।

१२७२. जो मुनि सूर्यास्त होने के बाद गृहस्थ के घर से निर्गमन करते हैं उनके वह गृहस्वामी बारह प्रहर के बाद शय्यातर नहीं होता—दो रात्रियों (उस रात व अगली रात) के आठ प्रहर तथा मध्यवर्ती दिन के चार प्रहर। दूसरे आदेश के अनुसार मुनि दिन के जिस समय निर्गमन करें, दूसरे दिन उसी समय के बाद वह गृहस्वामी उनका शय्यातर नहीं होता।

१२७३. जो मुनिवेश में स्थित है चाहे वह साधु के गुणों से युक्त हो या न हो, चाहे वह शय्यातरपिण्ड का भोग करता है या नहीं करता, मुनि के लिए उसका शय्यातर वर्जनीय है। यहाँ रसापण (शराब के ठेके) का दृष्टान्त^२ ज्ञातव्य है।

१२७४. शय्यातरपिण्ड ग्रहण करने के मुख्य दोष हैं—१. तीर्थकर प्रतिषिद्ध २. आज्ञाभंग, ३. अज्ञातउञ्च का अभाव ४. उद्गम शुद्धि का अभाव ५. अविमुक्ति ६. अलाघव (लघुता का अभाव) ७. दुर्लभशय्या और ८. व्यवच्छेद।

१२७५. तीर्थकर प्रतिषिद्ध—सूत्रादेश से (सूत्र के अनुसार) प्रथम और अन्तिम तीर्थकर ने आधाकर्म आहार का निषेध किया। मध्यम बावीस तीर्थकरों तथा महाविदेह क्षेत्र के साधुओं ने आधाकर्म आहार का भोग किया है अर्थात् उनके द्वारा वह निषिद्ध नहीं, पर शय्यातर पिण्ड की अनुज्ञा वहाँ भी नहीं है। इस प्रकार वह सब तीर्थकरों द्वारा प्रतिक्रुष्ट—प्रतिषिद्ध है।

१२७६. आज्ञाभंग—शय्यातर पिण्ड का भोग करने से शय्यातर पिण्ड का परिहार करने वाले सभी तीर्थकरों की आज्ञा का पालन नहीं होता। अज्ञातउञ्च का अभाव—मुनि जहाँ रहते हैं वहीं आहार ले तो 'अज्ञातउञ्च का ग्रहण करना चाहिये', यह विधि संगत नहीं होती अर्थात् इसका पालन नहीं होता।

१. यदि सूर्यास्त के समय कोई मुनि निर्गमन करता है तो रात को वही गृहस्वामी शय्यातर होता है। सूर्यास्त के बाद वह शय्यातर नहीं होता।

२. महाराष्ट्र में शराब के ठेके में शराब हो या न हो, उस पर ध्वज बांधा जाता है जिसे देखकर भिक्षु आदि उसका परिहार करता है। वैसे ही रजोहरण आदि मुनि के लिंग है, उसके आधार पर लिंगस्थ का शय्यातर परिहर्तव्य है।

१२७७. बाहुल्ला गच्छस्स तु, पढमालिय पाणगादिकज्जेसु।
सज्झायकरणआउट्टिया करे उग्गमेगतरं^१ ॥ ११६२ ॥
१२७८. दव्वे भावऽविमुत्ती, दव्वे वीरल्लणहारुबंधणता।
सउणगगहणा कड्डण, पइद्धमुक्को वि आणेति^२ ॥ ११६३ ॥
१२७९. भावे उक्कोस पणीतगेहितो तं कुलं न छड्ढेति।
ण्हाणादी कज्जेसु वि, गतो वि दूरं पुणो एति^३ ॥ ११६४ ॥
१२८०. 'उवधि-सरीरमलाघव'^४, देहे निद्धादिविंहियसरीरो^५।
संघंसण सासभया, ण विहरति विहारकामो वि ॥ ११६५ ॥
१२८१. सागारिपुत्त-भाउग, णत्तुग दाणमतिखद्ध^६ भारभया।
न विहरति ओम सावय, नियडाऽगणि^७ भाण एज्ज त्ति ॥ ११६६ ॥
१२८२. भिक्खा^८ पयरणगहणे, दोगच्चं अण्ण आगते^९ न देमो^{१०}।
पयरण णत्थि न कप्पति, असाधु तुच्छे य पण्णवणा ॥ ११६७ ॥
१२८३. थल देउलियट्ठाणं^{११}, सति कालं दट्ठु दट्ठु तहि गमणं।
णिग्गत^{१२} वसहीभंजण, अण्णे उब्भामगाऽऽउट्ठा ॥ ११६८ ॥
१२८४. दुविधे गेलण्णम्मी^{१३}, निमंतणा दव्वदुल्लभे असिवे।
ओमोदरियपदोसे, भए य गहणं अणुण्णातं^{१४} ॥ ११६९ ॥ नि ३०६ ॥
१२८५. तिपरिरयमणागाढे, आगाढे खिप्पमेव गहणं तु।
कज्जम्मि छंदिया घेच्छिमो त्ति ण य बेति उ अकप्पं^{१५} ॥ ११७० ॥

१. °तरे (बृभा ३५४३)।

२. बृभा ३५४४।

३. बृभा ३५४५।

४. उवधी सरीरलाघव (भ)।

५. °विण्हय° (दे), °विंघिय° (बृभा ३५४६)।

६. °अति° (बृभा ३५४७)।

७. निकृत्या मायया (बृभाटी)।

८. वासा (मु, पा, भ)।

९. आगमें (बृभा ३५४८)।

१०. देति (क, पा)।

११. °लियाठाणं (बृभा ३५४९)।

१२. णिग्गते (दे, मु, भ)।

१३. °म्मिं (दे)।

१४. बृभा ३५५०, इस गाथा के लिए बृहत्कल्प भाष्य की टीका में 'एष निर्युक्तिगाथार्थः' का उल्लेख है।

१५. बृभा ३५५१, भ प्रति में १२८५-८७—ये तीन गाथाएं नहीं हैं।

१२७७. उद्गम शुद्धि का अभाव—अनेक गच्छ हैं और गच्छ में अनेक साधु, वे बार-बार नाश्ता, पानी आदि के लिए प्रविष्ट होते हैं तो गृहस्थ संकोचवश अथवा उनके स्वाध्याय या करणसत्तरी आदि चारित्रगुणों से प्रभावित होकर आदरवश उन्हें देने के लिए उद्गम आदि दोषों का आसेवन कर लेते हैं।

१२७८. अविमुक्ति (गृद्धि) के दो प्रकार हैं—द्रव्य और भाव। द्रव्य गृद्धि बाजपक्षी के दृष्टान्त से ज्ञातव्य है। बाज के पैरों को स्नायु की तांत से बांध कर जहाँ तित्तिर आदि पक्षी होते हैं, वहाँ छोड़ दिया जाता है। जब वह पक्षी को पकड़ लेता है, तब उस स्नायु से खींचकर उसे हथेली में मांस रखकर खिलाया जाता है। इस प्रकार बार-बार मांस खाने से उसमें गृद्ध (आसक्त) होकर बिना स्नायुबंधन के भी पक्षी लाकर दे देता है।

१२७९. उत्कृष्ट द्रव्य तथा प्रणीत भोज्य की अप्राप्ति से मुनि शय्यातर कुल का परिहार नहीं करता। प्रतिमा स्नान, रथयात्रा आदि कार्यों के लिए दूर चले जाने पर भी पुनः उन्हीं कुलों में लौट आता है।

१२८०. अलाघव के दो प्रकार हैं—उपधि और शरीर। स्निग्ध आहार के प्रचुर सेवन से शरीर भारी हो जाता है। उसके चलने में ऊरु संघर्षण, श्वास प्रकोप आदि का भय रहता है अतः वह विहारेच्छु होने पर भी विहार नहीं कर पाता।

१२८१. मुनि के आकर्षण के कारण शय्यातर, उसका पुत्र, भाई, पौत्र आदि व्यक्ति उसे बहुत से अच्छे-अच्छे उपकरण देते हैं और भार के भय से मुनि विहार नहीं करता। दृष्टान्त—दुर्भिक्ष में भी किसी मुनि के विहार न करने पर श्रावक ने उनके सारे उपकरण छिपाकर उपाश्रय में आग लगा दी। साधु के पूछने पर उसने दो पात्र दिये और कहा—जब सुभिक्ष हो जाए, तब अवश्य पधारें।^१

१२८२. दुर्लभशय्या—एक बार कुछ साधु शय्यातर के घर से प्रतिदिन प्रतरण भिक्षा (प्रथम दातव्य भिक्षा) लेने जाते। कालान्तर में वह सेठ गरीब हो गया। कुछ समय बाद अन्य साधुओं द्वारा वसति की याचना किए जाने पर उसने कहा—मैं प्रतरण नहीं दे सकता। साधु यदि तुच्छ (रिक्त) पात्र लेकर जाते हैं तो अमंगल होता है अतः आप अन्यत्र चातुर्मास करें। मैं स्थान नहीं देता। साधुओं ने उसे समझाया, तब उसने शय्या दी।^२

१२८३. शय्या-व्यवच्छेद—ग्राम निवासियों ने एक देवकुल बनाया। साधु वहाँ रहे, सारे ग्रामवासी उनके शय्यातर हो गए। भिक्षा समय होने पर मुनि जहाँ-जहाँ भोजन पकता, वहाँ-वहाँ जाकर भिक्षा ले लेते। उनके इस आचार से गृहस्थ निर्विण्ण हो गए। साधुओं के विहार करते ही उन्होंने उस देवकुल को तोड़ दिया। इसके विपरीत अन्य मुनि पूर्वोक्त प्रकार से देवकुल में रहे। उनकी उद्भ्रामक भिक्षाचर्या आदि से लोग बहुत प्रभावित हुए, फलतः विशेष प्रयोजनों में उन्हें भिक्षा भी मिली तथा शय्या-व्यवच्छेद भी नहीं हुआ।^३

१२८४. जिन कारणों में शय्यातरपिण्ड का ग्रहण अनुज्ञात है, वे हैं—१. द्विविध ग्लान्य, २. निमंत्रणा, ३. द्रव्य-दुर्लभता, ४. अशिव, ५. अवमौदरिका, ६. प्रद्वेष और ७. भय।^४

१२८५. रोग के दो प्रकार हैं—अनागाढ़ और आगाढ़। अनागाढ़ रोग की स्थिति में तीन बार अन्यत्र गवेषणा करने पर भी औषध प्राप्त न हो तो शय्यातर पिण्ड लेना कल्पता है। आगाढ़ रोग में तीन बार गवेषणा किये बिना तत्काल ही किया जा सकता है। शय्यातर द्वारा बार-बार आहार आदि हेतु निमन्त्रण देने पर मुनि कहें—जब प्रयोजन होगा तब लेंगे। वे यह न कहें कि तुम्हारा आहार अकल्प्य है।

१-३. द्रष्टान्त हेतु द्रष्टव्य परिशिष्ट २ कथा सं. ३३-३५।

४. द्वारों के विवरण हेतु द्रष्टव्य गा. १२८५-८८।

१२८६. जं वा असहीणं तं, भणति तं देहि^१ तेण णे कज्जं ।
‘अतिणिब्बंघे व’^२ सइं, घेतूण पसंग वारंति ॥ ११७१ ॥
१२८७. दुल्लभदव्वं च सिया, संभारघतादि घेप्पते^३ तं तु ।
असिवोमे^४ पणगादिसु, जइऊणमसंथरे गहणं ॥ ११७२ ॥
१२८८. उवसमणट्ट पदुट्टे, सत्थो वा ‘जा न लब्भते’^५ ताव ।
अच्छंता पच्छण्णं, गेण्हंति भए वि एमेव^६ ॥ ११७३ ॥
१२८९. तिक्खुत्तो सक्खेत्ते, समंततो^७ मग्गिऊण^८ कडजोगी ।
दव्वस्स य दुल्लभया, ‘सागारि णिसेवणा’^९ दव्वे ॥ ११७४ ॥ नि ३०७ ॥
१२९०. णेगेषु पिता पुत्ता, सवत्ति वणिए घडा वए चेव ।
एतेसिं णाणत्तं, वोच्छामि अहाणुपुव्वीए^{१०} ॥ ११७५ ॥ नि ३०८ ॥
१२९१. पिय-पुत्त थेरए^{११} वा^{१२}, अप्पभुदोसा य तम्मि उ पउत्थे ।
जेट्टादि अणुणवणा, पाहुणगे जं विधिग्गहणं ॥ ११७६ ॥ नि ३०९ ॥
१२९२. दुप्पभिति पिता पुत्ता, जे^{१३} होंति पभू ततो^{१४} भणति सव्वे ।
णातिक्कमंति जं वा, अपभुं व ‘पभुं व’^{१५} तं पुव्वं^{१६} ॥ ११७७ ॥
१२९३. अप्पभु लहुगो दिय णिसि, पभुणिच्छूढे^{१७} विणास-गरहा य ।
असधीणम्मि पभुम्मि तु, सधीणजेट्टादणुणवणा^{१८} ॥ ११७८ ॥

१. देह (बृभा) ।

२. णिब्बंघे चेव (बृभा ३५५२) ।

३. घेप्पती (बृभा ३५५३) ।

४. ओमऽसिवे (बृभा) ।

५. जाव ण लभते (मु) ।

६. बृभा ३५५४ ।

७. चउद्विसिं (मु, भ, पंकभा, बृभा) ।

८. जोयणम्मि (पंकभा १३००) ।

९. सागारियसेवणा (बृभा ३५५५) ।

१०. बृभा ३५५६ ।

११. थेरते (क) ।

१२. या (बृभा ३५५७) ।

१३. जहिं (मु, बृभा) ।

१४. उ ते (क) ।

१५. × (भ) ।

१६. बृभा ३५५८ ।

१७. °विच्छूढे (दे), चउणि° (भ) ।

१८. सहीण° (बृभा ३५५९) ।

१२८६. अथवा शय्यातर द्वारा निमंत्रित होने पर मुनि उस द्रव्य की मार्गणा करे, जो उसके घर में न हो। वह कहे—हमें अमुक द्रव्य की अपेक्षा है, वह दो अथवा उसके अति आग्रह करने पर एक बार शय्यातर पिण्ड ले ले, बाद में शय्यातर पिण्ड लेने के प्रसंग का निवारण करे।

१२८७. ग्लान आदि के लिए किसी विशिष्ट द्रव्य की अपेक्षा हो, विविध द्रव्यों से संस्कृत घी, तैल (लक्षपाक आदि) अन्यत्र न मिलें तो शय्यातर पिण्ड लेना कल्पता है। अशिव और दुर्भिक्ष में पंचक परिहाणी से यत्न करने पर भी निर्वाह न हो तो शय्यातर पिण्ड का ग्रहण कल्पता है।

१२८८. राजा के प्रद्विष्ट होने पर उसे उपशान्त करने के लिए रहे या अन्यत्र जाने के लिए सार्थ न मिले, तब तक प्रच्छन्न रहने की स्थिति में शय्यातर पिण्ड ग्रहण किया जा सकता है। म्लेच्छ, स्तेन आदि के भय में भी उपर्युक्त कारणों से शय्यातर पिण्ड ले सकते हैं।

१२८९. अपने क्षेत्र में, चारों दिशाओं में सर्वत्र तीन बार मार्गणा करने पर भी जब शुद्ध भिक्षा या दुर्लभ द्रव्य न मिले तो कृतयोगी—गीतार्थ भिक्षु शय्यातर पिण्ड का प्रतिसेवन करते हैं।

१२९०. अनेक शय्यातर होने के नाना प्रकार हैं—१. पिता-पुत्र, २. अनेक पुत्र, ३. सपत्नियां, ४. व्यापारी, ५. गोष्ठिक पुरुष और ६. गोकुल स्वामी। इनके विषय में जो नानात्व है, उनका मैं क्रमशः कथन करूंगा।

१२९१. जहां एक मकान पर पिता और पुत्र अथवा अनेक पुत्रों आदि का समान स्वामित्व हो तो उनमें जो स्थविर—प्रभु हो, उसकी अनुज्ञा ली जाए। जो प्रभु—स्वामित्व सम्पन्न नहीं होता, उसकी अनुज्ञा लेने पर दोषों की संभावना रहती है। यदि प्रभु अन्यत्र प्रवासित हो तो ज्येष्ठ आदि से अनुज्ञा ली जाए अथवा उसका कोई सम्मान्य अतिथि आया हुआ हो तो उससे विधिपूर्वक रहने की अनुज्ञा ली जाए।

१२९२. जहां दो, तीन आदि अनेक पिता और पुत्र गृहस्वामी हों, वहां सबकी अनुज्ञा ली जाए। उनमें कोई एक चाहे प्रभु है या नहीं, अन्य व्यक्ति उसकी बात का अतिक्रमण नहीं करते तो उस एक की पहले अनुज्ञा ले।

१२९३. जो गृहस्वामी अथवा घर में प्रभुत्वसम्पन्न व्यक्ति नहीं है, उससे अनुज्ञा लेने पर मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। मुनि अप्रभु से अनुज्ञा प्राप्त कर रहे और दिन में ही प्रभु उन्हें घर से निकाल दे तो चतुर्लघु प्रायश्चित्त और यदि वह रात में मुनियों को निष्कासित करे तो चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। रात्रि में निष्कासित मुनि श्वापद आदि के द्वारा विनाश को प्राप्त हो सकते हैं, उन्हें दूसरी वसति की खोज करते देख लोग गर्हा करते हैं अतः यदि प्रभुत्वसम्पन्न व्यक्ति घर में न हो तो जो स्वाधीन—उपलब्ध हो, उसी बड़े पुत्र आदि से अनुज्ञा ली जा सकती है। यदि अन्य अनुज्येष्ठ आदि सभी प्रभु हों तो सबकी युगपत् अनुज्ञा ली जाए अथवा वे जिसकी बात का अतिक्रमण न करें, पहले उसकी अनुज्ञा ले। इस प्रकार भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में उस प्रकार अनुज्ञा ले, जिससे पूर्वोक्त दोष न हों।

१२९४. पाहुणगं च पउत्थे, भणंति मित्तं व णातगं वा से^१ ।
तं पि य आगतमेत्तं, भणंति अमुगेण णे दिण्णं^२ ॥ ११७९ ॥
१२९५. अप्पभुणा तु विदिण्णे, भणंति अच्छामु जा पभू एति ।
'पत्ते तु'^३ तस्स कहणं, सो तु पमाणं ण ते इतरे ॥ ११८० ॥
१२९६. 'इति एस अणुणवणा'^४, जतणा पिंडो पभुस्स 'वज्जो तु'^५ ।
सेसाणं तु अपिंडो, सो च्चिय वज्जो दुविधदोसा ॥ ११८१ ॥
१२९७. एगे^६ महाणसम्मी^७, एगतो उक्खित्त सेस पडिणीए ।
जेट्टादि^८ अणुणवणा, पउत्थ सुतजेट्ट जाव पभू^९ ॥ ११८२ ॥ नि ३१० ॥
१२९८. तम्मि 'असधीणे जेट्टा'^{१०}, पुत्तमाता च जा व से इट्टा ।
अह^{११} पुत्त सव्वमाया^{१२}, जीसे^{१३} जेट्टो पभू वावि ॥ ११८३ ॥
१२९९. असधीणे^{१४} पभुपिंडं, वज्जंती सेसगोसु^{१५} भद्दादी ।
साधीणे जहिं भुंजति, 'सेसेसु व'^{१६} भद्-पंतेहिं ॥ ११८४ ॥
१३००. एगत्थ रंधणे भुंजणे य वज्जेति भुत्तसेसं पि ।
एमेव वीसु रद्धे, भुंजति जहिं तु एगट्टा^{१७} ॥ ११८५ ॥
१३०१. नियतं च अणियतं वा, जहिं तरो भुंजती^{१८} तु तं वज्जं ।
'सेसेसु ण गेण्हंती'^{१९}, 'संछोभगमादि पंता वा'^{२०} ॥ ११८६ ॥

१. वि (दे, पा) ।

२. बृभा ३५६० ।

३. पत्तेसु (भ), पत्ते उ (बृभा ३५६१) ।

४. इय एसऽणुणवणा (बृभा ३५६२) ।

५. ऊ वज्जो (बृभा) ।

६. एक्के (क, पा) ।

७. णम्मिं (दे) ।

८. जेट्टाएँ (बृभा ३५६३) ।

९. जा (क), इस गाथा के लिए बृभा की टीका में
'एषा चिरन्तनगाथा' का संकेत है ।

१०. असाहीणे जेट्ट (बृभा ३५६४) ।

११. इह (क, पा) ।

१२. माय सव्वा (मु, भ) ।

१३. जीए (चू), जेसे (भ) ।

१४. असाहीणे (क, बृभा ३५६५) ।

१५. सेसए तु (बृभा) ।

१६. सेसे वि उ (बृभा) ।

१७. एगत्था (बृभा ३५६६) ।

१८. भुंजति (क) ।

१९. सेसासु वि ण य गिण्हति (बृभा) ।

२०. मा छोभगमादि भद्दाई (बृभा ३५६७) ।

१२९४. यदि गृहस्वामी आदि प्रोषित हों तो उनके किसी पूज्य अतिथि, मित्र अथवा ज्ञातिजन से अनुज्ञा लेकर रह सकते हैं। पर गृहस्वामी आने पर तत्काल उसे कह दें कि अमुक व्यक्ति ने रहने की अनुज्ञा दी है ताकि इष्टनाम को सुनकर वह उन्हें निकाले नहीं।

१२९५. यदि अप्रभु (गृहस्वामी के अलावा किसी व्यक्ति) से अनुज्ञात गृह में रहना हो तो उसे कहें—जब तक मकान मालिक आए तब तक स्थान दे दो, हम रह जाएँ तथा जब वह आए तो उसे यथास्थिति कह दें, फिर वह कहे वही प्रमाण हैं अन्य (अप्रभु) प्रमाण नहीं।

१२९६. उपर्युक्त सारी यतना अनुज्ञा विषयक है। उपर्युक्त विधि से शय्यातर करने के बाद उसका पिण्ड (आहार आदि) वर्जनीय हैं। शेष पुत्र आदि का ग्रहण शय्यातरपिण्ड नहीं, फिर भी दोनों (भद्र और प्रान्त कृत) दोषों के कारण वह भी वर्जनीय है।

१२९७. (आचार्य) एक गृहस्वामी के अनेक पत्नियां हैं। यदि वह प्रोषित—अन्यत्र प्रवासित है तो उनमें ज्येष्ठ पत्नी या ज्येष्ठ पुत्र की माता हो उससे अनुज्ञा ले या जो पुत्रमाता न होने पर भी प्रभु है, उसकी अनुज्ञा ली जाए। (पूर्वार्ध) यदि वे सभी सपत्नियां एक महानस (रसोई) में खाना पकाती हैं अथवा अलग-अलग पके हुए भोजन को लाकर एक साथ खाती हैं तो उन सभी का आहार शय्यातर पिण्ड है अतः वर्जनीय है।

१२९८. शय्यातर के अस्वाधीन होने पर सामान्य शय्या में अनुज्ञा का क्रम इस प्रकार है—

* सपत्नियों में जो ज्येष्ठ या पुत्रवती है, उसकी अनुज्ञा लें।

* यदि दोनों सपत्नियां ज्येष्ठ भी हैं और पुत्रवती भी तो जो शय्यातर को अधिक इष्ट है, उसकी अनुज्ञा लें।

* यदि सभी ज्येष्ठ हैं, पुत्रमाताएँ हैं और इष्ट भी हैं तो ज्येष्ठ पुत्र की माता की अनुज्ञा लें।

* यदि सभी सपत्नियां ज्येष्ठ, पुत्र माताएँ तथा इष्ट हैं और ज्येष्ठ पुत्र अप्रभु है तो जिसका पुत्र प्रभु या अनतिक्रमणीय हो उसकी अनुज्ञा लें।

१२९९. शय्यातर परदेश गया हुआ है तो पूर्वोक्त प्रकार से जो प्रभु-सपत्नी है, उसका पिण्ड शय्यातर पिण्ड है, मुनि उसका वर्जन करते हैं। शेष सपत्नियों के पिण्ड का वर्जन केवल भद्र, प्रान्त आदि दोष न हों, इसलिए करते हैं। यदि शय्यातर स्वाधीन (वहीं पर) है तो वह जहां भोजन करता है, उसका आहार शय्यातरपिण्ड है। शेष पत्नियों का आहार शय्यातरपिण्ड नहीं, भद्र-प्रान्त आदि दोषों के कारण वर्जनीय है।

१३००. यदि शय्यातर की विभिन्न सपत्नियां एक ही रसोई में भोजन पकाकर साथ में खाती हैं तो वह सारा आहार शय्यातरपिण्ड है। चाहे वे खाने के बाद बचा हुआ आहार अलग-अलग अपने घरों में ले जाएँ, तब भी वर्जनीय है। इसी प्रकार पृथक्-पृथक् भोजन पकाकर एक साथ खाएँ, तब भी वह शय्यातर पिण्ड है।^१

१३०१. यदि शय्यातर स्वयं वहां है तथा वह प्रतिदिन एक ही पत्नी के घर अथवा क्रमशः एक-एक पत्नी के घर भोजन करता है तो वह जिस दिन जहां भोजन करे, उस दिन उस घर का आहार वर्जनीय है। शेष पत्नियों के घर का आहार भी मुनि ग्रहण नहीं करते ताकि कोई भद्र प्रकृति वाला संक्षेपण (स्वयं के भोज्य पदार्थों का अन्य के भोज्य पदार्थों में प्रक्षेपण) आदि दोष न करे तथा कोई प्रान्त (रुक्ष) प्रकृति वाला सभी का निष्कासन आदि न करे।

१. ये क्रमशः प्रथम और तृतीय भंग हैं। द्वितीय और चतुर्थ भंग—एगन्थ रद्धं, वीसुं भुत्तं तथा वीसुं रद्धं, वीसुं भुत्तं वर्जनीय नहीं अतः भाष्यकार ने गाथा १२९८ तथा १३०० में उनका कथन नहीं किया।

१३०२. दोसु वि अब्बोच्छिण्णे, सव्वं जंतम्मि जं तु पायोग्गं।
खंधे संखडि अडवी, असती य घरम्मि सो चेव^१ ॥११८७॥ नि ३११ ॥
१३०३. णिग्गमणादि^२ बहि ठिते, अंतो खेतस्स वज्जते सव्वं।
बाहिं तद्दिणणीतं, सेसेसु पसंगदोसेणं ॥ ११८८ ॥
१३०४. ठितो जदा खेतबहिं सगारो, 'असणादियं तत्थ'^३ दिणे दिणे य^४।
अच्छिण्णमाणिज्जति^५ निज्जते वा^६, गिहा तदा हेति तहिं वि वज्जे ॥ ११८९ ॥
१३०५. बाहिठितपट्टितस्स तु, सयं च संपत्थिता तु गेण्हंति।
तत्थ उ भद्दग-दोसा, न होंति न य पंतदोसा तु^७ ॥ ११९० ॥
१३०६. अंतो बहि कच्छपुडादि^८, ववहरंते पसंगदोसा तु।
देउल जण्णगमादी, कट्टादडविं च वच्चंते ॥ ११९१ ॥
१३०७. तद्दिणमण्णदिणं^९ वा, अंतो सागारियस्स पिंडो तु।
सव्वेसु बाहि तद्दिण, सेसेसु 'पसंगदोसा तु'^{१०} ॥ ११९२ ॥
१३०८. दाऊण^{११} गेहं तु सपुत्तदारो, वाणिज्जमादी जदि कारणेहिं।
'तं चेव'^{१२} अण्णं च वएज्ज देसं^{१३}, सेज्जातरो तत्थ स एव हेति ॥ ११९३ ॥
१३०९. महतर-अणुमहतरगे, ललितासण कडुग दंडपति ए य।
एतेहिं परिग्गहिता^{१४}, होंति घडाओ तदा^{१५} कालं^{१६} ॥ ११९४ ॥ नि ३१२ ॥
१३१०. सव्वत्थ पुच्छणिज्जो, तु महतरो जेट्टमासणधुरे य।
तहियं तु असण्णिहिते, अणुमहतरगो^{१७} धुरे ठाति^{१८} ॥ ११९५ ॥

१. च्वेव (भ), बृभा ३५६८ की टीका में इस गाथा के लिए 'इति निर्युक्तिगाथा' का उल्लेख है तथा निशीथ चूर्णि में 'एसा पुरातणा दारत्थगाहा' का उल्लेख है।
२. °मगाइ (बृभा ३५६९)।
३. भत्तादियं तस्स (बृभा ३५७०)।
४. यं (भ)।
५. णिज्जती य (बृभा)।
६. वज्जं (मु, भ)।
७. बृभा ३५७१।
८. कच्छउडियादि (बृभा ३५७२)।

९. तद्दिणमदिण्णे (क)।
१०. °दोसेणं (मु, भ)।
११. मुत्तूण (बृभा ३५७३)।
१२. सयं व (बृभा)।
१३. वेसं (दे)।
१४. परिग्गहिया (दे)।
१५. सया (भ)।
१६. काले (बृभा ३५७४)।
१७. °मयहरतो (दे)।
१८. बृभा ३५७५।

१३०२. कोई शय्यातर व्यापार आदि के लिए निर्गमन कर गांव की सीमा में या उसके बाहर स्थित है। वहां रहते हुए उसके घर तथा उस स्थान में अव्यवच्छिन्न—निरन्तर अशन आदि लाए एवं ले जाए जाते हैं तो उन दोनों ही स्थानों का अशन आदि शय्यातरपिण्ड होगा। शय्यातर के वहां से प्रस्थित हो जाने पर जो प्रायोग्य अशन आदि है, वह सब लिया जा सकता है।^१ शय्यातर निगम के प्राकार की सीमा में है या वहां वह अकेला अथवा अन्य व्यापारियों के साथ भोज का आयोजन करता है अथवा अटवी आदि में जाने वालों के लिए पाथेय देता है—ये तीनों ही शय्यातरपिण्ड हैं, ग्राह्य नहीं।^२ शय्यातर वहां न भी हो, पर गृहस्वामी वही है तो उसके घर का आहार शय्यातरपिण्ड है, वर्ज्य है।^३

१३०३. शय्यातर ने वाणिज्य आदि के प्रयोजन से निर्गमन किया। यदि वह क्षेत्र के अन्दर स्थित है तो उसके लिए उस दिन ले जाया गया तथा अन्य दिन ले जाया गया सारा आहार मुनि के लिए वर्जनीय है। यदि वह क्षेत्र से बाहर स्थित है तो उस दिन ले जाया गया आहार शय्यातरपिण्ड है, अतः वर्जनीय है। शेष दिनों में उस अशन आदि का वर्जन प्रसंग दोषों की निवृत्ति के लिए किया जाता है।

१३०४. जब शय्यातर क्षेत्र से बाहर स्थित है, वहां प्रतिदिन उसके घर से अशन आदि निरन्तर लाया एवं ले जाया जाता है तो वहां का सारा अशन आदि पिण्ड विवर्ज्य है।

१३०५. क्षेत्र के बाहर स्थित शय्यातर ने जिस समय वहां से प्रस्थान किया अथवा स्वयं साधु वहां से प्रस्थान कर रहे हैं, उस समय तद्दिननीत (उस दिन ले जाया गया) तथा अन्यदिननीत सब कुछ ग्रहण किया जा सकता है क्योंकि वहां न तो भद्रकृत दोषों की संभावना है और न प्रान्तकृत दोषों की।

१३०६. शय्यातर अपने विक्रेय पदार्थों को पुटकों में बांधकर, दोनों कक्षाओं में (कन्धों पर) इन्हें लटकाकर क्षेत्र के भीतर या बाहर व्यापारार्थ जाता है। वह साधुओं को लोगों से दूध, दही दिलाता है। देवकृत यज्ञक या तालाब-यज्ञक से कुछ दिलाता है, देता है अथवा लकड़हारों के पाथेय से कुछ देता है—इन तीनों में शय्यातर पिण्ड का निर्धारण करना आवश्यक होता है।

१३०७. तीनों स्थितियों में क्षेत्र के भीतर, उस दिन या अन्य दिन लाया हुआ आहार आदि सारा शय्यातरपिण्ड है। सभी अर्थात् पुटकों में लाने तथा संखड़ी या अटवी जाने वालों से क्षेत्र के बाहर उस दिन लाया हुआ शय्यातरपिण्ड होता है, शेष दिनों का नहीं। परन्तु प्रसंगदोष के कारण अग्राह्य है।

१३०८. अपने घर को मुनियों को देकर शय्यातर यदि अपनी पत्नी एवं बच्चों के साथ व्यापार आदि कारणों से उसी देश अथवा अन्य देश में अन्यत्र जाकर रह जाए, तब भी वह घर का स्वामी है अतः शय्यातर वही होता है।

१३०९. उस समय—प्राचीन काल में गोष्ठी इनसे परिगृहीत होती थी—१. महत्तर, २. अनुमहत्तर, ३. ललितासन, ४. कटुक और ५. दण्डपति।

१३१०. महत्तर—जो सारे गोष्ठी कार्यों में प्रष्टव्य होता है अर्थात् गोष्ठी के विविध कार्य जिसे पूछकर किए जाते हैं तथा जिसे गोष्ठी (भोजन आदि) में ज्येष्ठ एवं अग्रिम स्थान दिया जाता है, वह गोष्ठी-महत्तर कहलाता है। मूल महत्तर की अनुपस्थिति में जो गोष्ठी में प्रष्टव्य एवं अग्र-स्थित होता है, वह अनुमहत्तर कहलाता है।

१. द्रष्टव्य गा. १३०३-१३०५।

३. द्रष्टव्य गा. १३०८।

२. द्रष्टव्य गा. १३०६, १३०७।

१३११. भोयणमासणमिट्ठं, ललिते परिवेसिगा दुगुणभागो।
कडुगो^१ तु दंडकारी, दंडपती^२ उगमे तं तु^३ ॥११९६॥
१३१२. उल्लोमाणुण्णवणा^४, अप्पभुदोसा^५ य एक्कतो पढमं।
जेट्टादिअणुण्णवणा, पाहुणगे जं विधिगहणं^६ ॥११९७॥ नि ३१३॥
१३१३. उल्लोम लहूदिय णिसि^७, तेणेक्कहि पिंडिते अणुण्णवणा।
असहीणे जेट्टादी^८, जइ व समाणा महतरं^९ वा ॥११९८॥
१३१४. बाहिं दोहणवाडग, दुद्ध-दही-सप्पि-तक्क-नवणीते।
आसण्णम्मि न कप्पति, पंचपदे बाहिरे^{१०} वोच्छं ॥११९९॥ नि ३१४॥
१३१५. णिज्जंतं मोत्तूणं, बारग भति दिवसगे भवे गहणं।
छिण्णं भतीय कप्पति, 'असती य'^{११} घरम्मि सो चेव^{१२} ॥ १२०० ॥
१३१६. बाहिरखेत्ते छिन्ने, वारगदिवसे भतीय छिण्णे य।
सो उण सागरिपिंडो, वज्जो पुण भद्-पंतेहिं^{१३} ॥१२०१॥
१३१७. एगं ठवे निव्विसए, दोसा पुण भद्गे य पंते य।
णीसाए^{१४} वा छुभणं, विणास-गरिहं^{१५} च पावेति ॥१२०२॥
१३१८. सड्ढेहि वावि भणिता^{१६}, एग ठवेत्ताण निव्विसे सेसे।
'गणदेउलमादीसु व'^{१७}, दुक्खं खु विवज्जिउं^{१८} बहुगा^{१९} ॥१२०३॥

१. दोसावण्णस्स गोट्टियस्स दंडपरिच्छेयकारी कडुगो भण्णति (चू)।

२. तं दंडं उगमेति जो, सो दंडपती भण्णति (चू)।

३. बृभा ३५७६।

४. °वणे (दे, पा)।

५. अपभू° (क)।

६. विहि° (बृभा ३५७७)।

७. णिसा (भ)।

८. जेट्टादि व (बृभा ३५७८, भ)।

९. °त्तरं (मु)।

१०. उप्परिं (बृभा ३५७९)।

११. असतीते (क)।

१२. बृभा ३५८०।

१३. दिट्ठि भद्दादि (बृभा ३५८१)।

१४. णिस्साए (बृभा ३५८२)।

१५. गरहं (क, बृभा, भ)।

१६. भणंतो (दे)।

१७. °वा (मु), °मादी वा (भ)।

१८. विगिंचितुं (मु, भ)।

१९. बृभा ३५८३।

१३११. गोष्ठीकाल में जिसे ललित एवं इष्ट आसन दिया जाए, जिसे भोजन परोसने में स्त्रियां नियुक्त हों तथा जिसे इष्ट भोजन का दुगुना अंश दिया जाए, वह ललितासन कहलाता है। दोषी गोष्ठिकों को दण्ड का निर्देश देने वाला कटुक और गोष्ठिकों से दण्ड का पालन करवाने वाला दण्डपति कहलाता है।

१३१२. उल्लोम—दंडपति, कटुक आदि विपरीत क्रम से अनुज्ञा लेने पर वे ही दोष होते हैं जो अप्रभु से अनुज्ञा लेने पर होते हैं। अतः महत्तर आदि पांचों से एक साथ अनुज्ञा ले अथवा वे एक साथ उपलब्ध न हों तो पहले ज्येष्ठ आदि के क्रम से अनुज्ञा ले। महत्तर की अनुपस्थिति में उनके अभ्यर्हित अतिथि, मित्र आदि से अनुज्ञा लेना ही विधिग्रहण है, अनुज्ञात है।

१३१३. विपरीत क्रम से अनुज्ञा लेने पर मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। दंडपति आदि से अनुज्ञा लेकर रहे और बाद में महत्तर आदि आए, दिन में ही मुनि को निष्कासित कर दे तो मुनि को चतुर्लघु और रात में निष्कासित करे तो मुनि को चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। अतः अपेक्षित है कि सबसे एक साथ, एकत्रित हों, वहां अनुज्ञा ले। यदि सब युगपत् न मिलें तो ज्येष्ठ—महत्तर आदि के घर जाकर अनुज्ञा ले, उनमें से महत्तर आदि तीन व्यक्ति साथ हों, तब अनुज्ञा ले या अकेले महत्तर से अनुज्ञा ले।

१३१४. यदि गांव के बाहर शय्यातर का गाय दुहने का बाड़ा है। वहां दूध, दही, घी, छाछ और मक्खन होते हैं। निकटवर्ती क्षेत्र के भीतर होने के कारण ये पांचों द्रव्य शय्यातर पिण्ड हैं, इन्हें लेना नहीं कल्पता। क्षेत्र के बाहर की विधि आगे बताई जाएगी।

१३१५. जो दूध, दही आदि गोकुल से शय्यातर के घर ले जाया जाता है^१ उसे छोड़कर शेष को वहीं उपयोग में लिया जाता है, वह मुनि को ग्रहण करना कल्पता है। जिस दिन भृतक का क्रम हो^२ अथवा जिस विभाग को गोपालकों के वेतन के रूप में अलग कर दिया जाता है, वह मुनि के लिए कल्पता है, पर भद्र प्रान्त आदि दोषों की अपेक्षा से उनका ग्रहण विहित नहीं। शय्यातर यदि ब्रजिका में रह रहा है, तब भी वही शय्यातर है अतः उसके घर एवं ब्रजिका दोनों में दुग्ध आदि नहीं कल्पता।

१३१६. क्षेत्र के बाह्य भाग में किया गया दूध, दही आदि का वह विभाग, जो शय्यातर के घर नहीं ले जाया जाता अथवा गोपालक के बारी के दिन का सारा दूध, दही आदि अथवा प्रतिदिन जो उन्हें वेतन के रूप में दिया जाता है, वह विभाग शय्यातर पिण्ड नहीं है, उसका वर्जन मात्र भद्र और प्रान्त कृत दोषों के निवारण के लिए किया जाता है।

१३१७. जहां अनेक शय्यातर हों, वहां मुनि निष्कारण एक को शय्यातर स्थापित करता है और शेष घरों में भिक्षार्थ प्रविष्ट होता है तो उन्हीं भद्र-प्रान्तकृत दोषों की संभावना रहती है। भद्र प्रकृति वाला बहराने के लिए अन्य व्यक्तियों के आहार में अपना आहार मिला देता है। प्रान्त (रूक्ष) प्रकृति वाला सोचता है कि मुनियों ने मुझे आहारदान के लाभ से वर्जित किया अतः वह मुनियों से गर्हा करता है अथवा वसति को नष्ट कर देता है।

१३१८. श्रावकों के द्वारा कहे जाने पर^३ एक व्यक्ति को शय्यातर स्थापित कर शेष में भिक्षार्थ प्रवेश करे अथवा जहां मुनि सामूहिक देवकुल आदि में स्थित हों तथा बहुतों का विवेक (वर्जन) करना दुष्कर हो, वहां स्वयं भी उनमें से एक को शय्यातर स्थापित कर सकते हैं।

१. जो दूध, दही, शय्यातर के घर ले जाया जाए, वह शय्यातर पिण्ड है, शेष नहीं।

२. जहां पर वेतन के रूप में एक-एक दिन का दूध आदि दिया जाए, वहां जिस दिन जिसकी बारी (क्रम) हो, वह दूध आदि उसके होंगे, शय्यातर के नहीं।

३. साधुओं की समाचारी को जानने वाले श्रावक कहते हैं—मुनिवर! आप हममें से एक को शय्यातर स्थापित करें, सबकी गोचरी का परिहार न करें।

१३१९. गेण्हति^१ वारएणं, अणुगगहत्थीसु जह रुई तेसिं।
‘पक्कऽण्णे परिमाणं’^२, संतमसंतरे दव्वे ॥ १२०४ ॥
१३२०. सक्खेत्ते^३ सउवस्सय, सक्खेत्ते परउवस्सए चेव।
खेत्तं^४ अण्णगामे, खेत्तबहिं^५ सगच्छ परगच्छे ॥ १२०५ ॥ नि ३१५ ॥
१३२१. सागारियं अपुच्छित, पुव्वं अगवेसिऊण जे भिक्खू।
पविसति भिक्खस्सट्ठा, सो पावति आणमादीणि ॥ १२०६ ॥ नि ३१६ ॥
१३२२. तम्हा वसहीदाता, सपरिजणो णाम-गोत्त-वयतो य।
वण्णेण य ‘चिंधेण य’^६, गवेसितव्वो पयत्तेणं ॥ १२०७ ॥
१३२३. को णामेगमणेगा, पुच्छा चिंधं तु होति वणमादी।
अहव णं^७ पुव्वं दिट्ठो, पुच्छा उ गवेसणा इतरे ॥ १२०८ ॥
१३२४. बितियपदमणाभोगे, गेलण्णऽद्धाण संभम-भए वा।
सत्थवसगे व^८ अवसे, परव्वसे वावि ण गवेसे ॥ १२०९ ॥
१३२५. सागारियं^९ सण्णातग, पगते सागारियं^{१०} तहिं ददुं।
दावेहिति एस महं, ति एव ओभासते कोई ॥ १२१० ॥ नि ३१७ ॥
१३२६. सागारियणिस्साए, सागारियसंथुते य^{११} सागारिं^{१२}।
जो भिक्खू ओभासति, असणादाणादिणो दोसा ॥ १२११ ॥ नि ३१८ ॥
१३२७. पक्खेवगमादीया, सेज्जा वोच्छेदमादिग तरम्मिं^{१३}।
उगमदोसादीया, अचियत्तादी य^{१४} इतरम्मि ॥ १२१२ ॥

१. गेण्हति (भ)।

२. ण्ण परीमाणं (बृभा ३५८४)।

३. सूत्र ४८ (नव २/४७), मुद्रित भाष्य में ४७ क्रमांक नहीं है।

४. खेत्तंतु (क), खेत्तंतो (भ)।

५. खेत्त वसहि (क)।

६. चिण्हेणं (दे)।

७. णं वाक्यालंकारे (मुटि)।

८. य (दे)।

९. सूत्र ४९ (नव २/४८)।

१०. × (क)।

११. व (मु, भ)।

१२. सागारी (मु, भ)।

१३. तरगम्मि (क), तरम्मि त्ति सेज्जातरम्मि (चू)।

१४. × (मु)।

१३१९. जहां सभी शय्यातर अनुग्रहार्थी हों तो उनकी रुचि को ध्यान में रखते हुए क्रम से उन्हें शय्यातर स्थापित कर शेष घरों से आहार लिया जा सकता है, जैसे—दो में एकान्तर, तीन में तीसरे दिन आदि। उस स्थिति में भी मुनि पकाए हुए अन्न का परिमाण देख ले। मुनि दाता के घर सत्—देश-विशेष में होने वाले द्रव्य तथा असत्—वहां न होने वाले द्रव्य का परिमाण देखे तथा यह जाने कि वह द्रव्य उसके घर में विद्यमान था या नहीं। यदि पूर्वपरिमाण से सद्द्रव्य का उपस्कार हुआ है तो वह कल्पनीय है अन्यथा दोषों की संभावना होने से कल्पनीय नहीं।

१३२०, १३२१. जो भिक्षु शय्यातर के विषय में पूछे बिना, गवेषणा किए बिना भिक्षा के लिए प्रविष्ट होता है, वह आज्ञाभंग आदि (उद्गम आदि, भद्र एवं प्रान्तकृत आदि) दोषों को प्राप्त होता है। उस गवेषणा-क्रम में अनेक भंग हो जाते हैं—१. स्वग्राम (अपने क्षेत्र) में, अपने उपाश्रय में, अपने गच्छ में गवेषणा। २. स्वग्राम में स्व उपाश्रय में परगच्छ में गवेषणा। ३, ४. स्वग्राम में अन्य उपाश्रय में स्वगच्छ और परगच्छ में गवेषणा। ५, ६. स्वक्षेत्र के भीतर (एक योजन, एक कोस की सीमा में) अन्य ग्राम में स्वगच्छ और परगच्छ में गवेषणा तथा ७, ८. क्षेत्र के बाहर, अन्यग्राम में स्वगच्छ और परगच्छ में गवेषणा।

१३२२. इसलिए वसतिदाता तथा उसके परिजनों की प्रयत्नपूर्वक गवेषणा करनी चाहिए—वह कौन है? उसका नाम, गोत्र तथा वय (अवस्था) क्या है? उसका वर्ण कैसा है? उसके चिह्न—व्रण आदि क्या हैं?

१३२३. शय्यातर एक नाम वाला है या उसे अनेक नामों से पुकारा जाता है? शय्यातर एक व्यक्ति है या अनेक व्यक्ति—यह पृच्छा है। व्रण आदि चिह्नों से उसे पहचानना गवेषणा है। अथवा पूर्वदृष्ट शय्यातर के विषय में पूछना पृच्छा है तथा देखे बिना उसके विषय में जानकारी प्राप्त करना गवेषणा है।

१३२४. द्वितीय पद (अपवाद) में जिन कारणों से मुनि शय्यातरविषयक गवेषणा नहीं करता, वे कारण हैं—१. अनाभोग (विस्मृति), २. आगाढ़ रोगी विषयक त्वरित कार्य, ३. अटवी, ४. जल (बाढ़), आग आदि का संभ्रम ५. बोधिक (म्लेच्छ) आदि भय, ६. सार्थ की वशवर्तिता, ७. राजद्वेष आदि में राजपुरुषों के द्वारा जबरदस्ती और ८. क्षिप्तचित्तता आदि परवशता।

१३२५, १३२६. शय्यातर के ज्ञातिजन (स्वजन) के घर कोई भोज आदि है, वहां शय्यातर को देखकर मुनि सोचता है कि यह मुझे दिला देगा—ऐसा सोचकर कोई मुनि मांग-मांग कर लेता है। यह सागारिक (शय्यातर) की निश्रा है। इसी प्रकार शय्यातर के पूर्व या पश्चात् संस्तुत कुल (पितृकुल एवं श्वसुर कुल) में शय्यातर या उसके स्वजन आदि की निश्रा से जो मुनि अशन आदि का अवभाषण करता है, वह आज्ञाभंग आदि दोषों को प्राप्त होता है।

१३२७. यदि शय्यातर भद्रप्रकृति है तो वह प्रक्षेपक आदि दोष कर देता है—दूसरों के आहार में स्वयं के आहार का प्रक्षेप कर देता है। यदि वह रुक्षप्रकृति है तो शय्या-व्यवच्छेद आदि दोषों की संभावना रहती है। शय्यातर के पूर्व एवं पश्चात् संस्तुत कुलों में अवभाषण से उद्गम आदि दोषों की तथा अप्रीति आदि दोषों की संभावना रहती है।

१३२८. सण्णातसंखडीसुं^१, भद्वो पक्खेवगं तु कारेज्जा।
ओभासेंति महाणे, ममं ति पंतो व छेज्जाहि^२ ॥ १२१३ ॥
१३२९. णीयस्स अम्ह गेहे, एते ठित उग्गमादि भद्वो^३ तु।
वोच्छेदपदोसं वा, दातुं पच्छा करे पंतो ॥ १२१४ ॥
१३३०. बितियपदं^४ गेलण्णे, णिमंतणा दव्वदुल्लभे असिवे।
ओमोदरिय^५ पदोसे, भए व गहणं अणुण्णातं ॥ १२१५ ॥
१३३१. एतेहिं कारणेहिं, विसेसतो छंदिया^६ य ते बेंति।
सण्णातगस्स पगते, दावेज्जा^७ तं^८ तुमे दिण्णं ॥ १२१६ ॥
१३३२. सव्वंगिया^९ उ सेज्जा, बेहत्थद्धं^{१०} च होति संथारो।
अहसंथडा व सेज्जा, तप्पुरिसो वा समासो तु ॥ १२१७ ॥ नि ३१९ ॥
१३३३. परिसाडिमपरिसाडी^{११}, दुविधो संथारगो उ णातव्वो।
परिसाडी वि य दुविधो, अञ्जुसिर झुसिरो^{१२} य णातव्वो ॥ १२१८ ॥ नि ३२० ॥
१३३४. 'सालि-तणादी झुसिरो^{१३}, कुस तिणमादी^{१४} उ अञ्जुसिरो होति।
एंगंगिओ अणेगंगिओ य^{१५} दुविधो अपरिसाडी ॥ १२१९ ॥ नि ३२१ ॥
१३३५. एंगंगिओ तु दुविधो, संघातिम एतरो तु^{१६} नातव्वो।
दोमादी नियमा तू, होति अणेगंगिओ एत्थ^{१७} ॥ १२२० ॥ नि ३२२ ॥
१३३६. एतेसामण्णतरं, संथारुडुबद्ध गेण्हती जो तु।
सो आणा-अणवत्थं, मिच्छत्त-विराधणं पावे ॥ १२२१ ॥ नि ३२३ ॥

१. °डीसू (मु, भ)।

२. देज्जाहि (दे)।

३. × (दे)।

४. °पदे (क)।

५. °दरीय (क)।

६. छंदिया णाम णिमंतिया (चू)।

७. दाविज्जउ (दे)।

८. जं (भ)।

९. सूत्र ५० (नव २/४९)।

१०. दोहं (क)।

११. °डि अपं (तु, व्यभा ३३९०)।

१२. सुसिरो (क)।

१३. °तणादिज्जु (मु)।

१४. तणयादी (क)।

१५. तु (दे)।

१६. य (क), दु (भ)।

१७. तत्थ (भ)।

१३२८. मुनि जब शय्यातर की निश्रा से अशन आदि का अवभाषण करता है तो भद्र प्रकृति वाला शय्यातर अपने स्वजन आदि की भोज्य सामग्री में स्वयं के चावल आदि को डाल देता है अथवा पकते हुए आहार में स्वयं के आहार आदि को मिला देता है ताकि मुनियों को दिया जा सके। यदि शय्यातर रुक्ष प्रकृति है तो वह महाजनों (बड़े-बड़े लोगों) के मध्य मुनि की निन्दा करता है कि अमुक वस्तु मेरे पास भी है। ये मुझे परेशान कर रहे हैं, मैं जहां जाता हूँ पीछे-पीछे आ जाते हैं। इस प्रकार विक्षुब्ध होकर वह उनको निष्कासित कर देता है, स्थान देने से मना कर देता है।

१३२९. यदि शय्यातर के ज्ञातिजन की निश्रा (प्रभाव) से अन्य घर में कुछ लेना चाहता है अथवा अवभाषण करता है तो वह सोचता है—ये मुनि हमारे ज्ञातिजन के घर ठहरे हुए हैं, इन्हें अमुक वस्तु की अपेक्षा है, हम बना देंगे—इस प्रकार वह भद्रपुरुष उद्गम आदि दोषों का समाचरण कर लेता है। यदि वह प्रान्त-प्रकृति है तो अवभाषण से शय्या आदि का व्यवच्छेद कर देता है अथवा देने के पश्चात् आक्रोश आदि करता है।

१३३०, १३३१. जिन कारणों से—द्वितीय पद में शय्यातर की निश्रा से अशन आदि का ग्रहण अनुज्ञात है, वे हैं—१. ग्लान्य (रोग), २. निमंत्रणा, ३. द्रव्य दुर्लभता, ४. अशिव, ५. अवमौदर्य, ६. प्रद्वेष और ७. भय। इन कारणों से तथा विशेषतः शय्यातर आदि के द्वारा निमंत्रित होने पर मुनि कहते हैं—जब जरूरत होगी, तब आप अपने ज्ञातिजनों से अमुक वस्तु दिलवा देना, वह आपकी ही दी हुई होगी। इस प्रकार यतना से ग्रहण करे।

१३३२. शय्या सम्पूर्ण शरीर प्रमाण होती है तथा संस्तारक अढाई हाथ प्रमाण बिलौना। शय्या यथासंस्तृत और निष्प्रकंप होती है और संस्तारक सप्रकम्प। अथवा शय्या और संस्तारक में तत्पुरुष समास—शय्या एव संस्तारकः भी किया जा सकता है।

१३३३. संस्तारक के दो प्रकार ज्ञातव्य हैं—१. परिशाटी और २. अपरिशाटी। परिशाटी संस्तारक के पुनः दो प्रकार ज्ञातव्य हैं—अशुषिर और शुषिर (पोलयुक्त)।

१३३४. शालि तृण (चावलों की भूसी) आदि से निर्मित संस्तारक शुषिर तथा कुश, वच्चक—घास आदि से निर्मित अशुषिर होता है। अपरिशाटी संस्तारक भी दो प्रकार का होता है—१. एकांगिक और २. अनेकांगिक।

१३३५. एकांगिक संस्तारक के पुनः दो प्रकार ज्ञातव्य हैं—१. संघातित (दो, तीन पट्ट को जोड़कर बनाया हुआ) तथा २. असंघातित। जिसमें दो, तीन फलकों को बिना जोड़े लगाया जाता है अथवा बांस, कंबियां आदि अनेक अवयव होते हैं, वह अनेकांगिक संस्तारक होता है।

१३३६. जो भिक्षु ऋतुबद्ध (वर्षातिरिक्त) काल में इनमें से किसी भी प्रकार का संस्तारक ग्रहण करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व और विराधना—इन दोषों को प्राप्त होता है।

१३३७. सज्झाए पलिमंथो^१, गवेसणाणयणमप्पिणंते य ।
झामित-हित-वक्खेवो, संघट्टणमादिपलिमंथो^२ ॥ १२२२ ॥
१३३८. एवं सुत्तणिबंधो, निरत्थगो चोदगो य चोदेति ।
जह होति सो सअत्थो, तं सुण वोच्छं समासेणं ॥ १२२३ ॥
१३३९. सुत्तणिवातो तणेसु, देस^३ गिलाणे य उत्तिमट्टे^४ य ।
चिक्खल्ल-पाण-हरिते, फलगाणि य^५ कारणज्जाते ॥ १२२४ ॥ नि ३२४ ॥
१३४०. असिवादिकारणगता, उवधी कुच्छण अजीरगभया वा ।
अञ्जुसिरमसंध^६बीए, एक्कमुहे भंगसोलसर्गं^७ ॥ १२२५ ॥
१३४१. कुसमादि अञ्जुसिराई, असंधिबीयाइ एगतो^८ मुहाइं ।
देसीपोरपमाणा, पडिलेहा तिण्णि वेहासे^९ ॥ १२२६ ॥
१३४२. अंगुट्टुपोरमेत्ता, जिणाण थेराण होति संडासो^{१०} ।
भूमीएँ विरल्लेत्ता^{११}, 'पमज्जभूमी समुक्खेतुं'^{१२} ॥ १२२७ ॥
१३४३. भत्तपरिण्णगिलाणे, अपरिमितसइं तुवट्टे^{१३} जतणाए ।
णिककारणमगिलाणे, दोसा ते चेव य विकप्पे ॥ १२२८ ॥
१३४४. उभयस्स निसिरणट्टा, 'चंकमणं वाय'^{१४} वेज्जकज्जेसु ।
उट्टित अण्णो चिट्ठति, पाणदयट्टा^{१५} व हत्थो वा ॥ १२२९ ॥

१. परिमंथो (क) ।

२. इस गाथा के बाद हस्तप्रतियों में 'ञ्जुसिरेतर गाहा' 'पडिसाडिमपरिसाडी गाहा'—इन दो गाथाओं का संकेत मिलता है। चूर्ण में भी इन गाथाओं का केवल संकेत मिलता है, लेकिन निशीथभाष्य में ये दोनों गाथाएं एक साथ नहीं मिलने के कारण इन गाथाओं की पूर्ति यहाँ नहीं की गई है।

३. देसे (मु, भ) ।

४. उत्तं (मु) ।

५. वि (व्यभा ३३९५) ।

६. व्यभा ३३९६ ।

७. एक्कओ (मु, भ), एक्कतो (व्यभा) ।

८. वेहासं (व्यभा ३३९७) ।

९. पदेसिणिअंगुट्टुअग्गमिलिएसु संडासो (चू) ।

१०. विरल्लेत्ता (क), °ल्लेत्तं (व्यभा ३३९८) ।

११. °क्खेत्तं (क), अवणेतु पमज्जते भूमिं (व्यभा) ।

१२. तुअट्ट (दे) ।

१३. चक्कम्मण ताव (भ) ।

१४. °दयत्था (भ, मु), °ट्टाए (दे) ।

१३३७. ऋतुबद्ध काल में निष्कारण संस्तारक की गवेषणा करने, लाने तथा उसका प्रत्यर्पण करने से स्वाध्याय में विघ्न आता है। कदाचित् संस्तारक जल जाए, उसका हरण हो जाए तो उसे खोजने तथा संस्तारक स्वामी को दूसरा लाकर देने में स्वाध्याय में विक्षेप पैदा होता है। यदि संस्तारक संसक्त हो जाए तो त्रस जीवों से संघट्टन आदि से संयम में व्याघात पैदा होता है।

१३३८. शिष्य की जिज्ञासा है कि यदि ऋतुबद्ध काल में संस्तारक का ग्रहण अर्थतः निषिद्ध है तो सूत्ररचना निरर्थक हो जाएगी। आचार्य कहते हैं—सूत्रार्थ जैसे सार्थक होता है, उसे मैं संक्षेप में कहता हूँ, सुनो।

१३३९. सूत्रनिपात घास के संस्तारक के विषय में है। देश-विशेष में तथा ग्लान एवं अनशन प्रतिपन्न के लिए तृण-संस्तारक ग्रहण किया जा सकता है तथा भूमि कीचड़ युक्त हो, कुंथु आदि प्राणियों से संसक्त या हरितकाय युक्त हो—इत्यादि कारणों में संस्तारक फलक ग्राह्य है।

१३४०. अशिव आदि कारणों से मुनि जब ऐसे प्रदेश में चला जाता है, जहां वर्षारात्र में जल की प्रचुरता होने से ऋतुबद्ध काल में भी भूमि से जल निकलता रहता है, जिससे उपधि कुथित हो सकती है, अजीर्ण का भय रहता है वहां अशुषिर, संधि व बीजों से रहित और एकमुखी^१ तृण ग्रहण किए जा सकते हैं। अशुषिर, असंधि आदि चार पदों के सांयोगिक भंग सोलह हो जाते हैं।^२

१३४१. कुश आदि घास जो अशुषिर हो, संधि (ग्रंथि) तथा बीज से रहित हों तथा जिनकी नाल का मुख एक तरफ हो, जो प्रदेशिनी और अंगुष्ठ के पोर मिलाने पर होने वाली मोटाई वाले हों, उन्हें मुनि पूर्वोक्त कारणों में ग्रहण कर सकते हैं। वे दिन में तीन बार उसकी प्रतिलेखना करें (प्रातः, मध्याह्न और अपराह्न) और भिक्षा आदि के लिए जाते समय उन्हें खड़ा कर दें।^३

१३४२. अंगुष्ठ के पोर पर स्थित प्रदेशिनी से जिन्हें ग्रहण किया जा सके, उतनी मोटाई वाले तृण जिनकल्पिक मुनि ग्रहण कर सकते हैं। स्थविरकल्पिक मुनि संडास प्रमाण^४ तृण ग्रहण कर सकते हैं। मुनि प्रतिदिन तीन बार घास को भूमि पर फैलाकर उनकी प्रतिलेखना करे। इसके पश्चात् भूमि का प्रमार्जन कर उन्हें खड़ा कर दे।

१३४३. भक्तपरिज्ञा (अनशन) प्रतिपन्न तथा ग्लान मुनि के बिछाने के लिए तृण ग्रहण किए जाते हैं। वे तृण वसति में एक ओर संस्तृत रहते हैं, यदि ग्लान आदि न हों तो उन्हें एकत्रित कर रख दिया जाता है। देश-विशेष आदि कारणों के बिना यदि अग्लान मुनि ऋतुबद्ध काल में तृण आदि के संस्तारक ग्रहण करता है तो वे ही पूर्वोक्त दोष और विकल्प उसे प्राप्त होते हैं।

१३४४. रुग्ण या अनशन प्रतिपन्न मुनि जब उभय अर्थात् कायिकी (मूत्र) एवं पुरीष संज्ञा का विसर्जन करने हेतु, चंक्रमण हेतु, वायु-विसर्जन हेतु अथवा वैद्य आदि के कार्यों से उठता है, तब प्राणदया के लिए अन्य मुनि उस तृण संस्तारक पर बैठता है अथवा ग्लान उसे हाथ से दबा कर रखता है ताकि आशातना न हो।

१. निभा चू पृ. १५०—जिसमें एककतो णालाण मुहा ते एककतो मुहा।

२. उपर्युक्त सोलह भंगों में केवल प्रथम एक भंग शुद्ध है। शेष में जहां शुषिर, परित्त व अनन्त बीज युक्त ग्रहण किया जाए, वहां क्रमशः चतुर्लघु, लघुपनक एवं गुरु पनक प्रायश्चित्त है तथा शेष में मासलघु।

३. विस्तार हेतु द्रष्टव्य गा. १३४५।

४. संडास का अर्थ है—प्रदेशिनी एवं अंगुष्ठ के अग्र भागों को मिलाने से बनने वाली चिमटी।

१३४५. संथारुत्तरपट्टो, 'पकप्प कप्पो'^१ तु अत्थुरणवज्जो ।
तिप्पभित्तं च विकप्पो, णिक्कारणतो य तणभोगो ॥ १२३० ॥
१३४६. अहवा अञ्जुसिरगहणे, कप्प पकप्पो 'तु कज्ज झुसिरे व'^२ ।
झुसिरे व अञ्जुसिरे वा, होति विकप्पो अकज्जम्मि ॥ १२३१ ॥
१३४७. एवं ता उडुबद्धे, कारणगहणे तणाण जतणेसा ।
अधुणा उडुबद्धे च्चिय, चिक्खल्लादीसु फलगगहो ॥ १२३२ ॥
१३४८. 'अञ्जुसिरमविद्धमफुडित'^३, अगुरू^४ अणिसिट्ट'^५ वीणगहणेणं ।
आया-संजम गुरुगा, सेसाणं संजमे दोसा ॥ १२३३ ॥
१३४९. अञ्जुसिरमादीएहिं, जा अणिसिट्टं तु पंचिगा भयणा ।
'अहसंथड पासुद्धे'^६, वोच्चत्थे 'चतुलहू होंति'^७ ॥ १२३४ ॥
१३५०. अंतोवस्सय बाहिं, णिवेसणे वाडसाहिए^८ गामे ।
खेत्तंतो अण्णगामे, खेत्तबहिं वा अवोच्चत्थं^९ ॥ १२३५ ॥
१३५१. सुत्तं च अत्थं च दुवे वि काउं, भिक्खं अडंतो 'तु दुवे'^{१०} वि एसे ।
लंभे^{११} सहू एति दुवे वि घेत्तं, लंभासती^{१२} 'एग दुवे'^{१३} वि हावे ॥ १२३६ ॥
१३५२. एवं अलब्भमाणे^{१४}, काउं जोगं दिणे दिणे ।
कारणे उडुबद्धम्मि, खेत्त-कालं 'य भासते'^{१५} ॥ १२३७ ॥

१. थेरकप्पिया संथारुत्तरपट्टेसु सुवंति एस पकप्पो जिणकप्पियाण अत्थुरणवज्जो कप्पो (चू) ।
२. समावडिय कज्जे (व्यभा ३४०३), तु कज्जे झुसिरे वि (भ) ।
३. अञ्जुसिरो जत्थ कोट्टरं णत्थि (चू) ।
४. अगुरूय (व्यभा ३४०५) ।
५. 'द्धगहणे फुडियमणि' (क) ।
६. अहसंथडाइ सुद्धो (क) ।
७. होंति चउलहुगा (व्यभा ३४०६) ।
८. 'हितो (भ) ।
९. व्यभा ३४०७ ।
१०. य दुते (क) ।
११. लाभे (व्यभा ३४०८) ।
१२. लाभासती (व्यभा) ।
१३. उ दुए (भ) ।
१४. पलब्भ' (दे, भ) ।
१५. विभासए (मु, भ) ।

१३४५. स्थविरकल्पिक मुनि संस्तारक पर उत्तरपट बिछाकर सोते हैं—यह प्रकल्प है। जिनकल्पिक मुनि आस्तरण—बिछौने का प्रयोग नहीं करते, उत्कटुक आसन में बैठते हैं—यह कल्प है। स्थविरकल्पिक मुनि तीन आस्तरणों का प्रयोग करते हैं अथवा निष्कारण तृण-संस्तारक का भोग करते हैं—यह विकल्प है।

१३४६. अथवा प्रयोजन होने पर जिनकल्पिक और स्थविरकल्पिक मुनि अशुषिर तृण ग्रहण करते हैं—यह कल्प है। विशेष प्रयोजन में स्थविरकल्पिक मुनि शुषिर तृण ग्रहण करते हैं—यह प्रकल्प है। निष्प्रयोजन शुषिर अथवा अशुषिर तृण का ग्रहण विकल्प है।

१३४७. इस प्रकार ऋतुबद्धकाल में कारण में गृहीत तृण-संस्तारक के प्रयोग के विषय में यतना का निर्देश दिया गया। अब कीचड़ आदि के कारण ऋतुबद्ध काल में फलक का ग्रहण किया जाता है, इसका निर्देश किया जा रहा है।

१३४८. मुनि कारण में जिस फलक का ग्रहण करे, वह अशुषिर (कोटर रहित), अविद्ध (चींटियों आदि से अविद्ध), अस्फुटित, हलका तथा अनिसृष्ट (प्रत्यर्पणीय) हो एवं जिसे वीणा के समान दाएं हाथ से ग्रहण किया जा सके। भारी फलक को ग्रहण करने से आत्म-विराधना एवं संयम-विराधना तथा शेष—शुषिर, विद्ध आदि को ग्रहण करने से संयम-विराधना होती है।

१३४९. अशुषिर से लेकर अनिसृष्ट तक पांच भेदों के बत्तीस भंग हो जाते हैं। इनमें प्रथम भंग अनुज्ञात है। अन्यत्र शुषिर ग्रहण में चतुर्गुरु तथा शेष में चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। मुनि सर्वप्रथम वसति में उपलब्ध यथासंस्तृत (निष्प्रकम्प) फलक ग्रहण करे। वह न मिले तो क्रमशः पार्श्ववर्ती स्थान से अथवा ऊर्ध्वकृत (खड़ा किया हुआ) मिले, वह फलक ले ले। क्रम के विपर्यास से ग्रहण करने वाला मुनि चतुर्लघु प्रायश्चित्त को प्राप्त होता है।

१३५०. यदि निर्दोष फलक उपाश्रय के अन्दर न मिले तो बाहर अलिंद (द्वार का प्रकोष्ठ) आदि से ग्रहण करे। वहां न मिले तो क्रमशः निवेशन (एक ही दरवाजे वाले अनेक गृह), वाटक (वृत्ति आदि से परिवेष्टित गृहसमूह, मुहल्ला) तथा स्वग्राम से ले। यदि अपने ग्राम में न मिले तो मुनि अपने क्षेत्र के अन्दर दूसरे ग्राम तथा वहां न मिलने पर अन्य क्षेत्र से भी फलक ला सकता है। क्रम-विपर्यास कर फलक ग्रहण करना विहित नहीं।

१३५१. मुनि सूत्रपौरुषी एवं अर्थपौरुषी दोनों ही करके भिक्षा के लिए भ्रमण करता हुआ भक्त और संस्तारक—दोनों की एषणा करे। यदि संस्तारक मिल जाए और वह सक्षम हो तो आहार और संस्तारक दोनों ले आए। यदि इस विधि से एषणा करने पर न मिले तो अर्थपौरुषी अथवा सूत्र और अर्थ दोनों पौरुषी की हानि करके भी संस्तारक की गवेषणा करे।

१३५२. इस प्रकार कारण में प्रतिदिन योग (प्रयत्न) करने पर भी यदि स्वक्षेत्र में संस्तारक न मिले तो ऋतुबद्ध काल में मुनि अवश्य संस्तारक ग्रहण करे। इसमें क्षेत्र और काल की विभाषा है—क्षेत्र में बत्तीस योजन तक तथा काल में पांच दिन से लेकर जब तक न मिले, तब तक गवेषणा की जा सकती है।

१३५३. उडुबद्धिगमेगतरं, संधारं जे उवाइणे^१ भिक्खू।
पज्जोसवणाउ परं, सो पावति आणमादीणि ॥ १२३८ ॥ नि ३२५ ॥
१३५४. मायामोसमदत्तं, अप्पच्चय खिंसणा उवालंभो।
वोच्छेद-पदोसादी, 'दोसा उ'^२ उवाइणं तस्स ॥ १२३९ ॥
१३५५. बितियं पभु णिव्विसए, णट्टुट्टित-सुण्ण-मतमणप्पज्जे।
असहू संसत्ते या, तक्कज्जमणिट्टिते दोच्चं ॥ १२४० ॥
१३५६. मुय णिव्विसए णट्टुट्टिते व कज्जे समत्त उज्झंति।
वच्चंता वा दट्टुं, भणंति कस्सऽपिणेज्जामो ॥ १२४१ ॥
१३५७. सुण्णे एंत पडिच्छण, वच्चंता 'वा सएज्ज'^३ णीयाणं।
असहू जाव ण हट्टो, संसत्ते पोरिसी तिण्णि ॥ १२४२ ॥
१३५८. पुणरवि पडिते वासे, तम्मि वऽसुक्खंत दोच्चऽणुणवणा।
अब्भागमिगा^४ अण्णे, अलद्ध तस्सेवऽणुणवणा^५ ॥ १२४३ ॥
१३५९. वासासु^६ अपरिसाडी^७, संधारो सो अवस्स घेत्तव्वो।
मणिकोट्टिमभूमीए 'अगेणहणे गुरुग आणादी'^८ ॥ १२४४ ॥ नि ३२६ ॥
१३६०. पाणा सीतलकुंथू, उप्पायग-दीह-गोमिह-सुसुणागे।
पणगे य उवधिकुच्छण, मल उदगवधो अजीरादी^९ ॥ १२४५ ॥
१३६१. तम्हा खलु^{१०} घेत्तव्वो, 'भेदा गहणे तु तस्सिमा पंच'^{११}।
गहणे य अणुणवणे^{१२}, एगंगिय अकुय-पाउग्गे ॥ १२४६ ॥ नि ३२७ ॥
१३६२. गहणं च जाणएणं, जतणुणवणा य गहित-जतणा य।
मम एत्थ 'पास तत्थेव, उक्खित्तें'^{१३} जं जहिं णेति ॥ १२४७ ॥

१. उवादिणे (क)।

२. दोसाति (मु), दोसादि (भ)।

३. तासं (दे, भ)।

४. अब्भागमे व (मु, भ)।

५. °वणे (क)।

६. सूत्र ५१ (नव २/५०)।

७. अपडिं (मु, भ)।

८. तमगिणहण चउगुरू आणा (व्यभा ३४११)।

९. व्यभा ३४१२।

१०. खलु अवधारणे अवश्यमेव गृहीतव्यं (चू)।

११. तत्थ इमे पंच वणिणता भेदा (व्यभा ३४१३)।

१२. °वणा (व्यभा)।

१३. पासे तत्थेवुक्खित्ते (पा)।

१३५३. जो भिक्षु ऋतुबद्धकाल में याचित परिशाटी अथवा अपरिशाटी किसी भी प्रकार के शय्या-संस्तारक को पर्युषणा के बाद रखता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

१३५४. कालातिक्रमण कर शय्या संस्तारक रखने के अन्य दोष ये हैं—१. माया, २. मृषा, ३. अदत्त, ४. अविश्वास, ५. खिंसा (निष्ठुर वचनों से अवहेलना), ६. उपालंभ, ७. व्यवच्छेद और, ८. प्रद्वेष।^१

१३५५. अपवाद में विवक्षित काल के बाद भी मुनि शय्या-संस्तारक रख सकता है—१. संस्तारक स्वामी को देश निकाला दे दिया गया हो। २. वह वहां से चला गया हो। ३. गांव उजड़ गया हो अथवा प्रवासित हो गया हो। ४. संस्तारक स्वामी या वह साधु मृत्यु को प्राप्त हो गया हो। ५. वह या साधु अनात्मवश, क्षिप्त, दृप्त आदि हो गया हो। ६. संस्तारक लाने वाला साधु प्रत्यर्पण में असमर्थ हो जाए। ७. संस्तारक संसक्त हो जाए तो तीन प्रतिलेखना काल (तीन प्रहर) तक रखना पड़ता है और ८. जिस प्रयोजन से संस्तारक लाया गया, वह अभी तक पूर्ण नहीं हुआ अतः दूसरी बार अनुज्ञा लेना अपेक्षित हो जाता है।

१३५६. संस्तारक स्वामी मृत्यु को प्राप्त हो जाए, देश से निकाल दिया जाए, भाग गया हो या गांव उजड़ जाए, उस परिस्थिति में मुनि स्वयं का प्रयोजन समाप्त होने पर संस्तारक को त्याग सकता है। यदि मुनि संस्तारक स्वामी को जाता हुआ देखे तो पूछ ले कि तुम्हारा संस्तारक हम किसे लौटाएं।

१३५७. यदि संस्तारक स्वामी अन्यत्र प्रवास हेतु गया हुआ हो तो मुनि उसके आने की प्रतीक्षा करे। यदि मुनियों को विहार करना हो तो उसके पड़ौसियों या रिश्तेदारों को सौंप दे और कह दे कि उसके आने पर उसे संस्तारक लौटा दें। यदि मुनि बीमारी आदि से संस्तारक लौटाने में असमर्थ हो तो कारण बताकर स्वस्थ होने पर लौटा दे। संस्तारक त्रस जीवों से संसक्त हो तो तीन पौरुषी तक रख कर बाद में लौटाएं।

१३५८. यदि पर्युषणा काल से पूर्व या उस समय पुनः वर्षा होने लग जाए अथवा पहले वर्षा से गीली हुई जमीन न सूखी हो, अन्य संस्तारक नहीं मिल रहा हो तो पुनः उसी की अनुज्ञा ले ले। अथवा उन्हें कह दे कि जमीन सूखने के बाद आपको संस्तारक लौटा देंगे। अभ्यागम—पार्श्ववर्ती स्थान में अन्य संस्तारक न मिले अथवा अभ्यागमिक—अतिथि साधु आ जाएं, तब भी उसकी पुनः अनुज्ञा ले ले।

१३५९. पक्की फर्श वाली जमीन हो, तब भी वर्षावास में अपरिशाटी संस्तारक अवश्य ग्रहण करना चाहिए। जो मुनि वर्षावास में संस्तारक ग्रहण नहीं करता, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

१३६०. शीतल भूमि पर कुंथु आदि प्राणी तथा उष्णायक (त्रीन्द्रिय जन्तु) पैदा हो जाते हैं, जिससे संयम विराधना होती है। गीली भूमि में सांप, कनखजूरा, शिशुनाग (केंचुआ) आदि जीव होते हैं वे डस लेते हैं। तथा कोई पैदा हो जाती है। सस्निग्ध भूमि एवं सूक्ष्म पंक से उपधि कुत्सित एवं मलिन हो जाती है, मैले कपड़ों को पहनकर गोचरी जाने से उन पर वर्षा का पानी गिरने से अप्कायिक जीवों की विराधना होती है। निरन्तर गीले कपड़े पहनने से अजीर्ण आदि रोग पैदा हो जाते हैं।

१३६१. अनेक दोषों के कारण वर्षावास में मुनि को अवश्य संस्तारक ग्रहण करना चाहिए। संस्तारक ग्रहण के विषय में ये पांच भेद होते हैं—१. ग्रहण, २. अनुज्ञा लेना, ३. एकांगिक, ४. अकुच और ५. प्रायोग्य।^२

१३६२. संस्तारक वही मुनि ग्रहण करे, जो संस्तारक-कल्प का ज्ञाता हो। वह यतनापूर्वक संस्तारक की अनुज्ञा ले तथा ग्रहण करने के बाद भी यतना का ध्यान रखे। कार्य की सम्पन्नता पर संस्तारक किसे लौटाएं इस विषय में संस्तारक स्वामी के छह उत्तर हो सकते हैं—१. मुझे लौटाएं। २. यहीं घर में आच्छन्न प्रदेश में रख दें। ३. जिस स्थान से लिया है उसी के पास रख दें। ४. जिस स्थान से लिया है, वहीं पर रखें। ५. खड़ा करके छोड़ दें। ६. जिस घर में कहें, वहीं संस्तारक ले जाएं।

१. व्यवच्छेद—उस या अन्य साधु के लिए, तद्द्रव्य या अन्यद्रव्य दोनों का हो सकता है। प्रद्वेष भी उस अथवा अन्य साधु के विषय में संभव है।

२. द्वारों के विस्तार हेतु द्रष्टव्य गा. १३६२-१३९०।

१३६३. सेज्जाकप्प विहिण्णू, गेण्हति परिसाडि वज्जमप्पेहं ।
छण्णपहम्मि य ठवणं, कस्सऽप्पिणणं च पुच्छंति ॥ १२४८ ॥
१३६४. 'आभिग्गहियऽस्सऽसती'^१, वीसुं गहणं पडिच्छिउं सव्वे ।
दाऊण तिण्णि गुरुणो, गेण्हंतऽण्णे जहा वुड्ढं^२ ॥ १२४९ ॥
१३६५. णेगाण तु णाणत्तं, सगणेतरऽभिग्गहीण वण्णगणे ।
दिट्ठोभासण लद्धे, 'सण्णातग उड्ढ'^३ पभु चेव ॥ १२५० ॥ नि ३२८ ॥
१३६६. दट्ठूण व^४ हिंडंतेण वाऽऽणितो तस्स वावि वयणेणं ।
विप्परिणामण कहणे, वोच्छिण्णे जस्स वा देति^५ ॥ १२५१ ॥ नि ३२९ ॥
१३६७. संथारो दिट्ठो ण य, 'तस्स जो'^६ पभू लहुग अकहणे^७ गुरुणं ।
कहिते व^८ अकहिते वा, अण्णेण वि आणितो तस्स^९ ॥ १२५२ ॥
१३६८. संथारं देहंतं, असहीण पभू^{१०} तु पासते^{११} पढमो ।
बितिओ तु अण्णदिट्ठं, असढो आणेतऽणाभोगा^{१२} ॥ १२५३ ॥
१३६९. ततिओ तु गुरुसगासे, विगडिज्जंतं सुणेत्तु संथारं ।
अमुगत्थ मए दिट्ठो, 'हिंडंतेणऽण्ण'^{१३} सीसंतं ॥ १२५४ ॥
१३७०. दिट्ठो वण्णेणऽम्हं, ण कप्पती दच्छिवे^{१४} तममुगो तु ।
मा दिज्जसि तस्सेतं, पडिसिद्धे तम्मि मज्जेसो ॥ १२५५ ॥
१३७१. अहवा सोउ विगडणं, धम्मकधा पणियलोभितं भणति ।
अमुगं पडिसेधेतुं, तो दिज्जसि मज्झ मा अज्ज ॥ १२५६ ॥
१३७२. विप्परिणतम्मि भावे, तिक्खुत्तो वावि जाइतमलद्धे ।
अण्णो लभेज्ज फलगं, तस्सेव य सो ण पुरिमस्स ॥ १२५७ ॥

१. °स्सासति (मु) ।

२. वुड्ढा (मु, भ), व्यभा ३४२० ।

३. सण्णातुड्ढे (व्यभा ३४२१), °उड्ढो (पा) ।

४. वि (भ) ।

५. चूर्णि में इस गाथा के लिए 'एसा चिरंतणगाहा' का उल्लेख है ।

६. जो तस्स (भ) ।

७. वा (दे) ।

८. व्यभा ३४२५ ।

९. पभुं (व्यभा) ।

१०. पासिउं (व्यभा) ।

११. व्यभा (३४२४) में गाथा का उत्तरार्ध इस प्रकार है —
ताधे पडिसरिऊणं, ओभासिय लद्धुमाणेति ।

१२. हिंडंतो वण्ण (भ, व्यभा ३४२७) ।

१३. दच्छिमे (भ) ।

१३६३. आचाराग्र में शय्याकल्प के विषय में जो सूत्र दिये गए हैं, उन्हें सूत्र और अर्थ से भलीभांति जानने वाला मुनि शय्याकल्प-विधिज्ञ कहलाता है। वह संस्तारक उपलब्ध होने पर कहता है कि हम इसे प्रातिहारिक रूप में ले रहे हैं। यदि कोई व्याघात नहीं हुआ तो अमुक समय तक परिभोग करते हुए जो परिश्रम हो जाएगा, उसे छोड़कर आप को अमुक समय के बाद लौटा देंगे। संस्तारक ग्रहण करने के बाद उपाश्रय में ले जाना संभव नहीं हो तो वह उसे आच्छन्न प्रदेश में रख देता है तथा किसे लौटाना आदि बातें पूछ लेता है।

१३६४. उपर्युक्त विधि अभिगृही संघाटक के विषय में प्रज्ञप्त है। जहां ऐसा संघाटक न हो, वहां सारे संघाटक अलग-अलग अथवा समूह रूप में पूर्वोक्त विधि से संस्तारक ग्रहण कर उसे गणावच्छेदक को लाकर सौंप देते हैं। वह उनमें से तीन अच्छे संस्तारक गुरु को समर्पित कर देता है तथा शेष मुनि रात्निक-क्रम से बचे हुए संस्तारकों को ग्रहण कर लेते हैं।

१३६५. जहां एक क्षेत्र में मुनियों के अनेक गण हों, वहां स्वगण तथा अन्य गण में अभिगृही और अनभिगृही मुनि संघाटक अथवा वृन्द रूप में संस्तारक की गवेषणा हेतु जाते हैं। उस विषय में जो नानात्व है, वह इन छह द्वारों से ज्ञातव्य है—१. दृष्ट, २. अवभाषण, ३. लब्ध, ४. संज्ञातक, ५. ऊर्ध्व और ६. प्रभु। १३६६. दृष्टद्वार के पुनः छह उपद्वार होते हैं—१. संस्तारक देखना, २. घूमते हुए लाना, ३. पूर्व संघाटक की बात सुनकर लाना, ४. विपरिणत कर लाना, ५. धर्मकथा करके लाना अथवा ६. पूर्व संघाटक का भाव विच्छिन्न होने पर लाना।^१

१३६७. भिक्षा आदि के लिए भ्रमण करते हुए साधु-संघाटक ने संस्तारक देखा, लेकिन उसके स्वामी को नहीं देखा। यदि वह साधु संघाटक गुरु के समक्ष इसे निवेदन न करे तो उसे मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। उसके कहने या न कहने पर भी दूसरा साधु-संघाटक जान-बूझकर उसे ले आए तो भी वह संस्तारक उसी का होगा, जिसने उसे पहले देखा था।

१३६८. पूर्वोक्त प्रकार से मुनियों ने संस्तारक देखा पर उसका स्वामी नहीं मिला। दूसरा साधु-संघाटक उस अन्य दृष्ट संस्तारक को अशठ (ऋजु) भाव से अथवा अनाभोग (जानकारी के अभाव) में ले आया। इस स्थिति में भी संस्तारक उसी का होगा, जिसने उसे पहले देखा था।

१३६९. दृष्टद्वार का तीसरा उपद्वार (प्रकार) है—किसी मुनि को गुरु के समक्ष आलोचना (निवेदन) करते सुनकर कि मैंने अमुक स्थान पर संस्तारक देखा अथवा अन्य मुनियों को परस्पर कहते सुनकर उनके कथन के आधार पर कोई मुनि अन्यदृष्ट संस्तारक ले आता है।

१३७०. मार्गणा के लिए मुनि संस्तारक स्वामी से कहता है—हमारे ऐसा सिद्धान्त है कि 'मैं मांगूंगा' ऐसा सोचकर पहले किसी अन्य ने देखा हो, वह संस्तारक हमें लेना नहीं कल्पता अतः कोई मांगे उसी समय तुम प्रतिषेध कर देना। इस संस्तारक को उसे मत देना—प्रतिषिद्ध हो जाने पर वह मेरा हो जाएगा।

१३७१. अथवा पूर्वोक्त प्रकार से प्रथम मुनि जब गुरु से निवेदन करता है, उसे सुनकर अन्य मुनि उस संस्तारक स्वामी को धर्मकथा से प्रतिलोभित कर कहता है—अमुक मुनि मांगे तो उसे मना कर देना। आज नहीं, फिर किसी दिन, मुझे दे देना।

१३७२. जिसने पहले संस्तारक देखा, यदि उस मुनि का भाव विपरिणत हो जाए—मन बदल जाए अथवा उसके तीन बार मार्गणा करने पर भी संस्तारक न मिले और अन्य मुनि को फलक मिल जाए तो वह उसी का होता है। पहले जिस मुनि ने देखा, उसका नहीं।

१. विवरण हेतु द्रष्टव्य गा. १३६८-१३७२।

१३७३. सोडं हिंडण-कधणं, वोच्छिण्णे जस्स 'अण्ण अण्णं'^१ वा ।
विगडिंतोभासंतं, व सोडमोभासति^२ तहेव ॥ १२५८ ॥ नि ३३० ॥
१३७४. अण्णो वा ओभट्ठो, अण्णं से देति सो व अण्णं तु ।
कप्पति जो तु पणइतो, तेण व अण्णेण व ण कप्पे ॥ १२५९ ॥
१३७५. काले वा घेच्छामो, वियावडा वावि ण तरिमो णेडं ।
लद्धे वि कहण विपरिणामण वोच्छिण्णे जस्स वा देति^३ ॥ १२६० ॥
१३७६. सण्णातगे वि तह चेव, कह^४ विपरिणामणासु तु विभासा^५ ।
अब्भासतरो गेण्हति, मित्तो वण्णो विमं वोत्तुं ॥ १२६१ ॥ नि ३३१ ॥
१३७७. अण्णे वि तस्स णीया^६, देहिह अण्णं पि^७ तस्स मम दाडं ।
दुल्लभलाभमणातुंछितम्मि दाणं भवति सुद्धं ॥ १२६२ ॥
१३७८. सण्णातगिहे^८ अण्णो, ण गेण्हती^९ तेण असमणुण्णातो ।
सति विभवो^{१०} 'सत्तीसु य'^{११}, सो वि हुण वि^{१२} तेण णिव्विसती^{१३} ॥ १२६३ ॥
१३७९. वरिसेज्ज मा हु छण्णे, ठवेति अण्णो य^{१४} मा विमग्गेज्जा ।
तं चेव उड्डकरणे, नवरिं पुच्छाएँ णाणत्तं ॥ १२६४ ॥ नि ३३२ ॥
१३८०. छण्णे उड्डो व कतो, संथारो होज्ज सो अहाभावा ।
तत्थ वि सामायारी, पुच्छिज्जति इहरहा लहुगो ॥ १२६५ ॥
१३८१. उड्डं केण कतमिणं, आसंका पुच्छितम्मि तु असिट्ठे ।
अण्णाऽसढमाणीत्तं, पुरमिल्ले^{१५} केति^{१६} साहारं ॥ १२६६ ॥

१. अण्णो अण्णं (भ, मु) ।

२. सोड ओ (दे) ।

३. गाथा के उत्तरार्ध में छंद-भंग है ।

४. कहण (दे) ।

५. विभास (पा), गाथा के पूर्वार्द्ध में छंदभंग है ।

६. नियगा (व्यभा ३४४६) ।

७. य (व्यभा) ।

८. सण्णाइ (व्यभा ३४४७) ।

९. गिण्हते (क), गेण्हते (व्यभा) ।

१०. विभवो णाम अण्णतो संथारगादि लद्धं (चू) ।

११. सत्तीसु व (भ), असतीए (व्यभा), सत्ती णाम अह-
मन्यत्रापि उत्पादयितुं समर्थः (चू) ।

१२. य (भ) ।

१३. ण णिव्विसति द्विप्रतिषेधः प्रकृतं गमयति—विशत्येव
न वारयतीत्यर्थः (चू) ।

१४. वि (क), व (भ) ।

१५. पुरिमि (पा) ।

१६. केपि (भ) ।

१३७३. किसी साधु संघाटक को गुरु के पास निवेदन अथवा परस्पर संलाप करते सुनकर अन्य मुनि संस्तारक का अवभाषण करता है। इसके अन्तर्गत छह द्वार हैं—१. सुनकर, २. घूमते हुए, ३. संस्तारक स्वामी को विपरिणत कर, ४. धर्मकथा कर, ५. पूर्वसंघाटक का भाव व्यवच्छिन्न होने पर^१ और ६. अन्य व्यक्ति से अन्य संस्तारक ले आया।

१३७४. एक साधुसंघाटक ने एक घर में संस्तारक देखा, एक व्यक्ति से मांगा, नहीं मिला। दूसरे साधु संघाटक ने उसी घर में अन्य व्यक्ति से संस्तारक मांगा। उसे वह व्यक्ति अन्य संस्तारक अथवा जिससे पूर्व संघाटक ने संस्तारक मांगा था, वह अन्य संस्तारक देता है तो दूसरे साधु संघाटक को कल्पता है। यदि वही व्यक्ति या अन्य व्यक्ति द्वितीय साधु संघाटक को वह संस्तारक देता है, जो पहले ने मांगा था तो वह दूसरे संघाटक को नहीं कल्पता।

१३७५. 'लब्ध' द्वार में प्राप्त संस्तारक को साधु संघाटक यह सोचकर नहीं लाता कि परिभोग का समय आने पर ले जाएंगे अथवा अभी गोचरी आदि में व्यापृत हैं अतः बाद में ले जाएंगे। उसे गुरु के समक्ष निवेदन करते सुनकर या सहज भाव से भिक्षार्थ गया हुआ अन्य संघाटक उसे ले आता है, इसमें भी धर्मकथा, विपरिणाम, भाव-व्यवच्छेद आदि छहों द्वारों की व्याख्या और व्यवहार पूर्ववत् है, केवल स्वामी कहता है—मैंने अन्य मुनि को दे दिया है।

१३७६, १३७७. किसी साधु ने अपने किसी ज्ञातिजन के घर संस्तारक देखा, मांगा। संस्तारक स्वामी बोला—ले लें। साधु—जब चाहिएगा, तब ले लूंगा। उस मुनि ने जाकर गुरु के समक्ष निवेदन किया। आगे सुनकर आदि से लेकर धर्मकथा पर्यन्त द्वारों की व्याख्या पूर्ववत् ज्ञातव्य है। विपरिणामन द्वार की व्याख्या इस प्रकार है—कोई उस गृहस्थ का निकटतर सम्बन्धी अभ्यर्हित अथवा मित्र है, वह उसे विपरिणत कर ले लेता है। कोई अन्य मुनि यह कहकर ले लेता है कि अमुक मुनि के निजक अथवा मित्र अन्य भी हैं, वे ही उसे दे देंगे, मुझे तो तुम ही दोगे। अथवा वह तुम्हारा अधिक निकट सम्बन्धी है अतः उसे दूसरा दे देना, यह मुझे दे दो। अथवा सम्बन्धी को दान देने की अपेक्षा 'अज्ञातउञ्छ' के रूप में दिया गया दान शुद्ध होता है।

१३७८. जिस ग्राम में मुनि स्थित हैं, उसमें जिसके संज्ञातक रहते हैं, उस मुनि की अनुज्ञा लिए बिना अन्य मुनि उस घर में प्रविष्ट नहीं होते। वह मुनि भी—मुझे अन्यत्र संस्तारक आदि मिल सकते हैं, मैं अन्यत्र भी संस्तारक आदि की खोज कर सकता हूँ—इस वैभव और शक्ति से युक्त हो तो उन्हें नहीं रोकता।

१३७९. किसी मुनि को संस्तारक मिला पर वह उसे उपाश्रय में नहीं लाया। उसने आपण, हाट आदि छत्र प्रदेश में खड़ा कर दिया ताकि कदाचित् वर्षा में भीगे नहीं अथवा अन्य मुनि उसे न मांगे। आगे का क्रम ऊर्ध्वकरण में भी वही है, जो दृष्ट आदि अन्य द्वारों में प्रज्ञप्त है, केवल पृच्छा के विषय में नानात्व है।

१३८०. मुनि ने किसी हाट आदि आच्छन्न प्रदेश में खड़ा किया हुआ संस्तारक देखा। उसने सोचा—मुनि के द्वारा किया गया है अथवा गृहस्थ ने सहज भाव से किया है?—वहां पर (इस विषय में) समाचारी यह है कि वह पूछे कि यह किसने किया। यदि वह नहीं पूछता तो मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१३८१. यह संस्तारक किसके द्वारा ऊर्ध्वकृत है—यह पूछने पर गृहस्थ न बताए अथवा अन्य मुनि अशठ भाव से उपाश्रय में ले आए, वह उसी का होता है, जिसने वहां खड़ा किया था। कुछ आचार्यों के अनुसार वह साधारण—दोनों का होता है।

१. विपरिणामन शब्द गाथा में गृहीत नहीं।

२. एक साधु संघाटक ने संस्तारक देखा, मांगा, पर नहीं मिला। आकर गुरु के समक्ष निवेदन किया। उसे सुनकर अन्य संघाटक दुष्टभाव से या भ्रमण करता हुआ सहज-भाव से संस्तारक ले आए आदि सभी द्वार दृष्ट द्वार के समान हैं। सर्वत्र मुख्यतः अवभाषण का अन्तर है।

१३८२. पुत्तो पिता व जाइत, दोहि वि दिण्णं पभूहि वा जस्स ।
अपभुम्मि लहू आणा^१, एगतरपदोसतो जं च ॥ १२६७ ॥ नि ३३३ ॥
१३८३. अण्णेण अणुण्णवित्ते, अण्णो जदि गेण्हती तहिं फलगं ।
गच्छम्मि सए लहुगा, गुरुगा चत्तारि परगच्छे ॥ १२६८ ॥
१३८४. एगासतिऽलंभे वा, णेगाण वि होति एस चेव गमो ।
दिट्ठादीसु पदेसु^२, णवरऽप्पिण्णम्मि णाणत्तं ॥ १२६९ ॥
१३८५. सव्वे वि दिट्ठरूवे, करेहि पुण्णम्मि अम्ह एगतरो ।
अन्नो वा वाघातो, अप्पेहिति जं भणसि तस्स^३ ॥ १२७० ॥
१३८६. सज्झायं कारुणं, भिक्खं काउं अदिट्ठ वसिरुणं ।
'खेत्तम्मी उ असंतं'^४, आणयणं खेत्तबहियातो ॥ १२७१ ॥
१३८७. सव्वेसु वि गहितेसुं, संथारो वासगे अणुण्णवणा ।
जो जस्स तु पाउग्गो, सो तस्स तहिं तु दातव्वो ॥ १२७२ ॥
१३८८. खेल-‘पवात-निवाते’^५, काल^६ गिलाणे य सेह पडियरए ।
सम-विसमे पडिपुच्छ, आसंखडिए अणुण्णवणा ॥ १२७३ ॥
१३८९. एगंगियस्स असती, दोमादी संतरंतु णममाणे ।
कुयबंधणम्मि लहुगा, तत्थ वि आणादिणो दोसा^७ ॥ १२७४ ॥ नि ३३४ ॥
१३९०. उग्गममादी सुद्धो, गहणादी जो व वण्णितो एसो ।
एसो खलु पाउग्गो, ‘गुरुमादीणं च जो जोग्गो’^८ ॥ १२७५ ॥ नि ३३५ ॥
१३९१. तद्विवसं पडिलेहा, बंधा पक्खस्स सव्व मोत्तूणं ।
लहुगा अणुम्मयुयंते, ते चेव य अपडिलेहाए ॥ १२७६ ॥

१. आणं (पा) ।

२. पदेसू (दे, भ) ।

३. व्यभा ३४५८ ।

४. खेत्तम्मि उ असंतं (भ) ।

५. निवात पवाते (व्यभा ३४६४) ।

६. काले (भ) ।

७. तु. व्यभा ३४६७, ३४६८ ।

८. हेट्ठिमसुत्ते व जो भणितो (व्यभा ३४७२) ।

१३८२. एक संघाटक ने पुत्र से संस्तारक मांगा, अन्य ने पिता से वही संस्तारक मांगा। दोनों ने दोनों साधुओं को दे दिया। अब प्रश्न है कि वह किसका होगा—१. यदि दोनों (पिता, पुत्र), प्रभु (स्वामी) हैं तो संस्तारक दोनों का होगा। अथवा जिसने पहले मांगा, उसका होगा। २. एक प्रभु है तो जिस मुनि को उसने दिया, संस्तारक उसी का होगा। जिस मुनि ने अप्रभु से संस्तारक की अनुज्ञा ली, उसे मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है, आज्ञाभंग आदि दोष प्राप्त होते हैं तथा एक को संस्तारक देने वाले के अथवा मुनि के प्रति प्रद्वेष के कारण वह अप्रभु जो ताड़ना आदि का प्रयोग करता है, तन्निष्पन्न प्रायश्चित्त भी मुनि को प्राप्त होता है।

१३८३. एक घर में साधु संघाटक ने फलक की अनुज्ञा ली, उसी घर से वही फलक स्वगच्छीय अन्य संघाटक ग्रहण करे तो उसे चतुर्लघु तथा परगच्छवासी को चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१३८४. यदि संघाटक रूप में गवेषणा करने पर संस्तारक न मिले तो मुनि वृन्दरूप में भी फलक की गवेषणा करते हैं, उसमें भी दृष्ट आदि सारे पदों के ग्रहण, व्यवहार आदि के विषय में यही गम (प्रकार/व्याख्या) वक्तव्य है, केवल अर्पण (लौटाने) के विषय में नानात्व है।

१३८५. मुनिवृन्द संस्तारक स्वामी से कहता है—आप हम सभी को दृष्टरूप (वर्ण, व्रण, तिल आदि से परिचित) कर लें। समय सम्पन्न होने पर हम में से कोई आपको फलक लौटा देगा। यदि कोई व्याघात हुआ तो अन्य मुनि लौटा देगा। यदि आप नहीं होंगे तो जिसे कहेंगे, उसे हममें से कोई लौटा देगा।

१३८६. भिक्षु स्वाध्याय करके भिक्षा करते हुए संस्तारक की गवेषणा करे।^१ यदि संस्तारक स्वामी न मिले तो अन्य ग्राम में गए हुए भिक्षु वहां रह जाएं। प्रातःकाल संस्तारक लेकर आ जाएं। यदि स्वक्षेत्र में अन्य ग्राम में भी संस्तारक न मिले तो अनिवार्यता में क्षेत्र के बाहर से भी उसका आनयन किया जा सकता है।

१३८७. सभी भिक्षुओं को संस्तारक प्राप्त हो जाने पर यथारालिक संस्तारक और उपाश्रय (शय्या) की अनुज्ञा ली जाती है। जो जिसके प्रायोग्य हो, वह संस्तारक एवं संस्तारकभूमि उसे दे देनी चाहिए।

१३८८. जिस भिक्षु के श्लेष्म व्याधि हो, उसे अन्त में, पित्त प्रकृति वाले को पवन युक्त स्थान में, वात प्रकृति वाले को निर्वात स्थान में, कालग्राही को कालग्रहण भूमि के पास, ग्लान और शैक्ष प्रतिचरक को क्रमशः ग्लान और शैक्ष के समीप, असहू या पार्श्वभाग में दर्द वाले मुनि को समभूमि में, सहनशील को विषमभूमि में, सूत्रार्थ की प्रतिपृच्छा करने वाले को समाधायक के पास तथा झगड़ालू प्रकृति वाले को आचार्य के पास में स्थान की अनुज्ञा दी जाती है—यह प्रायोग्यता के आधार पर यथारालिक का अपवाद है।

१३८९. यदि एकांगिक (एक फलक से निष्पन्न) संस्तारक न मिले तो दो या तीन फलक को जोड़कर बनाया हुआ संस्तारक ले। यदि फलक न मिले तो पूर्व संघातित कंबियों वाला अथवा असंघातित कंबियों वाला संस्तारक ले। जिसकी कंबियां झुकती हों, उसमें तिरछी कंबियां बांधें ताकि प्राणियों की विराधना न हो। जिसकी कंबियां इधर-उधर चलित होती हैं, उस चंचल बंधन वाले संस्तारक का प्रयोग करने से चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है तथा उसमें आज्ञाभंग आदि (आत्म एवं संयम विराधना) दोष प्राप्त होते हैं।

१३९०. प्रायोग्य शब्द के तीन अर्थ प्रज्ञप्त हैं—१. जो उद्गम आदि दोषों से रहित (शुद्ध) हो। २. ग्रहण आदि द्वारों के द्वारा जिसका वर्णन किया गया है वैसा। ३. जो गुरु आदि पुरुष विभाग से योग्य (अर्ह) हो।

१३९१. मुनि दिन में उभयसंध्या संस्तारक की प्रतिलेखना करे तथा पक्ष में एक बार सारे बंधनों को खोलकर उसकी प्रतिलेखना करे। जो पक्ष में एक बार बंधन नहीं खोलता, उसे चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है तथा उभयसंध्या में प्रतिलेखना न करने वाले को भी वही प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१. संघाटक में संस्तारक की गवेषणा करने वाले मुनि सूत्र और अर्थ दोनों पौरुषी करके तथा वृन्दरूप में गवेषणा करने वाले अर्थपौरुषी का वर्जन कर संस्तारक की गवेषणा करते हैं।

१३९२. अंकम्मि व भूमीए^१, कारुणं भंडगं तु संथारं ।
रयहरणेण पमज्जे, ईसि समुक्खेतु हेट्टुवरिं ॥ १२७७ ॥
१३९३. वासाणं एगतरं, संथारं जो उवादिणे भिक्खू ।
दसराताउ परेणं, सो पावति आणमादीणि ॥ १२७८ ॥ नि ३३६ ॥
१३९४. मायामोसमदत्तं, अप्पच्चय^२ खिंसणा उवालंभो ।
वोच्छेद-पदोसादी, दोसा तु अणप्पिणंतम्मि ॥ १२७९ ॥
१३९५. बितियं पभु णिव्विसए, णट्टुट्टित सुण्ण-मतमणप्पज्जे ।
असहू संसत्ते वा^३, रट्टुट्टाणे य हितदड्ढे ॥ १२८० ॥
१३९६. परिसाडिमपरिसाडी^४, अंतो बहिया व दुविधकालम्मि ।
उवरिं संतं पासिय, जो तं ण ऽवसारं आणादी ॥ १२८१ ॥ नि ३३७ ॥
१३९७. उवरिं संते लहुगा^५, अवस्स वरिसिस्सति त्ति लहुगो तु ।
लहुगा लहुगो व कते, णिक्कारण कारणे^६ बाहिं ॥ १२८२ ॥
१३९८. तं दट्टूण सयं वा, अहवा अण्णेसि^७ अंतिए सोच्चा ।
ओभावणमग्गहणं, कुज्जा दुविधं च वोच्छेदं ॥ १२८३ ॥
१३९९. अण्णे वि होंति दोसा, संजम-पणगे अजीर^८ आयाए ।
बंधाण य कुच्छणता, उल्लक्कमणे^९ य तब्भंगो ॥ १२८४ ॥
१४००. बितियपदे वसहीए, ठिते व विच्छेदगो^{१०} भवे अंतो ।
पडिलेहणमप्पिणणे, गिलाणमादी सुविहिता तु ॥ १२८५ ॥
१४०१. एवं ता णीहरणं, हवेज्ज अह णीणितं पि णऽविसारे ।
गेलण्ण-वसहिपडणे, संभम-पडिणीय-सागरिए ॥ १२८६ ॥

१. भूमीय व (भ) ।

२. अपच्चयो (भ) ।

३. या (भ) ।

४. सूत्र ५२ (नव २/५१), °डिय परि° (दे) ।

५. लहुगं (मु, भ) ।

६. × (भ) ।

७. अण्णे वि (भ, मु) ।

८. य जीव (भ, मु) ।

९. उल्लुक्क° (दे) ।

१०. उच्छेदओ (मु), उच्छेवओ (भ) ।

१३९२. मुनि सारे उपकरणों की प्रतिलेखना कर उन्हें गोद में या भूमि पर रख दे। फिर संस्तारक को नीचे से थोड़ा ऊपर उठाकर उसका रजोहरण से प्रमार्जन करे।

१३९३. जो भिक्षु वर्षाकाल में याचित परिशाटी अथवा अपरिशाटी किसी भी प्रकार के शय्या-संस्तारक को वर्षावास के बाद दस रात से अधिक रखता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

१३९४. वर्षावास के बाद शय्या-संस्तारक न लौटाने के दोष हैं—१. माया, २. मृषा, ३. अदत्त, ४. अप्रत्यय (अविश्वास), ५. खिंसा, ६. उपालंभ, ७. व्यवच्छेद और ८. प्रद्वेष।

१३९५. द्वितीय पद—अपवाद में वर्षावास के बाद भी शय्या संस्तारक नहीं लौटाया जाता, यदि—१. संस्तारक स्वामी को देश से निकाल दिया गया हो। २. वह नष्ट हो गया हो। ३. गांव छोड़कर चला गया हो। ४. वह गांव शून्य हो गया हो। ५. संस्तारक स्वामी या साधु मृत्यु को प्राप्त हो गया हो। ६. उपर्युक्त दोनों में से कोई अनात्मवश हो गया हो। ७. साधु रोग आदि के कारण लौटाने में असमर्थ हो। ८. संस्तारक संसक्त हो गया हो। ९. वह राष्ट्र उजड़ गया हो। अथवा १०. संस्तारक हत या दग्ध हो गया हो।

१३९६. वर्षाकाल अथवा ऋतुबद्ध—इन दोनों ही कालों में याचित, परिशाटी अथवा अपरिशाटी शय्या-संस्तारक वसति से बाहर या भीतर वर्षा से भीग रहे हों, उसे देखकर भी जो भिक्षु हटाता नहीं है, वह आज्ञाभंग आदि दोषों को प्राप्त होता है।

१३९७. वर्षा से भीगते देखकर जो भिक्षु संस्तारक को नहीं हटाता, उसे चतुर्लघु प्रायश्चित्त तथा अवश्य वर्षा होगी, ऐसा जानकर भी नहीं हटाता, उसे मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। वर्षा आसन्न (अभी-अभी होने वाली) है ऐसा जानकर भी जो संस्तारक को उपाश्रय से निष्कारण बाहर ले जाता है, उसे चतुर्लघु तथा सकारण (प्रतिलेखन, आतापनादि के लिए) बाहर ले जाता है, उसे मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१३९८. अपने शय्या संस्तारक को वर्षा में भीगते स्वयं देखकर अथवा अन्य से सुनकर संस्तारक स्वामी भिक्षु की निन्दा करता है, अग्रहण—अनादर करता है अथवा भीगे हुए को लेने से इन्कार कर देता है तथा दोनों—संस्तारक एवं अन्य द्रव्य का व्यवच्छेद कर देता है।

१३९९. संस्तारक भीगने से अन्य भी दोष पैदा होते हैं—गीले संस्तारक में सूक्ष्म काई तथा कुंथु आदि जीव पैदा हो जाते हैं—संयमविराधना होती है। ठण्डे शय्या संस्तारक पर बैठने, सोने से अजीर्ण आदि रोग हो जाते हैं—आत्मविराधना होती है। निरन्तर गीले रहने से बंधन कुथित हो जाते हैं, उस पर चढ़ने से बंधन, कंबियां आदि टूट जाते हैं।

१४००, १४०१. अपवाद में यदि वसति चारों ओर से चूती हो—पानी टपकता हो और वसति के अन्दर रहने पर भी संस्तारक भीग रहा हो अथवा यदि प्रतिलेखन अथवा प्रत्यर्पण के लिए संस्तारक को बाहर निकाला गया हो तो उक्त कारणों में अन्दर या बाहर निकाले हुए संस्तारक को नहीं हटाता। यदि वह किसी रोगी के कार्य में व्यापृत हो या खुद ग्लान हो, वसति गिर जाने से अन्दर प्रवेश न किया जा सके, जल, अग्नि आदि के कारण संभ्रम (हड़बड़ाहट) हो जाए तो संस्तारक अन्दर नहीं ले जा सकता और बाहर कोई प्रत्यनीक प्रतीक्षा कर रहा हो अथवा किसी शैक्ष के लिए गृहस्थ (ज्ञातिजन) बाहर खड़े हों, तब भी मुनि संस्तारक हटाने के लिए बाहर नहीं जा सकता।

१४०२. परिसाडिमपरिसाडी^१, सागारियसंतियं च पडिहारी ।
‘दोच्चमणुण्णवेत्ता’^२, अंतो बहि णेति आणादी^३ ॥ १२८७ ॥ नि ३३८ ॥
१४०३. ताइं तणफलगाइं, तेणाहडगाणि अप्पणो वावि ।
णिज्जंता^४ गहिताइं, सिट्ठाणि तहा असिट्ठाणि ॥ १२८८ ॥
१४०४. अण्णउवस्सयगमणे, अणपुच्छा नत्थि किंचि णेतव्वं ।
जो^५ णेति अणापुच्छा, तत्थ उ दोसा इमे^६ होंति ॥ १२८९ ॥
१४०५. कस्सेते तणफलगा, सिट्ठे अमुगस्स तस्स गहणादी ।
निण्हवति व सो भीतो, पच्चंगिर लोगमुड्डाहो^७ ॥ १२९० ॥
१४०६. नयणे ‘दिट्ठे सिट्ठे’^८, कड्डुण ववहार ववहरित पच्छकडे ।
उड्डाहे य विरुंभण^९, उद्वणे चेव णिव्विसए ॥ १२९१ ॥
१४०७. मासगुरुं वज्जिता, पच्छत्तं होति नवसु एवं तु ।
लहुगो लहुगा गुरुगा, छम्मासा^{१०} छेदमूलदुगं ॥ १२९२ ॥
१४०८. अहवावि^{११} असिट्ठम्मि य, एसेव उ तेण संकणे लहुगा ।
‘निस्संक्रियम्मि गुरुगा, एगमणेगे य गहणादी’^{१२} ॥ १२९३ ॥
१४०९. नयणे दिट्ठे गहणे^{१३}, कड्डु^{१४}-विकड्डुं ववहार ववहरिए ।
‘उड्डाहे य विरुंभण, उद्वणे चेव णिव्विसए’^{१५} ॥ १२९४ ॥
१४१०. दंतपुरे आहरणं^{१६}, तेणाहड पव्वगादिसु^{१७} तणेसु ।
छावण मीराकरणे, ‘पत्थरण’^{१८} फला तु^{१९} चंपादी ॥ १२९५ ॥

१. सूत्र ५३ (नव २/५२) ।

२. दोच्चं अणुं (मु) ।

३. चूर्णिकार ने इस गाथा के लिए ‘इमा णिज्जुत्ती’ का उल्लेख किया है ।

४. निज्जंतय (बृभा २०३७) ।

५. जइ (बृभा २०३६) ।

६. तिमे (दे) ।

७. बृभा २०३८ ।

८. सिट्ठे गहिए (भ) ।

९. विरुंभण (दे), विरुंभण (भ) ।

१०. छल्लहु छगुरुग (मु) ।

११. अहवेत्ययं निपातः (चू) ।

१२. अणवट्टप्पो दोसु य, दोसु य पारंचिओ होति (भ), बृभा २०४० ।

१३. गहिए (भ, बृभा २०४१) ।

१४. सिट्ठे कड्डु (दे) ।

१५. लहुओ लहुगा गुरुगा, छम्मासा छेयमूलदुगं (दे, बृभा २०३९) ।

१६. णाहं (क) ।

१७. वच्चगां (दे), वप्पगां (मु), बब्बगां (बृभा) ।

१८. अत्थरण (दे) ।

१९. अत्थिरफलं च (बृभा २०४३) ।

१४०२. जो भिक्षु परिशाटी अथवा अपरिशाटी संस्तारक को, चाहे वह शय्यातर का हो या अन्य किसी से प्रातिहारिक रूप में लिया हुआ हो, दुबारा अनुज्ञा लिए बिना अन्दर से बाहर या बाहर से अन्दर ले जाता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

१४०३. जो घास, फलक आदि मुनि शय्यातर आदि किसी से लाया है, वे उस गृहस्थ के स्वयं के भी हो सकते हैं और स्तेनाहत (चुराकर या छीनकर लाए हुए) भी। यदि वे स्तेनाहत हों और उसका पूर्वस्वामी उन्हें पहचान ले तो मुनि को ले जाते देखकर पूछ सकता है। मुनि संस्तारक-स्वामी का नाम बताए अथवा न बताए—दोनों में दोष की संभावना है।

१४०४, १४०५. अन्य उपाश्रय में जाते समय मुनि को कुछ भी बिना पूछे नहीं ले जाना चाहिए। जो मुनि बिना पूछे घास आदि ले जाता है, उसके ये दोष हैं—कोई मुनि स्तेनाहत तृण आदि को अन्यत्र ले जा रहा है, संयोगवश उन तृण आदि का पूर्वस्वामी मिल जाए और पूछे—ये तृण, फलक किसके हैं? मुनि कहता है—अमुक के। वह मुनि अन्य का नाम सुनकर उसे पकड़ लेता है, इस प्रकार कहने पर ग्रहण, आकर्षण आदि दोषों की संभावना होती है और दोष संभावना से भीत मुनि उसे छिपाता है तो प्रत्यंगिरा—चोरी का दोष (चोर के दोष का पोषण) लगता है और लोक में उड्डाह होता है।

१४०६, १४०७. स्तेनाहत तृण आदि को बिना पूछे अन्यत्र ले जाने पर 'नयन' आदि नौ पदों में मासगुरु को छोड़कर क्रमशः ये प्रायश्चित्त प्राप्त होते हैं—१. बिना पूछे ले जाना (नयन)—लघुमास। २. पूर्वस्वामी द्वारा देखा जाना दृष्ट—चतुर्लघु। ३. वर्तमान स्वामी का नामकथन (शिष्ट)—चतुर्गुरु। ४. राजपुरुषों द्वारा वर्तमान स्वामी का कर्षण (खींचकर निकालना)—षड्द्रव्य। ५. गृहस्थ पर मुकदमा (व्यवहार) हेतु प्रस्तुतीकरण—षड्गुरु। ६. व्यवहार का प्रारम्भ—छेद। ७. पश्चात्कृत—गृहस्थ का मुकदमा हारना—मूल। ८. उड्डाह और विरुंभण (बन्दी बनाना) या अंगभंग—अनवस्थाप्य और ९. अपद्रावण और देश निकाला—पारांचित।

१४०८. अथवा मुनि यदि वर्तमान संस्तारक स्वामी का नाम नहीं बताता है तो उसे (पूर्वस्वामी को) मुनि पर चोर होने की शंका होती है तो मुनि को चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। यदि वह निश्चित रूप से मुनि को स्तेन माने तो मुनि को चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। एक मुनि के समान अनेक मुनियों के विषय में भी ये ही ग्रहण आदि पद संभव हैं।

१४०९. वर्तमान स्वामी का नाम नहीं बताने पर अनेक मुनियों के साथ भी नयन आदि नौ पद हो सकते हैं—१. नयन—बिना पूछे ले जाना, २. दृष्ट—स्वामी द्वारा देखा जाना, ३. ग्रहण—साधुओं का पकड़ा जाना, ४. कर्षण—मुनियों को तुम चोर हो कहकर निकालना, ५. विकर्षण—मुनियों द्वारा राजपुरुषों का पुनः कर्षण, ६. व्यवहार—न्यायालय में व्यवहार हेतु प्रस्तुत करना, ७. व्यवहृत—मुकदमे का प्रारम्भ, ८. लोकनिन्दा और विरुंभण (बन्दी बनाना) और ९. अपद्रावण और निर्विषय (देशनिकाला)।

१४१०. स्तेनाहत बल्वज (वल्बज) आदि तृणों के विषय में दन्तपुर का दृष्टान्त^१ वक्तव्य है। प्राचीन काल में उपाश्रय के आच्छादन, सीमाकरण (चटाई आदि से द्वार-स्थगन) आदि में बल्वज आदि तृणों का तथा बिछाने आदि में चंपक-पट्ट (फलक) आदि का उपयोग होता था।

१. द्रष्टान्त हेतु द्रष्टव्य परिशिष्ट २ कथा सं. ३६।

१४११. अतेणाहडाण नयणें, लहुगो लहुगा य होंति सिट्टम्मि।
अप्पत्तियम्मि गुरुगा, वोच्छेद पसज्जणा सेसे^१ ॥ १२९६ ॥
१४१२. एसेव गमो नियमा, फलगेसु वि होति आणुपुव्वीए।
णवरं पुण णाणत्तं, चउरो लहुगा^२ जहण्णपदे ॥ १२९७ ॥
१४१३. बितियं पभु णिव्विसए, णट्टुट्ठित सुण्ण-मत-मणप्पज्जे।
खंधार-अगणि-भंगा, दुल्लभसंधारगे जतणा ॥ १२९८ ॥
१४१४. तम्मि तु असधीणे वा, पडिचरिउं वा सहीण वक्खित्ते।
पुव्वावरसंझासु य^३, णयंति अंतो व बाहिं वा ॥ १२९९ ॥
१४१५. पडिहरणीओ^४ पडिहारिओ^५ य आयाय तं गहेऊणं।
अप्पडिहट्टुमणप्पितु^६, संपव्वए^७ सम्मगमणं तु^८ ॥ १३०० ॥ नि ३३९ ॥
१४१६. 'सेज्जा संधारो'^९ ऊ, परिसाडी अपरिसाडिओ^{१०} होति।
परिसाडी कारणम्मि^{११}, अणप्पिणे मास आणादी ॥ १३०१ ॥ नि ३४० ॥
१४१७. सोच्चा गत त्ति लहुगा, अप्पत्तिय गुरुग जं च वोच्छेदो।
कप्पट्टुखेल्लणे णयण, डहण लहु-लहुग 'जे जत्थ'^{१२} ॥ १३०२ ॥
१४१८. कप्पट्टु खेल्लण तुयट्टणे य लहुगो य होति गुरुगो य।
इत्थी-पुरिस-तुयट्टे, लहुगा गुरुगा यणायारे^{१३} ॥ १३०३ ॥
१४१९. दिज्जंते वि तदा नेच्छिऊण 'अप्पेमु भे'^{१४} त्ति भणिऊणं।
कतकज्जा जणभोगं, काऊण कहिं 'मणे'^{१५} जत्थ'^{१६} ॥ १३०४ ॥
१४२०. संधारेगमणेगे, भयणऽट्टुविधा तु होति कातव्वा।
पुरिसे घर-संधारे, 'एगमणेगेसु पत्तेगे'^{१७} ॥ १३०५ ॥

१. बृभा २०४४।

२. मासा (बृभा २०४५)।

३. व (दे, भ)।

४. र्णिओ (दे), र्णिओ (भ), सूत्र ५४-५६ (नव २/५३)।

५. मासकप्पे पुण्णे जम्मि कुले गहितो संधारओ तस्स पच्चप्पिणंतस्स त्ति जं धारणं सो पाडिहारितो भण्णति (चू)।

६. प्पिउ (क), माणप्पिउ (भ)।

७. चूर्णिकार ने इस गाथा के प्रारम्भ में 'इदाणिं णिज्जुत्ती अत्थं वित्थरेति' का उल्लेख किया है।

८. सव्वंगी सेज्जा, अट्टातियहत्थो संधारो (चू)।

९. डि मो (भ, बृभा ४५९९)।

१०. णम्मी (भ), म्मिं (बृभा)।

११. गुरुगा य (बृभा ४६००)।

१२. बृभा ४६०२।

१३. अप्पेसु मे (पा, भ)।

१४. मण्णे त्ति पुनः शब्दो द्रष्टव्यः (चू)।

१५. गया भच्छा (बृभा ४६०१)।

१६. णेगे यं (मु, भ), णेगे तिसु पतेसु (बृभा ४६०५), पतेसु (पा)।

१४११. जो तृण स्तेनाहत नहीं होते, उन्हें भी बिना पूछे ले जाने पर लघुमास प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। यदि कोई उसके स्वामी को कह दे कि तुम्हारे तृण मुनिजन अन्यत्र ले जा रहे हैं तो उन्हें चतुर्लघु और वह गृहस्थ मुनियों पर अविश्वास करे तो चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। इसके साथ ही वह उस मुनि के लिए तद्द्रव्य (तृण) तथा अन्य द्रव्य (अशन) आदि का व्यवच्छेद कर सकता है। शेष दोषों—अन्य साधुओं के लिए व्यवच्छेद, लोकनिन्दा आदि का भी प्रसंग (अनिष्टापत्ति) आ सकता है।

१४१२. फलक के विषय में भी क्रमशः यही विधि ज्ञातव्य है। केवल भिन्नता इतनी ही है कि फलक के विषय में जघन्यपद में भी चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१४१३. द्वितीय पद—अपवाद में मुनि बिना पूछे भी तृण आदि बाहर ले जा सकता है, यदि—१. संस्तारक स्वामी को देश निकाला दे दिया गया हो। २. वह नष्ट, उद्वसित या शून्य (प्रवासित) हो गया हो। ३. वह मृत या अनात्मवश हो गया हो। ४. स्कन्धावार (छावनी) या अग्नि आदि का भय पैदा हो गया हो। ५. जनपद नाश का प्रसंग हो अथवा ६. किसी स्थान में संस्तारक दुर्लभ हो तो निम्नांकित यतना से अन्यत्र ले जाया जा सकता है।

१४१४. मुनि संस्तारक को अन्यत्र तब ले जाए, जब उसका स्वामी वहां स्वाधीन (उपस्थित) न हो अथवा यदि वह उपस्थित हो तो मुनि इधर-उधर परिभ्रमण कर जब वह व्याक्षिप्त—अन्यमनस्क हो, तब संस्तारक लेकर जाए। अथवा पूर्वसंध्या या अपरसंध्या में अन्दर से बाहर या बाहर से अन्दर ले जाए।

१४१५. जो प्रतिहरणीय (लौटाने योग्य) है, उसे प्रातिहारिक (प्रत्यर्पणीय) कहते हैं। आदाय का अर्थ है—ग्रहण करके। अपडिहट्टु अर्थात् लौटाए बिना, संप्रव्रजन करता है अर्थात् प्रव्रजन—विहार करता है।

१४१६. शय्या और संस्तारक के दो-दो प्रकार होते हैं—परिशाटी और अपरिशाटी। ऋतुबद्ध काल में कारण में परिशाटी शय्या संस्तारक ग्रहण किया जा सकता है। जो भिक्षु उन्हें लौटाए बिना संप्रव्रजन करता है, उसे आज्ञाभंग आदि दोष तथा मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१४१७. संस्तारक स्वामी किसी से सुनता है कि मुनिजन संस्तारक लौटाए बिना चले गए तो उन्हें चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। यदि वह उसके कारण मुनियों पर अविश्वास करता है अथवा तद्द्रव्य या अन्य द्रव्य का व्यवच्छेद करता है तो मुनि को चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। उस संस्तारक पर बच्चे खेलने लग जाएं, उसे अन्यत्र ले जाएं तो लघुमास और जला दे तो चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है तथा जलाने से जिन प्राणियों की विराधना होती है, तन्निष्पन्न प्रायश्चित्त भी प्राप्त होता है।

१४१८. मुनि द्वारा गृहीत संस्तारक सूना पड़ा हो, उस पर बच्चे खेलने लगे तो मासलघु तथा सो जाएं तो मासगुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है तथा स्त्री-पुरुष सो जाएं या अनाचार का आसेवन करें तो क्रमशः चतुर्लघु तथा चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१४१९. 'मुनिजन संस्तारक को बिना लौटाए चले गए', ऐसा सुनकर संस्तारक स्वामी कह सकता है—देते समय भी हमारी इच्छा नहीं थी, पर 'मासकल्प पूरा होने पर लौटा देंगे।' ऐसा कहकर ले गए, सामूहिक रूप से उसका उपयोग कर लिया और अब कृतकार्य—प्रयोजन पूरा होने पर जहां कहीं छोड़कर चले गए।

१४२०. संस्तारक को ग्रहण करने के सन्दर्भ में एक और अनेक के विकल्प से पुरुष, घर और संस्तारक—इन तीन पदों के आधार पर आठ भंगों की रचना करनी चाहिए। एक क्षेत्र में रहने वाले एक गण और अनेक गणों—प्रत्येक में आठ-आठ भंग बन जाते हैं।

१४२१. आणयणे जा भयणा, सा भयणा होति अप्पिणंते वि।
वोच्चत्थ मायसहिते^१, दोसा य अणप्पिणंतम्मि^२ ॥ १३०६ ॥
१४२२. बितियपदझामिते वा, देसुट्टाणे य^३ बोधिगादीसु^४।
अद्धानसीसए वा, सत्थो व्व^५ पधावितो तुरियं ॥ १३०७ ॥
१४२३. एतेहि कारणेहिं, वच्चंते को वि तस्स तु निवेदे।
अप्पाहेति व सागारियादि असदऽण्णसाधूणं^६ ॥ १३०८ ॥
१४२४. एसेव गमो नियमा, फलगाण^७ वि होति आणुपुव्वीए।
चतुरो लहुगा माया^८, य नत्थि एयं तु णाणत्तं ॥ १३०९ ॥
१४२५. परिसाडिमपरिसाडी^९, सागारियसंतियं तु संथारं।
अविकरणं^{१०} काऊणं, दूतिज्जंतम्मि आणादी ॥ १३१० ॥ नि ३४१ ॥
१४२६. किड्डु तुयट्ट ऽणायार, णयणे दहणे य होति तह चेव।
विगरण पासुड्डं वा, फलगतणेसुं तु साहरणं ॥ १३११ ॥
१४२७. पुंजा पासा गहितं, तु जं जहिं तं तहिं ठवेतव्वं।
फलगं जत्तो गहितं, वाघाते विगरणं कुज्जा ॥ १३१२ ॥
१४२८. बितियपदमहासंथड, देसुट्टाणेसु^{११} बोहिगादीसु।
अद्धानसीसए वा, सत्थो व पधावितो तुरितं ॥ १३१३ ॥
१४२९. संथारविप्पणासे^{१२}, वसधीपालस्स मग्गणा होति।
सुण्णे बाल-गिलाणे, अक्वत्तारोवणा भणिता ॥ १३१४ ॥ नि ३४२ ॥
१४३०. पढमम्मि य चतुलहुगा, सेसाणं^{१३} मासिगं 'तु णाणत्तं'^{१४}।
दोहि गुरू एगेणं, चउत्थपद दोहि वी लहुगा^{१५} ॥ १३१५ ॥ नि ३४३ ॥

१. माइसं (दे)।

२. बृभा ४६०६।

३. व (मु, बृभा), वा (भ)।

४. बोधिकभाए वा (बृभा ४६०७)।

५. व (दे)।

६. °साहूणं (बृभा ४६०८)।

७. फलएसु (बृभा)।

८. मादी (दे), माई (बृभा ४६०९)।

९. सूत्र ५७ (नव २/५४), इस गाथा के लिए चूर्णिकार ने 'इमा णिज्जुत्ती' का संकेत किया है।

१०. अविकरणं णाम जं संजतेण कयं (चू)।

११. °ट्टाणे व (मु, भ)।

१२. सूत्र ५८ (नव २/५५)।

१३. सेसेसुं (बृभा ५४३)।

१४. मुणेयव्वं (बृभा)।

१५. लहुओ (भ, मु), लहुयं (बृभा)।

१४२१. संस्तारक लौटाने के विषय में भी उन्हीं आठ भंगों की भजना होती है, जो ग्रहण के विषय में होती है। संस्तारक को विपर्यास के साथ^१ लौटाया जाता है या माया सहित^२ लौटाया जाता है तो वे ही दोष होते हैं जो न लौटाने पर होते हैं।

१४२२, १४२३. अपवाद में भिक्षु जिन कारणों से संस्तारक को न लौटाएं या कोई एक साधु वहां रहे उसे निवेदन कर चले जाएं, अथवा अन्य साधु न रहें तो किसी गृहस्थ को लौटाने का कहें, वे कारण ये हैं—१. संस्तारक जल गया हो। २. देश के उजड़ जाने से संस्तारक स्वामी कहीं चला गया हो। ३. म्लेच्छ आदि के भय से संस्तारक स्वामी अथवा मुनि पलायन कर गए हों या छिप गए हों। ४. अटवी-शीर्ष पर कोई सार्थ मिला हो, जिसके साथ तुरन्त अटवी पार करना हो, तब यदि संस्तारक लौटाने जाएं तो सार्थ छूट सकता है। १४२४. फलक के विषय में भी (ग्रहण और अर्पण की) क्रमशः यही विधि ज्ञातव्य है। केवल इसमें विशेष यह है कि जघन्य पद में भी चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है तथा तृण संस्तारक में तृण, कंबियों आदि के विषय में जिस माया का प्रसंग आ सकता है, वह फलक में नहीं आता।

१४२५. जो भिक्षु शय्यातर के परिशाटी अथवा अपरिशाटी संस्तारक को विकरण किए बिना—स्वयंकृत बन्धन आदि को खोले बिना प्रव्रजन करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

१४२६. मुनि संस्तारक के स्वयंकृत बन्धनों को खोले बिना विहार कर जाते हैं, पीछे से बच्चे उन पर खेलने लगते हैं, सो जाते हैं, स्त्री-पुरुष सो जाते हैं, उस पर अनाचार का सेवन करने लगते हैं—इत्यादि पूर्वोक्त दोष एवं तन्निमित्तक प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। फलक के विकरण का अर्थ है उसे पार्श्व में तिरछा करना या ऊर्ध्व स्थित करना तथा तृण का स्थानान्तरण आदि उसका विकरण है।

१४२७. जो तृण जिस ढेर से लिए हैं, जिनको जहां से तिरछा रखा हुआ ग्रहण किया है, उन तृणों को पुनः वहीं रखना चाहिए। इसी प्रकार चाहे मासकल्प पूर्ण होने पर या व्याघात आदि के कारण जब मुनि विहार करे तो जो फलक जहां से लिया वहां रख दे, जिन कंबियों आदि को बांधा, उनका विकरण कर दे।

१४२८. द्वितीय पद में जो यथासंस्तृत—निष्क्रमण पट्ट आदि लिए जाते हैं, उनका विकरण करना आवश्यक नहीं अथवा १. देश के उजड़ जाने से संस्तारक स्वामी कहीं चला जाए, २. बोधिक आदि के भय से संस्तारक स्वामी अथवा मुनिजन कहीं पलायन कर जाएं। ३. अटवी शीर्ष पर कोई सार्थ मिला हो जिसके साथ शीघ्र प्रधावन (निष्क्रमण) करना हो तो भी विकरण किए बिना प्रस्थान किया जा सकता है।

१४२९. संस्तारक—विप्रणाश (खोने) के विषय में वसतिपाल की मार्गणा—पर्यालोचना की जाती है। यदि वसति को सूना छोड़ दिया जाए अथवा बाल, ग्लान, अव्यक्त (अगीतार्थ) भिक्षु को वसतिपाल के रूप में स्थापित कर दिया जाए तो आरोपणा (चतुर्लघु आदि प्रायश्चित्त) का कथन किया गया है।

१४३०. प्रथम पद अर्थात् वसति शून्य छोड़ने पर गणाधिपति को चतुर्लघु (तप काल दोनों से गुरु) प्रायश्चित्त तथा शेष तीनों में मासिक प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। भिन्नता यह है कि बाल वसतिपाल में तप से गुरु, ग्लान में काल से गुरु तथा अव्यक्त वसतिपाल में दोनों से लघु मासिक प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१. विपर्यास, जैसे—संस्तारक लिए कोई अन्य मुनि और लौटाए कोई अन्य मुनि।

२. मायासहित, जैसे—कोई मुनि संस्तारक लौटाने जा रहा है, दूसरा मुनि उसी के साथ अपने तृण, कंबियां आदि डाल देता है।

१४३१. मिच्छत्त-बडुग-चारण, 'भडे य'^१ मरणं च तिरिय-मणुयाणं।
आदेस-बाल-णिव्केयणे य सुण्णे भवे दोसा ॥ १३१६ ॥ नि ३४४ ॥
१४३२. सोच्चा पत्तिमपत्तिय^२, अकतण्णुमदक्खिणा^३ दुविध छेदो।
भरियभरागमधाडण^४, गरहा न लभंति^५ वऽण्णत्थ ॥ १३१७ ॥
१४३३. भेदो य मासकप्पे, जदलंभे^६ 'विहाति निग्गतावण्णे'^७।
बहिभुत्त-णिसागमणे, गरिह-विणासा^८ य सविसेसा^९ ॥ १३१८ ॥
१४३४. सुण्णं दट्ठं बडुगा, ओभासण^{१०} ठाह जदि गता समणा।
आगमपवेसऽसंखड, सागारि^{११} दिण्णं 'ति य'^{१२} दियाणं^{१३} ॥ १३१९ ॥
१४३५. संभिच्चेण व अच्छह, अलियं न करेमऽहं तु अप्पाणं।
उडुंचग^{१४} अधिकरणं, उभयपदोसं च निच्छूढा ॥ १३२० ॥
१४३६. सागारि संजताणं, णिच्छूढा तेण अगणिमादीसु^{१५}।
जं काहिंति पदुट्ठा, 'सुण्ण करंते'^{१६} तमावज्जे^{१७} ॥ १३२१ ॥
१४३७. एमेव चारणभडे, चारण उडुंचगा तु अधिगतरा।
निच्छूढा व पदोसं, तेणागणिमादि जह बडुगा^{१८} ॥ १३२२ ॥
१४३८. छडुणि काउड्ढाहो, नासाऽरिस^{१९} सुत्तऽवण्ण अच्छंते।
इति उभयमरणदोसा, आदेस जहा बडुगमादी ॥ १३२३ ॥

१. भडाण (बृभा ५४४)।

२. पत्तियपं (दे)।

३. ण्णु अदं (मु, बृभा, भ)

४. मनिच्छुभ (बृभा ५४५)।

५. लब्भंति (मु, भ)।

६. जमलंभे (भ), जधलंभे (दे)।

७. विहारादि पावते अन्नं (बृभा ५४६)।

८. विणासो (दे)।

९. सेसो (दे)।

१०. णोभां (दे)।

११. सागर (क)।

१२. मए (तु, मु, भ), मत्ते (पा)।

१३. बृभा ५४७।

१४. देशीपदमेतत् (बृभा ५४८ टी.)।

१५. माईहिं (बृभा ५४९)।

१६. उभयस्स वि ते (बृभा)।

१७. पा प्रति में यह गाथा नहीं है।

१८. बृभा ५५०।

१९. घाणां (दे, बृभा ५५१), रिसा (भ)।

१४३१. शून्य वसति (उपाश्रय सूना छोड़ने) में ये दोष हैं—१. मिथ्यात्व, २. बटुक, ३. चारण, ४. भट, ५. तिर्यचमरण, ६. मनुष्यमरण, ७. आदेश (अतिथि), ८. व्याल (सर्प आदि) और ९. णिकेयण^१ (प्रसव)^२ ।

१४३२. 'साधु भंडोपकरण लेकर वसति को सूना छोड़कर चले जाए' यह बात सुनकर शय्यातर को अप्रीति हो सकती है। अविश्वास से वह कह सकता है—'अहो! साधु कितने अकृतज्ञ और अदक्षिण—लोक व्यवहार में अकुशल हैं। अविश्वास के कारण वह द्विविध व्यवच्छेद (स्थान और अन्यद्रव्य का व्यवच्छेद) कर देता है। संयोग से मुनि केवल गोचरी हेतु ही गए हों और भक्तपान से भरे हुए पात्र लेकर लौटें। शय्यातर रोष से उन्हें बाहर निकाल दे। गोचरी लेकर वसति की खोज में इधर-उधर घूमते हैं तो गर्हा होती है। लोकनिन्दा आदि के कारण उन्हें अन्यत्र भी स्थान नहीं मिलता।

१४३३. इस प्रकार स्थानाभाव से मासकल्प टूट जाता है—मासकल्प पूर्ण होने से पूर्व विहार करना पड़ता है, उसके कारण मार्गनिर्गत मुनियों को आहार, वसति आदि न मिलने पर परितापना तथा तन्निष्पन्न प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। पूर्वोक्त घटना से रुष्ट गृहस्थ अटवी-निर्गत अन्य साधुओं को भी स्थान आदि नहीं देता, जिससे उन्हें श्वापद, स्तेन आदि की जो परितापना प्राप्त होती है, तन्निष्पन्न प्रायश्चित्त भी वसति शून्य करने वाले मुनि को प्राप्त होता है। यदि मुनिजन उपाश्रय से बाहर आहार करके संध्या के समय आते हैं तो स्थान आदि न मिलने से गर्हा तथा श्वापद, व्याल आदि से प्राप्त विनाश को विशेषतः उपलब्ध होते हैं अर्थात् अधिक गर्हा आदि को प्राप्त करते हैं।

१४३४-३६. उपाश्रय को सूना देखकर बटुक (छात्र) शय्यातर से वसति मांगते हैं। शय्यातर कहता है—यदि श्रमण चले गए हैं तो रह जाओ। अब वे श्रमण भिक्षा आदि से लौटकर प्रवेश करते हैं तो छात्र रोकते हैं और दोनों पक्षों में कलह हो जाती है। मुनि कहते हैं—शय्यातर ने स्थान हमें दिया है और शय्यातर कहता है—मैंने स्थान सूना देखकर छात्रों को दे दिया। अतः आप साथ में रह जाएं, स्वयं मैं अपने आपको असत्यवादी नहीं करूंगा। (मैं इन्हें नहीं निकालूंगा।) एक साथ रहते हुए वे छात्र मुनियों के स्वाध्याय, प्रतिलेखन, प्रत्याख्यान आदि में अवहेलना करते हैं, उनकी नकल निकालते हैं फलतः कलह होता है। कलह के कारण साधु अथवा शय्यातर उन्हें निकाल दे तो छात्र दोनों या एक के प्रति प्रद्विष्ट हो जाते हैं। घर आदि को जला देते हैं, कुछ उठाकर ले जाते हैं अथवा अन्य जो कुछ नुकसान करते हैं तन्निष्पन्न प्रायश्चित्त भी उन्हीं को प्राप्त होता है, जो वसति को सूना छोड़कर जाते हैं।

१४३७. चारण और भट के विषय में वे ही दोष ज्ञातव्य हैं जो बटुक द्वार में प्रज्ञप्त हैं। केवल चारण द्वार में उडुंचक—अवहेलना का दोष विशेष रूप से ज्ञातव्य है। चारण और भट को भी निष्कासित किए जाने पर प्रद्वेष, स्तैन्य, अग्नि आदि दोष आते हैं, जैसे—बटुक को निष्कासित करने पर आते हैं।

१४३८. शून्य उपाश्रय में कोई गाय, कुत्ता आदि तिर्यच अथवा भिखारी, महामारी से पीड़ित कोई मनुष्य आदि बैठे और मर जाए, यदि उसके शव को किसी असंयत से बाहर निकलवाते हैं और वह उसे घास आदि पर डाल देता है तो षड्जीवनिकाय वध की संभावना रहती है। यदि इस भय से मुनि स्वयं बाहर डाल देते हैं तो ऐसा गर्हित कार्य करने से लोकनिन्दा होती है। कलेवर उपाश्रय में पड़ा सड़ता रहे तो उस कुथित गंध से नाक में अर्श आदि रोग पैदा हो जाते हैं, सूत्र की अस्वाध्यायी रहती है, लोक में अवर्णवाद होता है—तिर्यचमरण और मनुष्यमरण (५वें तथा ६वें द्वार) में ये दोष आते हैं। आदेश (अतिथि) के विषय में वे ही दोष ज्ञातव्य हैं, जो बटुक आदि द्वारों में प्रज्ञप्त हैं।

१. विस्तार हेतु द्रष्टव्य—१. गा. १४३२-१४४०।

२. णिकेतिज्जंती—प्रसव करती हुई।

१४३९. अधिकरणमारणाऽणीणितम्मि अच्छंत वाल आतवधो ।
तिरितीय^१ जहा वाले, मणुस्ससूयीण^२ उड्डाहो ॥ १३२४ ॥
१४४०. छड्डेऊण^३ जदि गता, उज्झमणुज्झंत होंति दोसा तु ।
एवं ता सुण्णाए, बाले ठविते इमे दोसा ॥ १३२५ ॥
१४४१. बलि धम्मकहा किड्डा, पमज्जणाऽऽवरिसणा य पाहुडिया ।
खंधार अगणिभंगे, मालवतेणा य^४ 'णाती यं'^५ ॥ १३२६ ॥ नि ३४५ ॥
१४४२. अण्णवसतीएँ असती, देवकुलादी ठिता तु होज्जाहि ।
बलियाऽऽवरिसादीणं, तारिसगे संभवो होज्जा^६ ॥ १३२७ ॥
१४४३. साभाविय तण्णिस्साएँ^७ आगतो भंडगं अवहरंति ।
णीणावेँति^८ व बाहिं, जा पविसति ता हरंतऽण्णे ॥ १३२८ ॥
१४४४. एमेव कतिवया^९ ते, णिच्छोदुं^{१०} तं हरंति से उवधिं ।
बाहिं व तुमं चिट्टसु^{११}, अवणेहुवधिं च जा कुणिमो ॥ १३२९ ॥
१४४५. कइवेण^{१२} सभावेण व, कहापमत्ते हरंति से अण्णे ।
'किड्डा सयं व'^{१३} रिक्खा^{१४}, पासति व तहेव किड्डुगं ॥ १३३० ॥
१४४६. जो चेव बलीय^{१५} गमो, पमज्जणाऽऽवरिसणे वि सो च्चेव ।
पाहुडियं वा गेणहसु, पडिसाडणिगं^{१६} व जा कुणिमो ॥ १३३१ ॥

१. तिरिक्खीय (दे) ।

२. सूतिमणुस्सीएँ (बृभा ५५२) ।

३. छड्डेऊं व (बृभा ५५३) ।

४. व (मु, भ) ।

५. णातीया (मु), नातीय (बृभा ५५४) ।

६. गाथाओं के क्रम में बृभा में यह गाथा नहीं है ।

७. णिस्साए व (मु), तन्नीसाएँ (बृभा) ।

८. नीणेमि त्ति (बृभा ५५५) ।

९. कइयवा (बृभा ५५६) ।

१०. निच्छूदं (बृभा) ।

११. अच्छसु (बृभा) ।

१२. कतिएण (दे) ।

१३. किड्डुइ तहेव (मु, भ) ।

१४. रिक्खा (बृभा ५५७), रिक्ख त्ति रेखा को कतिवारे जिप्पति, सयं रेहा कड्डुति (चू) ।

१५. बलिय (मु, भ) ।

१६. °डणगं (क), परिसा° (भ, बृभा ५५८) ।

१४३९. सूने उपाश्रय में कदाचित् सर्प आदि प्रविष्ट हो जाए, मुनि उसे निकाले, वह हरितकाय पर चला जाए, मेंढक आदि को काट ले तो हिंसात्मक प्रवृत्ति हो जाती है। लोग उसे मार डालते हैं। उक्त दोषभय से निष्कासन न करे तो आत्मवध का प्रसंग आ सकता है। णिकेयण—प्रसव दो प्रकार का हो सकता है—१. तिर्यच स्त्री का, २. मनुष्य स्त्री का। तिर्यच स्त्री उपाश्रय में प्रसव कर दे तो उसे निकालने पर वे ही दोष आते हैं जो पूर्वोक्त व्याल द्वार में कहे गए हैं। यदि उपाश्रय में किसी मनुष्यस्त्री का प्रसव हो जाए तो उड्वाह होता है।

१४४०, १४४१. यदि कोई अनाथिनी अथवा कुलटा अपने बच्चे को सूने उपाश्रय में छोड़कर चली जाए और साधु उसे बाहर निकाले तो हिंसा, उड्वाह आदि दोष आते हैं और उसे बाहर न छोड़ें तो उसके रोने पर अस्वाध्यायी तथा लोकनिन्दा आदि दोष आते हैं। इस प्रकार शून्य वसति में आने वाले दोषों का चिन्तन कर यदि कोई आचार्य बालमुनि को वसतिपाल रूप में स्थापित करे तो उसमें ये दोष आते हैं—१. बलि, २. धर्मकथा, ३. क्रीड़ा, ४. प्रमार्जन (भूमिशुद्धि), ५. आवर्षण (सिंचन, छिड़काव), ६. प्राभृतिका,^१ ७. स्कन्धावार, ८. अग्नि, ९. भंग (पलायन), १०. मालव चोर और ११. ज्ञातिजन।^२

१४४२. अन्य वसति के अभाव में मुनि देवकुल—मन्दिर आदि में रहते हैं, तब तादृश (तथाविध) बलि (नैवेद्य), पूजा तथा आवर्षण (भूमि छिड़काव) आदि की संभावना रहती है।

१४४३. कुछ व्यक्ति स्वाभाविक रूप से पूजा करने, नैवेद्य चढ़ाने आते हैं और एकान्त देखकर वे या उनकी निश्रा में अन्य व्यक्ति मुनियों के पात्र, उपकरण आदि का अपहरण करते हैं। वे उस बाल वसतिपाल से कहते हैं—‘अरे क्षुल्लक! अपने उपकरणों को एक तरफ कर लो, कहीं हमारी पूजा के छींटे आदि से खराब न हो जाएं। वह उन्हें एक तरफ ले जाता है अथवा थोड़े उपकरण उठाकर बाहर ले जाता है, तब तक अन्य व्यक्ति उसके अन्य उपकरण उठाकर ले जाते हैं।

१४४४. इसी प्रकार कपटपूर्वक हरण बुद्धि से पूजा करने वाले मुनि को किसी बहाने से बाहर भेजकर उसकी उपधि का अपहरण करते हैं या कहते हैं—‘मुनि! जब तक हम पूजा करें, तुम बाहर बैठो अथवा अपने उपकरणों को हटा लो।’ ऐसा कहकर वे स्वयं या अन्य के द्वारा उपधि हरण करवा लेते हैं।

१४४५. धर्मकथाश्रवण के भी दो प्रकार हैं—१. स्वाभाविक और २. कैतवपूर्ण। स्वाभाविक रूप से धर्मकथा का श्रवण करने वाले उस बाल वसतिपाल को धर्मकथा में तल्लीन देखकर उसके उपकरण आदि का हरण कर लेते हैं। जो कैतव से धर्मश्रवण करते हैं, वे बाल मुनि को धर्मकथा में लगाकर अपने साथियों से उपकरणों का हरण करवा लेते हैं। दो प्रकार की क्रीड़ा (स्वाभाविक और कैतवपूर्ण) के विषय में भी दोनों बातें संभव हैं—बालक का खेलने का मन हो जाए अथवा खेल देखने लग जाए या उनके कहने पर खेलने या खेल देखने लग जाए, जैसे—रेखा निकालने की क्रीड़ा कि कौन कितनी बार जीतता है।

१४४६. जो विधि (प्रकार), बलि द्वार^३ में प्ररूपित है, वही प्रमार्जन एवं आवर्षण द्वार में ज्ञातव्य है। (प्राभृतिका के दो अर्थ हैं—१. भिक्षा और २. अर्चनिका—बलि आदि के पदार्थ बिखेरना।) हमारे घर भिक्षा ग्रहण करें। अथवा जब तक हम अर्चनिका करते हैं आप कुछ देर बाहर एक तरफ खड़े रहें—ऐसा कहकर वे भिक्षार्थ गए हुए अथवा बाहर स्थित मुनि के उपकरणों का हरण कर लेते हैं।^४

१. पाहुड़िया—सार्वजनिक स्थान जहां बलि आदि के पदार्थ बिखरे जाते हैं।

२. विवरण हेतु द्रष्टव्य—१. गा. १४४२-१४५२

३. गा. १४४३, १४४४।

४. यह भी अन्य द्वारों के समान स्वाभाविक और कैतवपूर्ण दोनों हो सकता है।

१४४७. खंधारभया णासति, 'सो वा'^१ एति त्ति कइतवे णासे^२ ।
अगणिभया व पलायति^३, णस्ससु^४ अगणी व 'एति त्ति'^५ ॥ १३३२ ॥
१४४८. उवधीलोभ-भया वा, न णीति न य तत्थ किंचि णीणेति^६ ।
गुत्तो व सयं डज्झति, उवधिं^७ च विणा तु जा हाणी ॥ १३३३ ॥
१४४९. दंडिगखोभादीओ^८, भंगो^९ अहवा वि बोधिगादिभया ।
तत्थ वि हीरेज्ज सयं, उवधी वा तेण जं तु विणा ॥ १३३४ ॥
१४५०. मालवतेणा पडिता, इतरे वा णासते^{१०} जणेण समं ।
न य गेण्हति सारुवधिं, तप्पडिबद्धो व हीरेज्जा ॥ १३३५ ॥
१४५१. सण्णातगेहि णीते, एति व 'णीत त्ति'^{११} णट्टे जं उवधिं^{१२} ।
कहि 'णीय त्ति'^{१३} कइतवे, कहिते अण्णस्स सो कहए^{१४} ॥ १३३६ ॥
१४५२. चिंधेहि आगमेउं^{१५}, सो वि य साहेति^{१६} तुह णिया पत्ता ।
णट्टे^{१७} उवधिग्गहणं, तेहि 'व हं'^{१८} पेसितो हरती ॥ १३३७ ॥
१४५३. एते पदे ण रक्खति, बाल-गिलाणे तहेव अव्वत्ते ।
णिदा-कहापमत्ते, वत्ते वि हु^{१९} जे भवे भिक्खू ॥ १३३८ ॥
१४५४. एमेव गिलाणे वी, सयकिड्डु कहा पलायणे मोत्तुं ।
अव्वत्तो तु अगीतो, रक्खणकप्पे परोक्खो तु^{२०} ॥ १३३९ ॥ नि ३४६ ॥

१. एस व (बृभा ५५९) ।

२. णस्स (बृभा), णासं (भ) ।

३. पलाइय (भ) ।

४. जासु (क) ।

५. एसेति (मु, पा, भ) ।

६. णासेति (भ) ।

७. उवधिं (बृभा ५६०), उवधी (भ) ।

८. डंडियं (मु, भ) ।

९. भंगशब्दः खंधावार, अगणीसु योज्यः (चू) ।

१०. नासती (क, बृभा ५६१) ।

११. णीतं त्ति (मु, भ) ।

१२. तुवधिं (मु) ।

१३. णायति (क) ।

१४. बृभा ५६२ ।

१५. °मेत्तुं (मु) ।

१६. साहति से (मु, भ) ।

१७. नेमो (बृभा ५६३) ।

१८. बहि (क, मु) ।

१९. य (बृभा ५६४) ।

२०. बृभा ५६५ ।

१४४७. बाल वसतिपाल अचानक स्कन्धावार (छावनी) को देख कर भय से भाग खड़ा होता है। अथवा सेना आ रही है। ऐसा कहकर कपट से उसे भगा देता है। इसी प्रकार सहज अग्नि लगने पर भय से अथवा कैतव से यह कहने पर कि—भागो! यह आग आ रही है, वह पलायन कर जाता है।

१४४८. उपधि के लोभ अथवा स्कन्धावार या अग्नि के भय से न वह स्वयं बाहर निकलता है और न किसी उपकरण को निकाल पाता, फलतः अन्दर बैठा हुआ वह अग्नि से जल जाता है। यदि उपधि का अपहरण हो जाए तो उपधि के अभाव में होने वाली हानि साधुओं को भुगतनी पड़ती है।

१४४९. भंग का अर्थ है—दण्डिक पुरुषों (पुलिस, कोतवाल) अथवा म्लेच्छ आदि के भय से पलायन। उस स्थिति में वसतिपाल या उसकी उपधि का हरण हो सकता है। यदि उपधि हरण हो तो उपधि के अभाव में जो हानि होती है, तन्निष्पन्न प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१४५०. कदाचित्त मालव चोर^१ आ जाते हैं अथवा कोई कैतव से कह देता है कि मालव चोर आ रहे हैं। उस समय के साथ वह बाल वसतिपाल भी पलायन कर जाता है। भागते समय सारभूत-उपधि को नहीं ले जा पाता। अथवा उपधि की प्रतिबद्धता के कारण उसका भी अपहरण हो जाता है।

१४५१, १४५२. वसति में बाल मुनि अकेला हो और उस समय उसके ज्ञातिजन आ जाएं, उसे ले जाएं और पीछे से कोई उसकी उपधि का हरण कर ले। अथवा ज्ञातिजन आ रहे हैं—स्वाभाविक या कैतवपूर्ण कहे गए कथन को सुनकर वह बाहर चला जाए, तब भी उपधि का हरण संभव है। कोई धूर्त बालमुनि से उसका नाम, ग्राम आदि सारी बातें जानकर अन्य को कह देता है। वह दूसरा व्यक्ति उन ज्ञात चिह्नों से उसे पहचान कर बाल मुनि को कहता है—तुम्हारे ज्ञातिजन आ रहे हैं। अथवा मुझे तुम्हारे ज्ञातिजनों ने ही भेजा है इत्यादि कहकर उसका या उसकी उपधि का हरण कर लेता है।

१४५३. बाल, ग्लान और अव्यक्त (अगीतार्थ)—ये तीनों ही इन उपर्युक्त पदों (मिथ्यात्व, बलि यावत् ज्ञातिजन) में वसति की रक्षा नहीं कर पाते। जो भिक्षु स्वस्थ या व्यक्त होने पर भी निद्रा आदि में प्रमत्त है, वह भी वसति की रक्षा नहीं कर पाता।

१४५४. जो दोष बाल वसतिपाल के प्रसंग में प्रज्ञप्त हैं उनमें से स्वयं क्रीड़ा करना, धर्मकथा तथा पलायन—इन तीन को छोड़कर शेष सभी दोष ग्लान के प्रसंग में ज्ञातव्य हैं।^२ अव्यक्त अगीतार्थ होता है अतः रक्षणकल्प (स्वाभाविक या कपटयुक्त बलि, धर्मकथा आदि) के विषय में अज्ञ (परोक्ष) होता है।^३

१. पर्वत पर रहने वाले चोर।

२. ग्लान व्यक्ति क्रीड़ा, धर्मकथा एवं पलायन में समर्थ नहीं होता।

३. निभा चू. पृ. १७६—सो रक्खणकप्पे परोक्खो बलिधम्मकहादिसु साभावियकृतकेसु वा अज्ञः इत्यर्थः।

१४५५. तम्हा खलु अब्बाले^१, अगिलाणे वत्तमप्पमत्ते य।
कप्पति वसहीपाले^२, धितिमं तह वीरियसमत्थे^३ ॥ १३४० ॥ नि ३४७ ॥
१४५६. सति लंभम्मि^४ अणियता, पणगं जा ताव 'होतऽवोच्छित्ती'^५।
जहण्णेण^६ गुरू चिट्ठति^७, 'संदिट्ठो वा इमा'^८ जतणा ॥ १३४१ ॥
१४५७. अप्पुव्वमतिहिकरणे^९, गाहा ण य अण्णभंडगं छिविमो।
भणति^{१०} य अठायमाणे, जं णस्सति^{११} तुज्झ तं उवरिं ॥ १३४२ ॥
१४५८. कारण सपाहुडि ठिता, वासासु^{१२} करेति एगमायोगं।
'साभाविय दिट्ठे'^{१३} वा, भणति^{१४} जा सारवेमुवधिं ॥ १३४३ ॥
१४५९. उव्वरगे कोणे वा, कारुण भणाति^{१५} मा हु लेवाडे।
बहुपेल्लणऽसारवणे^{१६}, तहेव जं णासती तुज्झं ॥ १३४४ ॥
१४६०. नत्थि कहालद्धी मे, दिट्ठे व भणाति दुक्खती किंची।
दाणादि असंकणिया^{१७}, अभिक्खमुवयोगकरणं तु^{१८} ॥ १३४५ ॥
१४६१. दट्ठुं पि णेण लब्भामु, मा किडुह मा 'हरेज्ज को तत्थ'^{१९}।
सम्मज्जणाऽऽवरिसणे^{२०}, पाहुडिया चेव बलिसरिसा ॥ १३४६ ॥

१. अबाल इति अष्टवर्षप्रतिषेधार्थं (चू)।

२. य वसहिपालो (बृभा ५६६)।

३. समत्थसदो वा युक्तवाचकः (चू)।

४. लाभम्मि (मु, भ)।

५. होति अच्छित्ती (दे, बृभा ५६७)।

६. छंद की दृष्टि से 'जहणेण' पाठ होना चाहिए।

७. अच्छति (मु, भ, पा)।

८. तस्संदिट्ठो विमा (बृभा)।

९. °मतिहिं (क)।

१०. भणई (क)।

११. णासति (मु, भ), नासइ (बृभा ५६८)।

१२. वासे वि (भ, बृभा ५६९)।

१३. सन्नाविय दिट्ठा (बृभा)।

१४. भणाइ (बृभा)।

१५. भणीति (क)।

१६. °रविए (बृभा ५७०)।

१७. असंकाण व (भ)।

१८. बृभा (५७१) में इस गाथा के स्थान पर निम्न गाथा मिलती है—

नत्थि कहालद्धी मे, पुव्वं दिट्ठे व बेति गेलण्णं।

दाणादि असंकाण व, आउज्जंतो परिकहेइ ॥

१९. करेज्ज को इत्थं (क, पा), हरिज्जहं को

वि (बृभा ५७२)।

२०. °रिसीयण (पा)।

१४५५. अतः उस भिक्षु को वसतिपाल स्थापित करना कल्पता है जो—१. बाल न हो (आठ वर्ष से अधिक हो), २. ग्लान न हो, ३. व्यक्त (वयस्क एवं गीतार्थ) हो, ४. अप्रमत्त (जागरूक) हो, ५. धृतिमान (परीषहजयी) हो,^१ और ६. वीर्य से युक्त (समय पर वीर्य का प्रयोग करने वाला) हो।^२

१४५६, १४५७. वसतिपाल कितने हों—इस विषय में अनेक विकल्प हैं—

१. अनियत—जितने मुनियों को पर्याप्त भक्तपान का लाभ मिल सके, उतने जाएं, शेष उपाश्रय में रहें।
२. पांच (आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गणावच्छेदक अथवा प्रवर्तक व गणावच्छेदक के स्थान पर क्षुल्लक और शैक्ष)।

३. दो—आचार्य तथा सूत्र और अर्थ की अव्यवच्छिति में कुशल भिक्षु।

४. एक—केवल आचार्य अथवा आचार्य की अनुपस्थिति में उनके द्वारा संदिष्ट मुनि। वह वसतिपाल बलि आदि के विषय में यह यतना करे—यदि नैवेद्य आदि चढ़ाने वाले अपूर्व (देवकुल में पूजा करने वालों से भिन्न कोई हो) या तिथि (अष्टमी, चतुर्दशी आदि) के अतिरिक्त किसी भी दिन आए तो वसतिपाल ऐसे गेयपदों का प्रयोग करे, जिससे उन्हें पता चल जाए कि हम जान लिए गए हैं। फिर भी वे उपकरण हटाने का कहें तो वसतिपाल कहे कि हम अन्य अनुपस्थित मुनियों के उपकरणों को नहीं छूते। यदि ऐसा कहने पर भी न रुकें, वे स्वयं उपकरणों को इधर-उधर करें तो कहें कि यदि कोई उपकरण नष्ट हो गया, टूट गया तो तुम्हारा दायित्व है अथवा बाहर जाकर लोगों को सुनाते हुए कहे—अहो! ये पता नहीं कौन हैं जो जबरदस्ती हमारे उपकरणों को इधर-उधर कर रहे हैं।

१४५८. अन्य उपाश्रय के अभाव के कारण यदि भिक्षु प्राभृतिका वाली वसति में रहे तो वर्षावास में अपने उपकरणों को एक साथ बांध कर^३ रखे। यदि बलिकारक स्वाभाविक तिथि में बलि कर रहे हों अथवा दृष्टपूर्व (परिचित) हों तो मुनि उन्हें कहे कि आप जरा ठहरें, जब तक हम अपनी सारभूत उपधि को एक कोने में कर लें।

१४५९. वसतिपाल मुनि अपने सारे उपकरणों को एक कोठरी अथवा कोने में करके उन्हें कहें कि आप उपलेपन आदि क्रियाएं करते हुए उपकरणों को उपलिस न करें। यदि बहुत से लोग बलपूर्वक उपधि को इधर-उधर फेंक रहे हों या उपधि को एक तरफ करें, इतनी देर प्रतीक्षा नहीं करें तो उन्हें कहें कि यदि कोई उपकरण खराब हो जाए तो तुम्हारा दायित्व है।

१४६०. जो स्वभावतः या कपटपूर्वक धर्मश्रवण के लिए आए, उन्हें कहे—मेरे पास प्रवचन कौशल नहीं है। यदि वे कहें—हमने पहले आपका प्रवचन सुना है तो कहे—मेरे गले में दर्द है/सिर में पीड़ा है आदि। (प्रवचन न करने का बहाना ढूंढ ले।) यदि वे निश्चित रूप से दानश्राद्ध, सम्यक्त्वी आदि अशंकीय व्यक्ति हों तो जागरूकतापूर्वक धर्मकथा करे।

१४६१. यदि कोई क्रीड़ा करने के लिए कहे तो वसतिपाल कहे—हमें क्रीड़ा देखना भी नहीं कल्पता, करने की बात ही क्या? तुम भी यहां मत खेलो। तुम्हारी निश्रा में कोई अन्य व्यक्ति हमारे उपकरणों का हरण न कर ले। सम्मार्जन, आवर्षण और प्राभृतिका के विषय में वही यतना ज्ञातव्य है, जो बलि के विषय (गा. १४५७-५९) में प्रज्ञप्त है।

१. नि.भा. २, चू. पृ. १७७—सो वसतिपालो तण्हाए वा छुहाए वा परिगतो ण सुण्णं वसहिं काउं भत्ताए वा पाणाए वा गच्छति, धित्तबलसंपण्णो होउं।

२. वही—ण तेण पडिणीएहिं परब्भंतो वि जिणकप्पतिगो व उदासिण्णं भावेति, सव्वावतीसु वीरियसामत्थं दरिसेति।

३. द्रष्टव्य निभा. गा. १६८ व उसकी चूर्णि।

१४६२. अंतर^१ 'निर्मंतितो वा'^२, खंधारे कइतवे इमं भणति ।
किं णे निरागसाणं, गुत्तिकरो^३ काहिती राया ॥ १३४७ ॥
१४६३. 'पभु-अणुपभुणो'^४ आवेदणं^५ तु पेल्लंति जाव णीणेमि ।
तह वि य^६ अठायमाणे, पासे जं वा तरति णेतुं ॥ १३४८ ॥
१४६४. कोल्लुपरंपरं^७, संकलियाऽऽगासं^८ णेति वातपडिलोमं ।
अच्चल्लीणे^९ जलणे, अक्खादीसारभंडं तु ॥ १३४९ ॥
१४६५. असरीरतेणभंगे, 'पवलाते जणे'^{१०} तु जं तरति णेतुं ।
ण वि धूमो ण वि बोलो^{११}, न 'य दवति'^{१२} जणो कइतवेणं^{१३} ॥ १३५० ॥
१४६६. अण्णकुलगोत्तकहणं^{१४}, पत्तेसु वि भीतपरिसं^{१५} पेल्लेति ।
पुव्वं अभीतपरिसे^{१६}, भणाति^{१७} लज्जाए ण 'गतो मि'^{१८} ॥ १३५१ ॥
१४६७. जा ताव ठवेमि वए, पत्ते कुड्ढादि छेदं^{१९} संगारो ।
मा सिं हीरेज्जुवधिं^{२०}, अच्छह जा सिं^{२१} निवेदेमि ॥ १३५२ ॥
१४६८. खंधारादी णाउं, इतरे वि 'दुयं तहिं'^{२२} समभिंति^{२३} ।
'अप्पाहेति व सो वी'^{२४}, अमुगं कज्जं 'दुयं एह'^{२५} ॥ १३५३ ॥

१. अंतरं त्ति उववासो (चू), खमणं (बृभा ५७३) ।

२. णिमंतएत्ता (क), निर्मंतिते ऊ (बृभा) ।

३. गुत्ती रक्खा भण्णति (चू) ।

४. पभू णाम राया, अणुप्यभु जुवराया सेणावतिमादिणो वा (चू) ।

५. निवेयणं (बृभा ५७४) ।

६. हु (मु, भ) ।

७. कोल्लं (क, मु), कोल्लुगा णाम सिगाला (चू) ।

८. संकलि आगासं (बृभा ५७५) ।

९. °ल्लूढा (दे), अच्छल्लूढा (बृभा), अतीव अच्छत्थं लीणो अच्छल्लीणो आसण्णमित्यर्थः । अहवा अतीव रूढो अच्छल्लूढो, एवं अतीव प्रज्वलितेत्यर्थः (चू) ।

१०. जणो पलायते (मु) ।

११. बोलं (मु, क) ।

१२. दवति (बृभा ५७६), य दुवति (भ), दुवति (मु) ।

१३. कइयवेसुं (बृभा) ।

१४. °त्तगहणे (भ) ।

१५. °परिसु (दे), °पुरिसो (मु) ।

१६. °पुरिसो (मु) ।

१७. भणेति (क) ।

१८. भणामि (बृभा ५७७) ।

१९. छिद् (पा) ।

२०. हीरे उवहिं (बृभा ५७८) ।

२१. णं (मु, पा, भ) ।

२२. तहिं दुयं (बृभा ५७९) ।

२३. समभिंतेति (क), समहिल्लेति (मु, भ) ।

२४. अप्पाहेई तेसिं (बृभा) ।

२५. लहुं एध (क, भ) ।

१४६२. यदि कोई भिक्षा हेतु निमंत्रित करे तो वसतिपाल कहे—आज हमारे उपवास है। यदि कोई कपटपूर्वक कहे—भागो! स्कन्धावार आ रहा है तो कहे हम अकिंचन (निरागस)^१ हैं, वह रक्षक (गुप्तिकर)^२ राजा हमारा क्या करेगा?

१४६३. यदि स्वाभाविक/वास्तविक स्कन्धावार आए तो राजा, युवराज आदि को आवेदन करे (ज्ञापन दे) कि सैनिक लोग हमारे उपकरण इधर-उधर कर रहे हैं, उन्हें तब तक रोका जाए जब तक हम उन्हें एक तरफ कर लें। यदि वे अपने राजपुरुषों के द्वारा रक्षा करवा लें तो ठीक, यदि फिर भी न रुकें वे उन्हें (उपकरणों को) एक पार्श्व में करें अथवा जितने ले जा सकें, उतने सुरक्षित स्थान पर ले जाएं।

१४६४. यदि निकट में कहीं अत्यन्त प्रज्वलित आग लग जाए तो वसतिपाल मुनि उत्कृष्ट उपकरणों^३ तथा श्रेष्ठ पात्रों को धागे आदि से शृंखलाबद्ध करके वातप्रतिलोम (वायु से विपरीत दिशावर्ती) खुले आकाश में उसी प्रकार से जाए, जैसे सियार अपने बच्चों को ले जाते हैं।^४

१४६५. अशरीर स्तेन (जो मनुष्य का अपहरण नहीं करते, वैसे चोर) के भय से पलायन का प्रसंग हो, बहुत से लोग भाग रहे हों तो वसतिपाल मुनि जितना कुछ ले जा सके, उतना लेकर दौड़ जाए। यदि कोई कैतव से अग्नि का भय दिखाए, तो मुनि कहे—न धूम दिखाई दे रहा है, न कोई कोलाहल सुनाई दे रहा है और न लोग दौड़ भाग रहे हैं। इसका अर्थ है कि यह कपट से कहा जा रहा है। समझदार व्यक्ति ऐसे कपटपूर्ण वचनों से विचलित नहीं होता।

१४६६, १४६७. कोई अनजान व्यक्ति आकर पूछे, उसे अपना मूल नाम, गोत्र एवं कुल न बताए, अन्य नाम, गोत्र आदि बताए। यदि मुनि के ज्ञातिजन स्वयं आए तो यदि वह वसतिपाल मुनि भीतपरिषद् (दबंग व्यक्तित्व वाला) हो तो उन्हें जोर से बोलकर निकाल दे और यदि पहला अर्थात् (वसतिपाल) अभीतपरिषद् हो, तो कहे—मैं स्वयं ही प्रव्रज्या छोड़ना चाहता हूँ, लज्जा के कारण घर नहीं गया। आपने अच्छा किया जो मुझे लेने आ गए। मैं आपके साथ चलूंगा पर आप लोग तब तक रुकें, जब तक अन्य मुनि गोचरी आदि से लौट जाएं। मैं उन्हें उनके उपकरण सौंप दूँ तथा उनसे जो व्रत लिए हैं वे भी उन्हें लौटा दूँ। ऐसा कहने के बाद जब वे आ जाएं तो दीवार के छेद आदि से संकेत कर दे। अथवा कहे कि सूने उपाश्रय में अन्य कोई मुनियों के उपकरणों का हरण न कर ले, अतः आप तब तक यहां रहें, जब तक मैं उन्हें निवेदन करके आता हूँ।—ऐसा कहकर चला जाए तथा अन्य साधुओं को जाकर कहे कि मुझे अमुक जगह खोज लेना।

१४६८. अन्य साधु, जो भिक्षा आदि के लिए बाहर गए हों, वे भी स्कन्धावार, अग्नि आदि प्रयोजनों को जानकर शीघ्र उपाश्रय में आ जाते हैं और वह वसतिपाल भी उन्हें संदेश भिजवा सकता है कि अमुक कार्य है, आप शीघ्र आ (पधार) जाएं।

१. निभा. २ चू. पृ. १७९—आकृष्यत इति आगसणं, तं च दविणं, तं जस्स णत्थि सो णिरागसो।

२. गुप्ति का अर्थ है रक्षा अतः गुप्तिकर का अर्थ है रक्षक।

३. अक्ख—उत्कृष्ट उपकरण।

४. निभा. चू. पृ. १७९—कोल्लुगा णाम सिगाला। जहा ते पुत्तभंडातिं थामातो थामं संचारेता एगं पुत्तभंडं थोवं भूमिं णेउं जत्थ तं च ते अपच्छिमे पेल्ले पलोएति तत्थ मुंचति, ताहे पच्छिमे सव्वे तत्थ संचारेउं पुणो अग्गतो संचरेति। एवं चेव ण अति दूरत्थे अगणिम्मि कोल्लगपरम्परसंकलिया दिट्ठंतेणं, संकलियं वा दोरेण बद्धं जतो आगासं वातप्पडिलोमं वा ततो णयति।

१४६९. संथारविप्पणासो, एवं खु ण विज्जते कहंचिदवि।
णासे अविज्जमाणे, सुत्तऽफलं सुण जधा सफलं ॥ १३५४ ॥
१४७०. पडिलेहणमाणयणे^१, अप्पिणणाऽऽतावणे^२ बहिं रहिते।
तेणग अगणीयाओ, संभम-भय-रट्ट-उट्टाणे ॥ १३५५ ॥ नि ३४८ ॥
१४७१. एत्तो एगतरेणं, कारणजातेण विप्पणट्ठं तु।
जो भिक्खू न गवेसति, सो पावति आणमादीणि ॥ १३५६ ॥ नि ३४९ ॥
१४७२. अप्पच्चओ अकित्ती, मग्गंते सुत्त अत्थपरिहाणी।
वोच्छेद धुयावणया^३, तेण विणा जे य दोसा तु ॥ १३५७ ॥
१४७३. तम्हा गवेसितव्वो, सव्वपयत्तेण जेण सो गहितो।
अणुसट्ठी धम्मकहा, रायवल्लभो वा णिमित्तेणं^४ ॥ १३५८ ॥
१४७४. दिण्णो भवव्विधेण व, एसो^५ णारिहसि णेण दाउं जे।
अण्णो वि ताव देयो, देज्जाणमजाणताऽऽणीतं ॥ १३५९ ॥
१४७५. मंतणिमित्तं^६ पुण रायवल्लभे दमग भेसणमदेंते^७।
धम्मकहा पुण दोसु वि, जइ अवहारो दुहा 'वऽहितो'^८ ॥ १३६० ॥
१४७६. अण्णं पि ताव तेण्णं, इह परलोगे य हारिणामहितं।
परतो जाइतलद्धं, किं पुण मन्नुप्पहरणेसुं ॥ १३६१ ॥
१४७७. खंते व भूणगे वा, भोइग-जामातुगे^९ असति साहे।
सिट्ठम्मी^{१०} जं कुणती^{११}, सो मग्गण-दाण ववहारो ॥ १३६२ ॥
१४७८. भूणगगहिते^{१२} खंतं, भणात्ति^{१३} खंतगहिते व^{१४} से पुत्तं।
असति त्ति 'ण देमाणे'^{१५}, कुणति दवावेति व ण वा तू ॥ १३६३ ॥

१. °णवणे (भ)।

२. °वणा (भ)।

३. °वणे वा (मु, भ), °वणियाते (क),
धुआवणं णाम दवावणं (चू)।४. गाथा के चतुर्थ चरण में छंदभंग है। पा प्रति में १४७४
गाथा नहीं है।

५. एस (भ)।

६. °मित्ता (दे)।

७. °मदिन्ने (दे)।

८. विऽहितो (पा), वि अहितो (मु)।

९. °माउले (दे)।

१०. °मिंमं (क)।

११. कुणए (दे)।

१२. °हिते तु (क)।

१३. भणति (दे)।

१४. य (भ)।

१५. अदे° (दे)।

१४६९. प्रेरक—इस प्रकार सुरक्षा करने पर संस्तारक कभी भी खो नहीं सकता और संस्तारक-नाश का अभाव होने पर प्रस्तुत सूत्र निष्फल हो जाता है। आचार्य—सूत्र कैसे सफल (सप्रयोजन) है, इसे सुनो।

१४७०, १४७१. १. प्रतिलेखन के लिए संस्तारक बाहर लाया गया हो। २. गृहस्थ के घर से लाते समय बीच में या उपाश्रय के बाहर रखा हो। ३. प्रत्यर्पण करने के लिए ले जाते समय, बीच में अथवा गृहस्थ के घर के बाहर रखा हो। ४. संस्तारक को धूप दिखाने के लिए बाहर रखा हो। ५. चोर आने अथवा आग लगने से अचानक साधु वसति छोड़कर चले जाएं। ६. राजपुरुष, म्लेच्छ आदि के भय या घबराहट के कारण वसति सूनी हो। ७. राष्ट्र आदि के उजड़ जाने से अचानक पलायन करना पड़े—इनमें से किसी कारणविशेष से सुरक्षा करते हुए भी संस्तारक खो सकता है। जो भिक्षु उस विप्रणष्ट—खोए हुए संस्तारक की गवेषणा नहीं करता, वह आज्ञाभंग, मिथ्यात्व आदि दोषों को प्राप्त होता है।

१४७२. भिक्षु गृहस्थ से प्रत्यर्पणीय संस्तारक लाता है और यथासमय उसका प्रत्यर्पण नहीं करता तो गृहस्थ को अविश्वास होता है। लोक में उसके अयथार्थवादिता की अकीर्ति—निन्दा होती है। दूसरे संस्तारक की मार्गणा करे तो सूत्रार्थ की हानि होती है। पुनः नहीं प्राप्त होने से गृहस्थ उन्हें अन्य संस्तारक या अन्य वस्तु नहीं देता—व्यवच्छेद करता है। गृहस्थ को दूसरा संस्तारक दिलाना पड़ता है तथा संस्तारक के अभाव में जो दोष होते हैं, तन्निष्पन्न प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१४७३. अतः (उपर्युक्त दोषों का परिहार करने के लिए) मुनि खोए हुए संस्तारक की पूर्ण प्रयत्नपूर्वक गवेषणा करे। जिसने उसे लिया हो, उससे पुनः मांग ले। यदि मांगने पर भी न दे तो उसे अनुशिष्टि दे, धर्मकथा करे। यदि वह व्यक्ति राजवल्लभ हो तो उसे निमित्तकथन आदि के द्वारा आकर्षित करे।

१४७४. मुनि उसे अनुशिष्टि देता हुआ कहे—यह संस्तारक जो तुम जान-बूझकर अथवा अज्ञानतावश ले आए वह तुम्हारे जैसे ही किसी दाता ने हमें दिया है अतः तुम इसे नहीं ले सकते। बल्कि तुम्हारे पास यदि अन्य संस्तारक हो तो तुम्हें देना चाहिए।

१४७५. यदि संस्तारक ले जाने वाला व्यक्ति राजवल्लभ हो तो उससे संस्तारक वापिस लेने हेतु मंत्र अथवा निमित्तविद्या का प्रयोग करे। यदि वह भिखारी हो तो उसे भय दिखाए। धर्मकथा का प्रयोग दोनों के विषय में ही किया जा सकता है। मुनि उन्हें समझाए—मुनिजनों की वस्तु का हरण दोनों लोकों में अहितकर है।

१४७६. अन्य (सामान्य व्यक्ति) की वस्तु चुराना भी चुराने वाले के लिए इहलोक और परलोक—दोनों में हितकर नहीं तो जो दूसरे से याचित वस्तु प्राप्त करते हैं और क्रोध ही जिनका शस्त्र है, ऐसे मुनियों की वस्तु के हरण की तो बात ही क्या? अर्थात् वह तो निश्चित रूप से अहितकर है।

१४७७. यदि संस्तारक पिता ने लिया हो तो उसके पुत्र से अथवा पुत्र ने लिया हो तो पिता से कहे कि हमें हमारा संस्तारक दिलवा दो। इसी प्रकार ग्रामाध्यक्ष, जामाता आदि जो भी विवेकशील या समझदार हो, उससे कहकर संस्तारक लौटा ले। यदि ऐसा कोई व्यक्ति न हो तो महत्तर आदि से कहे तथा कहने पर वे जो मार्गणा, दान, व्यवहार (मुकदमा) करे, वह प्रमाण है।

१४७८. यदि पुत्र ने संस्तारक लिया हो तो पिता को और पिता ने लिया हो तो पुत्र को कहे—हमें संस्तारक दिलवा दो। यदि ऐसा करने पर भी संस्तारक न लौटाए तो मुनि उसकी शिकायत ग्रामाध्यक्ष आदि से करे फिर वे जो बंधन, अवरोध आदि करें अथवा संस्तारक मुनि आदि को दिलवाए—वे ही इस विषय में प्रमाण हैं।

१४७९. भोइय उत्तर-उत्तर, णेतव्वं जाव ऽपच्छिमो राया।
दावण-विसज्जणं वा, दिट्ठमदिट्ठे इमे होति ॥ १३६४ ॥
१४८०. खंतादि सिट्ठेऽदेते, महतर किच्चकर भोइए वावि।
देसारक्खियऽमच्चे^१, कर^२ ण णिवे मा गुरू दंडो ॥ १३६५ ॥
१४८१. एते तु दवावेते, अहव भणंते स कस्स दातव्वो।
अमुगस्स त्ति व भणिते, वच्चह तस्सऽप्पिणस्सामो ॥ १३६६ ॥
१४८२. जइ सिं कज्जसमत्ती, वयंति इहरा तु घेतु संथारं।
दिट्ठे णाते चेवं, अदिट्ठेऽणाते इमा जतणा ॥ १३६७ ॥
१४८३. विज्जादीहि गवेसण, अदिट्ठे भोइयस्स व कहंति^३।
जो भद्दगो गवेसति, पंते अणुसट्ठिमादीणि ॥ १३६८ ॥ नि ३५० ॥
१४८४. आभोगिणीय^४ पसिणेण, देवताए निमित्तओ वावि।
एवं णाते जतणा, सच्चिय खंतादि जा राया ॥ १३६९ ॥
१४८५. विज्जादसती भोयादिकहण^५ केण गहितो न याणामो।
दीहो तु रायहत्थो, भद्दो आमं गवेसती^६ ॥ १३७० ॥
१४८६. जाणह जेण हडो सो, कत्थ वि मग्गामि णं अजाणंतो।
'इति पंते अणुसट्ठी'^७, धम्मनिमित्तादिसु तहेव ॥ १३७१ ॥
१४८७. असती य भेसणं वा, भीता वा भोइयस्स व भएणं।
साहित्थदाणमूले^८, पडिणीएँ इमेहि व छुभेज्जा ॥ १३७२ ॥
१४८८. भोइयमादीणऽसती, 'अदवेते वा'^९ भणंति जणपुरतो।
बुज्झीहामु^{१०} सकज्जे, किह लोगमताणि^{११} जाणंता ॥ १३७३ ॥

१. देसारक्खओ विषयारक्षकः महाबलाधिकृतेति (चू)।

२. कर त्ति एषां पूर्वं निवेद्यते (चू)।

३. काहिंति (दे)।

४. आभोगं (भ, पा), आभोगिणि त्ति जा विज्जा जविता
माणसं परिच्छेदमुप्पादयति सा आभोगिणी (चू)।

५. °करण (भ)।

६. °सति य (मु, भ)।

७. अणुपंते इति सट्ठी (दे)।

८. °दारमूले (मु, भ)।

९. अदवावेते (भ)।

१०. मुज्झी° (क)।

११. °मयाई (क, पा)।

१४७९. भोजिक (ग्रामाध्यक्ष) के पश्चात् उत्तरोत्तर इसी विधि से अन्त में राजा को निवेदन किया जाए—ऐसा ज्ञातव्य है। फिर वे संस्तारक दिलवाएं या विसर्जन करवाएं—दृष्ट (संस्तारक ले जाते हुए देखे जाने पर अथवा ज्ञात स्तेन) के विषय में यह विधि है।^१ अदृष्ट विषयक विधि यह (वक्ष्यमाण) है।^२

१४८०. पुत्र आदि के द्वारा गृहीत संस्तारक पिता आदि से कहने पर भी न मिले (दिलवाए) तो मुनि ग्रामाध्यक्ष आदि से कहे। यहां ग्रामाध्यक्ष आदि से महत्तर, कृत्यकर (ग्रामसेवक), उसके स्वामी, देशारक्षक (महाबलाधिकृत), अमात्य (मंत्री) आदि का ग्रहण किया गया है। पहले इन सबको निवेदन किया जाता है^३ राजा को नहीं ताकि स्तेन को भारी दंड न हो।

१४८१-८३. ये ग्रामरक्षक आदि निवेदन किए जाने पर संस्तारक दिलवा दें तो ठीक। अथवा मुनि के निवेदन करने पर वे कहें—संस्तारक किसे देना है? अमुक व्यक्ति को—मुनि के ऐसा कहने पर वे कहते हैं—जाओ, हम उसे प्रत्यर्पित कर देंगे। यदि मुनियों का संस्तारक से प्रयोजन सम्पन्न हो गया हो तो भोजिक आदि से विसर्जित होने पर वे चले जाएं। यदि प्रयोजन सम्पन्न न हुआ हो तो अन्य संस्तारक ग्रहण कर उसका परिभोग करें। दृष्ट संस्तारक और ज्ञात स्तेन के विषय में यह विधि है। अदृष्ट और अज्ञात के विषय में यतना यह है—संस्तारक स्तेन कौन है—इसका ज्ञान न होने पर मुनि विद्या आदि के द्वारा उसकी गवेषणा करे। विद्या आदि न हो तो ग्रामाध्यक्ष से कहे। यदि वह भद्र हो तो कहने मात्र से गवेषणा कर देता है। यदि प्रान्त हो तो अनुशिष्टि आदि का प्रयोग करे।

१४८४. खोए हुए संस्तारक की खोज हेतु मुनि आभोगिनी,^४ प्रश्नविद्या^५ आदि का प्रयोग करता है। ये विद्याएँ न हों तो कोई तपस्वी मुनि देवता का आवाहन कर अथवा निमित्त का प्रयोग कर भी संस्तारक-स्तेन के बारे में जाने तथा स्तेन के ज्ञात होने पर खंत (पिता) से लेकर राजा पर्यन्त वही यतना करे जो पहले (गा. १४७७-१४८०) प्रज्ञप्त है।

१४८५. आभोगिनी आदि विद्याएं न हों तो ग्रामाध्यक्ष आदि से निवेदन करे—किसी ने हमारा संस्तारक चुरा लिया है, आप खोज करवाएं। ग्रामाध्यक्ष—बिना जाने कहां खोजें। मुनि—राजा के हाथ लम्बे होते हैं। ऐसा कहने पर जो ग्रामाध्यक्ष भद्र होता है, वह कहता है—ठीक है और वह गवेषणा करता है।

१४८६. प्रान्त स्वभाव वाला ग्रामाध्यक्ष कहता है। यदि आप जानते हैं कि किसने हरण किया है तो मैं खोज करवा देता हूँ। अन्यथा बिना जाने कहां खोजूँ। प्रान्त ग्रामाध्यक्ष के ऐसा कहने पर पूर्वोक्त विधि से अनुशिष्टि, धर्मकथा, निमित्त आदि का प्रयोग करे।

१४८७. ग्रामाध्यक्ष के भय से संस्तारक लौटा दे तो ठीक, यदि ग्रामाध्यक्ष न हो या उपर्युक्त अनुशिष्टि आदि से भी वह संस्तारक न दिलवाए तो मुनि लोगों को भयभीत करे ताकि वे स्वयं उन्हें संस्तारक के विषय में कह दें अथवा कोई प्रत्यनीक संस्तारक को द्वार के निकट इन (सचित्त पृथ्वी, जल, वनस्पति आदि) पर भी डाल सकता है।

१४८८. कभी ग्रामाध्यक्ष आदि न हो, अथवा कहने पर भी वह स्तेन से संस्तारक न दिलवाए तो मुनि लोगों के समक्ष कहें—हम सबके विचारों को जानते हैं तो क्या अपने प्रयोजन को नहीं जानेंगे?

१. विस्तार हेतु द्रष्टव्य गा. १४८०-१४८२।

२. विस्तार हेतु दृष्टव्य गा. १४८३-१४८६।

३. निभा. २ चू. पृ. १८३—कर त्ति एषां पूर्वं निवद्यते।

४. आभोगिनी—मानसिक निर्णय उत्पन्न कराने वाली विद्या।

५. अंगुष्ठ प्रश्न, स्वप्न प्रश्न आदि।

१४८९. पेहुण तंदुल पच्चय, भीता साहंति भोइयस्सेते।
साहत्थि^१ साहरंति य^२, दोण्ह वि मा होतु पडिणीओ ॥ १३७४ ॥
१४९०. पुढवी आउक्काए, अगड-वणस्सइ-तसेसु साहरती^३।
घेत्तूण व दातव्वो, अदिट्टदड्डे व^४ दोच्चं पि ॥ १३७५ ॥
१४९१. दिट्ठंत^५ पडिहणित्ता, जतणाए भद्दगो विसज्जेति।
मग्गंते जतणाए, उवधिऽग्गहणे ततो विवदो^६ ॥ १३७६ ॥
१४९२. परवयणाऽऽउट्टेउं, संथारं देहि तं तु^७ 'गुरु एवं'^८।
आणेह भणति पंतो, 'दाहं वाहं'^९ न वा दाहं ॥ १३७७ ॥
१४९३. दिज्जंतो वि न गहितो, किं सुहसेज्जो इदाणि संजातो।
हित णट्ठो वा णूणं^{१०}, अथक्क^{११} जाएइ^{१२} सूएमो ॥ १३७८ ॥
१४९४. भद्दो पुण अग्गहणं^{१३}, जाणंतो वावि विप्परिणमेज्जा।
किं फुडमेव न सिस्सति, इमे हु अण्णे वि^{१४} संथारा ॥ १३७९ ॥
१४९५. इति चोदगदिट्ठंतं, पडिहंतु^{१५} कहेज्ज तेसि^{१६} सब्भावो।
भद्दो^{१७} सो मम णट्ठो, मग्गामि ण तो पुणो दाहं ॥ १३८० ॥
१४९६. तुब्भे वि ताव गविसह, अहं पि जोएमि^{१८} गविसए^{१९} अन्नं।
णट्ठे वि तुज्झऽणट्ठो, वयंति^{२०} पंतेऽणुसट्ठादी ॥ १३८१ ॥
१४९७. नत्थि ण^{२१} मोल्लं उवधिं, देह^{२२} में तस्संतपंतदावणता।
अण्णं व देति फलगं, जतणाएँ विमग्गिउं तस्स ॥ १३८२ ॥

- | | |
|--|--|
| १. साहंति (दे)। | १२. जाएसु (भ)। |
| २. व (मु, भ)। | १३. अग्गहणमिति साहूसु अणादरो (चू)। |
| ३. साहरे कोई (भ)। | १४. हु (मु, भ)। |
| ४. वि (क)। | १५. हंतुं (दे)। |
| ५. दिट्ठंत इति चोयगाभिप्रायं (चू)। | १६. एसि (दे), तेस (भ)। |
| ६. छंद की दृष्टि से 'विवादो' के स्थान पर 'विवदो' पाठ है। | १७. भद्दगो (दे), भद्दग (भ)। |
| ७. ति (दे)। | १८. जाएमि (मु), जाएमि त्ति गवेषयामि इत्यर्थः (चू)। |
| ८. गुरुगा तु (भ)। | १९. गवेसह (भ)। |
| ९. तो णं दाहं (मु)। | २०. वयते (दे)। |
| १०. णूणमिति वितर्कार्थं (चू)। | २१. णे (भ)। |
| ११. अथक्क त्ति अकाले (चू)। | २२. व देह (क)। |

१४८९. मोरपंख से मिश्रित चावल के प्रयोग से विश्वास में आकर^१ लोग सोचते हैं कि मुनिजन ग्रामाध्यक्ष से कह देंगे (हमारी शिकायत कर देंगे) इस प्रकार भयभीत होकर वे साहत्थि—अपने हाथ से उन्हें संस्तारक लौटा देते हैं। कदाचित् कोई साधुचर्या को जानने वाला प्रत्यनीक—यह संस्तारक दोनों का ही न हो (मेरे और इनके काम न आ सके)—ऐसा सोच उसे सचित्त पृथ्वी आदि पर डाल देता है।

१४९०. यदि वह प्रत्यनीक सचित्त पृथ्वीकाय, अप्काय, वनस्पति अथवा त्रस जीवों पर उस संस्तारक को छोड़ दे अथवा कूप में डाल दे, तब भी वहां से निकालकर मूल मालिक को देना चाहिए। यदि खोजने पर भी संस्तारक न मिले या जला दिया गया हो तो दूसरी बार (संस्तारक के स्वामी से) अनुज्ञा प्राप्त करे।

१४९१. प्रेरक के आशय का खण्डन कर^२ आचार्य कहते हैं—संस्तारक स्वामी को यतनापूर्वक संस्तारक के विषय में कह देना चाहिए। यदि वह भद्र होता है तो मुनियों को छोड़ देता है। यदि वह प्रान्त है और संस्तारक मांगता है तो यतना से प्रान्त उपधि दे दें। यदि वह बलपूर्वक श्रेष्ठ उपधि ले तो न्यायालय में जाकर विवाद करे।

१४९२. प्रेरक का कथन है—संस्तारक स्वामी को धर्मकथा आदि से प्रभावित कर मुनि कहे—वह संस्तारक हमें (अप्रातिहारिक रूप में) दे दो। इस प्रकार माया करने वाले को चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। यदि वह व्यक्ति रुक्ष प्रकृति वाला है तो कहता है कि पहले संस्तारक लाओ, तब देखूंगा—दूँ या नहीं दूँ।

१४९३. संस्तारक स्वामी सोचता है—पहले मैं इन्हें निर्देय दे रहा था, तब इन्होंने नहीं लिया। क्या अब वह संस्तारक सुखशय्या हो गया है? अब असमय में याचना कर रहे हैं (इससे) लगता है किसी ने संस्तारक चुरा लिया है या वह खो गया है।

१४९४. यदि संस्तारक स्वामी भद्र है तो उसके मन में साधुओं के प्रति अनादर का भाव पैदा होगा। अथवा मुनियों की माया के विषय में जानने से वह विपरिणत—अनावस्थावान हो जाएगा। कहेगा—आप स्पष्ट क्यों नहीं कह देते कि संस्तारक खो गया है। खैर! हमारे पास अन्य भी बहुत से संस्तारक हैं।

१४९५. इस प्रकार भद्र और प्रान्त संस्तारक स्वामी संबंधी दोषों के निरूपण द्वारा प्रेरक के अभिप्राय का खंडन कर आचार्य कहते हैं कि उसे यथार्थ बता देना चाहिए। साधु से यथार्थ सुनकर भद्र संस्तारक स्वामी कहता है—जो खो गया, वह मेरा। अब मैं संस्तारक नहीं मांगूंगा। यदि वह मिला तो पुनः आपको दे दूंगा।

१४९६. आप भी संस्तारक खोजें, मैं भी खोज करूंगा। यदि आपको संस्तारक की जल्दी है तो अन्य संस्तारक की गवेषणा करें। प्रान्त प्रकृति वाला संस्तारक स्वामी कहता है जो संस्तारक खोया, वह आपका, मेरा नहीं खोया। अतः मुझे मेरा संस्तारक दें। इस प्रकार कहने पर मुनि उसे अनुशिष्टि (शिक्षा) प्रदान करें।

१४९७. यदि संस्तारक स्वामी अनुशिष्टि, धर्मकथा आदि से न माने और मूल्य मांगे तो कहे—हमारे पास मूल्य (धन) नहीं है। वह कहे—मुझे उपकरण दे दो। तो उसे संस्तारक लाने वाले मुनि के अन्त प्रान्त उपकरण दे दिए जाएं। अथवा यतनापूर्वक मार्गणा कर उसे दूसरा फलक दे दे।

१. हम लोगों के नष्ट, विनष्ट, प्रणष्ट सबको जानते हैं—इस बात का विश्वास दिलाने के लिए मुनिजन एक योजना बनाते हैं। वे गृहस्थों को इकट्ठा कर अपने में से एक साधु को बाहर भेज देते हैं। फिर लोगों से कहते हैं—तुम में से एक व्यक्ति कुछ छिपाओ (ग्रहण करो)। उसके छिपाने के बाद वह निमित्तज्ञ बनने वाला साधु बाहर से आकर सबको पंक्तिबद्ध बिठाता है तथा सबकी अंजलि में पानी डालता है। इधर जिसे पता है कि अमुक व्यक्ति ने वस्तु छिपाई है, वह सबकी अंजलि में चावल डालता है—छिपाने वाले के हाथ में मोरपिच्छ मिश्रित तथा अन्य के हाथों में शुद्ध। निमित्तज्ञ साधु मोरपिच्छ को देखकर बता देता है कि अमुक व्यक्ति ने वस्तु छिपाई है।

२. प्रेरक का आशय है कि संस्तारक स्वामी को संस्तारक खोने या नष्ट होने के विषय में कुछ न कहकर उससे अप्रातिहारिक संस्तारक की अनुज्ञा ले ली जाए।

१४९८. सव्वे वि तत्थ रंभति, भद्ग^१ मोल्लेण जाव अवरण्हो ।
एगं^२ ठवेत्तु गमणं, सो वि य जावऽट्टमं काउं ॥ १३८३ ॥
१४९९. लद्धे तीरितकज्जं^३, तस्सेवाप्पेति अहव भुंजंति ।
पभुलद्धे वऽसमत्ते, दोच्चुग्गह तस्स मूलातो ॥ १३८४ ॥
१५००. बितियं पभु णिव्विसए, णट्टुट्टित-सुण्ण-मतमणप्पज्जे^४ ।
असहू य रायदुट्ठे, बोहिगभय सत्थ सीसे य^५ ॥ १३८५ ॥
१५०१. अज्झयणम्मि पकप्पे, बितिओद्देसम्मि जत्तिया सुत्ता ।
संधारणं पडुच्चा, ते परिसाडिम्मि^६ निवतंति ॥ १३८६ ॥
१५०२. ओहे^७ उवग्गहम्मि य, दुविधो उवधी 'समासतो होति'^८ ।
एक्केक्को 'वि य'^९ 'तिविधो, जहण्णगो मज्झिमुक्कोसो'^{१०} ॥ १३८७ ॥ नि ३५१ ॥
१५०३. बारस चोद्दस^{११} पणुवीसओ य^{१२} ओघोवधी मुणेत्तव्वो ।
जिणकप्पे थेराणं^{१३}, अज्जाणं चेव कप्पम्मि ॥ १३८८ ॥
१५०४. ओघोवधी जिणाणं, थेराणोहे उवग्गहे चेव ।
ओघोवधिमज्जाणं, ओवग्गहिओ^{१४} य णात्तव्वो ॥ १३८९ ॥
१५०५. जिणकप्पिया य^{१५} दुविधा, पाणीपाया पडिग्गहधरा य ।
पाउरणमपाउरणा, एक्केक्का ते भवे दुविधा ॥ १३९० ॥
१५०६. दुग-तिग-चउक्क-पणगं, नव दस एक्कारसेव^{१६} बारसगं ।
एते अट्टविकप्पा, जिणकप्पे होंति उवहिस्स ॥ १३९१ ॥

१. भद्दो (क) ।

२. एवं (दे) ।

३. °कज्जा (क, भ) ।

४. °मणुप्पं (क) ।

५. वा (मु) ।

६. °साडिम्मि (दे) ।

७. सूत्र ५९ (नव २/५६) ।

८. उ होइ नायव्वो (ओनि ६६७) ।

९. × (क) ।

१०. दुविहो गणणाएँ पमाणतो चेव (ओनि) ।

११. चउद्दस (दे) ।

१२. हि (दे) ।

१३. थेराण य (मु) ।

१४. अवग्गं (मु) ।

१५. तु (भ) ।

१६. °रसए (भ) ।

१४९८. संस्तारक का मूल्य प्राप्त न होने पर कोई राजवल्लभ व्यक्ति सब मुनियों को बन्द कर दे और कोई यथाभद्रक व्यक्ति उन्हें मूल्य देकर छुड़वाए तो मुनि प्रतिषेध न करे। यदि कोई मुक्त करवाने वाला न हो तो अपराह तक वहां रहे। फिर एक तपस्वी मुनि जो तेला आदि तपस्या कर सके, उसे वहां स्थापित कर सब चले जाएं।

१४९९. गवेषणा करने पर यदि संस्तारक मिल जाए और संस्तारक का प्रयोजन भी सम्पन्न हो चुका हो तो मुनि उसे संस्तारक स्वामी को लौटा दें। यदि कार्य सम्पन्न न हुआ हो तो परिभोग कर लें। यदि वह संस्तारक उसके स्वामी को मिला हो और मुनियों को उसकी जरूरत हो—प्रयोजन सम्पन्न न हुआ हो तो संस्तारक स्वामी के पास द्वितीय अवग्रह (पुनः अनुज्ञा) ले।

१५००. अपवाद (द्वितीय पद) में मुनि निम्नांकित कारणों से संस्तारक की गवेषणा नहीं करता—१. संस्तारक स्वामी को देश निकाला दे दिया गया हो। २. देशभंग के कारण वह कहीं चला गया हो। ३. दुर्भिक्ष आदि से गांव आदि उजड़ गया हो, जन-शून्य हो गया हो। ४. संस्तारक स्वामी मृत्यु को प्राप्त हो गया हो या अनात्मवश हो गया हो। ५. संस्तारक लौटाने में मुनि अक्षम हो। ६. राजद्वेष, म्लेच्छ-भय आदि के कारण संस्तारक न खोजा जा सके। ७. अटवी शीर्ष पर या सार्थ के वशीभूत होने से शीघ्र प्रस्थान करना पड़े।

१५०१. प्रकल्प अध्ययन के द्वितीय उद्देशक में संस्तारक विषयक जितने सूत्र प्रज्ञप्त हैं, वे सब परिशाटी संस्तारक में निपतित होते हैं क्योंकि यहां मासलघु प्रायश्चित्त का अधिकार है।

१५०२. संक्षेप में उपधि के दो प्रकार प्रज्ञप्त हैं—१. औघिक और २. औपग्रहिक। प्रत्येक के पुनः तीन-तीन प्रकार हो जाते हैं—१. जघन्य, २. मध्यम और ३. उत्कृष्ट।

१५०३. गणना प्रमाण की अपेक्षा से जिनकल्प, स्थविरकल्प और आर्याओं (साध्वियों) के लिए औघिक उपधि के क्रमशः बारह, चौदह एवं पच्चीस प्रकार ज्ञातव्य हैं।

१५०४. जिनकल्पिक मुनियों के एक औघिक उपधि होती है। स्थविरकल्पिक मुनियों एवं आर्याओं (साध्वियों) के दोनों प्रकार की उपधि होती है—औघिक और औपग्रहिक—ऐसा ज्ञातव्य है।

१५०५. जिनकल्पिक मुनि दो प्रकार के होते हैं—१. पाणिपात्र और २. प्रतिग्रहधारी। प्रत्येक के दो-दो प्रकार प्रज्ञप्त हैं—१. सप्रावरण (सवस्त्र) और २. अप्रावरण (दिगम्बर)।

१५०६. जिनकल्प में उपधि के ये आठ विकल्प होते हैं—१. दो, २. तीन, ३. चार, ४. पांच, ५. नौ, ६. दस, ७. ग्यारह और ८. बारह उपधि वाले।^१

१. पाणिपात्र अप्रावरण (वस्त्र और पात्र रहित) मुनियों के दो उपधि—रजोहरण और मुखवस्त्रिका होती है। पात्र न रखने वाले सप्रावरण मुनियों के एक, दो और तीन कल्प (पछेवड़ी) मिला देने पर उपधि की संख्या क्रमशः तीन, चार और पांच हो जाती है। प्रतिग्रहधारी दिगम्बर मुनियों के नवविध उपधि होती है—मुखवस्त्रिका, रजोहरण और पात्र नियोग (पात्र और उसकी सामग्री)। एक, दो और तीन पछेवड़ी होने पर सवस्त्र मुनियों के क्रमशः दस, ग्यारह और बारह उपधि होती है।

१५०७. अहवा दुगं च^१ नवगं, उवकरणे होंति दुण्णि तु विकप्पा ।
पाउरण वज्जियाणं^२, विसुद्धजिणकप्पियाणं तु ॥१३९२ ॥
१५०८. पत्तं पत्ताबंधो, पायट्टवणं च पायकेसरिया ।
पडलाइ रयत्ताणं, च गोच्छगो पायणिज्जोगो^३ ॥१३९३ ॥
१५०९. तिण्णेव य पच्छागा, रयहरणं चैव 'होति मुहपोत्ती'^४ ।
एसो दुवालसविधो, उवधी जिणकप्पियाणं तु^५ ॥१३९४ ॥
१५१०. एते चैव दुवालस, मत्तग अतिरेग चोलपट्टो उ^६ ।
एसो चउद्दसविहो^७, उवधी पुण थेरकप्पम्मि ॥१३९५ ॥
१५११. पत्तं पत्ताबंधो, पायट्टवणं च पायकेसरिया ।
पडलाइ रयत्ताणं, च गोच्छगो पायणिज्जोगो^८ ॥१३९६ ॥
१५१२. तिण्णेव य पच्छागा, रयहरणं चैव होति मुहपोत्ती ।
तत्तो^९ य मत्तगो खलु, चोद्दसमे कमढगे होति^{१०} ॥१३९७ ॥
१५१३. उग्गहणंतगपट्टो, अद्धोरुग^{११} चलणिगा य बोधव्वा ।
अब्भितर बाहिणियंसणीय तह कंचुगे चैव^{१२} ॥१३९८ ॥ नि ३५२ ॥
१५१४. उक्कच्छिय वेकच्छिय^{१३}, संघाडी चैव खंधकरणी उ^{१४} ।
ओघोवधिमि एते, अज्जाणं पण्णवीसं तु ॥१३९९ ॥ नि ३५३ ॥
१५१५. अह^{१५} उग्गहणंतग^{१६} णाव-संठितं गुज्झदेसरक्खट्टा ।
तं तु पमाणेणेक्कं, घणमसिणं देहमासज्ज ॥१४०० ॥
१५१६. पट्टो^{१७} वि होति एगो, देहपमाणेण सो तु भइयव्वो ।
छादंतोग्गहणंतं, कडिबंधो^{१८} मल्लकच्छा वा ॥१४०१ ॥

१. व (दे), य (मु) ।

२. वज्जित्ताणं (मु) ।

३. ओनि ६६८, पंकभा ८१७, १४७६, बृभा ३९६२, ४०८० ।

४. मुहपोत्ती होति (दे) ।

५. ओनि ६६९, पंकभा ८१८ ।

६. य (ओनि ६७०) ।

७. चोद्दसरूवो (दे, भ) चोद्दसविधो (पंकभा १४७८) ।

८. ओनि ६७४ ।

९. एत्तो (क) ।

१०. चैव (दे, ओनि ६७५), बृभा ४०८१ ।

११. अद्धोरुग (ओनि ६७६), °रुअ (बृभा ४०८२) ।

१२. पंकभा १४८० ।

१३. वेकच्छी (ओनि ६७७) ।

१४. य (भ, पंकभा १४८१, बृभा ४०८३) ।

१५. अहवा (दे) ।

१६. उग्गह इति जोणिदुवारस्स सामइकी संज्ञा (चू) ।

१७. क्षुरिकापट्टिकावत् पट्टो दट्टव्वो, अंते बीडगबद्धो, पुहुत्तेण

चउरंगुलप्पमाणो समइरित्तो वा, दीहत्तणेण इत्थिकडि-
प्पमाणो (चू) ।

१८. °बद्धो (पा, बृभा ४०८५) ।

१५०७. अथवा जो प्रावरण रहित (दिगम्बर) जिनकल्पिक होते हैं वे विशुद्ध जिनकल्पिक होते हैं। उनके उपकरण विषयक दो ही विकल्प होते हैं—१. द्विविध उपधि वाले और २. नवविध उपधि वाले।

१५०८. पात्र नियोग (पात्र-परिकर/सामग्री) यह है—१. पात्र, २. पात्र बन्ध (पात्रों को बांधने का कपड़ा), ३. पात्र स्थापन (पात्र रखने का वस्त्रखण्ड), ४. पात्रकेसरिका (पात्र प्रमार्जन का कपड़ा), ५. पटल (भिक्षाकाल में पात्र को ढकने का वस्त्र) ६. रजस्त्राण और ७. गुच्छग।

१५०९. तीन प्रच्छादक (पछेवड़ी), रजोहरण और मुखवस्त्रिका सहित यह बारह प्रकार की उपधि जिनकल्पिक मुनियों के होती है।

१५१०. स्थविरकल्प में यह चौदह प्रकार की उपधि होती है—ये (उपर्युक्त) बारह उपकरण, मात्रक और एक अतिरिक्त चोलपट्ट।

१५११-१५१२. आर्याओं की उपधि के चौदह प्रकार हैं—१. पात्र, २. पात्रबन्ध, ३. पात्रस्थापन, ४. पात्र केसरिका, ५. पटल, ६. रजस्त्राण, ७. गुच्छग, ८-१०. प्रच्छादक (तीन), ११. रजोहरण, १२. मुखवस्त्रिका, १३. मात्रक और १४. कमढक (साध्वियों का पात्र विशेष)।

१५१३-१५१४. आर्याओं की औघिक उपधि के पच्चीस प्रकार प्रज्ञप्त हैं—१. अवग्रहानन्तक (गुह्याच्छादक वस्त्र), २. अवग्रहानन्तक पट्ट, ३. अर्धोरुक, ४. चलनिका, ५-६. बाह्य और आभ्यन्तर निवसनी (वस्त्र), ७. कंचुक, ८. उपकक्षिका, ९. वैकक्षिका (उत्तरासंग), १०. संघाटी, ११. स्कंधकरणी और पूर्वोक्त चौदह उपधि।

१५१५. अवग्रहानन्तक नौका के आकार वाला होता है, गुह्यदेश की रक्षा हेतु धारण किया जाता है। गणनाप्रमाण से प्रत्येक साध्वी के पास एक होता है, वह सघन और श्लक्ष्ण वस्त्र से शरीर सापेक्ष परिमाण वाला बनाया जाता है।

१५१६. आर्याओं के एक अवग्रहानन्तक पट्ट भी होता है, जो देह-परिमाण की अपेक्षा भाज्य है।^१ वह अवग्रहानन्तक को आच्छादित कर कमर में बांधा जाता है, जैसे मल्ल का कच्छ।

१. स्थूल शरीर वाली साध्वी का अवग्रहानन्तक बृहत्तर और कृशकटि वाली का ह्रस्वतर होता है अतः उसका परिमाण आपेक्षिक है।

१५१७. अङ्कुरगाइ^१ ते दो, वि गेण्हितुं छादते कडीभागं ।
जाणुपमाणा^२ चलणी, असिच्चिता लंखियाए व ॥१४०२ ॥
१५१८. अंतोणियंसणी पुण, 'लीणा कडि'^३ जाव अद्धजंघातो ।
'बाहिरगा जा खुलगो'^४, कडी व दोरेण पडिबद्धा ॥१४०३ ॥
१५१९. छादेति अणुकुइए, 'गंडे पुण'^५ कंचुगो^६ असिच्चियओ ।
एमेव य उक्कच्छिग^७, सा णवरं दाहिणे पासे ॥१४०४ ॥
१५२०. वेकच्छिया तु पट्टो, कंचुगमुक्कच्छियं व छादेतो ।
संघाडीओ चतुरो, तत्थ दुहत्था उवसयम्मि^८ ॥१४०५ ॥
१५२१. दोण्णि तिहत्थायामा, भिक्खट्टा एग एग उच्चारे ।
ओसरणे चउहत्था, ऽणिसण्णपच्छादणी मसिणा^९ ॥१४०६ ॥
१५२२. खंधकरणी^{१०} उ चउहत्थवित्थडा वातविधुतरक्खट्टा ।
खुज्जकरणी वि कीरति, रूववतीए^{११} कडुहेतुं ॥१४०७ ॥
१५२३. संघातिमेतरो वा, 'सच्चो वेसो'^{१२} समासतो उवधी ।
पासगबद्धमञ्जुसिरो, जं वाऽऽइण्णं तगं णेयं ॥१४०८ ॥
१५२४. जिणा बारसरूवाइं, थेरा चोहसरूविणो ।
'ओहे उवधिमिच्छंति'^{१३}, अतो उडुं उवग्गहो^{१४} ॥१४०९ ॥
१५२५. उक्कोसगो जिणाणं, चतुच्चिधो मज्झिमो वि य तहेव ।
जहण्ण चउच्चिधो खलु, एत्तो 'वोच्छामि थेराणं'^{१५} ॥१४१० ॥

१. °रुगो तु (मु, भ), °रुगो वि (बृभा), अङ्कुरो—उरुकार्धं भजतीति अङ्कुरगो (चू) ।
२. जाणुप्पमाण (मु, दे, भ, बृभा ४०८६) ।
३. लीणतरा (बृभा) ।
४. बाहिर खुलगपमाणा (बृभा ४०८७) बाहिरणियंसणी उवरिं कडीओ आरद्धा जाव अहो खलुगो उवरिं कडीए दोरेण बज्झति(चू) ।
५. उरोरुहे (बृभा) ।
६. स च कंचुको दीहत्तणेण सहत्थेणं अङ्कुरज्जहत्थो पुहुत्तेणं हत्थो, असिच्चित्तो..उभओ कडिदेसे जोत्तयपडिबद्धो (चू) ।
७. उक्कच्छी (बृभा ४०८८), कच्छाए समीवं उक्कच्छं वकारलोपं काउं तं छादयतीति (चू) ।
८. उ वसधीए (बृभा ४०८९), यहां छंद की दृष्टि से 'उवसयम्मि' पाठ स्वीकृत किया है ।
९. बृभा ४०९० ।
१०. चउहत्थवित्थडा चउहत्थदीहा समचउरंसा पाउरणस्स वायविहुयरक्खणट्टा चउफला खंधे कीरइ सा चेव खंधकरणी (चू) ।
११. °तीणं (बृभा ४०९१) ।
१२. सर्वोऽपि एषः (बृभा ४०९२ टी) ।
१३. अज्जाणं पण्णवीसं तु (दे, ओनि ६७१) ।
१४. अव° (दे) ।
१५. थेराण वोच्छामि (बृभा ४०९३) ।

१५१७. अर्धोरुक उन दोनों—अवग्रहानन्तक और अवग्रहानन्तक पट्ट को ग्रहण करता हुआ पूरे कटिभाग को आच्छादित करता है। चलनिका लंखिका^१ के परिधान के समान बिना सिलाई का जानुप्रमाण वस्त्र होता है।

१५१८. अन्तःनिवसनी अन्दर पहनी जाने वाली शाटिका है जो कटि से अर्धजंघा तक होती है। बाह्य निवसनी पैर के टखने तक पहनी जाने वाली शाटिका है, जो कटि भाग पर धागे (डोरी) से बांधी जाती है। (इस प्रकार धागे सहित अधःकाय के सात उपकरण हैं।)

१५१९. कंचुक ऊर्ध्वकाय पर रस्सी से बांधा जाने वाला बिना सिला वस्त्र है, जो स्तनप्रदेश को अनुकुंचित रूप में^२ आच्छादित करता है। इसी प्रकार उपकक्षिका केवल दाहिने उरःप्रदेश, पार्श्वभाग एवं पृष्ठ भाग को आच्छादित करने वाला वस्त्र विशेष है। (यह स्कन्ध एवं वामपार्श्व में योक्त्रनिबद्ध-रस्सी से बंधी होती है।)

१५२०. वैकक्षिका कंचुक और उपकक्षिका को आच्छादित कर वाम पार्श्व में धारण किया जाने वाला वस्त्र विशेष है। साध्वियां चार संघाटी रखती हैं, जिनमें दो हाथ परिमाण वाली उपाश्रय में धारण की जाती हैं।

१५२१. दो संघाटी तीन-तीन हाथ विस्तार वाली होती हैं—एक भिक्षार्थ जाते समय धारण की जाती है, दूसरी उच्चार विसर्जन के समय। समवसरण (प्रवचन) में जाते समय चार हाथ प्रमाण विस्तृत संघाटी धारण की जाती है, जो अनिषण्ण अर्थात् ऊर्ध्वस्थित (खड़ी अवस्था में) पूरी तरह (पांव तक) प्रच्छादित करने वाली तथा मसृण (स्निग्ध) वस्त्र से निर्मित होती है।

१५२२. स्कन्धकरणी चार हाथ विस्तार वाला (चार हाथ लम्बा और चार हाथ चौड़ा) वस्त्र होता है, जिसे साध्वियां वायु से अस्त-व्यस्त होने वाले वस्त्रों की रक्षा हेतु चतुष्फल (चार तह) करके कंधे पर रखती है। रूपवती साध्वियों को कुबडी दिखाने के लिए पीठ और कंधे के मध्य रखने के लिए कुब्जकरणी (कडुभ) नामक वस्त्र रखा जाता है।

१५२३. अथवा संक्षेप में इस सारी उपधि के दो प्रकार हो जाते हैं—१. संघातित और असंघातित (एकांगिक)। रस्सी से बांधी जाने वाली, अशुषिर उपधि जो आचीर्ण है, वह ग्राह्य है।

१५२४. जिनकल्पिक मुनि बारह प्रकार तथा स्थविरकल्पिक मुनि चौदह प्रकार की औधिक उपधि रखते हैं। इसके पश्चात् औपग्रहिक उपधि का कथन किया जाएगा।

१५२५. जिनकल्पिक मुनियों के उत्कृष्ट उपधि के चार प्रकार प्रज्ञप्त हैं। मध्यम और जघन्य उपधि के भी चार-चार प्रकार होते हैं। अब स्थविरकल्पिक मुनियों की उपधि का कथन करूंगा।

१. लंखिका—बांस पर खेल दिखाने वाली नटी।

२. अनुकुंचित का अर्थ है ऐसा स्वस्थ शिथिल बंधन, जिससे गण्डप्रदेश में स्वल्प संचरण का अवकाश रहे और वे प्रतिविभक्त होकर जनहार्य भी न बनें।

१५२६. उक्कोसो थेराणं, चउव्विधो छव्विधो य मज्झिमगो ।
जहण्ण चउव्विधो खलु, एत्तो 'वोच्छामि अज्जाणं'^१ ॥ १४११ ॥
१५२७. उक्कोसो अट्टविधो, मज्झिमगो होति तेरसविधो उ ।
जहण्ण चउव्विधो 'खलु, एत्तो उ उवग्गहं वोच्छं'^२ ॥ १४१२ ॥
१५२८. तिण्णि पकप्प पडिग्गह, उक्कोसं पडल-पत्तबंधा य ।
रयहरणरयत्ताणं, मज्झिमगो सो जहण्णो तु^३ ॥
१५२९. जिणकप्पियाण एसो, थेराणं चोलपट्ट-मत्तो उ ।
मज्झिम उवधिविसेसो, अज्जाणुक्कोसगं तु इमो ॥
१५३०. कप्पतियपडिग्गहगं, संघाडि चउक्क पंचमो भेदो ।
खंधकरणी णियंसणि, बाहिं अब्भितरऽट्टविधो ॥
१५३१. पत्ताबंधो पडला, रयहरणं मत्त तह रयत्तरणं ।
उक्कच्छिग वेकच्छिग, कमढग तह कंचुगे चेव ॥
१५३२. उग्गहऽणंतगपट्टो, अद्धोरुग चलणिया य तेरसमी ।
मज्झिम-जहण्णगे पुण, सव्वेसिं होति अविसेसो ॥
१५३३. पीढग-णिसेज्ज-दंडग, पमज्जणी घट्टते डगलमादी ।
पिप्पलग^४-सूयि णहरणि^५, सोधणगदुगं जहण्णो तु ॥ १४१३ ॥
१५३४. वासत्ताणे पणगं, चिलिमिलि^६ पणगं दुगं च संधारे ।
दंडादी पणगं पुण, मत्तगतिग पादलेहणिया ॥ १४१४ ॥
१५३५. चम्मतिगं^७ पट्टदुगं, णातव्वो मज्झिमो उवधि एसो ।
अज्जाण वारए पुण, मज्झिमगे होति वतिरित्तो^८ ॥ १४१५ ॥
१५३६. अक्खा संधारो वा^९, एगमणेगंगिओ य उक्कोसो ।
पोत्थगपणगं फलगं, बितियपदे होति उक्कोसो ॥ १४१६ ॥

१. अज्जाण वोच्छामि (मु, भ) ।

५. णहरं (मु) ।

२. वि य तेण परमुवग्गहं जाण (ओनि ६७८), तु, पंकभा ८२६ ।

६. 'मिणि (मु, पा, भ) ।

३. गा. १५२८-३२— ये पांच गाथाएं मुद्रित भाष्य एवं भ प्रति में नहीं हैं । अन्य हस्तप्रतियों में ये गाथाएं मिलती हैं । ये गाथाएं यहां प्रासंगिक हैं अतः इनको भाष्य के मूल क्रमांक के साथ जोड़ दिया गया है ।

७. चम्मतिगं पत्थरणं पाउरणं उवविसणं । अहवा कत्ती तलिया वज्झा (चू) ।

८. अतिं (भ) ।

९. या (दे, भ) ।

४. पिप्पल (मु) ।

१५२६. स्थविरकल्पिक मुनियों के उत्कृष्ट उपधि के चार प्रकार प्रज्ञप्त हैं। उनके मध्यम उपधि छह प्रकार की तथा जघन्य उपधि चार प्रकार की होती है। अब आर्याओं की उपधि का कथन करूंगा।

१५२७. साध्वियों के उत्कृष्ट उपधि आठ प्रकार की, मध्यम तेरह प्रकार की तथा जघन्य चार प्रकार की प्रज्ञप्त है। अब औपग्रहिक उपधि का कथन करूंगा।

१५२८. तीन प्रकल्प (उत्तरीय) और पात्र—ये चार जिनकल्पिक भिक्षु की उत्कृष्ट उपधि है। पटलक, पात्रबंध, रजोहरण, रजस्त्राण—ये उनकी मध्यम उपधि तथा इसी प्रकार जघन्य उपधि के भी चार प्रकार हैं।

१५२९. यह जिनकल्पिक भिक्षु की उपधि है। स्थविरकल्पिक मुनि की मध्यम उपधि में उपर्युक्त चार के अतिरिक्त चोलपट्ट और मात्रक भी होता है। आर्या की उत्कृष्ट उपधि यह है—

१५३०. प्रतिग्रह (पात्र), संघाटी चतुष्क (चार उत्तरीय), स्कन्धकरणी, बाह्यनिवसनी, आभ्यन्तर निवसनी—यह आठ प्रकार की उपधि है।

१५३१, १५३२. पात्रबंध, पटलक, रजोहरण, मात्रक, रजस्त्राण, उपकक्षिका, वैकक्षिका, कमढक, कंचुक, अवग्रहानन्तक, अवग्रहानन्तक पट्ट, अर्धोरुक, चलनिका—ये मध्यम परिमाण वाली तेरह प्रकार की जघन्य उपधि सभी आर्याओं के समान रूप से होती है।^१

१५३३. औपग्रहिक जघन्य उपधि के अनेक प्रकार हैं, यथा—पीढा (आसन), निषद्या, दंडक (लाठी), प्रमार्जनी, घट्टनक (पात्र आदि को चिकना करने का पत्थर) या घट्टक (बांस), ईंट आदि के टुकड़े, कैंची, सूई, नखहरणी (नेलकटर) और शोधनक द्विक (दंतशोधनक और कर्णशोधनक) आदि।

१५३४, १५३५. औपग्रहिक मध्यम उपधि के ये अनेक प्रकार ज्ञातव्य हैं, यथा—पांच प्रकार के वर्षात्राण (छत्र), पांच प्रकार की चिलिमिली, दो प्रकार के संस्तारक, पांच प्रकार के दंड, तीन प्रकार के मात्रक, पादलेखनिका, तीन प्रकार के चर्म और दो प्रकार के पट्ट। मध्यम उपधि में आर्याओं के एक वारक (एक प्रकार का पात्र—घटीमात्रक) अतिरिक्त होता है।

१५३६. औपग्रहिक उत्कृष्ट उपधि के अनेक प्रकार हैं, यथा—अक्खा (समवसरण) और बिछौना—एकांगिक और अनेकांगिक संस्तारक। अपवाद में गंडी आदि पांच प्रकार की पुस्तकें तथा फलक (जिस पर अध्ययन किया जाए अथवा मंगलफलक) भी उत्कृष्ट औपग्रहिक उपधि के अन्तर्गत ज्ञातव्य हैं।

१. ज्ञातव्य है कि गा. १५११-१५१४ में आर्याओं की उपधि के पन्द्रह प्रकार बताए गए हैं जबकि इन गाथाओं (१५३०-१५३२) में पात्र नियोग के सारे उपकरणों को नहीं गिनने से उपधि की संख्या इक्कीस होती है।

१५३७. पडिलेहणा तु तस्सा, कालमकाले सदोस-णिदोसा ।
हीणऽतिरित्ता य तहा, उक्कम-कमतो य णातव्वा ॥१४१७॥ नि ३५४ ॥
१५३८. पडिलेहण-पप्फोडण, पमज्जणा चेव जा जहिं कमति ।
तिविधम्मि वि उवधिम्मी, तमहं वोच्छं समासेणं ॥१४१८॥
१५३९. पडिलेहणा य पप्फोडणा य वत्थे कमति दो भेदा ।
पडिलेहण पाणिम्मी, पमज्जणा चेव णातव्वा ॥१४१९॥
१५४०. पडिलेहणा पमज्जण, पादम्मि कमति दो वि एताओ ।
दंडगमादीसु तहा, दिय-रातो अतो परं वोच्छं ॥१४२०॥
१५४१. पडिलेहितम्मि पादे, केई पप्फोडणं पि इच्छंति ।
गोच्छगकेसरियाहि य, वत्थे वि पमज्जणा णियमा ॥१४२१॥
१५४२. पडिलेहण-पप्फोडण, पमज्जणा^१ चेव दिवसतो होति ।
पप्फोडणा पमज्जण, रत्तिं पडिलेहणा नत्थि^२ ॥१४२२॥
१५४३. पडिलेहणा-पमज्जण, पायादीयाण दिवसतो होति ।
रत्तिं पमज्जणा पुण, भणिता पडिलेहणा णत्थि ॥१४२३॥
१५४४. सूरुगते जिणाणं^३, पडिलेहणियाएँ आढवणकालो ।
थेराणऽणुगगतम्मी, उवहीए^४ सो तुलेतव्वो ॥१४२४॥
१५४५. मुहपोत्तिग रयहरणे, कप्पतिग णिसेज्ज^५ चोलपट्टे उ^६ ।
संथारुत्तरपट्टे, य पेक्खित्तं जहुग्गमे सूरुगे ॥१४२५॥
१५४६. चउभागऽवसेसाए, पढमाए पोरुसीय^७ भाण-दुगं ।
पडिलेहणधारणता, भयिता चरिमाएँ^८ निक्खिवणे^९ ॥१४२६॥
१५४७. पढमचरिमाहि^{१०} तु पोरिसीहिं पडिलेहणाएँ कालेसो ।
तव्विवरीतो तु पुणो, णातव्वो होति तु अकालो^{११} ॥१४२७॥

१. दे प्रति में यह गाथा नहीं है ।

२. °ज्जण (दे) ।

३. गा. १५४०-४२—ये तीन गाथाएं भ प्रति में नहीं हैं ।

४. जिणा इति जिणकप्पिया (चू) ।

५. उवधिणा (मु, भ) ।

६. णिसेज्जा (दे) ।

७. य (भ) ।

८. पोरिसीए (मु, भ) ।

९. चरमाए (भ) ।

१०. °वणा (दे) ।

११. °चरमाहिं (मु) ।

१२. दे प्रति में गाथा का उत्तरार्ध नहीं है ।

१५३७. उपधि की प्रतिलेखना काल, अकाल, सदोष, निर्दोष, हीन और अतिरिक्त तथा उत्क्रम और क्रम—इन विभिन्न द्वारों से ज्ञातव्य है।

१५३८. उत्कृष्ट आदि तीनों प्रकार की उपधि के विषय में प्रतिलेखना, प्रस्फोटना और प्रमार्जना जहां-जहां घटित होती है, मैं उसका संक्षेप में कथन करूंगा।

१५३९. वस्त्र के विषय में प्रतिलेखन और प्रस्फोटन (झाड़ना)—ये दो भेद घटित होते हैं। हाथ के विषय में प्रतिलेखन और प्रमार्जन—दो भेद ज्ञातव्य हैं।

१५४०. पात्र के विषय में प्रतिलेखन और प्रमार्जन—दोनों ही ज्ञातव्य हैं। यही दंडक (डंडा), पीठ, फलक आदि के विषय में ज्ञातव्य है। दिन और रात के विषय में आगे कथन करूंगा।

१५४१. कुछ आचार्य पात्र की प्रतिलेखना के पश्चात् प्रस्फोटना की इच्छा करते हैं और वस्त्र के विषय में भी नियमतः गुच्छग और केसरिका से प्रमार्जन की इच्छा करते हैं।

१५४२. दिन में प्रतिलेखन, प्रस्फोटन और प्रमार्जन—यथासंभव तीनों ही किए जा सकते हैं। रात्रि में प्रस्फोटन और प्रमार्जन हो सकता है, प्रतिलेखन नहीं।

१५४३. दिन में पात्र आदि का प्रतिलेखन और प्रमार्जन—दोनों संभव हैं। रात्रि में प्रमार्जन तो प्रज्ञप्त है, प्रतिलेखन नहीं।

१५४४. जिनकल्पिक मुनियों के प्रतिलेखना प्रारम्भ करने का समय सूर्योदय होने पर होता है। स्थविरकल्पिक (गच्छवासी) मुनियों का प्रतिलेखनाकाल सूर्योदय से पूर्व होता है, वह उपधि के द्वारा (द्रष्टव्य गा. १४४५) ज्ञातव्य है (निश्चय किया जाता है)।

१५४५. मुखवस्त्रिका, रजोहरण, कल्पत्रिक (तीन उत्तरीय), निषद्या (आभ्यन्तर और बाह्य निषद्या), चोलपट्ट, संस्तारकपट्ट और उत्तरपट्ट—इनकी प्रतिलेखना के अनन्तर सूर्योदय हो जाए, वह प्रतिलेखना का काल है।

१५४६. दिन के प्रथम प्रहर का चतुर्थ भाग अवशेष हो, तब मुनि भाण्डद्विक—पात्र और उपकरण की प्रतिलेखना करे। उसके पश्चात् धारण करे या निक्षेप—इसकी भजना है।^१ चरम प्रहर में उनका निक्षेप करे।^२

१५४७. दिन का प्रथम प्रहर (पूर्वाह्न) और चतुर्थ प्रहर (अपराह्न)—यह प्रतिलेखना का काल है। तद्विपरीत (द्वितीय और तृतीय प्रहर) प्रतिलेखना का काल नहीं—ऐसा ज्ञातव्य है।

१. निभा २ चू. १९४—जति भक्तद्वी तो अणिकिखतेहिं चैव पढति सुणेति वा। अहाभक्तद्वी तो णिकिखवति, एस भयणा।

२. वही—चरमपोरिसीए पुण ओगाहंतीए चैव पडिलेहेउं णिकिखवति।

१५४८. आरभडा^१ सम्मद्दा^२, वज्जेतव्वा य मोसली^३ ततिया ।
पप्फोडणा चउत्थी, विक्खित्ता^४ वेइया^५ छट्ठा^६ ॥ १४२८ ॥
१५४९. पसिढिल पलंब लोला, एगामोसा अणेगरूवधुणा ।
कुणति पमाण^७ पमादं, संकितगणणोवगं कुज्जा ॥ १४२९ ॥
१५५०. मासो य भिण्णमासो, पणगं उक्कोस-मज्झिम-जहण्णे ।
दुप्पडिलेहित दुपमज्जितम्मि उवधिमि पच्छित्तं ॥ १४३० ॥
१५५१. उड्डं थिरं अतुरियं, 'सव्वंता वत्थ पुव्व'^८ पडिलेहे ।
तो बितियं पप्फोडे, ततियं च पुणो पमज्जेज्जा ॥ १४३१ ॥
१५५२. अणच्चवियं^९ अवलियं, अणाणुबंधिं^{१०} अमोसलिं चव ।
छप्पुरिमा^{११} णवखोडा^{१२}, पाणी पाण विसोहणं^{१३} ॥ १४३२ ॥
१५५३. पडिलेहण-पप्फोडण, पमज्जणा^{१४} वि य अहीणमतिरित्ता ।
उवधिमि य पुरिसेसु य, उक्कम-कमतो य णातव्वा ॥ १४३३ ॥
१५५४. चाउम्मासुक्कोसे, मासिगमज्झे य पंच य जहण्णे ।
तिविधम्मि वि उवधिम्मी^{१५}, तिविधा आरोवणा भणिता ॥ १४३४ ॥
१५५५. इत्तरिओ^{१६} पुण उवधी, जहण्णगो मज्झिमो य णातव्वो ।
सुत्तणिवातो मज्झिम, तमपडिलेहेतं^{१७} आणादी ॥ १४३५ ॥ नि ३५५ ॥

१. आरभडं—जहाभिहितविधानतो विपरीयं अहवा तुरियं
अण्णम्मि वा दरपडिलेहेति अण्णं आढवेति (चू) ।
२. सम्मद्दणा वेंटियमज्झतो जत्थ वा णिसण्णो बला कड्डुं
पडिलेहेति (चू) ।
३. उड्डमुहो तिरियं वा कुड्डुदिसु आमसंतं पडिलेहेति मोसली
(चू) ।
४. विक्खित्ता (भ) दूरत्थं वत्थं अण्णं भणाति—'खिवाहि
आरतो जा पडिलेहेमि ति विक्खित्तं' (चू) ।
५. छट्ठो वेतियादोसो, ता य पंच—जाणुवरि कोप्परा काउं
पडिलेहेति, उड्डवेतिआ । एगजाणुं दुबार्हतो काउं पडिलेहेति,
एगतोवेतिता । दो वि जाणू बार्हतो काउं पडिलेहेति
दुहितोवेतिता । जाणू हेट्टाओ द्वित्तेसु हत्थेसु पडिलेहेति,
अहोवेइया । दोणह वि ऊरुयाण अंतठितासु बाहासु
पडिलेहेति, अंतोवेइया (चू) ।

६. उ २६/२६ ।
७. पमाणि (उ २६/२७) ।
८. पुव्वं ता वत्थमेव (उ २६/२४) ।
९. अणच्चा° (उ २६/२५, भ) ।
१०. अणाणुबंधिं (दे) ।
११. तिरियद्वित्ते वत्थे तिण्णि दाउं अक्खोडा परावत्तेउं पुणो
तिण्णि एते छप्पुरिममिति पुव्वं दायव्वं (चू) ।
१२. णिरंतर अक्खोडपमज्जणा अकरणं अणाणुबंधी (चू) ।
१३. य पमज्जणं (मु) ।
१४. °ज्जणे (मु) ।
१५. °म्मिं (भ) ।
१६. इत्तरिओ (दे, भ) ।
१७. °हेति (भ) ।

१५४८. मुनि छह प्रकार की (प्रमाद) प्रतिलेखना का वर्जन करे—१. आरभटा^१ २. सम्मर्दा^२ ३. मोसली^३ ४. प्रस्फोटना^४ ५. विक्षिप्ता^५ और ६. वेदिका^६
१५४९. अथवा प्रतिलेखना के छह दोष हैं—१. प्रशिथिल^७ २. प्रलम्ब^८ ३. लोल^९ ४. एकामर्शा^{१०} ५. अनेक रूप धुनना^{११} ६. प्रमाण प्रमाद^{१२} और ७. गणनोपगणना^{१३}
१५५०. उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य उपधि की दुष्प्रतिलेखना करने पर अथवा दुष्प्रमार्जना करने पर मुनि को क्रमशः मासिक, भिन्नमासिक तथा पांच दिन रात का लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।
१५५१. सबसे पहले उकडू आसन में बैठ, वस्त्र को ऊंचा रखे, स्थिर रखे और शीघ्रता किए बिना उसकी प्रतिलेखना करे—चक्षु से देखे। दूसरे में वस्त्र को झटकाएं और तीसरे में वस्त्र की प्रमार्जना करे।
१५५२. प्रतिलेखना करते समय अनर्तित—वस्त्र या शरीर को न नचाए, अवलित—न मोड़े, अननुबन्धी—वस्त्र के दृष्टि से अलक्षित विभाग न करे, अमोसली—वस्त्र का भीत आदि से स्पर्श न करे, वस्त्र के छह पूर्व और नौ खोटक करे^{१४} और ६. जो कोई प्राणी हो, उसका हाथ पर नौ बार प्रमार्जन करे।^{१५}
१५५३. मुनि निर्दिष्ट विधि से ही न्यून या अधिक प्रतिलेखन प्रस्फोटन और प्रमार्जन न करे। प्रतिलेखना आदि के विषय में उत्क्रम और क्रम दो संदर्भों में ज्ञातव्य है—१. उपधि विषयक^{१६} और २. पुरुष विषयक।^{१७}
१५५४. तीन प्रकार की उपधि के विषय में तीन प्रकार की आरोपणा (प्रायश्चित्त) कही गयी है—उत्कृष्ट में चारमास, मध्यम में एक मास और जघन्य में पनक—पांच दिन रात।
१५५५. इत्वरिक उपधि में जघन्य और मध्यम उपधि ज्ञातव्य है। इनमें सूत्रनिपात मध्यम उपधि में है, उसकी प्रतिलेखना न करने वाले को आज्ञाभंग, मिथ्यात्व आदि दोष प्राप्त होते हैं।

- १-६. उत्तरञ्जयणाणि २६/२६—१. आरभटा—विधि से विपरीत प्रतिलेखन करना अथवा एक वस्त्र का पूरा प्रतिलेखन किए बिना आकुलता से दूसरे वस्त्र को ग्रहण करना। २. सम्मर्दा—प्रतिलेखन करते समय वस्त्र को इस प्रकार पकड़ना कि उसके बीच में सलवटें पड़ जाएं या प्रतिलेखनीय उपधि पर बैठकर प्रतिलेखना करना। ३. मोसली—प्रतिलेखन करते समय वस्त्र को ऊपर, नीचे, तिरछे किसी वस्त्र या पदार्थ से संघट्टित करना। ४. प्रस्फोटना—प्रतिलेखन करते समय रजलिप्त वस्त्र को गृहस्थ की तरह वेग से झटकना। ५. विक्षिप्ता—प्रतिलेखित वस्त्रों को अप्रतिलेखित वस्त्र पर रखना या वस्त्र के अंचल को इतना ऊंचा उठाना कि उसकी प्रतिलेखना न हो सके। ६. वेदिका—प्रतिलेखन करते समय घुटनों के ऊपर, नीचे या पार्श्व में हाथ रखना या घुटनों को भुजाओं के बीच रखना।
- ८-१४. उत्तरञ्जयणाणि २६/२७—८. प्रशिथिल—वस्त्र को ढीला पकड़ना। ९. प्रलम्ब—वस्त्र को विषमता से पकड़ने के कारण कोनों का लटकना। १०. लोल प्रतिलेख्यमान—वस्त्र का हाथ या भूमि से संघर्षण करना। ११. एकामर्शा—वस्त्र को बीच में से पकड़ कर उसके दोनों पार्श्वों का एक बार में ही स्पर्श करना—एक दृष्टि में ही समूचे वस्त्र को देख लेना। १२. अनेक रूप धुनना—प्रतिलेखना के समय वस्त्र को अधिक बार झटकना या अनेक वस्त्रों को एक साथ झटकना। १३. प्रमाण प्रमाद—प्रस्फोटन और प्रमार्जन का जो प्रमाण (नौ-नौ बार करना) बतलाया है, उसमें प्रमाद करना। १४. गणनोपगणना—प्रस्फोटन और प्रमार्जन के निर्दिष्ट प्रमाण में शंका होने पर उसकी गिनती करना।
१५. पुरिम (पूर्व) शब्द का रूढ़ अर्थ है—वस्त्र के दोनों ओर तीन-तीन विभाग कर उसे झटकना। खोटक का अर्थ है स्फोटन, प्रमार्जन। वे प्रत्येक पूर्व में तीन-तीन अतः एक भाग में नौ होते हैं।
१६. गा. १५५१, १५५२ के विस्तार हेतु द्रष्टव्य—उत्तरञ्जयणाणि २६/२४, २६ के टिप्पण।
१७. उपधि प्रतिलेखना का क्रम है—मुखवस्त्रिका, रजोहरण, अंतःनिषद्या, बाह्यनिषद्या, चोलपट्ट, कल्प, उत्तरपट्ट, संस्तारक पट्ट और दंडक।
१८. पुरुष विषयक क्रम है—आचार्य, परिज्ञा-प्रतिपन्न (अनशन वाला), ग्लान तथा शैक्ष आदि।

१५५६. घण-संताणग पणगे, घरकोइलिगादिपसवणं^१ चेव ।
हित-णट्ट-जाणणट्टा, विच्छुग तह सेडुकारी^२ य ॥ १४३६ ॥
१५५७. असिवे ओमोदरिए, गेलण्णऽद्धाण संभम-भए वा ।
तेणपउर^३ सागारे, संजमहेतुं च बितियपदं ॥ १४३७ ॥
- बीओ उद्देशो समत्तो**
१५५८. उवधि^४ पडिलेहिता, भिक्खग्गहणं तु तं कहिं कुज्जा ।
सट्टाणेऽणोभट्टं, अहवा उवधी तु आहारो ॥ १४३८ ॥
१५५९. आगंतारादीसुं^५, असणादोभासती तु जे भिक्खू ।
'गिहि-अण्णउत्थियं वा, सो पावति आणमादीणि'^६ ॥ १४३९ ॥ नि ३५६ ॥
१५६०. अगमेहि कतमगारं, आगंतू जत्थ चिट्ठति^७ अगारो^८ ।
परिगमणं पज्जाओ, सो चरगादी तु णेगविधो ॥ १४४० ॥
१५६१. भदेतरा तु दोसा, हवेज्ज ओभासिते 'य ठाणम्मि'^९ ।
अचियत्तोभावणता, पते भदे इमे होंति ॥ १४४१ ॥
१५६२. जह आयरो से दीसति, जह य^{१०} विमग्गंति मं अठाणम्मि ।
दंतिंदिया तवस्सी, तो^{११} देमि णं भारियं कज्जं ॥ १४४२ ॥
१५६३. सट्ठि-गिहि अण्णतित्थी, करेज्ज ओभासिते तु 'सो ऽसंते'^{१२} ।
उग्गमदोसेगतं, खिप्पं से संजतट्टाए ॥ १४४३ ॥
१५६४. एवं खलु जिणकप्पे, गच्छे निक्कारणम्मि तह चेव ।
कप्पति य कारणम्मी, जतणा ओभासितुं गच्छे ॥ १४४४ ॥

१. °पयवणं (भ) ।

२. सेडुगारे (दे) ।

३. तेणयप° (मु, भ) ।

४. उवधी (भ, मु) ।

५. सूत्र १ (नव ३/१), जत्थ अगारी आगंतु चिट्ठति, तं
आगंतगारं गामपरिसट्टाणं ति वुत्तं भवति (चू) ।

६. सो आणा-अणवत्थं, मिच्छत्त विराधणं पावे (मु, भ),

चूर्णि में इस गाथा के लिए 'इमा सुत्तफासिया' का उल्लेख है ।

७. चिट्ठते (दे) ।

८. अगारा (क) ।

९. अट्टाणम्मि (भ) ।

१०. × (दे) ।

११. तं (भ) ।

१२. सो असंते (मु, भ), सीसंते (पा) ।

१५५६. उपधि की प्रतिलेखना न करने से मकड़ी जाला डाल देती है, काई पैदा हो जाती है, छिपकली आदि उसमें प्रसव कर देती है, बिच्छू, भ्रामरी, कनखजूरा आदि जीव पैदा हो जाते हैं, जिनसे आत्म एवं संयम विराधना हो सकती है। हत (हरण की हुई) तथा नष्ट उपधि का ज्ञान करने हेतु भी उभयसंध्या प्रतिलेखना जरूरी है।

१५५७. प्रतिलेखन के आपवादिक कारण ये हैं—१. कोई मुनि अशिवगृहीत हो या उसकी सेवा के कार्य में अति व्यस्त हो। २. अवमौदरिका—अवम काल में प्रातःकाल से भिक्षार्थ अटन करना पड़े। ३. ग्लान्य के कारण प्रतिलेखना में अक्षम हो। ४. अटवी में सार्थ के वशीभूत होने के कारण प्रतिलेखना न हो सके। ५. अग्नि, बाढ आदि के कारण संभ्रम या म्लेच्छ आदि का भय हो। ६. स्तेन बहुल प्रदेश में सारोपधि की प्रतिलेखना न की जा सके। ७. सागारिक—गृहस्थों के कारण कृत्स्न उपधि आदि की प्रतिलेखना न की जा सके। ८. संयम रक्षा हेतु—ओस, वर्षा, सचित्तरजों की बहुलता से प्रतिलेखना योग्य स्थान न मिले।

द्वितीय उद्देशक समाप्त

१५५८. उपधि का प्रतिलेखन कर भिक्षाग्रहण करे। तो वह भिक्षा ग्रहण कहाँ किया जाए? स्वस्थान अर्थात् जहाँ मूल वसति है उस ग्राम में अथवा गृहस्थ के घर में। भिक्षु भिक्षा मांग-मांग कर न ले।^१ यह पूर्व सूत्र से आगामी सूत्र (प्रस्तुत सूत्र) का संबंध है। अथवा उपधि भी आहार है अतः उपधि के पश्चात् प्रस्तुत आहार सूत्र का प्ररूपण किया गया है।

१५५९. जो भिक्षु यात्रिगृह आदि में अशन आदि का अवभाषण करता है—मांग कर लेता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व और विराधना—इन दोषों का प्राप्त होता है।

१५६०. जो अगम—वृक्ष (काष्ठ) से बनाया जाए, उसे अगार (घर) कहते हैं। जहाँ पथिक आकर रहते हैं उस घर को आगंतागार—यात्रिगृह कहते हैं। पर्याय का अर्थ है परि (सर्मतात्) गमन अर्थात् गृहस्थ भाव की निवृत्ति। वह चरक, परिव्राजक आदि के भेद से अनेक प्रकार का होता है।

१५६१. अस्थान (अनुपयुक्त स्थान) में अवभाषण करने से भद्रकृत तथा प्रान्तकृत दोषों की संभावना रहती है। प्रान्त प्रकृति वाले के लिए वे अप्रियता के पात्र बनते हैं और वह उनकी अपभ्राजना करता है। तथा भद्रकृत ये दोष हो सकते हैं—

१५६२. वह सोचता है—लगता है, इनका मेरे प्रति बहुत आदर का भाव है, तभी ऐसे अस्थान (अनुचित स्थान) में भी मुझसे मांग रहे हैं। अथवा इस वस्तु से इनका कोई गुरुतर प्रयोजन (आपत्कल्प जैसा कार्य) है, तभी दमितेन्द्रिय और तपस्वी होने पर भी मांग रहे हैं।

१५६३. यदि वह गृहस्थ अथवा अन्यतीर्थिक श्रद्धालु है और वस्तु उसके पास नहीं है तो मुनि के मांगने पर तत्काल कोई भी उद्गम दोष का समाचरण कर लेता है।

१५६४. यह जिनकल्पविषयक समाचारी है। गच्छवासी मुनि के लिए भी कारण रहित अवस्था में यही समाचरणीय है। कारण (आपवादिक परिस्थिति) में गच्छवासी मुनि को यतना पूर्वक अवभाषण करना कल्पता है।

१. अणोभट्ट—अयाचित, अप्रार्थित।

१५६५. गेलण्ण-रायदुट्ठे, रोहग अद्धाणमंचिते^१ ओमे ।
एतेहि कारणेहिं, असती लंभम्मि ओभासे ॥ १४४५ ॥
१५६६. भिण्णं समतिक्कंतो, पुव्वं जइ उण उ पणगपणगेहिं ।
तो मासिगेसु पयतति, ओभासणमादिसू^२ असढो ॥ १४४६ ॥
१५६७. तिगुणगतेहि ण दिट्ठो, णीया वुत्ता तु तस्स उ कहेह ।
पुट्ठाऽपुट्ठा 'वा तो'^३, करेति जं सुत्तपडिकुट्ठं ॥ १४४७ ॥
१५६८. पढमम्मी^४ जो तु गमो, सुत्ते बितियम्मि होति सो चेव ।
ततिय-चउत्थे वि तहा, एगत्त-पुहुत्तसंजुत्ते ॥ १४४८ ॥
१५६९. आगंतागारेसुं^५, आरामागार तह गिहाऽवसहे^६ ।
पुव्वट्ठिताण पच्छा, एज्ज गिही अण्णतित्थी वा ॥ १४४९ ॥ नि ३५७ ॥
१५७०. केइ अहाभावेणं, कोतूहल^७ केइ वंदणनिमित्तं ।
पुच्छिस्सामो केई, धम्मं दुविधं व घेच्छामो ॥ १४५० ॥ नि ३५८ ॥
१५७१. एत्तो एगतरेणं, कारणजातेण आगतं संतं ।
जे भिक्खू ओभासति, असणादी तस्सिमे दोसा ॥ १४५१ ॥ नि ३५९ ॥
१५७२. आत-परोभावणता, अदिण्णदिण्णे व तस्स अचियत्तं ।
पुरिसोभासण^८ दोसा, सविसेसतरा य इत्थीसु ॥ १४५२ ॥ नि ३६० ॥
१५७३. भद्दो उगमदोसे, करेज्ज पच्छण्ण अभिहडादीणि ।
पंतो पेलवगहणं, पुणरावत्ती^९ तहा दुविधं ॥ १४५३ ॥ नि ३६१ ॥

१. °णअंचिते (भ) ।

२. °सति मा° (दे) ।

३. चेते तो (मु, भ) ।

४. °म्मिं (दे), सूत्र २-४ (नव ३/२-४) ।

५. सूत्र ५-८ (नव ३/५-८) ।

६. °वसधे (दे) ।

७. कोतुहला (दे) ।

८. °भावण (मु) ।

९. °वत्तिं (मु, भ) ।

१५६५. इन (निम्नांकित) कारणों से यदि अपेक्षित वस्तु न मिले तो मुनि अवभाषण कर सकता है—
१. ग्लान्य (रोगी के लिए) २. राजद्वेष में ३. नगररोध में ४. अटवी में तथा ५. अंचित अवम—दीर्घकालीन दुर्भिक्ष के समय।

१५६६. अशठ (सरल) मुनि यदि पहले पनक-पनक के क्रम (पांच दिन रात, दस दिन रात) से यत्न करता हुआ भिन्नमास की आरोपणा वाले दोष का अतिक्रमण कर देता है और मासिक प्रायश्चित्त प्राप्त हो, ऐसी अवभाषणा आदि में भी प्रवृत्त होता है, तब भी शुद्ध है।

१५६७. मुनि अत्यन्त अपेक्षित वस्तु की गवेषणा हेतु तीन बार गृहस्थ के घर जाए, वह न मिले तो उसके ज्ञातिजनों—भार्या आदि से कहे कि उसे आने पर कह दे कि मुनि काम से आपके पास आए थे। फिर वह व्यक्ति यदि यात्रिगृह आदि स्थानों पर मिल जाए तो उसके पूछने पर या पूछे बिना भी उसे घरगमन आदि सब कुछ कहता हुआ जो सूत्र प्रतिक्रुष्ट (निषिद्ध) आचरण—अवभाषण आदि है, वह भी कर सकता है अर्थात् अस्थान में वस्तु मांग सकता है।

१५६८. जो विधि प्रथम सूत्र के विषय में प्रज्ञप्त है, वही विधि द्वितीय सूत्र में भी ज्ञातव्य है। एकत्व और पृथक्त्व संयुक्त (एक वचन और बहुवचन से कथित) तृतीय और चतुर्थ (स्त्री सम्बन्धी) सूत्रों में भी वही ज्ञातव्य है।

१५६९. यात्रिगृह, आरामगृह, घर अथवा आश्रम में जहां मुनि पहले से स्थित है, वहां बाद में गृहस्थ अथवा अन्यतीर्थिक आ सकता है।

१५७०. कोई स्वभावतः आ जाते हैं तो कोई गृहस्थ आदि कुतूहल के कारण आ जाते हैं। कोई मुनियों को वन्दना करने के लिए अथवा उनसे प्रश्न करेंगे—ऐसा सोचकर आ जाते हैं। कुछ व्यक्ति द्विविध धर्म (साधु धर्म एवं श्रावक धर्म) स्वीकार करेंगे—ऐसा सोचकर भी आ सकते हैं।

१५७१. इन (उपरिनिर्दिष्ट) कारणों में से किसी भी कारण से आए हुए गृहस्थ अथवा अन्यतीर्थिक से जो भिक्षु अशन आदि का अवभाषण करता है, उसके ये दोष हैं। (वह इन दोषों को प्राप्त होता है।) —

१५७२. अवभाषण करने पर भी यदि अशन आदि प्राप्त नहीं होता तो स्वयं (मुनि) की अपभ्राजना होती है। यदि गृहस्थ नहीं देता है तो उसकी अपभ्राजना होती है कि यह कृपण है। यदि वह देता है तो उसे अप्रीति उत्पन्न होती है। इस प्रकार पुरुषों से मांगने पर मुख्यतः अपभ्राजना का दोष होता है जबकि स्त्रियों से मांगने पर शंका आदि दोष अधिक हो जाते हैं।

१५७३. यदि गृहस्थ भद्र है तो वह मुनि को देने के लिए उद्गम आदि किसी दोष का समाचरण कर सकता है, प्रच्छन्न या प्रकट रूप से अभिहृत अशन आदि दे सकता है। और यदि वह प्रान्त प्रकृति वाला है तो मुनि के अवभाषण को तुच्छ रूप में ग्रहण करता है, कहता है—‘अहो! इन्होंने पूर्व में दान नहीं दिया, फलतः कुछ मिलता नहीं। जो आता है, उसी से मांगते हैं फलतः यदि कोई व्यक्ति श्रावक और साधु धर्म स्वीकार कर रहा हो तो उनसे प्रतिनिवृत्त हो जाता है।

१५७४. असिवे ओमोदरिए, रायदुट्टे भए व गेलण्णे ।
अद्धाणरोहए वा, जतणा ओभासितुं^१ कप्पे ॥ १४५४ ॥
१५७५. तिगुणगतेहि ण दिट्ठो, णीया वुत्ता तु तस्स तु कहेह ।
पुट्ठाऽपुट्ठा व ततो, करंतिमं सुत्तपडिकुट्ठं^२ ॥ १४५५ ॥
१५७६. एगत्ते जो तु गमो, नियमा पोहत्तियम्मि सो चेव ।
एगत्ताओ दोसा, सविसेसतरा पुहुत्तम्मि^३ ॥ १४५६ ॥
१५७७. पुरिसाणं जो तु गमो, णियमा सो चेव होति इत्थीसु ।
आहारे जो तु गमो, णियमा सो चेव उवधिमि ॥ १४५७ ॥
१५७८. आगंतागारेसुं^४, आरामागार तह गिहाऽवसहे ।
गिहि-अण्णतित्थिगे वा, आणेज्जा अभिहडं असणं ॥ १४५८ ॥ नि ३६२ ॥
१५७९. ओलगगणमणुवयणं^५, परिवेढण पासपुरउ ठातुं वा ।
परिजवणं पुण जंपति, गेण्हामो मा तुमं रुस्से ॥ १४५९ ॥ नि ३६३ ॥
१५८०. तं पडिसेवेऊणं, दोच्चं अणुवइय गेण्हती जो उ ।
सो आणा-अणवत्थं, मिच्छत्त-विराधणं पावे ॥ १४६० ॥ नि ३६४ ॥
१५८१. एतेण उवाएणं, गेण्हंती^६ भद्दओं करे पसंगं ।
अलियाभिरता माई, कवडायारा व ते पंतो ॥ १४६१ ॥
१५८२. असिवे ओमोदरिए, रायदुट्टे^७ भये व गेलण्णे ।
अद्धाणरोधए वा, जतणा पडिसेवणा गहणं ॥ १४६२ ॥
१५८३. जदि सव्वे गीतत्था, गहणं तत्थेव होति तु अलंभे ।
मीसे अणुवइऊणं, मा य^८ पुणो तत्थ एहामो ॥ १४६३ ॥

१. 'सियं (दे) ।

२. सुत्तम्मि जं वुत्तं (दे, भ) ।

३. पुहत्तं (दे, भ) ।

४. सूत्र ९-१२ (नव ३/९-१२), 'तारागारे (क) ।

५. अणुवयणं ति ओलग्गिउं अणुव्रजितुं (चू) ।

६. गेण्हती (दे) ।

७. रायदुट्टे (भ) ।

८. या (दे) ।

१५७४. जिन कारणों से मुनि यात्रिगृह आदि में यतनापूर्वक अवभाषण कर आहार आदि ले सकता है, वे हैं—१. अशिव २. अवमौदरिका ३. राजद्वेष ४. भय ५. ग्लान्य ६. अटवी और ७. नगररोध।

१५७५. मुनि अत्यन्त अपेक्षित वस्तु की गवेषणा हेतु तीन बार गृहस्थ के घर जाए, वह न मिले तो उसके ज्ञातिजनों—भार्या आदि से कहे कि उसके आने पर कह दे कि मुनि अमुक काम से आपके पास आए थे। फिर वह व्यक्ति यदि यात्रिगृह आदि स्थानों पर गया हुआ मिल जाए तो उसके पूछने पर या पूछे बिना भी उसे घरगमन आदि सब कुछ कहता हुआ जो सूत्र प्रतिक्रुष्ट (निषिद्ध) आचरण—अवभाषण आदि है, वह भी कर सकता है अर्थात् अस्थान में भी वस्तु मांग कर ले सकता है।

१५७६. जो विधि एकत्व विषयक सूत्रों में प्रज्ञप्त है, वही पृथक्त्व विषयक (बहुवचन वाले) सूत्रों के विषय में ज्ञातव्य है। जो दोष एकत्वविषयक सूत्रों के विषय में कहे गए हैं, पृथक्त्व के विषय में वे सविशेषतर (कुछ अधिक) होते हैं।

१५७७. जो विधि पुरुषविषयक सूत्रों में प्रज्ञप्त है, स्त्रीविषयक सूत्रों में भी वही ज्ञातव्य है। तथा जो विधि आहार के विषय में प्ररूपित है, वही उपधि के विषय में ज्ञेय है।

१५७८-१५८०. यात्रिगृहों, आरामगृहों, गृहपतिकुलों तथा आश्रमों में कोई गृहस्थ या अन्यतीर्थिक अभिहृत (सामने से लाया हुआ) अशन लाता है। (मुनि को देता है।) ओलग्गण का अर्थ है—अनुव्रजन—पीछे-पीछे जाना। परिवेष्टन अर्थात् उसके आगे या पार्श्वभाग में ठहरकर। परिजल्पन अर्थात् उससे कहना—हम तुम्हारा आहार ग्रहण करेंगे, नाराज मत होओ। जो मुनि एक बार दाता को आहार आदि के लिए मना करके पुनः उसका अनुसरण करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व एवं विराधना—इन दोषों को प्राप्त होता है।

१५८१. भद्र गृहस्थ सोचता है—ये इस प्रकार अशन ग्रहण करते हैं—ऐसा सोच वह प्रसंग दोष करता है—बार-बार अभिहृत भिक्षा लाकर बहरा देता है। प्रान्त (रुक्ष) प्रकृति वाला गृहस्थ सोचता है—ये साधु असत्य में अभिरत (तल्लीन/अनुरक्त) हैं, मायावी हैं, कपट आचरण करने वाले हैं, तभी इन्कार भी करते रहते हैं और ग्रहण भी कर लेते हैं या वसति में नहीं लेते और प्रतिनिवृत्त होने पर (लौटने के बाद) लेते हैं।

१५८२. इन (निम्नांकित) कारणों से मुनि एक बार प्रतिषेध किए हुए अशन आदि को यतनापूर्वक ले सकता है—१. अशिव २. अवमौदरिका ३. राजद्वेष ४. भय ५. ग्लान्य ६. अटवी और ७. नगररोध।

१५८३. यतना—(पनक प्रायश्चित्त के क्रम से मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त हो, इतने दोष का आसेवन करने पर भी) यदि लाभ न हो और सभी मुनि यदि गीतार्थ हों तो वहीं (वसति में ही) अभिहृत आहार ले लेते हैं और प्रसंग निवारण हेतु उन्हें कहते हैं—आज तो ले रहे हैं पर सदा नहीं लेंगे। हमें घर आने पर ही बहरा दिया करो। यदि सब मुनि गीतार्थ न हों तो अगीतार्थ मुनियों के समक्ष उन्हें प्रतिषेध करे, फिर अनुसरण कर उन्हें कहे—पुनः मत लाना, हम ही वहां आ जाएंगे।

१५८४. तथा दूराहडं एवं, आदरेण सुसंभितं^१ ।
मुहवण्णो य ते आसी, विवण्णो तेण गेण्हमो ॥ १४६४ ॥
१५८५. जे^२ भिक्खू गिहवतिकुलं^३, अतिगते पिंडवात-पडियाए ।
पच्चक्खिते समाणे, तं चेव कुलं पुणो पविसे^४ ॥ १४६५ ॥ नि ३६५ ॥
१५८६. सो आणा-अणवत्थं, मिच्छत्त-विराधणं तथा दुविधं ।
पावति जम्हा तेणं, पच्चक्खाते तु ण पविसे ॥ १४६६ ॥ नि ३६६ ॥
१५८७. दुपद-चउप्पदणासे, हरणोद्दवणे य डहणं^५-खण्णे य ।
चारियकामी दोच्चादिगेसु संका भवे तत्थ ॥ १४६७ ॥
१५८८. बित्तिपदमणाभोगे, अंचित गेलण्ण पगत पाहुणगे ।
रायदुट्ठे^६ रोहग, अद्धाणे वावि तिविकप्पे ॥ १४६८ ॥
१५८९. एतं तं चेव घरं, अपुव्वघर संकडेण वा मूढो ।
पुट्ठो पुण सेसेसुं^७, कहेति कज्जं अपुट्ठो वा ॥ १४६९ ॥
१५९०. भावितकुलाणि पविसति, अदेसकालो व जेसुं^८ से आसी ।
'सुण्ण पुणरागतेसू'^९, 'भद्दमसुण्णं व'^{१०} जं आसी ॥ १४७० ॥
१५९१. आइण्णमणाइण्णा^{११}, दुविधा पुण संखडी^{१२} समासेणं ।
जा सा तु अणाइण्णा, तीइ विहाणा इमे होंति ॥ १४७१ ॥ नि ३६७ ॥
१५९२. जावंतिया पगणिता, सक्खेत्ताखेत्तं^{१३} बाहिराऽऽइण्णा^{१४} ।
अविसुद्धपंथगमणा, सपच्चवाता 'य भेदा'^{१५} य ॥ १४७२ ॥ नि ३६८ ॥

१. सुसंहियं (क), गाथा में अनुष्टुप् छंद है ।

२. सूत्र १३ (नव ३/१३) ।

३. गाहाव (दे, पा) ।

४. चूर्णि में इस गाथा से पूर्व 'णिज्जुत्ती' का उल्लेख है ।

५. दहण (दे) ।

६. रायदुट्ठे (मु) ।

७. सेसेसू (दे, भ) ।

८. जत्थ (दे) ।

९. सुण्णे पुणरागतेसु (भ) ।

१०. भद्दगऽसुण्णं च (दे) ।

११. सूत्र १४ (नव ३/१४) ।

१२. संखडि त्ति आउआणि जम्मि जीवाण संखडिज्जंति, सा संखडी (चू) ।

१३. °खेत्त अक्खेत्त (दे) ।

१४. °ण्णं (मु) ।

१५. सभेदा (क, भ) ।

१५८४. मुनि उन्हें कहे—तुम इतनी दूर से लाए हो। इतने आदर से सुसंस्कृत आहार लेकर आए हो। हमारे निषेध करने से तुम्हारा मुख विवर्ण हो गया है (चेहरे का रंग बदल गया है) इसलिए (आज) ले रहे हैं।

१५८५, १५८६. जो भिक्षु पिण्डपात (गोचरी) की प्रतिज्ञा से गृहपतिकुल में प्रविष्ट होता है, गृहस्थ के द्वारा मना कर दिए जाने पर भी दूसरी बार उसी कुल में प्रवेश करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व और द्विविध विराधना (आत्म और संयम विराधना) को प्राप्त होता है अतः मना कर दिए जाने पर पुनः उसी कुल में प्रवेश न करे।

१५८७. गृहस्थ द्वारा प्रतिषिद्ध कुल में मुनि प्रविष्ट हो और संयोगवश वहां कोई द्विपद (दास, दासी) अथवा चतुष्पद (गाय, घोडा आदि) खो जाए (नष्ट हो जाए), हरण हो जाए, मर जाए, घर आदि जल जाए, खेत आदि खोदा हुआ मिल जाए तो मुनि के प्रति शंका आदि दोष उत्पन्न हो सकते हैं। वह मुनि के प्रति जासूसी, उद्भ्रामकता अथवा दौत्यकर्म की शंका कर सकता है।

१५८८. जिन कारणों से मुनि प्रतिषिद्ध कुल में पुनः प्रविष्ट हो सकता है, वे अपवाद हैं—१. अनाभोग—अज्ञान या विस्मृति। २. दुर्भिक्ष ३. ग्लान्य ४. भिक्षा वेला प्राप्त न हुई हो। ५. अतिथि ६. राजद्वेष ७. नगररोध तथा ८. अटवी के तीनों विकल्पों में अर्थात् अटवी के आदि, मध्य एवं अंत में।^१

१५८९. यदि मुनि अनाभोग से अथवा दूसरे घर की संकीर्णता से मूढ होकर उसी घर में प्रविष्ट होता है तो गृहस्थ को सुनाता हुआ कहता है—अच्छ, यह तो वही घर है। शेष अर्थात् दुर्भिक्ष, ग्लान आदि कारणों से वह जानबूझ कर गृहस्थ द्वारा प्रतिषिद्ध कुल में प्रविष्ट हुआ है तो गृहस्थ के पूछने पर अथवा बिना पूछे भी अपना प्रयोजन स्पष्ट कर दे।

१५९०. जो गृहपतिकुल साधु-साध्वियों से भावित होते हैं, वहां शंका आदि दोषों की संभावना नहीं होती अतः पुनः प्रवेश किया जा सकता है। जिस समय मुनि भिक्षार्थ गए, वह देश, काल उन कुलों में भिक्षा हेतु उचित नहीं था (भिक्षा में देरी थी), वहां कोई नहीं था तो पुनः जा सकते हैं। भद्रकुलों में गृहस्थ थे, पर यदि किसी कारण से पहले भिक्षा नहीं दी गई, तब भी पुनः भिक्षार्थ जाया जा सकता है।

१५९१. संखडी (भोज) संक्षेप में दो प्रकार की होती है—१. आचीर्ण और २. अनाचीर्ण। उनमें जो अनाचीर्ण है, उसके ये प्रकार हैं—

१५९२. १. यावदर्धिका २. प्रगणिता ३. स्वक्षेत्र संखडी ४. अक्षेत्र संखडी ५. क्षेत्र बाह्य ६. आकीर्ण ७. अविशुद्धपथा और ८. सप्रत्यपाया। उपर्युक्त अनाचीर्ण संखडी में जाने से जीवन और चारित्र के भेद (भंग) होने की संभावना रहती है।

१. निभा २ चू. पृ. २०६—अण्णत्थ ण लब्भति पगतं संखडी। (प्रकृत=विनिर्मित, प्रगत=प्राप्त)

२. वही—तिविकप्पे त्ति आदि मज्जे अवसाणे य।...तिपरियल्ल विकप्पे पुणो तेसु चव गिहेसु दोच्चं वारं पविसति।

१५९३. आचंडाला पढमा, बितिया पासंडजाति-णामेसु ।
सक्खेत्ते जा सकोसे^१, अक्खेत्ते पुढविमादीसु ॥ १४७३ ॥ नि ३६९ ॥
१५९४. जावंतिगाय^२ लहुगा, चतुगुरु पगणीय^३ लहुग सक्खेत्ते ।
मीसग सच्चित्त^४णंतर^५, परंपरे कायपच्छित्तं ॥ १४७४ ॥ नि ३७० ॥
१५९५. 'बहि वुड्ढि'^६ अद्धजोयण, लहुगादी अट्टहिं भवे सपदं ।
चरगादी आइण्णा, चतुगुरु हत्थादिभंगो य ॥ १४७५ ॥
१५९६. कायेह^७विमुद्धपहा, सावय तेणेहि पच्चवाता तु ।
दंसण बंभे आया, तिविध अवाया बहि तहिं वा ॥ १४७६ ॥
१५९७. दंसण^८वाए लहुगा, सेसावाएसु चतुगुरू होंति ।
जीवितचरित्तभेदा, विसचरिगादीसु गुरुगा तु ॥ १४७७ ॥
१५९८. एसमणाइण्णा खलु, तव्विवरीता तु होति आइण्णा^९ ।
आइण्णाए कोई, भत्तेण^{१०} पलोयणं कारे ॥ १४७८ ॥ नि ३७१ ॥
१५९९. तं जो उ पलोएज्जा, गेण्हेज्जा आइएज्ज^{११} वा भिक्खू ।
सो आणा-अणवत्थं, मिच्छत्त-विराधणं पावे ॥ १४७९ ॥ नि ३७२ ॥

१. सक्कोसो (दे) ।

२. जावंतिगा ताए सक्खेसिं तडियकप्पडिगाणं आचंडालेसु दिज्जति (चू) ।

३. बितिय त्ति पगणिता प्रकर्षेण गण्या प्रगण्या पासंडीणं चेव तेसिं पगणियाणं (चू) ।

४. सच्चित्तं (दे), सच्चित्ताणं (भ) ।

५. परिवड्ढी (भ) ।

६. जावंतियातिदोसविप्पमुक्का आइण्णा (चू) ।

७. भत्ते य (दे) ।

८. आयइज्ज (भ) ।

१५९३. प्रथम (यावदर्थिका) चांडाल पर्यन्त सबको दी जाती है।

* द्वितीय (प्रगणिता) पाषण्डी (जैनेतर संन्यासियों) के नामोल्लेख सहित गिन-गिन कर दी जाती है—जैसे—पांच बौद्ध, पांच आजीवक, पांच चरक आदि।

* जो स्वयं द्वारा अवगृहीत क्षेत्र—एकयोजन एवं एक कोस की सीमा में की जाती है वह स्वक्षेत्र संखडी कहलाती है।

* जो सचित्त पृथिवीकाय, सचित्त वनस्पतिकाय आदि अकल्प्य क्षेत्रों पर दी जाती है, वह अक्षेत्र संखडी कहलाती है।

१५९४. जो भिक्षु यावदर्थिका संखडी में जाता है, उसे चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। प्रगणिता में जाने वाले को चतुर्गुरु और स्वक्षेत्र संखडी में जाने वाले को चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। परित्त मिश्रकाय पर अनन्तर स्थित संखडी में जाने से मासलघु तथा अनन्तमिश्रकाय पर अनन्तरस्थित संखडी में मासगुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। परित्त और अनन्त काय पर परम्परस्थित संखडी में जाने से क्रमशः लघु पनक एवं गुरु पनक तथा सचित्त परित्तकाय एवं अनन्तकाय में अनन्तर एवं परम्पर स्थित संखडी में जाने से क्रमशः चतुर्लघु, मासलघु, चतुर्गुरु एवं मासगुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१५९५. क्षेत्र बाह्य संखडी में जाने से भिक्षु को चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है, जो परम्पर वृद्धि से आठवें स्थान में सपद—पारंगित्त प्रायश्चित्त हो जाता है। आकीर्ण संखडी चरक आदि से आकीर्ण (व्याप्त) होती है, वहां जाने से चतुर्गुरु प्रायश्चित्त आता है तथा जनाकीर्ण स्थान में जाने से हाथ, पैर आदि टूटने का डर रहता है।

१५९६. जिस संखडी में जाने का मार्ग अविशुद्ध अर्थात् सचित्त पृथ्वी, अप् आदि जीवनिकायों से युक्त अथवा त्रस जीवों से संसक्त हो, वह अविशुद्धपथा संखडी होती है। जिस संखडी के मध्य में या बाहर श्वापद, स्तेन आदि का प्रत्यपाय (बाधा) हो, वह सप्रत्यपाया है। उसमें अथवा उसके बाहर तीन प्रकार के विघ्न (दोष) हो सकते हैं—१. दर्शन संबंधी दोष २. ब्रह्मचर्य संबंधी दोष और ३. आत्मा (शरीर) संबंधी दोष।

१५९७. सप्रत्यपाय संखडी में जाने वाले भिक्षु को दर्शन संबंधी दोष के लिए चतुर्लघु तथा शेष दोनों दोषों के लिए चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। इस अनाचीर्ण संखडी में जाने वाले भिक्षु को कदाचित् कोई प्रत्यनीक विष आदि दे दे तो जीवनभेद तथा परिव्राजिका आदि कुलटा स्त्रियों के उपद्रव से चारित्रभेद हो सकता है फलतः उसे चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१५९८. यह (यावदर्थिका आदि) अनाचीर्ण संखडी है। जो इसके विपरीत होती है, वह आचीर्ण संखडी होती है। उस आचीर्ण संखडी में कोई श्रावक कहे—आप देखें, फिर जो भोजन आपको रुचिकर होगा, उसे रखकर शेष ब्राह्मणों आदि को दे दूंगा।

१५९९. गृहस्थ के कहने पर जो भिक्षु उस संखडी का प्रलोकन करता है—‘यह दो, यह दो’ कहता है तथा उससे ग्रहण करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व एवं विराधना—इन दोषों को प्राप्त होता है।

१६००. पडिणीय विसक्खेवो, तत्थ व अण्णत्थ वावि तण्णिस्सा ।
मरुगादीण पदोसो, अधिकरणुप्फोस वित्तवयो^१ ॥१४८० ॥
१६०१. असिवे ओमोदरिए, रायहुट्टे भए व गेलण्णे ।
अद्धाणरोहए वा, जतणाएँ पलोयणं कुज्जा ॥१४८१ ॥
१६०२. हत्थेण अदेसंते, अणावडंतो मणो ण मंतो य ।
दिस्सऽण्णतो मुहं^२ भणति, होज्ज णे कज्जममुगेण ॥१४८२ ॥
१६०३. आइण्णमणाइण्णं^३, णिसिहाभिहडं व णोणिसीहं तु^४ ।
णिसीहाभिहडं ठप्पं, णोणिसीहं तु वोच्छामि^५ ॥१४८३ ॥ नि ३७३ ॥
१६०४. सग्गाम-परग्गामे, घरंतरे णोघरंतरे चेव ।
तिघरंतरा परेणं, घरंतरं तं मुणेत्तव्वं ॥१४८४ ॥ नि ३७४ ॥
१६०५. वाडग-साहि^६-निवेसणं^७, सग्गामे णोघरंतरं तिविधं ।
परग्गामे वि य दुविधं, जल-थल नावाएँ जंघाए ॥१४८५ ॥ नि ३७५ ॥
१६०६. भंडी^८ बहिलगं^९ काए^{१०}, सीसेण चतुव्विधं थले होति ।
एक्केक्कं तं दुविधं, सपच्चवातेतरं चेव ॥१४८६ ॥ नि ३७६ ॥
१६०७. एतं सदेसऽभिहडं, भणितं एमेव होति परदेसे ।
जल-थलमादी भेदा, सपच्चवातेतरा णेया ॥१४८७ ॥ नि ३७७ ॥
१६०८. एसेव गमो नियमा, 'णिसीहऽभिहडे वि'^{११} होति णातव्वो ।
आइण्णं पि य दुविधं, देसे तह देसदेसे^{१२} य ॥१४८८ ॥

१. वित्तव्वया (पा) ।

२. मुहो (मु, भ) ।

३. सूत्र १५ (नव ३/१५) ।

४. वा (भ) ।

५. इस गाथा के प्रारम्भ में चूर्णिकार ने 'इमो णिज्जुत्ति-
वित्थरो' का उल्लेख किया है ।

६. घरपंती साही भण्णति (चू) ।

७. महाघरस्स परिवारघरा णिवेसणं भण्णति (चू) ।

८. भंडी गड्डी भण्णति (चू) ।

९. बहिलगो त्ति गोणात्तिपिट्ठीए लगड्ढादिएसु
आणिज्जति (चू) ।

१०. काए त्ति कावोडीसंकातिएण आणिज्जति (चू) ।

११. णिसिहाभिहडे ति (दे, भ) ।

१२. हत्थसता आरतो देसदेसो भण्णति (चू) ।

१६००. पूर्व प्रलोकित आहार में कोई प्रत्यनीक विष मिला सकता है अथवा साधु की निश्रा से अन्यत्र कहीं कोई विषक्षेप कर सकता है। साधुओं के लिए आहार निकाल कर अलग रखने से स्थापना दोष हो सकता है, ब्राह्मण आदि मुनि या संखडी-स्वामी पर प्रद्वेष कर सकते हैं तथा प्रद्विष्ट होकर आहार आदि नहीं करते हैं। मुनि अशुचि आचार वाले हैं, ब्राह्मण उनके द्वारा स्पृष्ट भोजन नहीं करते। अतः गृहस्थ जल छिड़काव आदि के द्वारा उसे शुचि बनाने का प्रयत्न करते हैं, फलतः हिंसा एवं पश्चात्कर्म दोष की संभावना होती है। भोज ब्राह्मणों के लिए दिया और वे नहीं खाएँ तो व्यर्थ ही वित्त व्यय हुआ—ऐसा सोच गृहस्थ प्रद्विष्ट हो सकता है। १६०१. अपवाद में मुनि यतनापूर्वक इन कारणों से संखडी-प्रलोकन कर सकता है—१. अशिव २. अवमौदरिका ३. राजद्वेष ४. भय ५. ग्लान्य ६. अटवी और ७. नगररोध।

१६०२. यतना—हाथ से इशारा न करते हुए तथा वस्तु से संलग्न न होते हुए मुनि झुककर, अन्यत्र देखता हुआ धीरे से कहे—दही आदि अमुक वस्तु से काम हो जाएगा—इस प्रकार गच्छ के उपग्रहकारक किसी पौष्टिक द्रव्य की प्रलोकना करे।

१६०३. आहृत भक्तपान के दो प्रकार प्रज्ञप्त हैं—१. आचीर्ण और अनाचीर्ण। अनाचीर्ण के पुनः दो प्रकार हो जाते हैं—१. निशीथाभिहृत। (अप्रकाश-अंधकार से लाया हुआ) और २. नोनिशीथाभिहृत (प्रकाश से लाया हुआ)। निशीथाभिहृत स्थाप्य है, नोनिशीथाभिहृत का कथन करूंगा।

१६०४. नोनिशीथाभिहृत के दो प्रकार हैं—१. स्वग्राम-आहृत और २. परग्राम-आहृत। स्वग्राम-आहृत के दो प्रकार हैं—१. गृहान्तर-आहृत और २. नोगृहान्तर आहृत। जो आहार तीन घरों के परे (आगे) से लाया जाता है, वह गृहान्तर-आहृत होता है।

१६०५. स्वग्राम नो गृहान्तर आहृत के तीन प्रकार हैं—१. वाटक (वृत्ति से परिवेष्टित गृह समूह) २. साही (गृहपंक्ति, रथ्या) ३. निवेशन (एक ही दरवाजे वाले अनेक घर)। परग्राम आहृत के दो प्रकार हैं—१. स्वदेश-ग्राम से आहृत और २. परदेश-ग्राम से आहृत। पुनः उनके जल और थल के भेद से दो प्रकार हो जाते हैं। जलमार्ग से आहृत के दो प्रकार हैं—१. नौका से तैरने योग्य जलमार्ग और २. जंघातारिम जलमार्ग।

१६०६. स्थल मार्ग से भक्तपान आहरण के चार साधन हैं—१. गाड़ी २. बैल (बैलगाड़ी) ३. कांवर और ४. सिर (मजदूर के मस्तक पर)। जलमार्ग और स्थलमार्ग—प्रत्येक के दो-दो प्रकार हैं—१. सप्रत्यपाय और २. निष्प्रत्यपाय।^१

१६०७. ये सारे भेद स्वदेशाभिहृत भक्तपान के कहे गए हैं। परदेशाभिहृत भक्तपान के भी जलमार्ग, स्थलमार्ग, सप्रत्यपाय और निष्प्रत्यपाय आदि भेद ज्ञातव्य हैं।

१६०८. निशीथाभिहृत के विषय में भी यही विधि ज्ञातव्य है। आचीर्ण के भी दो प्रकार होते हैं—१. देश और २. देश देश।^२

१. ग्राह, मगर आदि जलीय जन्तुओं से जलमार्ग तथा चोर, श्वापद आदि से स्थलमार्ग सप्रत्यपाय हो जाता है। इन बाधाओं से रहित मार्ग निष्प्रत्यपाय या अप्रत्यपाय है।

२. सौ हाथ तक का क्षेत्र देश तथा उसे परे का क्षेत्र देशदेश है।

१६०९. सुत्तनिवातो सग्गामाभिहडे^१ तं तु गेण्ह^२ जे भिक्खू।
सो आणा-अणवत्थं, मिच्छत्त-विराधणं पावे ॥ १४८९ ॥ नि ३७८ ॥
१६१०. असिवे ओमोदरिए, रायदुट्ठे^३ भए व गेलण्णे।
अद्धाणरोहए वा, जतणा गहणं तु गीतत्थे ॥ १४९० ॥
१६११. आइण्णमणाइण्णा^४, दुविधा पादे पमज्जणा होति।
संसत्ते पंथे वा, भिक्ख-वियारे विहारे य^५ ॥ १४९१ ॥ नि ३७९ ॥
१६१२. एसा आइण्णा खलु, तव्विवरीता भवे अणाइण्णा।
सुत्तमणाइण्णाइं, तं सेवंतम्मि आणादी ॥ १४९२ ॥ नि ३८० ॥
१६१३. संघट्टणा तु वाते, सुहुमे अण्णे विराधते पाणे।
बाउसदोस-विभूसा, तम्हा न पमज्जते पादे ॥ १४९३ ॥
१६१४. बितियपदमणप्पज्जे^६, अप्पज्जुव्वात खज्जमाणे वा।
पुव्वं पमज्जिऊणं, वीसामे कंडुएज्जा वा ॥ १४९४ ॥
१६१५. 'संबाहणा^७ पधोवण^८, कक्कादीणुव्वलण मक्खणं वावि।
फुमणं राइल्लं^९ वा, जो कुज्जा अप्पणो पाए ॥ १४९५ ॥ नि ३८१ ॥
१६१६. एतेसिं पढमपदा, सइं तु बितिया तु बहुसो बहुणा वा।
संबाहणा तु चतुधा, फूमंते लग्गते रागो ॥ १४९६ ॥ नि ३८२ ॥
१६१७. सो आणा-अणवत्थं, मिच्छत्त-विराधणं तहा दुविधं।
पावति जम्हा तम्हा, एते तु पदा 'उ वज्जेज्जा'^{१०} ॥ १४९७ ॥ नि ३८३ ॥
१६१८. आत-पर-मोहुदीरण, बाउसदोसा य सुत्तपरिहाणी।
संपातिमादि घातो, विवज्जओ लोगपरिवादो ॥ १४९८ ॥

१. °गाम अभि° (दे)।

२. गेण्हे (भ)।

३. रायदुट्ठे (भ)।

४. सूत्र १६ (नव ३/१६)।

५. इस गाथा के लिए चूर्णिकार ने 'इमा णिज्जुत्ती' का उल्लेख किया है।

६. सूत्र १७-२१ (नव ३/१७-२१)।

७. संबाहण ति विस्सामणं (चू)।

८. °हण पधोवण (भ)।

९. व राइ° (भ), व रागणं (पा)।

१०. विवज्जे° (भ, मु)।

१६०९. सूत्रनिपात स्वग्राम-अभिहृत भक्तपान के विषय में है। जो भिक्षु स्वग्राम से अभिहृत (अनाचीर्ण) भक्तपान को ग्रहण करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व एवं विराधना—इन दोषों को प्राप्त होता है।
१६१०. गीतार्थ भिक्षु^१ इन आपवादिक परिस्थितियों में अभिहृत भक्तपान यतनापूर्वक ग्रहण कर सकता है—१. अशिव २. अवमौदरिका ३. राजद्वेष ४. भय ५. ग्लान्य ६. अटवी और ७. नगररोध।
१६११. पैरों के प्रमार्जन (पाद-प्रमार्जना) के दो प्रकार प्रज्ञप्त हैं—१. आचीर्ण और २. अनाचीर्ण। पैर पृथ्वीकाय आदि से संसक्त हो २. अस्थंडिल से स्थंडिल अथवा काली मिट्टी से पीली मिट्टी आदि (स्वकाय शस्त्र) से युक्त मार्ग पर जाना हो ३. भिक्षा ४. संज्ञाभूमि तथा विहार (स्वाध्यायभूमि अथवा ग्रामानुग्राम विचरण) से प्रतिनिवृत्त हुआ हो तो मुनि पैरों का प्रमार्जन कर सकता है।
१६१२. उपर्युक्त पाद-प्रमार्जना आचीर्ण है तथा तद्विपरीत अनाचीर्ण। सूत्रनिपात अनाचीर्ण के विषय में है, उसका आसेवन करने वाला भिक्षु आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।
१६१३. अकारण पाद-प्रमार्जन करने से वायुकायिक जीवों का संघट्टन होता है, पतंग आदि सूक्ष्म या बादर प्राणियों की विराधना होती है, बाकुशिक दोष तथा विभूषा से ब्रह्मचर्य की असुरक्षा (अगुप्ति) होती है, अतः भिक्षु पैरों का प्रमार्जन न करे।
१६१४. द्वितीय पद (अपवाद) में अनात्मवश—क्षिप्तचित्त आदि भिक्षु पैरों का प्रमार्जन कर सकता है। आत्मवश भी यदि उद्वात—श्रान्त हो गया हो, खुजली आ रही हो तो पहले प्रमार्जन करे, फिर विश्राम करे या खुजली करे।
- १६१५-१६१७. जो मुनि अपने पैरों का रागपूर्वक संबाधन (मर्दन), प्रधावन, कल्क आदि का लेप, म्रक्षण और फूंक लगाना आदि करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व तथा द्विविध विराधना—इन दोषों को प्राप्त होता है, अतः मुनि इन पदों (स्थानों) का वर्जन करे। इन सूत्रों में प्रथम संबाधन, म्रक्षण आदि पद सकृत् करण विषयक हैं तथा द्वितीय पद—परिमर्दन, उद्वर्तन आदि बहुत बार या बहुत द्रव्य से करने के विषय में हैं। संबाधन के चार प्रकार हैं।^२ अलक्तक रंग को लगाकर फूंक लगाई जाती है, तब रंग लगता है।
१६१८. पैरों के अभ्यंगन, प्रधावन आदि क्रियाओं के मुख्य दोष हैं—१. स्वयं तथा पर के मोह की उदीरणा २. बाकुशिक दोष ३. सूत्र और अर्थ की परिहानि ४. संपातिम आदि जीवों का घात (उपघात) ५. साधु क्रिया का विपर्यय (असंयममय योग) और ६. लोकनिन्दा।

१. गीतार्थ भिक्षु संविग्न तथा यतनावित् होता है, अतः वह अभिहृत भिक्षा ग्रहण करे, तब भी निर्दोष है।

२. निभा २ चू. पृ. २११—शोभना बाहा संबाहा। सा चउव्विहा—अट्टि सुहाए, मंस, रोम, तथा।

१६१९. बितियपदं गेलण्णे, अद्धानुव्वात वाय वासासु।
आदी पंचपदा तू, मोहतिगिच्छाय दोण्णितरे ॥१४९९॥
१६२०. पादेसुं^१ जो तु गमो, णियमा कायम्मि होति सो चेव।
णेतव्वो^२ तु मतिमता, पुव्वे अवरम्मि य पदम्मि ॥१५००॥
१६२१. दुविधो^३ कायम्मि वणो, तदुब्भवागंतुगो^४ तु णातव्वो।
'तद्दोसो य'^५ तदुब्भव, सत्थादागंतुगो भणितो ॥१५०१॥ नि ३८४॥
१६२२. एतेसामण्णतरं, जो तु वणम्मी सयं करे भिक्खू।
पमज्जणादी^६ तु पदे, सो पावति आणमादीणि ॥१५०२॥ नि ३८५॥
१६२३. णच्चुप्पतियं दुक्खं, अभिभूतो वेदणाएँ तिव्वाए।
अद्दीणो अव्वहितो, तं दुक्खं^७हियासते सम्मं ॥१५०३॥
१६२४. अव्वोच्छित्तिणिमित्तं, जीवट्ठी^८ तव^९ समाधिहेतुं वा।
पमज्जणादी^{१०} तु पदे, जतणाय समायरे भिक्खू ॥१५०४॥
१६२५. गंडं^{११} च अरतियंसिं^{१२}, पिलगं^{१३} च भगंदलं च कायंसिं^{१४}।
सत्थेण^{१५}ण्णतरेणं, जो तं अच्छिंदते भिक्खू ॥१५०५॥ नि ३८६॥
१६२६. णीणेज्ज^{१६} पूय^{१७} रुधिरं, उच्छोले सीत-विगडडसिणेणं।
लेवेण व आलिंपे^{१८}, मक्खे धूवे^{१९} व आणादी ॥१५०६॥ नि ३८७॥
१६२७. निक्कारणे न कप्पति, गंडादीगेषु छेद^{२०} धुवणादी।
आसज्ज कारणं पुण, सो चेव गमो हवति तत्थ ॥१५०७॥

१. सूत्र २२-२७ (नव ३/२२-२७)।

२. णातव्वो (भ)।

३. सूत्र २८-३३ (नव ३/२८-३३)।

४. तु. आवनि ९८५/४।

५. तद्दोसादि (भ)।

६. °ज्जणमादी (भ)।

७. जीयट्ठी (दे)।

८. वा (मु, भ)।

९. °ज्जणमादी (भ)।

१०. सूत्र ३४ (नव ३/३४)।

११. °तिअस्सिं (दे)।

१२. विगलं (मु)।

१३. कायम्मि (क)।

१४. सूत्र ३५-३९ (नव ३/३५-३९)।

१५. पूइ (क)।

१६. आलिंपति (मु, भ)।

१७. धूमे (दे)।

१८. छज्ज (दे, भ)।

१६१९. द्वितीय पद—अपवाद में भिक्षु १. ग्लान्य २. मार्गश्रम ३. वायु-प्रकोप और ४. वर्षा में संबाधना आदि प्रथम पांचों स्थानों का आसेवन कर सकता है। अन्य दो—पैरों पर फूंक लगाना तथा अलक्तक आदि रंग लगाना—ये दो पद मोहचिकित्सा के प्रयोजन से अपवाद में आसेव्य हैं।

१६२०. मतिमान् भिक्षु को कायसूत्रों के विषय में पूर्व (उत्सर्ग) पद तथा अपर (अपवाद) पद में वही विधि जाननी चाहिए जो पूर्वोक्त पादसूत्रों में प्रज्ञप्त है।

१६२१. शरीर में होने वाले व्रण के दो प्रकार ज्ञातव्य हैं—१. तदुद्भव और २. आगंतुक। जो व्रण शरीर में उत्पन्न हुए दोषों से होता है, वह तदुद्भव व्रण कहलाता है, जैसे—खुजली, दाद, कुष्ठ आदि। जो व्रण शस्त्र से पैदा हो, वह आगन्तुक व्रण है, जैसे—खड्ग आदि का घाव, शिरोवेध, सर्पदंश आदि।

१६२२. इनमें से किसी भी प्रकार के व्रण के विषय में जो भिक्षु स्वयं प्रमार्जन, संबाधन आदि पदों का आसेवन करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

१६२३. दुःख (रोग) को उत्पन्न हुआ जानकर, तीव्र वेदना से अभिभूत मुनि उस वेदना को अदीन मन से तथा अव्यथित चित्त से सम्यक् प्रकार से सहन करे।

१६२४. भिक्षु यतना पूर्वक व्रण के प्रमार्जन, संबाधन आदि पदों का समाचरण कर सकता है। (उसके तीन प्रयोजन हैं—) १. सूत्र और अर्थ की अव्यवच्छित्ति के लिए २. संयम-जीवन के लिए ३. तप और समाधि के लिए।^१

१६२५, १६२६. जो भिक्षु अपने शरीर पर हुए गण्डमाला, फुंसी, फोड़े और भगंदर का किसी भी प्रकार के शस्त्र से छेदन करता है, उससे खून और मवाद निकालता है, उसे उष्ण या शीतल अचित्त जल से धोता है, उस पर किसी प्रकार का मलहम लगाता है, म्रक्षण करता है अथवा (चिकित्सा आदि के प्रयोजन से) उसके धूप खेता है, वह आज्ञाभंग, मिथ्यात्व आदि दोषों को प्राप्त होता है।

१६२७. निष्कारण (विशेष कारण के बिना) गण्डमाल आदि का छेदन, प्रक्षालन, धूपन आदि करना विधि सम्मत नहीं। विशेष कारण होने पर उस (गण्ड-छेदन आदि) में वही क्रम है, जो सूत्र में प्रज्ञप्त है।

१. समाधि के दो अभिप्राय हैं—१. जीवित अवस्था में ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि का वर्धन तथा २. समाधिमरण।

१६२८. णच्चुप्पतियं दुक्खं, अभिभूतो वेदणाएँ तिच्चाए।
अद्दीणो अक्वहितो, तं दुक्खंऽहियासते सम्मं^१ ॥१५०८ ॥
१६२९. अक्वोच्छत्तिणिमित्तं, जीवट्टीए^२ समाधिहेतुं वा।
पमज्जणादी तु पदे, जतणाएँ समायरे भिक्खू ॥१५०९ ॥
१६३०. गंडादिगोसु^३ किमिए, पालू^४-किमिए च कुच्छि-किमिए य^५।
जे भिक्खू णीहरती, सो पावति आणमादीणि^६ ॥१५१० ॥ नि ३८८ ॥
१६३१. निक्कारणे सकारण, 'अविधि-विधी'^७ कट्टुमादिगा अविधी।
अंगुलमादी तु विधी, कारण अविधीय सुत्तं तु ॥१५११ ॥
१६३२. णच्चुप्पतियं दुक्खं, अभिभूतो वेदणाएँ तिच्चाए।
अद्दीणो अक्वहितो, तं दुक्खंऽधियासते सम्मं ॥१५१२ ॥
१६३३. अक्वोच्छत्तिणिमित्तं, जीवट्टीए^८ समाधिहेतुं वा।
गंडादीसू किमिए, जतणाए णीहरे भिक्खू ॥१५१३ ॥
१६३४. जे^९ भिक्खु णहसिहाओ, कप्पेज्जा अहव 'संठवेज्जा वा'^{१०}।
दीहं च रोमराई, मंसू केसुत्तरोट्टं वा^{११} ॥१५१४ ॥
१६३५. 'भमुगा य'^{१२} दंतसोधण, अच्छीण पमज्जणाइगाइं वा।
सो आणा-अणवत्थं, मिच्छत्त-विराधणं पावे ॥१५१५ ॥ नि ३८९ ॥
१६३६. 'आमज्जणा पमज्जण'^{१३}, सइ असइं^{१४} धोवणं तु णेगविधं।
चीपादीण पमज्जण, फुमणप्पसयं^{१५} जणे रागो ॥१५१६ ॥

१. गा. १६२८, १६२९—इन दो गाथाओं का प्रतियों में केवल प्रथम चरण का संकेत मिलता है।
२. जीवट्टीए (मु)।
३. सूत्र ४० (नव ३/४०), °दिएसुं (दे)।
४. पालु (क), पालु—अपानं (चू)।
५. वा (भ)।
६. इस गाथा के लिए चूर्ण में 'इमा णिज्जुत्ती' का संकेत है।
७. विधि अविधी (दे)।
८. जीवियस्सट्टु (दे)।
९. सूत्र ४१-६६ (नव ३/४१-६५)।

१०. °ज्जाहि (दे)।
११. इस गाथा के प्रारम्भ में चूर्ण में 'सुत्तत्थो णिज्जुत्ती य लाघवत्थं जुगवं वक्खाणिज्जंति' का उल्लेख है।
१२. भमुहाओ (मु, भ)।
१३. अच्छीणि वा आमज्जति णाम अक्खिपत्तरोमे संठवेति, पुणो पुणो करेत्तस्स पमज्जणा। अहवा बीयकणुगादीणं सकृद् अवणयणे आमज्जणा, पुणो पुणो पमज्जणा (चू)।
१४. असती (दे)।
१५. पसयमिति पसती चुलुगो भण्णति।..... पसयमिति दोहिं तिहिं वा णावापूरेहिं अच्छिं धोवति (चू)।

१६२८. दुःख (रोग) को उत्पन्न हुआ जानकर तीव्र वेदना से अभिभूत मुनि उस वेदना को अदीनमन से तथा अव्यथित चित्त से सम्यक् प्रकार से सहन करे।

१६२९. भिक्षु यतनापूर्वक गंडमाल, फुंसी, फोड़े आदि के प्रमार्जन, संबाधन, छेदन आदि पदों का समाचरण कर सकता है। (उसके तीन प्रयोजन हैं—) १. सूत्र और अर्थ की अव्यवच्छिति २. संयम-जीवन तथा ३. समाधि के लिए।

१६३०. जो भिक्षु गण्ड, फोड़े आदि के कृमि, पायु-कृमि अथवा कुक्षिकृमि को निकालता है, वह आज्ञाभंग, मिथ्यात्व आदि दोषों को प्राप्त होता है।

१६३१. निष्कारण और सकारण के अविधि और विधि के संयोग से चार विकल्प बनते हैं। काष्ठ, खपाची आदि से कृमि निकालना अविधि तथा अंगुली आदि से निकालना विधि है। उत्सर्गतः निष्कारण (कारण के बिना) अविधि अथवा विधि से कृमि निकालना प्रतिषिद्ध है। प्रस्तुत सूत्र का प्ररूपण कारण में अविधि से कृमि निकालने के विषय में है। (कारण में विधिपूर्वक कृमि निकालना—यह चतुर्थ भंग शुद्ध है।)

१६३२. दुःख (रोग) को उत्पन्न हुआ जानकर तीव्र वेदना से अभिभूत मुनि उस वेदना को अदीनमन से तथा अव्यथित चित्त से सम्यक् प्रकार से सहन करे।

१६३३. भिक्षु यतनापूर्वक गंड, फोड़े आदि के कृमि को निकाल सकता है (उसके तीन प्रयोजन हैं—) १. सूत्र और अर्थ की अव्यवच्छिति २. संयम-जीवन तथा ३. समाधि के लिए।

१६३४, १६३५. जो भिक्षु अपनी दीर्घ नखशिखा को काटता है अथवा व्यवस्थित करता (संवारता) है, अपनी दीर्घ रोमराजि, श्मश्रु, केश, उत्तरोष्ठ के रोम (दाढ़ी), भौंहों आदि की रोमराजि को काटता है अथवा व्यवस्थित करता है तथा दंतशोधन, अक्षि-प्रमार्जन आदि क्रियाएं (निष्कारण) करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व और विराधना—इन दोषों को प्राप्त होता है।

१६३६. आंखों में गिरे हुए बीज, कण आदि को एक बार निकालना आमार्जन तथा उन्हें बार-बार निकालना, अपनयन करना तथा पौंछना प्रमार्जन कहलाता है। अनेक प्रकार (शुद्ध जल या त्रिफला आदि के पानी) से धोना प्रक्षालन है। आंखों के प्रक्षालन के बाद अंजन लगाया जाता है तथा उस पर फूंक लगाने से अंजन आदि का रंग लगता है। (सौन्दर्य आदि के निमित्त आंखों की आमार्जन आदि क्रियाएं मुनि के लिए निषिद्ध हैं।)

१. निभा २ चू. पृ. २१७—तेसिं नीहरणे का जयणा? पउमे वा, अल्लचम्मे वा।

१६३७. आत-पर मोहुदीरण, बाउसदोसा य सुत्तपरिहाणी ।
संपातिमादिघातो, विवज्जते^१ लोगपरिवादो ॥ १५१७ ॥
१६३८. बितियपदं सामण्णं, सव्वेसु पदेसु होज्जऽणाभोगो ।
मोहतिगिच्छाए पुण, एत्तो अवसेसियं^२ वोच्छं ॥ १५१८ ॥
१६३९. 'चंकमणं आवडणे'^३, लेवो देह खत असुइ नक्खेसु ।
वण-गंड-अरतियंस्सिं^४, भगंदलादीसु रोमाइं ॥ १५१९ ॥
१६४०. दंतामय दंतेसुं, नयणाणं आमया तु णयणेसु ।
भमुगा^५ अच्छिणिमित्तं, केसा पुण पव्वयंतस्स ॥ १५२० ॥
१६४१. सेयं^६ वा जल्लं वा, जे भिक्खू णीहरेज्ज कायातो ।
कण्णऽच्छि-दंत-णहमल, सो पावति आणमादीणि ॥ १५२१ ॥ नि ३९० ॥
१६४२. जल्लो तु होति कमढं^७, मलो तु हत्थादि^८ घट्टितो सडति ।
पंको पुण सेउल्लो, चिक्खिल्लो वावि जो लग्गो ॥ १५२२ ॥
१६४३. बितियपदमणप्पज्जे, णयणवणे^९ ओसधामए चेव ।
मोहतिगिच्छाए पुण, णीहरमाणो णऽतिक्कमति ॥ १५२३ ॥
१६४४. भिक्खुं^{१०}-वियार-विहारे, दूइज्जंतो व गामऽणुगामं^{११} ।
सीसदुवारं भिक्खू, जो कुज्जा आणमादीणि ॥ १५२४ ॥ नि ३९१ ॥
१६४५. खंधे दुवार संजति, गरुलऽद्धंसो^{१२} य पट्ट लिंगदुवे ।
लहुगो लहुगो लहुगा, तिसु चउगुरु दोसु मूलं तु ॥ १५२५ ॥

१. °ज्जितो (क) ।

२. अविसे° (भ) ।

३. °णमाव° (मु), चक्कमणमाव° (भ) ।

४. अरतीअंसिय (भ) ।

५. भुमया (मु, भ) ।

६. सूत्र ६७, ६८ (नव ३/६७, ६८) ।

७. खरंटो उ जो मलो, तं कमढं भण्णति (चू) ।

८. हत्था उ (दे) ।

९. °वडे (दे) ।

१०. सूत्र ६९ (नव ६९) ।

११. °गामिं (भ, मु) ।

१२. गुरु° (दे, भ), एगतो दुहतो वा कप्पअंच्चला खंधारोविया गरुलपक्खं पाउणति अद्धंसो उत्तरासंगो (चू) ।

१६३७. प्रस्तुत आलापक में नखशिखाकर्तन, दंतशोधन आदि अनेक सौन्दर्यवर्धक क्रियाओं का प्रतिषेध प्रज्ञप्त है, उनके मुख्य दोष हैं—१. स्वयं और पर के मोह की उदीरणा २. बाकुशिक दोष ३. सूत्र और अर्थ की परिहानि ४. संपातिम जीवों का उपघात ५. साधु क्रिया का विपर्यय (असंयममय योग) और ६. लोकनिन्दा।

१६३८. नखशिखा कर्तन आदि पूर्वोक्त सूत्र प्रतिषिद्ध पदों में कोई भिक्षु अनाभोग—विस्मृति या प्रमाद के कारण प्रवृत्त हो जाता है—यह सारे पदों में सामान्य द्वितीय पद (अपवाद) है। अथवा मोहचिकित्सा के प्रयोग के रूप में किसी को ये कार्य करने पड़ें। इसके पश्चात् मैं इनके विशेष अपवादों का कथन करूंगा।

१६३९. चंक्रमण करते समय पत्थर आदि से पैरों के नख टकराकर टूट जाएं, भिक्षु गिर जाए तो पैरों के नखों को काटना या व्यवस्थित करना पड़ता है। हाथों के नखों से पात्र का लेप नष्ट होता हो, खुजली करने पर शरीर में घाव हो जाएं, नखों में अशुचिकण फंसे रह जाएं अथवा रजकणों के फंस जाने से चक्षुरिन्द्रिय के उपहनन की संभावना हो—इत्यादि दोषों के परिहार के लिए हाथ के नखों को काटना या व्यवस्थित करना भी द्वितीय पद है। व्रण, गंड, फुंसी, भगंदर आदि में रोमराजि उपघात करती है अतः उसका छेदन और संस्थापन करना पड़ता है।

१६४०. दांत संबंधी रोग होने पर दांतों तथा आंखों का रोग होने पर आंखों का आघर्षण, प्रक्षालन आदि किया जाता है—यह द्वितीयपद है। भौंहों के बाल बढ़ जाएं तो आंखों में पड़ने लगते हैं, अतः उन्हें भी काटना और व्यवस्थित करना पड़ता है। प्रव्रजित होते समय केश बहुत लम्बे हों, लोच करना शक्य न हो—इत्यादि कारणों से सिर के बालों को भी काटना और व्यवस्थित करना अपवाद पद है।

१६४१. जो भिक्षु शरीर के स्वेद या जल्ल का निर्हरण—अपनयन करता है, कान, आंख, दांत और नख के मल का विशोधन करता है, वह आज्ञाभंग, मिथ्यात्व आदि दोषों को प्राप्त होता है।

१६४२. शरीर के चिपका हुआ मैल जल्ल कहलाता है। जो हाथ आदि से घट्टित (चालित) किए जाने पर उतरता है, वह मल होता है। पसीने से गीला हुआ मैल पंक तथा शरीर पर लगा हुआ चिक्खल कहलाता है।

१६४३. द्वितीय पद—अपवाद में भिक्षु निम्नांकित कारणों से स्वेद, मल आदि का अपनयन करता हुआ भी आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता—१. कोई भिक्षु अनात्मवश हो। २. नयन आदि में कोई रोग हो जाए या कुछ गिर जाए। ३. मैल के कारण व्रण बढ़ने की संभावना हो। ४ दाद, खुजली आदि रोगों में औषध प्रयोग के निमित्त सफाई करनी हो। ५. मोहचिकित्सा की दृष्टि से कोई प्रयोग करना हो।

१६४४. जो भिक्षु भिक्षार्थ जाते समय, विचारभूमि (संज्ञाभूमि) और विहारभूमि (स्वाध्यायभूमि) जाते समय अथवा ग्रामानुग्राम परिव्रजन करते समय मस्तक को आवृत करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था आदि दोषों को प्राप्त होता है।

१६४५. बिना कारण वस्त्र-भोग में विपर्यास अथवा लिंग विपर्यास करने से प्रायश्चित्त प्राप्त होता है, जैसे कल्प (पछेवड़ी) को चतुष्फल करके कंधे पर धारण करने से लघुमास, सिर ढकने से लघुमास, दोनों भुजाओं को आवृत करते हुए साध्वी की तरह वस्त्र पहनने से चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। कल्प के आंचल को एक तरफ या दोनों तरफ गरुड़ पक्ष की भांति डालने से, उत्तरासंग करने और चोलपट्ट को बांधने से चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है तथा गृहस्थ या अन्यतीर्थिक का वेश बनाने से मूल प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१६४६. परिभोगविवच्चासे, लिंगविवेगे य छत्तगे तिविधे ।
गिहि-पंत तक्करेसु य, पच्चावाता भवे दुविधा^१ ॥१५२६ ॥
१६४७. चउफल पोत्ती^२ सीसे, बहुपाउरणं^३ तु बितियगं छत्तं ।
हत्थुक्खित्तं वत्थं, ततियं छत्तं च पिंछादी ॥१५२७ ॥
१६४८. बितियपदं गेलण्णे, असहू सागार-सेहमादीसु ।
अद्धाण-तेणगेसु य, संजतपंतेसु जतणाए ॥१५२८ ॥
१६४९. वसिकरणं^४ सुत्तगस्सा, अंछणयं^५ वट्टणं^६ व जो कुज्जा ।
बंधण-सिच्चणहेतुं, सो पावति आणमादीणि ॥१५२९ ॥ नि ३९२ ॥
१६५०. अवसा वसम्मि कीरंति, जेण पसवो वसंति व जता ऊ ।
अंछणता तु पसरणा^७, वट्टणसुत्ते व रज्जू वा ॥१५३० ॥
१६५१. अंछणय-वट्टणं वा, करंति^८ जीवाण होति अतिवातो^९ ।
ऊरुग य हत्थ छोडण, गिलाण-आरोवणायाए ॥१५३१ ॥
१६५२. अद्धाणणिगतादी, ज्ञामित वूढे व तेणमादीसु ।
दुल्लभसुत्ते असती, जतणाए कप्पती काउं ॥१५३२ ॥
१६५३. थंडिल^{१०} तिविहुवघाति^{११}, गिह^{१२} तस अगणी य पुढविसंबद्धं ।
आऊ-वणस्सतीए, विभासितव्वं जहा सुत्ते ॥१५३३ ॥
१६५४. अंतो गिहं खलु गिहं^{१३}, कोट्टुगसुविधी^{१४} व गिहमुहं होति ।
अंगण^{१५} मंडवथाणं, अग्गद्वारं दुवारं तु ॥१५३४ ॥

१. तिविहा (दे) ।

२. पोत्तिं (मु, भ) ।

३. °पावरणं (दे), °पाउतिणा (पा), बहुपाउरणं नाम अंगुट्टिं करेति (चू) ।

४. सूत्र ७० (नव ३/७०) ।

५. अंछणं नाम पण्ह पसरणं (चू) ।

६. वट्टणं नाम दो तंतू एक्कतो वलेति (चू) ।

७. पसरणा (मु, भ) ।

८. करेति (दे) ।

९. अविवातो (मु, भ) ।

१०. थंडिल्ल (भ, दे), सूत्र ७१ (नव ३/७१) ।

११. °घाती (भ) ।

१२. गिहि (दे) ।

१३. गिहगहणेण वा सव्वं चेव घरं घेप्पति (चू) ।

१४. कोट्टुओ अग्गिमालिंदओ (चू) ।

१५. गिहस्स अग्गतो अभावगासं मंडवथाणं अंगणं भण्णति (चू) ।

१६४६. मस्तक को आवृत करने से वस्त्र की परिभोगविधि का विपर्यास होता है। ऐसा करना साधुवेश का विवेक—परित्याग है। लिंग-विवेक और त्रिविध छत्र को धारण करने से गृहस्थों के प्रति रुक्ष प्रकृति वाले तस्कर उन्हें सता सकते हैं। इस प्रकार लिंग विपर्यास से ऐहलौकिक एवं पारलौकिक—दोनों प्रकार के प्रत्यपायों की संभावना रहती है।

१६४७. छत्र धारण के तीन प्रकार हैं—१. कल्प को चतुष्फल (चार तह) करके सिर पर धारण करना २. वधू-प्रावरण अर्थात् घूंघट निकालना और ३. हाथ या डंडे के सहारे वस्त्र को ऊपर उठाना या पंख आदि से छत्रातिछत्रक धारण करना।

१६४८. अपवाद में इन कारणों से यतनापूर्वक^१ शीर्षावरण करना कल्पता है—१. ग्लान्य २. असहू (अक्षम) ३. गृहस्थ से शैक्षसुरक्षा ४. अटवी तथा ५. संयत प्रान्त स्तेन।^२

१६४९. जो भिक्षु उपकरणों को बांधने के लिए अथवा फटे हुए को सिलने के लिए वशीकरण सूत्र का विस्तार करता है अथवा दो धागों को एक साथ बंटता है, वह आज्ञाभंग, मिथ्यात्व आदि दोषों को प्राप्त होता है।

१६५०. जिसके द्वारा अवश को वशीभूत किया जाता है अथवा जिससे पशुओं को वश में किया जाता है, उसे वशीकरण सूत्र कहते हैं। अंछण का अर्थ है, फैलाव या विस्तार तथा सूत्र या रज्जु को एक साथ बंटना वट्टण कहलाता है।

१६५१. वशीकरण सूत्रों का फैलाव करने^३ अथवा बंटने^४ में संपातिम जीवों का अतिपात (हिंसा) होता है। बंटने वाले के ऊरु तथा हाथ छिल जाते हैं तो ग्लानारोपणा प्राप्त होती है।

१६५२. अटवीनिर्गत आदि अवस्थाओं में, अशिव आदि में, दुर्बल उपकरणों के संधान, सिलाई आदि करने के लिए यथाकृत सूत का ग्रहण किया जा सकता है। उपकरण अग्नि में जल जाएं, नदीप्रवाह में डूब जाएं, स्तेन आदि के द्वारा हरण कर लिए जाएं, तब भी यथाकृत सूत ग्रहण किया जा सकता है। जिस देश में सूत दुर्लभ हो, वहां यथाकृत सूत न मिलने पर अपवाद में स्वयं यतनापूर्वक सूत कातना मुनि के लिए विधि सम्मत है।

१६५३. स्थंडिल त्रिविध-उपघातक हो सकता है—इसकी विभाषा (विस्तृत व्याख्या) सूत्र (आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध) के अनुसार करनी चाहिए, जैसे—घर, घर के मुख्य द्वार आदि स्थानों पर परिष्ठापन करने से आत्मविराधना, त्रस, अग्निकाय, पृथ्वीकाय, अप्काय और वनस्पतिकाय से संबद्ध स्थानों पर परिष्ठापन करने से संयमविराधना तथा श्मशान आदि में परिष्ठापन करने से प्रवचन विराधना होती है।

१६५४. घर के अन्दर का भाग घर कहलाता है। कोष्ठक—अग्रिम प्रकोष्ठ तथा सुविधि—घर के बाह्य द्वार का प्रकोष्ठ^५ गृहमुख कहलाता है। मंडप का स्थान आंगन तथा अग्र द्वार गृहद्वार कहलाता है।

१. यतना—जहां स्वयं की उपधि (वस्त्र) से लिंग विपर्यास करने से पहचाने जाने का भय हो, वहां अपेक्षित होने पर गेरुआं वस्त्र आदि भी लिए जा सकते हैं।

२. अपवाद में यतनापूर्वक शीर्षावरण आदि लिंग विपर्यास किया जा सकता है—१. रोगादि के कारण गर्मी (या शीत) सहन न कर सके। २. राजा आदि प्रकृति-सुकुमार व्यक्ति दीक्षित हों और शीत आदि न सह सकें। ३. गृहस्थ आदि से सुरक्षा के निमित्त शैक्ष आदि को घूंघट निकाल कर आच्छादित करना पड़े। ४. अटवी आदि में अत्यधिक शीत या उष्ण

परीषह से बचने हेतु ५. जहां साधु के प्रति रुक्ष व्यवहार करने वाले चोरों का आतंक हो, वहां उनसे बचने के लिए घूंघट आदि के द्वारा लिंग विपर्यास किया जाता है।

३. अंछणय—विस्तार, फैलाव।

४. वही—वट्टण—दो धागों को एक साथ बंटना।

५. निभा २ चू. पृ. २२४—सुविही—छद्दारु आलिंदो। (षट्काष्ठक—षट्दारुक द्रष्टव्य—देशी शब्दकोश—छक्कट्टु शब्द।)

१६५५. गिहवच्चं^१ पेरंता, पुरोहडं वावि जत्थ वा वच्चं ।
मडगगिहा^२ मेच्छाणं, थूभा^३ पुण^४ विच्चगा होंति ॥१५३५ ॥
१६५६. छारो^५ तु अपुंजकडो, छारचिता विरहितं तु थंडिल्लं^६ ।
वच्चं पुण पेरंता, सीताणं वावि सच्चं^७ तु ॥१५३६ ॥
१६५७. इंगाल-खार-डाहो^८, खदिरादी वत्थुलादिया होंति ।
गोमादिरोगसमणे, दहंति^९ गत्ते तहिं जासि ॥१५३७ ॥
१६५८. ऊसत्थाणे^{१०} गाओ, लिहंति भुंजंति अभिणवा सा^{११} तु ।
अचियत्तमण्णलेहण^{१२}, एमेव य मट्टियाखाणी ॥१५३८ ॥
१६५९. पंको^{१३} पुण चिक्खल्लो, पणगो पुण जत्थ मुच्छते ठाणे ।
सेयणपहो^{१४} तु णिक्का^{१५} सुक्कंति फला जहिं वच्चं^{१६} ॥१५३९ ॥
१६६०. एतेसामण्णतरे^{१७}, थंडिल्ले जो तु वोसिरे भिक्खू ।
पासवणुच्चारं वा, सो पावति आणमादीणि ॥१५४० ॥ नि ३९३ ॥
१६६१. आया-संजम-पवयण, तिविधं उवघाइयं तु णातव्वं ।
गिहमादिंगालादी^{१८}, सुसाणमादी जहाकमसो ॥१५४१ ॥
१६६२. छड्डुवण पंतावण, तत्थेव य पाडणादयो दिट्ठे ।
अदिट्ठे अण्णकरणे, कायाकायाण वा उवरिं ॥१५४२ ॥
१६६३. बितियपदमणप्पज्जे, ओसण्णाइण्ण रोहगऽद्धाणे ।
दुब्बल-गहणि गिलाणे, जतणाए 'वोसिरे भिक्खू'^{१९} ॥१५४३ ॥

१. सूत्र ७२ (नव ३/७२), मडयपेरंतं वच्चं भण्णति (चू) ।
२. मडगगिहं णाम मेच्छाणं घरब्भतरे मतयं छोढुं विज्जति, न
डज्जति, तं मडगगिहं (चू) ।
३. इट्टगादिचिया विच्चा थूभो भण्णति (चू) ।
४. सुण (दे) ।
५. अभिणवदड्डं अपुंजकयं छारो भण्णति (चू) ।
६. छारचितिवज्जितं केवलं मडयदड्डुट्टाणं थंडिलं
भण्णति (चू) ।
७. वच्चं (पा) ।
८. दाहो (दे), सूत्र ७३ (नव ३/७३) ।
९. डहंति (दे) ।

१०. सूत्र ७४ (नव ३/७४) ।
११. जा (दे) ।
१२. अच्चित्तं (क) ।
१३. सूत्र ७५ (नव ३/७५) ।
१४. कद्दमबहुलं पाणीयं सेओ भण्णति (चू) ।
१५. तस्स आययणं णिक्का (चू) ।
१६. पुच्चं (दे) ।
१७. °तरं (मु), सूत्र ७६-७९ (नव ३/७६-७९) ।
१८. गिहिमां (दे) ।
१९. °रेज्जाहिं (मु) ।

१६५५. घर के चारों ओर अथवा सामने का मैदान गृहवर्च कहलाता है। अथवा गृहस्थों की संज्ञाभूमि (शौचालय) गृहवर्च कहलाता है। म्लेच्छों के घर का वह भाग, जहां शव रखा जाता है, जलाया नहीं जाता, मृतकगृह कहलाता है। मृतक के ऊपर बनाई गई छोटी स्तूपिका मृतक स्तूपिका कहलाती है।

१६५६. अभिनव दग्ध शव की राख, जिसका पुंज नहीं बनाया गया है, वह मृतक क्षार कहलाती है। क्षार और चिता से रहित, मृतक जलाने का स्थान (खाली मैदान) मृतक स्थंडिल कहलाता है। सम्पूर्ण श्मशान भूमि या श्मशान के आसपास का भूभाग मृतक वर्च कहलाता है।

१६५७. जहां खदिर (खैर वृक्ष आदि की लकड़ी) से अंगारे बनाए जाते हैं, वह स्थान अंगार दाह तथा जहां वत्थुल (बथुआ) या सज्जी खार आदि पकाने की भट्टी हो, वह खारदाह कहलाता है। गाय आदि के रोगोपशमन हेतु जहां पर उनके शरीर पर डाम दिया जाता है, वह स्थान गात्रदाह कहलाता है।

१६५८. गौ (बैल) के द्वारा जिस ऊषर भूमि पर हल चलाया जाता है, वह भूमि गोलेहनिका कहलाती है। वह दो प्रकार की होती है—१. जिसे लोग उपयोग में ले रहे हैं। २. जिसे लोग उपयोग में नहीं ले रहे, वह अभिनव गोलेहनिका कहलाती है। इसी प्रकार मिट्टी की खान भी परिभुक्त और अपरिभुक्त (नवीन) दोनों प्रकार की होती है। इन पर उच्चार प्रस्रवण के परिष्ठापन से दो दोष उत्पन्न होते हैं—१. गायों के स्वामी को अप्रीतिकर लगता है। २. वह अन्य भूमि पर हल जोतता है जिससे पृथिवीकाय की हिंसा होती है।

१६५९. कीचड़ को पंक तथा जिस स्थान पर कोई पैदा होती है, उसे पनकस्थान कहते हैं। सेय-कीचड़ बहुल पानी के पथ (बहने के मार्ग) को सेयायतन—गिक्का (नाली) कहते हैं। जिस स्थान पर फल सुखाए जाते हैं, वह वर्च कहलाता है।

१६६०. इन (पूर्व सूत्रों में प्रज्ञप्त उदुंबरवर्च आदि) में से किसी भी स्थंडिल पर जो भिक्षु प्रस्रवण या उच्चार का विसर्जन करता है, वह आज्ञाभंग, मिथ्यात्व आदि दोषों को प्राप्त होता है।

१६६१. गृह (गृहमुख, गृहद्वार आदि), अंगारदाह (क्षारदाह, गात्रदाह आदि) तथा श्मशान आदि (मृतक क्षार, मृतक स्तूप आदि) स्थंडिलों पर उच्चार-प्रस्रवण आदि के परिष्ठापन से क्रमशः आत्मोपघात, संयमोपघात और प्रवचनोपघात—ये तीन उपघात ज्ञातव्य हैं।

१६६२. गृह आदि अनुचित स्थानों पर विसर्जन करते हुए यदि गृहस्थ देख लेता है तो वह भिक्षु से उस उच्चार आदि को उठवा सकता है, भिक्षु को प्रान्तापित (पीड़ित) कर सकता है अथवा वह भिक्षु को गिरा सकता है, चोट पहुंचा सकता है। यदि गृहस्थ विसर्जन करते भिक्षु को नहीं देखता तो वह कोयला बनाना, सज्जी खार पकाना आदि क्रियाएं अन्य स्थान पर करता है जिससे षट्काय की विराधना का प्रसंग आता है अथवा वह उस उच्चार आदि को उठवा कर वनस्पति आदि षट्काय पर गिरा सकता है।

१६६३. अपवाद में यतनापूर्वक गृह आदि निषिद्ध स्थानों में विसर्जन कर सकता है जैसे—१. कोई भिक्षु अनात्मवश—क्षिप्तचित्त आदि हो। २. ओसण्ण—जो स्थान अत्यन्त पुरातन होने से वर्षों से अनुपयोगी पड़ा हो। ३. आइण्ण (आचीर्ण)—जहां अनेक लोग मल आदि उत्सर्ग करते हों। ४. नगररोध के कारण परिष्ठापन योग्य अन्य स्थंडिल न हो। ५. अटवी निर्गत अवस्था में अन्य विकल्प न हो। ६. कोई भिक्षु दुर्बल कुक्षि—वेग धारण करने में असमर्थ हो। और ७. ग्लान—रोग के कारण कोई भिक्षु अन्यत्र जाने में अक्षम हो और कोई अल्पदोष वाला स्थान सुलभ न हो। (पूर्वोक्त दोषों से बचने हेतु एक साधु विसर्जन करे, तब तक दूसरा अवलोकन करता रहे।)

१६६४. नो^१ कप्पति भिक्खुस्सा, णियमत्ते तह परायए वावि ।
वोसिरिऊणुच्चारं, वोसिरमाणे इमे^२ दोसा^३ ॥१५४४॥ नि ३९४॥
१६६५. सेहादीण दुगुंछा, निसिरिज्जंतं व दिस्सऽगारी णं ।
उड्डुह भाण-भेदण, विसुयावणमादि पलिमंथो ॥१५४५॥ नि ३९५॥
१६६६. एयं^४ सुत्तं अफलं, अत्थो वा दो वि वा विरोधेणं ।
चोदग! दो वि य सत्था, जह होती तह^५ निसामेहि^६ ॥१५४६॥
१६६७. गेलण्णमुत्तिमट्ठे^७, रोहग-अद्धाण-सावए तेणे ।
दीहे दुविध रुयाए^८, कहग दुग^९ अभिग्गहा सण्णो ॥ १५४७॥
१६६८. अप्पा^{१०} संसत्तम्मि य^{११}, सागारऽचियत्तमेव पडिबद्धे ।
पाण दयाऽऽयमणे वा, वोसिरणं मत्तगे भणितं ॥१५४८॥
१६६९. आभिग्गहिय त्ति कते, कहणं पुण होति मोयपडिमाए ।
अप्पो त्ति अप्पमोयं, मोयमही^{१२} वा^{१३} भवति अप्पा ॥१५४९॥
१६७०. एतेहि कारणेहिं, वोसिरणं दिवसतो व रत्तिं^{१४} वा ।
पगतं तु न होति दिवा, अधिकारो रत्ति वोसट्ठे ॥१५५०॥
१६७१. सगपायम्मि य रातो, अधवा परपायगंसि^{१५} जो भिक्खू ।
उच्चारमायरित्ता, सूरम्मि अणुगगते एडे ॥१५५१॥ नि ३९६॥
१६७२. सो आणा-अणवत्थं, मिच्छत्त-विराधणं तहा दुविधं ।
पावति जम्हा तेणं, सूरम्मि अणुगगते एडे ॥१५५२॥ नि ३९७॥

१. सूत्र ८० (नव ३/८०)।

२. तिमे (क)।

३. इस गाथा के प्रारम्भ में चूर्णिकार ने 'णिज्जुत्ती' का उल्लेख किया है।

४. एवं (दे)।

५. तहा (भ)।

६. °मेह (मु)।

७. °मुत्तम° (मु, भ)।

८. रूवाओ (दे)।

९. × (दे)।

१०. अप्पे (भ, मु), अप्पा काइयभूमी (चू)।

११. या (क)।

१२. मोदभूमी (मु)।

१३. × (भ)।

१४. रत्ती (मु, भ)।

१५. °यगम्मि (दे)।

१६६४, १६६५. भिक्षु को स्वयं के अथवा दूसरे के अमत्र (पात्र) में उच्चार (मल) का विसर्जन करना नहीं कल्पता क्योंकि पात्र में मलोत्सर्ग करने से निम्नोक्त (ये) दोष आते हैं—१. पात्र में मलोत्सर्ग करते देख शैक्ष आदि को जुगुप्सा पैदा हो सकती है। २. गृहस्थ लोग उड्डुह—निन्दा करते हैं कि मुनि अशुचि हैं। ३. वे मुनियों के पात्र को तोड़ सकते हैं। ४. जब तक मल सूखता है, तब तक सूत्र और अर्थ में पलिमंथ होता है—बाधा पहुंचती है।

१६६६. प्रश्नकर्ता—सूत्र में पात्र में मलोत्सर्ग का निषेध प्रज्ञप्त नहीं है और अर्थतः उसका प्रतिषेध किया जा रहा है तो फिर सूत्र निरर्थक हो जाएगा। अथवा सूत्र सार्थक माना जाए तो अर्थ को निरर्थक मानना पड़ेगा। यदि दोनों को सार्थक मानें तो परस्पर विरोधी हो जाएंगे। आचार्य—प्रेरक! सूत्र और अर्थ दोनों कैसे सार्थक हैं। उसे सुनो! (सूत्र कारणिक—कारण से निबद्ध है अतः दोनों जैसे सार्थक होते हैं, वैसे—उन हेतुओं को सुनो।)

१६६७-१६७०. इन (निम्नांकित) कारणों से दिन अथवा रात्रि में पात्र में मल-मूत्र विसर्जन का प्रसंग उपस्थित होता है—१. ग्लान्य—आगाढ़ रोग में संज्ञाभूमि तक न जा सके। २. उत्तमार्थ—अनशन प्रतिपन्न भिक्षु हो। ३. रोधक—नगररोध में संज्ञाभूमि का अभाव हो या गृहस्थ प्रतिबद्ध संज्ञाभूमि (भिक्षु व गृहस्थ की एक संज्ञाभूमि) हो। ४. अटवी में सचित पृथिवीकाय आदि के कारण पात्र में मलोत्सर्ग करना पड़े। ५-६. रात्रि आदि में संज्ञार्थ बाहर जाने पर श्वापद (हिंसक पशु), स्तेन अथवा सर्प का भय हो। ७, ९. मल या मूत्र संबंधी रोग (प्रमेह आदि) हों। १०, ११. कथाद्विक—किसी विशेष सूत्र के अनुयोग अथवा विशिष्ट धर्मकथा के कारण संज्ञाभूमि तक जाने का समय न हो। १२. अभिग्रह—मोकप्रतिमा आदि विशिष्ट अभिग्रह—प्रतिपन्न भिक्षु हो। १३. कोई भावसंज्ञा वाला भिक्षु (जो मलमूत्र के वेग से बाधित हो) कायिकी अथवा संज्ञाभूमि तक न जा सके। १४, १५. संज्ञाभूमि अल्प अथवा त्रस आदि जीवों से संसक्त हो। १६. संज्ञाभूमि में भिक्षु के ज्ञातिजन आदि गृहस्थ (उत्प्रव्रजित करने के उद्देश्य आदि से) खड़े हों। १७. प्रतिश्रय के भीतर संज्ञा विसर्जन करना शय्यातर को अप्रीतिकर हो। १८. संज्ञाभूमि स्त्रीप्रतिबद्ध हो। १९. वर्षा, ओस आदि में प्राणितया के कारण मलोत्सर्ग हेतु बाहर न जा सके। २०. किसी विद्या आदि के विशिष्ट प्रयोग में प्रस्रवण से आचमन करना हो। पूर्वोक्त कारणों में 'अभिग्रहिक' (१२) शब्द के कथन से मोकप्रतिमा का कथन किया गया है। अल्प (१४) शब्द से अभिप्राय है कि—'किसी को बार-बार थोड़ा-थोड़ा मूत्र उतरता है अथवा कायिकी भूमि अल्प हो। प्रस्तुत सूत्र में रात्रि में पात्र में विसर्जन करने का प्रसंग है, दिन का नहीं। १६७१, १६७२. जो भिक्षु रात्रि में स्वयं के पात्र अथवा दूसरे के पात्र में उच्चार का विसर्जन कर सूर्य के उदय होने से पूर्व उसका परिष्ठापन करता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व एवं द्विविध विराधना—आत्मविराधना और संयमविराधना—इन दोषों को प्राप्त होता है अतः प्रस्तुत सूत्र में सूर्योदय से पूर्व परिष्ठापन का निषेध प्रज्ञप्त है।

१६७३. तेणारक्खियसावय-पडिणीय-णपुंस-इत्थि-तेरिच्छा ।
ओहाणपेहि वेहाणसे य वाले य मुच्छा य ॥१५५३॥
१६७४. बितियपदे सागारे, संसत्तप्पे व^१ णाणहेतुं वा ।
एतेहिं कारणेहिं, सूरम्मि अणुग्गते एडे ॥१५५४॥
- तत्तिओ उद्देशो सम्मत्तो**
१६७५. पासवण-पडण णिसिकज्ज-णिग्गतो गोमियादि^२ गहितम्मि^३ ।
तं मोयणट्टयाए, रायं^४ अत्तीकरणमादी ॥१५५५॥
१६७६. अत्तीकरणं^५ रण्णो, साभाविय कइतवं च णातव्वं ।
पुव्वावरसंबद्धं, पच्चक्ख-परोक्खमेक्केक्कं ॥१५५६॥ नि ३९८ ॥
१६७७. रायमरणम्मि कुल-घर-गताएँ जातो मि अवहिताए वा^६ ।
निव्वासियपुत्तो व मि, अमुगत्थ गतेण जातो वा ॥१५५७॥ नि ३९९ ॥
१६७८. दुल्लभपवेस लज्जालुगो व एमेवऽमच्चमादीहिं^७ ।
पच्चक्ख-परोक्खं वा, कारेज्जा संथवं कोयी ॥१५५८॥ नि ४०० ॥
१६७९. एत्तो एगतरेणं, 'अत्तीकरणं तु'^८ संतऽसंतेणं ।
अत्तीकरेति रायं^९, लहु-लहुगा आणमादीणि ॥१५५९॥ नि ४०१ ॥
१६८०. राया रायसुही वा, रायामित्ता अमित्तसुहिणो वा ।
भिक्खुस्स व संबंधी, संबंधिसुही व तं सोच्चा ॥१५६०॥
१६८१. संजमविग्घकरे वा, सरीरबाहा करे व भिक्खुस्स ।
अणुलोमे पडिलोमे, कुज्जा दुविधे व उवसग्गे ॥१५६१॥

१. व्व (मु, भ) ।

२. गोमिया-दंडवासिया (चू) ।

३. गहणं तु (क) ।

४. राया (दे, भ) ।

५. सूत्र १ (नव ४/१) ।

६. व्वा (दे) ।

७. °च्चगादीहिं (क), एमेवाम° (भ) ।

८. °रणेण (दे) ।

९. राया (दे) ।

१६७३. रात्रि में परिष्ठापन के दोष—१. भिक्षु रात्रि में परिष्ठापन करने हेतु उपाश्रय से बाहर जाता है, उसे चोर, आरक्षक आदि पकड़ लेते हैं। २. वह सिंह आदि श्वापदों का शिकार हो सकता है। ३. कोई प्रत्यनीक प्रान्तापित कर सकता है, 'पारदारिक है' इत्यादि कलंक दे सकता है। ४-६ कोई नपुंसक, स्त्री अथवा तिर्यची बलात् पकड़ सकती है। अथवा स्त्री आदि सहज रूप में भिक्षु के साथ-साथ बाहर आए तो कोई दूसरा शंका कर सकता है या कोई भिक्षु उनके साथ अनाचार सेवन कर सकता है। ७. कोई अवधावनप्रेक्षी भिक्षु रात्रि में एकान्त व अनुकूल अवसर जान उत्पन्न हो सकता है। ८. कोई असमाधिस्थ भिक्षु एकान्त देखकर वैहायस मरण^१ को प्राप्त हो सकता है। ९. रात्रि के अंधकार में कोई व्याल (सांप) आदि डस जाता है। १०. कदाचित् कोई बाहर ही मूर्च्छित हो जाता है।

१६७४. अपवाद में इन कारणों से भिक्षु सूर्य उदित होने से पूर्व मल आदि का परिष्ठापन कर सकता है—
१. सूर्योदय होने पर सागारिक—गृहस्थों का प्राचुर्य होने से परिष्ठापन करना मुश्किल हो। २. उपाश्रय के अन्दर कायिकी भूमि अल्प एवं संसक्त हो तो दिन में किए हुए विसर्जन को भी रात्रि में अल्पसागारिक काल में परिष्ठापन किया जा सकता है। ३. सूर्योदय के बाद जब तक परिष्ठापन करे या उसे सुखाए, तब तक सूत्र में बहुत पलिमंथ (विघ्न) हो जाता है, अतः ज्ञान हेतु भी रात्रि में परिष्ठापन अनुज्ञात है।

तृतीय उद्देशक समाप्त

१६७५. प्रस्रवण आदि के परिष्ठापन^२ आदि रात्रिकार्यों के लिए निर्गत भिक्षु को कदाचित् गौल्मिक (कोतवाल) आदि पकड़ ले तो उसे छुड़ाने के लिए राजा को वश में करने, उसकी प्रशंसा करने आदि का प्रसंग उपस्थित होता है।^३

१६७६. राजा के आत्मीकरण (वश में करना, अपना बनाना) के दो प्रकार ज्ञातव्य हैं—१. स्वाभाविक और २. कैतवपूर्ण (बनावटी)। इन दोनों के पुनः दो-दो प्रकार हो जाते हैं—१. पूर्वसंस्तुत और २. पश्चात्संस्तुत। पुनः वे दो-दो प्रकार के होते हैं—१. प्रत्यक्ष और २. परोक्ष।

१६७७. भिक्षु राजा के साथ अपना वास्तविक संबंध इस प्रकार बताता है—१. राजा की मृत्यु के समय महारानी गर्भवती थी, बाद में पीहर चली गई, तब मेरा जन्म हुआ। २. रानी का अपहरण हो गया था, फिर मेरा जन्म हुआ। ३. मैं अमुक राजा का निर्वासित पुत्र हूँ। ४. राजा अमुक स्थान पर गया था, तब मेरी मां से उनका संबंध हुआ अथवा मेरी मां को गर्भवती छोड़ कर राजा के अमुक स्थान पर जाने के बाद मेरा जन्म हुआ।

१६७८. जिस राजकुल में प्रवेश दुर्लभ हो अथवा कोई साधु अत्यधिक लज्जालु हो तो स्वयं राजा के पास नहीं जाता और अमात्य आदि के द्वारा राजा से संस्तव करता है, परिचय कर वश में करता है—यह परोक्ष आत्मीकरण है। इसी प्रकार असत्—अवास्तविक आत्मीकरण के भी प्रत्यक्ष और परोक्ष दो प्रकार हो जाते हैं।

१६७९. इनमें से किसी भी प्रकार के सत् या असत् संबंध के द्वारा जो भिक्षु राजा को अपना बनाता है, वह आज्ञाभंग, मिथ्यात्व आदि दोषों को प्राप्त होता है तथा सत् प्रत्यक्ष और परोक्ष आत्मीकरण से मासलघु तथा असत् प्रत्यक्ष और परोक्ष आत्मीकरण से चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१६८०, १६८१. राजा, राजा के सुहृद, राजा के मित्र तथा उसके अमित्र सुहृद^४ अथवा भिक्षु के संबंधी या संबंधियों के ज्ञातिजन आत्मीकरण को सुनकर भिक्षु के दो प्रकार के उपसर्ग कर सकते हैं—१. अनुलोम-संयम में विघ्न पैदा करने वाले और २. प्रतिलोम—शारीरिक बाधा पैदा करने वाले।

१. फांसी पर लटकना।

२. निभा २ चू. पु. २३१—पडणं ति वा उज्झणं ति वा एगट्टं।

३. यह तृतीय उद्देशक के अंतिम सूत्र से प्रस्तुत उद्देशक के प्रथम सूत्र का संबंध है।

४. विरोधी भाव रखने वाले स्वजन।

१६८२. सातिज्जसु रज्जसिरिं, जुवरायत्तं^१ व गेणहसु व भोगे।
इति^२ राय तस्सुहीसु व, उट्टेज्जितरे य^३ तं घेतुं ॥१५६२॥
१६८३. सुहिणो व तस्स वीरियपरक्कमे णातु साहते रण्णो।
तोसेहिति^४ एस णिवं, अम्हे तु ण सुट्टु पगणेति ॥१५६३॥
१६८४. ओभामिओ मि धिग्मुंडितेण कुज्जा व रज्जविग्घं मे।
एमेव सुही दरिसिते^५, णिवप्पदोसेतरे मारे ॥१५६४॥
१६८५. उद्धंसियामु^६ लोगंसि, भागहारी व होहिती मा णे।
इति दायिगादि णीता, करेज्ज पडिलोममुवसग्गे ॥१५६५॥
१६८६. गेलण्ण रायदुट्टे, वेरज्जविरुद्ध रोहगऽद्धाणे।
ओमुब्भावण सासण, णिक्खमणुवदेसकज्जेसु ॥१५६६॥
१६८७. पणगादिमतिक्कंतो, पारोक्खं ताहें संतऽसंतेणं।
एमेव य पच्चक्खं, भावं णातुं व उवजुत्तो ॥१५६७॥
१६८८. एतेहिं^७ कारणेहिं, अत्तीकरणं तु होति नातव्वं।
रायारक्खिय^८-नागरणेगमसव्वे^९ वि^{१०} एस गमो ॥१५६८॥
१६८९. अच्चीकरणं^{११} रण्णो, गुणवयणं तं समासतो दुविधं।
संतमसंतं च तहा, पच्चक्ख-परोक्खमेक्केक्कं ॥१५६९॥ नि ४०२ ॥

१. °राइत्तं (दे)।

२. इति उपप्रदर्शने (चू)।

३. व (भ)।

४. तोसेही (मु, भ)।

५. दरिसते (मु)।

६. °यामो (मु)।

७. सूत्र २-६ (नव ४/२-६)।

८. रायाणं जो रक्खति, सो रायारक्खिओ सिरोरक्षः (चू)।

९. णगरं रक्खति जो, सो णगररक्खिओ कोट्टपालः (चू),
सव्वपगइओ जो रक्खति णिगमारक्खिओ, सो सेट्टी (चू),
चूर्णिं में 'देसारक्खिय'की व्याख्या अतिरिक्त है। एताणि
सव्वाणि जो रक्खति सो सव्वारक्खिओ (चू)

१०. अपि शब्दाद् देशारक्षको द्रष्टव्यः (चू)।

११. सूत्र ७-१२ (नव ४/७-१२)।

१६८२, १६८३. अनुलोम (अनुकूल उपसर्ग)—राजा भिक्षु को अपना स्वजन मानकर कहता है—आप राज्यलक्ष्मी को स्वीकार करें। युवराजत्व को ग्रहण करें, भोग भोगें। इसी प्रकार राजा के सुहृद आदि भी उसे भोगों के लिए प्रेरित करते हैं। इतर—राजा के विरोधी उसे उत्प्रव्रजित कर पकड़ने का प्रयत्न करते हैं। (पकड़ने का उत्थान अर्थात् पराक्रम करते हैं।) भिक्षु के ज्ञातिजन उसके वीर्य और पराक्रम (सामर्थ्य) को जानकर स्वयं उसे उत्प्रव्रजित करते हैं अथवा राजा को उसे उत्प्रव्रजित करने के लिए कहते हैं। वे सोचते हैं—राजा हमारी सम्यक् गणना नहीं करता, (उचित सम्मान नहीं देता) यह राजा को प्रसन्न करेगा तो हमें राजा से उचित आदर, सम्मान एवं लाभ प्राप्त होगा।

१६८४, १६८५. प्रतिलोम उपसर्ग—राजा सोचता है कि इसने इतने लोगों के बीच मेरी भर्त्सना की है अथवा मेरा उपहास किया है, ऐसे साधुत्व को धिक्कार है। जरूर यह भोगाभिलाषी है, तभी मेरी परिषद् को भंग कर मेरे राज्य में विघ्न पैदा करना चाहता है। ऐसा सोचकर राजा उसे बंदी बनाता है, मारता है या कष्ट देता है। इसी प्रकार राजा के मित्र व स्वजन भी उसे प्रतिकूल उपसर्ग देते हैं। इतर अर्थात् जो अमित्र स्वजन हैं, वे राजा की प्रत्यनीकता (शत्रुता) के कारण मुनि से प्रद्वेष करते हैं तथा राजा का ज्ञाति समझ उसे कष्ट देते हैं। अथवा राजा के ज्ञातिजन सोचते हैं कि इसने राजा के साथ अपना संबंध बताकर लोगों के बीच हमारी भर्त्सना की है, कहीं यह हमारा हिस्सेदार न हो जाए। वे उसे राजा के सामने लाते हैं तथा प्रतिकूल उपसर्ग के निमित्त बनते हैं, उसे वध, बन्धन आदि से उत्तप्त, पीड़ित करते हैं।

१६८६. अपवाद में इन कारणों यतनापूर्वक राजा को अपना बनाना विधि सम्मत है—१. ग्लान्य—किसी रुग्ण मुनि के लिए वैद्य ने हंसतैल, कल्याणघृत आदि दुर्लभद्रव्य का निर्देश दिया और वह अन्यत्र उपलब्ध न हो। २. प्रद्विष्ट राजा को उपशांत करने हेतु ३. वैराज्य में अपनी सुरक्षा हेतु ४. विरुद्धराज्य में प्रवेश आदि के लिए। ५. नगररोध में बहिर्निष्क्रमण के लिए ६. अटवी आदि में राजा के साथ जाते समय। ७. अवम, दुर्भिक्ष में आहार आदि के लिए ८. वाद में प्रवचन-प्रभावना हेतु, ९. प्रत्यनीक को अनुशासित करने के लिए १०. किसी को दीक्षा हेतु तैयार करने के लिए ११. अभिनवधर्मा को धर्मोपदेश प्रदान करने हेतु तथा १२. कुल, गण आदि के किसी आकस्मिक प्रयोजन की सिद्धि के लिये।

१६८७. राजा को वश में करने से पूर्व उसके भाव—प्रियता या अप्रियता^१ को जाने। वश में करने वाला मुनि उपयुक्त—लक्षणसम्पन्न तथा दर्शनीय हो तथा वह पनकपरिहाणि^२ के क्रम से क्रमशः सत् परोक्ष, असत् परोक्ष, सत् प्रत्यक्ष तथा असत् प्रत्यक्ष विधि से आत्मीकरण करे।

१६८८. इन (गा. १६०६ में प्रज्ञप्त) कारणों से आत्मीकरण विधिसम्मत है—ऐसा ज्ञातव्य है। आत्मीकरण के विषय में राजा के आरक्षक, नगर के आरक्षक (कोतवाल), निगम के आरक्षक (श्रेष्ठी) देश के आरक्षक, सर्वारक्षक (महाबलाधिकृत) आदि के संदर्भ में भी उपर्युक्त विधि ज्ञातव्य है।

१६८९. राजा के अर्चीकरण का अर्थ है—राजा के शौर्य आदि गुणों का कथन/प्रशंसा करना। वह संक्षेप में दो प्रकार का होता है—१. सत् (वास्तविक) गुणों का कथन और २. असत् गुणों का कथन। पुनः उनके प्रत्यक्ष और परोक्ष—ये दो-दो भेद हो जाते हैं।

१. भावं णातुं—राजा को यदि साधु-संतों से परिचय करना, उनका संबंधी होना प्रिय हो, रुचिकर लगे तो किया जाए अन्यथा वध, बन्धन आदि दोषों की उत्पत्ति हो सकती है।
२. पनकपरिहाणि—कोई कार्य निर्दोष विधि से साध्य न हो तो पांच रात्रि दिन के प्रायश्चित्त जितना अपवाद का आसेवन करना पड़ता है, उससे साध्य न हो तो दसरात्रिदिन.....इस प्रकार पांच-पांच दिन के प्रायश्चित्त वृद्धि का क्रम पनक या पंचक परिहाणि है। यहां क्रम मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त हो, उतने तक ज्ञातव्य है।

१६९०. एत्तो एगतरेणं, अच्चीकरणेण जो तु रायाणं।
अच्चीकरेति भिक्खू, सो पावति आणमादीणि ॥ १५७० ॥ नि ४०३ ॥
१६९१. एक्कत्तो हिमवंतो, अण्णत्तो^१ सालवाहणो राया।
समभारभरक्कंता, तेण ण पल्हत्थते पुढवी^२ ॥ १५७१ ॥
१६९२. राया रायसुही वा, रायामित्ता अमित्तसुहिणो वा।
भिक्खुस्स व संबंधी, संबंधि-सुही व तं सोच्चा ॥ १५७२ ॥
१६९३. संजमविग्घकरे वा, सरीरबाधाकरे व^३ भिक्खुस्स।
अणुलोमे पडिलोमे, कुज्जा दुविधे व उवसग्गे^४ ॥ १५७३ ॥
१६९४. गेलण्ण रायदुट्ठे, वेरज्जविरुद्ध रोहगऽद्धाणे।
ओमुब्भावण सासण, णिक्खमणुवदेसकज्जेसु ॥ १५७४ ॥
१६९५. एतेहिं कारणेहिं, अच्चीकरणं तु होति कातव्वं^५।
रायारक्खिग-णागर-णेगमसव्वे वि एस गमो ॥ १५७५ ॥
१६९६. अत्थयते^६ अत्थी वा, करेति अत्थं व^७ जणयते जम्हा।
अत्थीकरणं तम्हा, तं विज्जणिमित्तमादीहिं ॥ १५७६ ॥ नि ४०४ ॥
१६९७. धातुनिधीण दरिसणे, जणयंते^८ तत्थ होति सट्ठाणं।
अत्ती-अच्ची^९-अत्थेण, संतऽसंतेण^{१०} लहु-लहुगा ॥ १५७७ ॥ नि ४०५ ॥
१६९८. एत्तो एगतरेणं, अत्थीकरणेण^{११} जो तु रायाणं।
अत्थीकरेति साहू^{१२}, सो पावति आणमादीणि ॥ १५७८ ॥ नि ४०६ ॥

१. छंद की दृष्टि से 'एकतो' के स्थान पर 'एक्कत्तो' और 'अन्नतो' के स्थान पर 'अण्णत्तो' पाठ मिलता है।

२. पुहई (मु, भ)।

३. य (दे)।

४. × (क)।

५. णातव्वं (दे)।

६. सूत्र १३-१८ (नव ४/१३-१८)।

७. वा (भ)।

८. जणयणं (भ)।

९. × (दे)।

१०. संतम^० (मु)।

११. साधू वा तहा करेति जहा सो राया तस्स साहुस्स अत्थीभवति प्रार्थयतीत्यर्थः साधू वा तस्य राज्ञः अर्थ जनयति, धातुवादादिना करोतीत्यर्थः। जम्हा एवं करेति, तम्हा अत्थीकरणं भण्णति (चू)।

१२. भिक्खू (मु, भ)।

१६९०. जो भिक्षु इन (उपर्युक्त चार प्रकारों) में से किसी भी प्रकार से राजा का अर्चीकरण (प्रशंसा) करता है, वह आज्ञाभंग, मिथ्यात्व आदि दोषों को प्राप्त होता है।

१६९१. (राजा की प्रशंसा में कोई भिक्षु कहता है—) एक तरफ हिमवान् पर्वत है और दूसरी तरफ शातवाहन राजा—इस प्रकार दोनों तरफ समान भार से आक्रान्त होने के कारण ही पृथ्वी नहीं पलटती—यथावत् स्थिर है।

१६९२, १६९३. राजा, राजा के सुहृद्, राजा के मित्र तथा उसके अमित्र सुहृद् (विरोधी भाव रखने वाले स्वजन) अथवा भिक्षु के संबंधी या संबंधियों के ज्ञातिजन राजा के अर्चीकरण को सुनकर भिक्षु के दो प्रकार के उपसर्ग कर सकते हैं—१. अनुलोम—संयम में विघ्न पैदा करने वाले और २. प्रतिलोम—शारीरिक बाधा पैदा करने वाले।

१६९४, १६९५. अपवाद में इन कारणों से राजा का अर्चीकरण विधिसम्मत है—१. ग्लान्य—किसी रुग्ण मुनि के लिए वैद्य ने हंसतैल, कल्याणघृत आदि दुर्लभ द्रव्य का निर्देश दिया और वह अन्यत्र उपलब्ध न हो। २. राजद्वेष—प्रद्विष्ट राजा को उपशांत करने हेतु। ३. वैराज्य में अपनी सुरक्षा हेतु ४. विरुद्धराज्य में संक्रमण (प्रवेश, विहार) आदि के लिए ५. नगररोध में बहिर्निष्क्रमण के लिए ६. अटवी आदि में राजा के साथ जाते समय ७. अवम, दुर्भिक्ष में आहार आदि के लिए ८. वाद आदि में प्रवचन प्रभावना हेतु ९. प्रत्यनीक को अनुशासित करने के लिए १०. किसी को निष्क्रमण—दीक्षा के लिए तैयार करने हेतु ११. अभिनवधर्मा को धर्मोपदेश प्रदान करने हेतु तथा १२. कुल, गण आदि के किसी आकस्मिक प्रयोजन की सिद्धि के लिए—इन कारणों से यतनापूर्वक राजा का अर्चीकरण—राजा के शौर्य आदि गुणों की प्रशंसा करना विधिसम्मत माना गया है। अर्चीकरण के विषय में राजा के आरक्षक, नगर के आरक्षक (कोतवाल), निगम के आरक्षक (श्रेष्ठी), देश के आरक्षक और सर्वआरक्षक (महाबलाधिकृत) आदि के संदर्भ में भी उपर्युक्त विधि ज्ञातव्य है।

१६९६. अर्थीकरण के अनेक अर्थ होते हैं—१. साधु राजा से प्रार्थना (याचना) करता है। २. साधु वैसा काम करता है, जिससे राजा उससे प्रार्थना करे। ३. साधु धातुवाद^१ आदि के द्वारा राजा के लिए अर्थ उत्पन्न करता है और ४. विद्या, मंत्र, रसायन आदि से राजा को प्रभावित कर लेता है जिससे राजा उसकी प्रार्थना करे।

१६९७. जो भिक्षु धातुवाद के द्वारा अर्थ पैदा करता है अथवा महाकालमंत्र से महाकाल नामक निधि^२ को दिखाता (बतलाता) है उसे स्वस्थान प्रायश्चित्त^३ प्राप्त होता है। आत्मीकरण के समान अर्चीकरण एवं अर्थीकरण में भी क्रमशः सत् और असत् में मासलघु और चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१६९८. जो भिक्षु इन (उपर्युक्त चार) अर्थीकरण के प्रकारों में से किसी भी प्रकार से राजा का अर्थीकरण करता है, वह आज्ञाभंग, मिथ्यात्व आदि दोषों को प्राप्त होता है।

१. धातुवाद—औषधि आदि के योग से ताम्र आदि को सोना वगैरह बनाने की कला, किमियागरी।

२. महाकाल निधि—नवनिधियों में एक निधि, जो धातुओं की पूर्ति करता है।

३. स्वस्थान प्रायश्चित्त के लिए द्रष्टव्य गा. ११७।

१६९९. राया रायसुही वा, रायामित्ता अमित्तसुहिणो वा।
भिक्खुस्स व संबंधी, संबंधिसुही व तं सोच्चा^१ ॥१५७९॥
१७००. संजमविग्घकरे वा, सरीरबाघाकरे व भिक्खुस्स।
अणुलोमे पडिलोमे, कुज्जा दुविधे व उवसग्गे ॥१५८०॥
१७०१. गेलण्ण-रायदुट्टे, वेरज्जविरुद्धरोहगऽद्धाणे।
ओमुब्भावण सासण, णिक्खमणुवदेसकज्जेसु ॥१५८१॥
१७०२. एतेहिं कारणेहिं, अत्थीकरणं तु होति कातव्वं।
रायारक्खिय-णागर-णेगमसव्वे वि एस गमो^२ ॥१५८२॥
१७०३. कसिणत्तमोसहीणं^३, दव्वे भावे चउक्कभयणा तु।
दव्वेण जा उ सगला, जीवजुता भावतो कसिणा ॥१५८३॥ नि ४०७ ॥
१७०४. सतुसा सचेतणा वि य, पढमगभंगो तु ओसधीणं तु।
बितिओ सचेतणऽतुसा^४, खंडितगा वा अतिच्छडिता ॥१५८४॥
१७०५. णियगठितिमत्तिकंता, सतुसा बीया तु ततियगो भंगो।
पढमं पति विवरीतो, चउत्थभंगो मुणेतव्वो ॥१५८५॥
१७०६. दो लहुगा दोसु लहुगो, तवकालविसेसिता जधाकमसो।
परितोसधीण सोधी, एसेव गुरू अणंताणं ॥१५८६॥
१७०७. अण्णोण्णेण विरुद्धं तु, 'सुत्तं सोधिं'^५ च मा भण।
सा तु संघट्टणे सोधी, पंचाहा^६ भुंजतो सुत्तं^७ ॥१५८७॥
१७०८. जं च बीएसु पंचाहो, कुंडरोट्टेसु^८ मासिगं।
तत्थ पाती तु सो बीयं, कुंडरोट्टो तु णिच्चसो ॥१५८८॥

१. दे प्रति में इस गाथा का केवल प्रथम अक्षर है।

२. १६९९-१७०२—इन चार गाथाओं का प्रतियों में केवल एक-एक शब्द का संकेत मिलता है। पूरी गाथाएं नहीं हैं, लेकिन मुद्रित भाष्य में पूरी गाथाएं दी हुई हैं।

३. सूत्र १९ (नव ४/१९)।

४. °अतुसा (दे)।

५. सोधिं सुत्तं (मु, भ)।

६. पंचहा (दे)।

७. १७०७, १७०८—इन दो गाथाओं में अनुष्टुप् छंद का प्रयोग है।

८. तुसमुही कणिया कुक्कस-मीसा कुडग भण्णति, असत्थोवहतो आमो चयणं तंदुललोट्टो रोट्टो भण्णति (चू)।

१६९९, १७००. राजा, राजा के सुहृद, राजा के मित्र तथा उसके अमित्र सुहृद (विरोधी भाव रखने वाला) अथवा भिक्षु के संबंधी या संबंधियों के ज्ञातिजन अर्थीकरण को सुनकर भिक्षु के दो प्रकार के उपसर्ग कर सकते हैं—१. अनुलोम—संयम में विघ्न पैदा करने वाले २. प्रतिलोम—शारीरिक बाधा पैदा करने वाले। १७०१, १७०२. अपवाद में इन कारणों से राजा का अर्थीकरण विधि सम्मत है—१. ग्लान्य—किसी ग्लान मुनि के लिए वैद्य ने हंसतैल, कल्याणघृत आदि दुर्लभ द्रव्य का निर्देश दिया और वह अन्यत्र उपलब्ध न हो २. राजद्वेष—प्रद्विष्ट राजा को उपशांत करने हेतु। ३. वैराज्य में अपनी सुरक्षा हेतु। ४. विरुद्ध राज्य में संक्रमण (प्रवेश, विहार) आदि के लिए। ५. नगररोध में बहिर्निष्क्रमण हेतु ६. अटवी आदि में राजा के साथ जाते समय ७. अवम, दुर्भिक्ष में आहार आदि के लिए ८. वाद आदि में प्रवचन प्रभावना के लिए ९. प्रत्यनीक को अनुशासित करने के लिए १०. किसी को निष्क्रमण—दीक्षा हेतु तैयार करने के लिए ११. अभिनवधर्मा को धर्मोपदेश प्रदान करने हेतु और १२. कुल, गण आदि के किसी आकस्मिक प्रयोजन की सिद्धि के लिए—इन उपर्युक्त कारणों से यतनापूर्वक राजा का अर्थीकरण विधि सम्मत है—ऐसा ज्ञातव्य है। अर्थीकरण के विषय में राजा के आरक्षक, नगर के आरक्षक, निगम के आरक्षक आदि सभी के संदर्भ में उपर्युक्त विधि ही ज्ञातव्य है।

१७०३. कृत्स्नत्व—सम्पूर्णता/सकलता के विषय में ओषधियों—शालि, गेहूं आदि एक फसली वनस्पतियों के द्रव्य और भाव के भेद से चार विकल्प किए जाते हैं। द्रव्य कृत्स्न का अर्थ है—सकल—तुस सहित, अखण्ड एवं अस्फुटित धान्यकण। भावकृत्स्न का अर्थ सचेतन (सजीव)।

१७०४. जो ओषधि तुस सहित व सचेतन होती है, वह प्रथम भंग में ग्राह्य है। द्वितीय भंग है—सचेतन ओषधि, जो तुस रहित है, खंडित है अथवा एक या दो बार छटित (सूप से छंटी या फटकी हुई) है।

१७०५. जो अपनी स्थिति (कायस्थिति) का अतिक्रमण करने (जीवच्युत होने) पर भी सतुस और अखण्ड बीज है, वह तृतीय भंग में ग्राह्य है। प्रथम भंग से विपरीत—द्रव्यतः और भावतः अकृत्स्न (अचित्त एवं खंडित) बीज चतुर्थ भंग में आते हैं—ऐसा ज्ञातव्य है।

१७०६. उपर्युक्त चार भंगों में यथाक्रम (पूर्वानुपूर्वी के क्रम) से प्रथम दो भंगों में चतुर्लघु और अंतिम दो भंगों में मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है—प्रथम में तप और काल दोनों से गुरु, द्वितीय में तपगुरु, तृतीय में कालतः गुरु और चतुर्थ भंग में दोनों से लघु प्रायश्चित्त—यह परित्त वनस्पति विषयक शोधि (प्रायश्चित्त) है। अनन्तकाय वनस्पति में प्रथम दो में चतुर्गुरु और अंतिम दो में मासगुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१७०७. प्रेरक—प्रस्तुत सूत्र में कृत्स्न वनस्पति के लिए मासलघु प्रायश्चित्त का प्ररूपण है, जबकि पीठिका में पनक प्रायश्चित्त का प्ररूपण हुआ है अतः सूत्र और अर्थ में परस्पर विरोध आता है। आचार्य—ऐसा मत कहो। वहां जो प्रायश्चित्त प्रज्ञप्त है, वह संघट्टन के लिए है। प्रस्तुत सूत्र में प्रज्ञप्त प्रायश्चित्त आहार विषयक है।

१७०८. प्रेरक—बीजों का संघट्टन होने पर पांच दिन रात का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है जबकि कुंडग (कुक्कुस मिश्रित तुषमुखी कणिका) और रोट्ट (चावल आदि का कच्चा आटा) का संघट्टन होने पर मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है, इसका क्या कारण? आचार्य—बीज तुस सहित होते हैं अतः बीजों के जीव की रक्षा हो जाती है। कुंडग और रोट्ट निस्तुष होते हैं अतः उनके जीवों को पीड़ा अधिक होती है अतः वहां मासिक प्रायश्चित्त का कथन हुआ है।

१७०९. एतेसामण्णतरं, कसिणं जो ओसधिं^१ तु आहारे।
सो आणा-अणवत्थं, मिच्छत्त-विराधणं पावे ॥ १५८९ ॥ नि ४०८ ॥
१७१०. पलिमंथो ऽणाइण्णं, जोणिग्घातो^२ य संजमे।
अतिभुत्ते य आयाए, पत्थारम्मि पसज्जणा ॥ १५९० ॥
१७११. बितियपदं गेलण्णे, अद्धाणे चेव तह य ओमम्मि।
कसिणोसहीण गहणं, जतणाए कप्पती काउं ॥ १५९१ ॥
१७१२. तेल्ले^३ घत-णवणीते, दधिविगतीओ य होंति चत्तारि।
फाणित-विगडे दो दो, खीरम्मि य होंति पंचेव ॥ १५९२ ॥ नि ४०९ ॥
१७१३. महुपोगगलम्मि तिण्णी^४, चलचलओगाहिमं^५ च जं पक्कं।
एतासिं अविदिण्णं, जोगमजोगे य संवरणे ॥ १५९३ ॥ नि ४१० ॥
१७१४. आगाढमणागाढे^६, दुविधे जोगे समासतो होति।
आगाढ णवग-वज्जण, भयणा पुण होतऽणागाढे ॥ १५९४ ॥
१७१५. विगतिमणट्ठा^७ भुंजति, ण कुणति आयंबिलं ण सदहती।
एसो तु सव्वभंगो, देसे भंगो इमो तत्थ ॥ १५९५ ॥
१७१६. काउस्सग्गमकातुं, भुंजति भोत्तूण कुणति 'पच्छा वा'^८।
सय कारुणं^९ व^{१०} भुंजति, तत्थ लहू तिण्णि उ विसिट्ठा ॥ १५९६ ॥
१७१७. ण करेति भुंजिरुणं, करेति 'कारुण भुंजति सयं तु'^{११}।
वीसज्जेह ममं ति य, 'तवकालविसेसितो मासो'^{१२} ॥ १५९७ ॥

१. ओसही (दे)।

२. °णीघातो (दे), गाथा में अनुष्टुप् छंद का प्रयोग है।

३. सूत्र २०, २१ (नव ४/२०)।

४. तिण्णि व (मु, भ)।

५. °लउग्गा (दे), तवए पढमं जं घयं खित्तं, तत्थ अण्णं
घयं अपक्खिवंती आदिमे जे तिण्णि घाणा पयतिते
चलचले त्ति तेण ते चलचलओगाहिमं भण्णति (चू)।

६. आगाढतरा जम्मि जोगे जतणा, सो आगाढो यथा

भगवतीत्यादि इतरो अणागाढो यथा उत्तराध्ययनादि
(चू)।

७. °ट्ठाइं (दे)।

८. वा पच्छा (मु, भ)।

९. काउं (दे)।

१०. वा (मु)।

११. काउं सयं च भुंजति उ (व्यभा २१२७)।

१२. गुरु-लहुमासो विसिट्ठो उ (व्यभा)।

१७०९. जो भिक्षु इन तिल, मूंग, उड़द आदि ओषधियों में से किसी भी सचित और अखण्ड ओषधि को खाता है, वह आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व और विराधना—इन दोषों को प्राप्त होता है।

१७१०. चवला आदि की फली को खाने से संयम में व्याघात आता है। फली आदि को खाना अनाचीर्ण है। बीज योनि है अतः योनि घात होने से असंयम होता है। अधिकमात्रा में खा लेने से विसूचिका आदि रोग हो जाते हैं, आत्म विराधना होती है। अन्य रोगादि की उत्पत्ति से उत्तरोत्तर दुःखोत्पत्ति का प्रसंग आता है।

१७११. अपवाद में १. ग्लान्य (रोग) में किसी वैद्य आदि का निर्देश हो। २. अटवी तथा ३. अवमौदरिका (दुर्भिक्ष) में अनिर्वाह की स्थिति हो तो यतनापूर्वक^१ चने, गेहूं आदि धान का ग्रहण कल्पता है।

१७१२, १७१३. जो मुनि योगवाही है अथवा योगवाही नहीं है किन्तु विगय खाने का त्याग किया हुआ है, वह इन विगयों को आचार्य अथवा उपाध्याय से अनुज्ञा प्राप्त किए बिना या दिए बिना) नहीं खा सकता—
१. तैल २. घी ३. नवनीत ४. दही विगय के चार प्रकार^२ ५. फाणित के दो प्रकार^३ ६. मद्य के दो प्रकार^४
७. पांच प्रकार के दूध^५ ८. तीन प्रकार के मधु^६ ९. पुद्गल (मांस) के तीन प्रकार^७ तथा १०. चलचल अवगाहिम^८ व अन्य पक्वान्न।

१७१४. संक्षेपतः योग के दो प्रकार प्रज्ञप्त हैं—१. आगाढ़ और २. अनागाढ़।^१ आगाढ़ योग में पूर्वोक्त नौ विगय का वर्जन किया जाता है।^२ अनागाढ़ योग में विगयवर्जन की भजना है—गुरु की अनुज्ञा हो तो विगय का आहार किया जाए और अनुज्ञा न हो तो वर्जन किया जाए।

१७१५. निष्कारण विगय खाना, आर्यंबिल के क्रम में आर्यंबिल न करना तथा सारे रसों का भोग करते हुए भी उसकी श्रद्धा-प्रतीति न करना—यह योग का सर्वभंग है। योग का देशभंग यह है—

१७१६, १७१७. कायोत्सर्ग किए बिना विगय खाना, विगय खाने के बाद कायोत्सर्ग करना, कायोत्सर्ग करने के बाद स्वयं (गुरु की अनुज्ञा के बिना) विगय खाना, गुरु से यह कहना—मुझे विगय खाने की अनुज्ञा दें— (यह योग का देशभंग है।) इन चारों में तप और काल से विशिष्ट मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

-
१. यतना—सर्वप्रथम चतुर्थ भंग, फिर तृतीय, फिर द्वितीय एवं अन्त में प्रथम भंग—द्रव्यतः अभिन्न और भावतः अभिन्न वनस्पति का ग्रहण करना चाहिए।
 २. दही के चार प्रकार हैं—१. गाय २. भेंस ३. बकरी व ४. भेड़ के दूध का दही।
 ३. फाणित—गुड़ (राब) के दो प्रकार हैं—१. छुट्टगुल्ल और २. खुड्डगुल्ल। (बृभा. ३४७६), विशेष हेतु द्रष्टव्य जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज पृ. १९३।
 ४. मद्य के दो प्रकार हैं—१. आटे से बनाई हुई (पैप्टी) २. गुड़ से निर्मित। (विशेष हेतु द्रष्टव्य जैन आगम.... पृ. १९८, १९९)
 ५. दूध के पांच प्रकार हैं—१. गाय २. भेंस ३. बकरी ४. भेड़ तथा ५. ऊंटनी का दूध।
 ६. मधु के तीन प्रकार हैं—१. कुंती (मंजरी) निर्मित मधु २. मक्खी द्वारा निर्मित मधु और ३. भ्रामरी द्वारा निर्मित मधु।
 ७. मांस के तीन प्रकार हैं—१. जलचर २. स्थलचर ३. नभचर का मांस।
 ८. चलचल अवगाहिम—कढ़ाई में पहली बार घी डाला और अन्य घी डाले बिना उसमें जो प्रथम तीन घान निकाले जाते हैं वह पक्वान्न चलचल अवगाहिम कहलाता है। उसके बाद उसी घी में बनाया हुआ पक्वान्न चल अवगाहिम कहलाता है।
 ९. जिस योग वहन में आहार आदि से संबंधित अत्यन्त गाढ़/प्रबल नियंत्रण होता है, वह आगाढ़योग कहलाता है, जैसे—भगवती आदि आगम ग्रंथों के अध्ययनकाल में नौ प्रकार की विगय का वर्जन किया जाता है। जिन सूत्रों के अध्ययन काल में आहार आदि का कड़ा नियंत्रण नहीं होता, वह अनागाढ़ है यथा उत्तराध्ययन।
 १०. व्याख्याप्रज्ञप्ति के अध्ययन काल में केवल अवगाहिम विकृति तथा महाकल्पश्रुत के अध्ययन काल में केवल मोदक ग्राह्य है, शेष सब विगय अग्राह्य हैं।

१७१८. जागरंतमजीरादी, ण फुसे लूहवित्तिणं ।
जोगी हं ति^१ सुहं लद्धे, विगतिं परिहरिस्सति ॥ १५९८ ॥
१७१९. बितियपदमणागाढे, गेलण्ण-वए-महामहऽद्धाणे ।
ओमे य रायदुट्ठे, अणगाढागाढजतणाए ॥ १५९९ ॥ नि ४११ ॥
१७२०. जोगे गेलण्णम्मि य, आगाढितरे उ^२ होति चतुभंगो ।
पढमो उभयागाढो, बितिओ ततिओ य एक्केणं ॥ १६०० ॥
१७२१. उभयम्मि वि^३ आगाढे, दड्ढेल्लगपक्कएहि^४ तिण्णि दिणे ।
मक्खेंति अठायंते, पज्जंतितरे^५ दिणे तिण्णि ॥ १६०१ ॥
१७२२. जत्तियमेत्ते दिवसे, विगतिं सेवति^६ ण उद्दिसे 'ते तु^७' ।
तह वि य अठायमाणे, णिक्खिवणं सव्वधा जोगे ॥ १६०२ ॥
१७२३. जइ णिक्खिवती दिवसे, भूमीओ तत्तिए 'उवरि वड्ढे'^८ ।
अपरिमितं उद्देसो^९, 'भूमीय ततो परं कमसो'^{१०} ॥ १६०३ ॥
१७२४. गेलण्णमणागाढे, रसवति णेहोव्वरे असति पक्का ।
तह वि य अठायमाणे, 'मा वड्ढे णिक्खिवे तह च'^{११} ॥ १६०४ ॥
१७२५. तिण्णि-तिगेगंतरिते, 'गेलण्णागाढपरतो णिक्खिवणा'^{१२} ।
तिण्णि वि^{१३} 'तिगमंतरिता'^{१४}, चउत्थ ऽत्ते^{१५} व^{१६} णिक्खिवणा ॥ १६०५ ॥
१७२६. वइगा अजोगि-जोगी, व अदढ-अतरंतगस्स दिज्जंति ।
णिक्खीतियमाहारो^{१७}, अंतरविगती य णिक्खिवणा^{१८} ॥ १६०६ ॥

१. ती (भ) ।

२. य (मु, भ, व्यभा २१३०) ।

३. व (मु) ।

४. दड्ढे पक्कुद्धरेहि (व्यभा २१३१) ।

५. पज्जंतवरे (दे) ।

६. सेवेइ (क) ।

७. तेसु (व्यभा २१३२) ।

८. उवरि वड्ढते (दे) ।

९. तुद्देसो (व्यभा) ।

१०. भूमीओ परं तथा क^० (मु, भ), भूमीए उवरितो कमसो (व्यभा २१३३) ।

११. आगाढतरं तु निक्खिवणा (व्यभा २१३४) ।

१२. णिक्खिवणा (दे), णिक्खिव परेणं (व्यभा २१३५) ।

१३. व (मु, भ) ।

१४. तिगअंत^० (मु, भ) ।

१५. तिगा अंतरित चउत्थभंगे (व्यभा) ।

१६. वि (मु) ।

१७. णिक्खिवणा (मु, भ) ।

१८. णिक्खिवणा (व्यभा २१३६) ।